सदाचारके मौलिक सूत्र

(लेखक—आचार्य श्रीतुलसीजी)

'आचारः प्रथमो धर्मः'—इस उक्त वाक्यमें आचार शब्दका प्रयोग श्रेष्ठ आचरणके अर्थमें है। इससे यह ज्ञात होता है कि आचार शब्द अपने-आपमें भी सदाचारका ही द्योतक है। इसलिये प्रस्तुत संदर्भमें श्रेष्ठ आचारको ही सदाचारके नामसे अभिहित किया गया है। वस्तुतः सदाचार एक व्यापक और सार्वभौम तत्त्व है। देश-कालकी सीमाएँ इसे न तो विभक्त कर सकती हैं और न इसकी मौलिकताको नकार सकती हैं। जिस प्रकार सूर्यका प्रकाश सबके लिये है, उसी प्रकार सदाचारके मूलभूत तत्त्व मानवमात्रके लिये उपयोगी हैं। कुछ व्यक्ति अपने राष्ट्र, कुल या परम्परागत आचारको विशेष महत्त्व देते हैं, किंतु यह स्व-परका व्यामोह है। 'जो कुछ मैं कर रहा हूँ, वही सदाचार है', इस धारणाकी अपेक्षा व्यक्तिको ऐसी धारणा सुदृढ़ करनी चाहिये कि जो सद्-आचरण है, वह मेरे लिये वरणीय है। सदाचारी व्यक्ति नीतिनिष्ठ होता है। वह किसी भी स्थितिमें नीतिके अतिक्रमणके लिये अपनी स्वीकृति नहीं दे सकता। एक संस्कृत कविने नीतिनिष्ठ व्यक्तिके लक्षण बतलाते हुए बहुत ठीक लिखा है—

> अभयं मृदुता सत्यमार्जवं करुणा धृतिः।
> अनासक्तिः स्वावलम्बः स्वशासनसहिष्णुता॥
> कर्तव्यनिष्ठता व्यक्तिगतसंग्रहसंयमः।
> प्रामाणिकत्वं यस्मिन् स्युर्नीतिमानुच्यते हि सः॥

'जिस व्यक्तिमें अभय, मृदुता, सत्य, सरलता, करुणा, धैर्य, अनासक्ति, स्वावलम्बन, स्वशासन, सहिष्णुता, कर्तव्यनिष्ठा, व्यक्तिगतसंग्रहका संयम और प्रामाणिकता होती है, वह नीतिमान् कहलाता है।'

अभय—जो व्यक्ति सत्यके प्रति समर्पित हो[illegible] है, अन्यायका प्रतिकार करते समय भयभीत न[illegible] होता, अपनी भूल ज्ञात होनेपर उसे स्वीकार करने[illegible] संकोच नहीं करता और कठिन-से-कठिन परिस्थिति[illegible] सामना करनेके लिये तत्पर रहता है, वही अभय[illegible] साधक है।

मृदुता—कोमलताका नाम मृदुता है। [illegible] सामूहिक जीवनकी सफलताका सूत्र है। इसके [illegible] व्यक्तिके जीवनमें सरसता रहती है। मृदु स्वभावमें ल[illegible] होती है। इस स्वभाववाला व्यक्ति किसी भी वातावरण[illegible] अपने अनुकूल बना लेता है। बहुत बार क[illegible] अनुशासनसे जो काम नहीं होता, वह मृदुतासे [illegible] जाता है।

सत्य—सत्यका अर्थ है यथार्थता। जो [illegible] जैसा है, उसे वैसा ही जानना, मानना, स्वी[illegible] करना और निभाना सत्य है। सत्यकी साधना क[illegible] है, पर है आत्म-तोष देनेवाली। सत्यनिष्ठ व्य[illegible] अपने किसी भी स्वार्थकी सिद्धिमें असत्यका स[illegible] नहीं लेते। राजा हरिश्चन्द्र-जैसे सत्यव्रती व्य[illegible] आज भी मानव-संस्कृतिके गौरव समझे जाते हैं।

आर्जव—आर्जव सरलताका पर्यायवाची शब्द [illegible] सरलता सदाचारकी आधारभूमि है। इसी उ[illegible] सदाचारका पौधा फलता-फूलता है। परंतु मायावी [illegible] कभी सदाचारी नहीं हो सकता।

करुणा—करुणा सदाचारका हृद[illegible] है। [illegible] व्यक्तिके अन्तःकरणमें करुणा नहीं होगी, [illegible] सिद्धान्तको नहीं समझ सकता। [illegible] समताका विकास नहीं होता। समता [illegible]

व्यक्तिको आत्मौपम्यकी बुद्धि देती है। आत्मौपम्य-भावना व्यक्तिको दूसरोंका अहित करनेसे रोकती है।

धृति—धृति वह तत्त्व है, जो व्यक्तिके मनमें सदाचारके प्रति आस्थाको दृढ़ करती है। सामान्यतः व्यक्ति कोई भी अच्छा काम करता है और उसे शीघ्र ही उसका सुफल नहीं मिलता तो वह दुराचारकी ओर प्रवृत्त हो जाता है। किंतु जिस व्यक्तिमें धैर्य होता है, वह परिणामके प्रति उदासीन रहता हुआ सत्क्रियाका अनुष्ठान करता रहता है।

अनासक्ति—अनासक्तिका अर्थ है—लगावका अभाव। भौतिक पदार्थोंके प्रति आसक्त व्यक्ति उन्हें प्राप्त करनेके लिये असदाचरण करनेमें संकोच नहीं करता। किंतु जिस व्यक्तिकी आसक्ति छूट जाती है, वह असत्‌का चिन्तनतक भी नहीं करता।

स्वावलम्बन—परावलम्बी व्यक्ति अपनी शक्ति, सम्पदा या सत्ताके बलपर दूसरोंके श्रमका शोषण करता है। पर जिस व्यक्तिका स्वावलम्बनमें विश्वास होता है, वह किसीका शोषण नहीं कर सकता।

स्वशासन—अपनेपर अपना अनुशासन—शासन-तन्त्रकी सबसे बड़ी उपलब्धि है। स्वशासनका भाव विकसित होनेके बाद व्यक्ति सहजभावसे संयत हो जाता है। फिर वह विलासी और प्रमादी जीवनसे मुड़कर सदाचरणमें प्रवृत्त हो जाता है।

सहिष्णुता—सहनशीलता भी एक ऐसा ही तत्त्व है जो व्यक्तिको सदाचारके पालनमें सहयोग देता है। असहिष्णु व्यक्ति सत् और असत्‌का विवेक करनेमें भी भूल कर देता है।

कर्तव्यनिष्ठा—कर्तव्यनिष्ठा सदाचारकी प्रेरिका शक्ति है। कर्तव्यनिष्ठ अपने कर्तव्यके प्रति सदा जागरूक और अकरणीय कर्मसे विरत रहता है। जब कभी उसके चरण प्रमादकी ओर बढ़ते हैं, तब कर्तव्यकी प्रेरणा उसे वापस मोड़ देती है और वह सत्संकल्प कर लेता है।

व्यक्तिगत संग्रह-संयम—मनुष्यको असदाचारी बनानेवाला सबसे बड़ा हेतु है—व्यक्तिगत संग्रहका असंयम। असंयमके भावका कारण है—असीम आकाङ्क्षाएँ। आकाङ्क्षाओंपर संयमके अंकुश लगनेसे ही वे नियन्त्रित हो सकती हैं।

प्रामाणिकता—सदाचारकी फलश्रुति है—प्रामाणिकता। कौन व्यक्ति कितना सदाचारी है, यह उसके व्यवहारोंसे ज्ञात होता है। जिस व्यक्तिके जीवनमें प्रामाणिक संस्कार रहते हैं, वह किसीको धोखा नहीं दे सकता, किसीका अहित नहीं कर सकता तथा मानवीय मूल्योंकी अवहेलना नहीं कर सकता। ये तेरह सूत्र सदाचारके मौलिक सूत्र हैं। इनके अतिरिक्त भी बहुत-सी बातें हैं, जो सदाचारमें अन्तर्निहित हो जाती हैं। किंतु ये बातें ऐसी हैं, जिनका आचरण न तो असम्भव है और न देश, धर्म, वर्ग आदिके नामपर इनका विभागीकरण हो सकता है। सार्वभौम, सार्वकालिक और सार्वजनीन तत्त्व ही हर व्यक्तिके लिये समान रूपसे आदर्श बन सकते हैं।

संयम-सर्वजयी

इन्द्रियाँ ही मनुष्यकी घोर शत्रु हैं। आशा मिट जानेपर यह पृथ्वी ही स्वर्ग है। स्त्रियोंमें प्रेमासक्ति ही बन्धन है। सदा संतुष्ट रहना ही सबसे बड़ा धन और मनको जय करनेवाला ही सर्वजयी होता है।

सदाचारके मौलिक तत्त्व

(लेखक—आचार्य श्रीरेवानन्दजी गौड़)

आजके भौतिक युगमें बड़ा आदमी वही कहा जाता है, जो ऐश्वर्यशाली हो अर्थात् 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ' हो। कुछ स्वार्थी चाटुकार अपनी कुत्सित कामना-पूर्तिके लिये उनकी मिथ्या प्रशंसा करके उन्हें रहते हैं। नीतिकार भर्तृहरि बड़े रम्य शब्दोंमें :—

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः
स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः
सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति॥
(भर्तृहरिनीतिश० ३२, पु० शि० १६४)

इस प्रकार भौतिक जगत्में धनवान् सर्वोपरि है; आध्यात्मिक जगत्में ऐसे तथाकथित बड़े आदमीको एक पशुके समान कहा है। वस्तुतः मानवताका दण्ड धन नहीं, अपितु शील है—

येषां न विद्या न तपो न दानं
न चापि शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥
(नीतिश० १३, चाणक्यनीति, पुस्त० १३७)

मनुष्यमें शील ही प्रधान है, धनादि अन्य वस्तुएँ तो हैं, वे आने-जानेवाली वस्तुएँ हैं; आज हैं कल , जो कल नहीं तो परसों आ भी सकती हैं, परंतु शील, त्य आदि एक बार नष्ट हो गये तो उनके पुनः स आनेका कोई प्रश्न ही नहीं उठता—

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥
(महाभा० ५ । ३५)

अध्यात्म-जगत्में महापुरुषका अर्थ—अतिमानव हृष्ट-पुष्ट, लम्बा-चौड़ा, मोटा-तगड़ा नहीं, प्रत्युत मानवता-पोषक विशिष्ट गुणगण-सम्पन्न मानव है। मनुष्यमें यदि शील है, आगे-पीछेका ध्यान है, छोटे-बड़ेकी मर्यादा है तो मनुष्यमें मनुष्यता है। इसी शीलके अभावमें मानव दानव हो जाता है। जिसने अपनी साख खो दी, सदाचारको लात मार दी, यम-नियमके पालनमें स्वेच्छाचारिता बरती, वह मानव दानव बन गया। शीलके अभावमें दया, दान-दाक्षिण्य आदि गुणोंके होनेपर भी मनुष्यका जीवन व्यर्थ है। मनुष्य-जीवनकी सार्थकता तो शीलमें है—

शीलं प्रधानं पुरुषे तद्यस्येह प्रणश्यति।
न तस्य जीवितेनार्थो न कुलेन धनेन च॥
(महाभा० ५ । ३५)

सदाचार एक ऐसा विशिष्ट गुण है, जिसमें दैवी सम्पत्ति, अभय, सत्त्व, संशुद्धि, ज्ञान, योग, व्यवस्थिति इत्यादि सभी गुणोंका समावेश है। लोकमङ्गलकी कामना, 'जीओ और जीने दो' की भावना और सह-अस्तित्वकी साधना शीलका स्वरूप है। भगवान् बुद्धका पञ्चशील प्रसिद्ध है।

संसारमें मनुष्योंकी कमी नहीं, सुरसाके मुखकी भाँति जनसंख्या प्रतिदिन विकराल रूप धारण करती जा रही है। परंतु मानवताकी कसौटीपर खरे उतरनेवाले मानव कम हैं। सदाचारके प्रमुख आधार-स्तम्भ गुणोंकी चर्चा करना कुछ अप्रासङ्गिक न होगा। 'सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्'के अनुसार सत्यमें सब कुछ है। केवल ब्रह्म ही सत्य है—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'। भगवान् शिव कहते हैं—

उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजनु जगत सब सपना॥
(मानस ३ । ३८ । ३)

जीवनमें यदि सत्यको जान लिया तो सब कुछ जान लिया, यदि उसे नहीं जाना तो बड़ी हानि है।

व्यक्तिको आत्मौपम्यकी बुद्धि देती है । आत्मौपम्य-भावना व्यक्तिको दूसरोंका अहित करनेसे रोकती है ।

धृति—धृति वह तत्त्व है, जो व्यक्तिके मनमें सदाचार-के प्रति आस्थाको दृढ़ करती है । सामान्यतः व्यक्ति कोई भी अच्छा काम करता है और उसे शीघ्र ही उसका सुफल नहीं मिलता तो वह दुराचारकी ओर प्रवृत्त हो जाता है । किंतु जिस व्यक्तिमें धैर्य होता है, वह परिणामके प्रति उदासीन रहता हुआ सत्क्रियाका अनुष्ठान करता रहता है ।

अनासक्ति—अनासक्तिका अर्थ है—लगावका अभाव । भौतिक पदार्थोंके प्रति आसक्त व्यक्ति उन्हें प्राप्त करनेके लिये असदाचरण करनेमें संकोच नहीं करता । किंतु जिस व्यक्तिकी आसक्ति छूट जाती है, वह असत्का चिन्तनतक भी नहीं करता ।

स्वावलम्बन—परावलम्बी व्यक्ति अपनी शक्ति, सम्पदा या सत्ताके बलपर दूसरोंके श्रमका शोषण करता है । पर जिस व्यक्तिका स्वावलम्बनमें विश्वास होता है, वह किसीका शोषण नहीं कर सकता ।

स्वशासन—अपनेपर अपना अनुशासन—शासन-तन्त्रकी सबसे बड़ी उपलब्धि है । स्वशासनका भाव विकसित होनेके बाद व्यक्ति सहजभावसे संयत हो जाता है । फिर वह विलासी और प्रमादी जीवनसे मुड़कर सदाचरणमें प्रवृत्त हो जाता है ।

सहिष्णुता—सहनशीलता भी एक ऐसा ही तत्त्व है जो व्यक्तिको सदाचारके पालनमें सहयोग देता है । असहिष्णु व्यक्ति सत् और असत्का विवेक करनेमें भी भूल कर देता है ।

कर्तव्यनिष्ठा—कर्तव्यनिष्ठा सदाचारकी प्रेरिका शक्ति है । कर्तव्यनिष्ठ अपने कर्तव्यके प्रति सदा जागरूक और अकरणीय कर्मसे विरत रहता है । जब कभी उसके चरण प्रमादकी ओर बढ़ते हैं, तब कर्तव्यकी प्रेरणा उसे वापस मोड़ देती है और वह सत्संकल्प कर लेता है ।

व्यक्तिगत संग्रह-संयम—मनुष्यको असदाचारी बनानेवाला सबसे बड़ा हेतु है—व्यक्तिगत संग्रहका असंयम । असंयमके भावका कारण है—असीम आकाङ्क्षाएँ । आकाङ्क्षाओंपर संयमके अंकुश लगनेसे ही वे नियन्त्रित हो सकती हैं ।

प्रामाणिकता—सदाचारकी फलश्रुति है—प्रामाणिकता । कौन व्यक्ति कितना सदाचारी है, यह उसके व्यवहारोंसे ज्ञात होता है । जिस व्यक्तिके जीवनमें प्रामाणिक संस्कार रहते हैं, वह किसीको धोखा नहीं दे सकता, किसीका अहित नहीं कर सकता तथा मानवीय मूल्योंकी अवहेलना नहीं कर सकता । ये तेरह सूत्र सदाचारके मौलिक सूत्र हैं । इनके अतिरिक्त भी बहुत-सी बातें हैं, सदाचारमें अन्तर्निहित हो जाती हैं । किंतु ये बातें हैं, जिनका आचरण न तो असम्भव है और धर्म, वर्ग आदिके नामपर इनका विभागीकरण है । सार्वभौम, सार्वकालिक और ... हर व्यक्तिके लिये समान रूपसे

संयम-सर्वजयी

इन्द्रियाँ ही मनुष्यकी घोर शत्रु हैं । आशा छोड़ जानेपर यह पृथ्वी ही स्वर्ग ... है । सदा संतुष्ट रहना ही सबसे बड़ा धन और इसको जय करनेवाला

सदाचारके मौलिक तत्त्व

(लेखक—आचार्य श्रीरेवानन्दजी गौड़)

आजके भौतिक युगमें बड़ा आदमी वही कहा जाता है, जो ऐश्वर्यशाली हो अर्थात् 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ' हो। कुछ स्वार्थी चाटुकार अपनी कुत्सित कामना-पूर्तिके लिये उनकी मिथ्या प्रशंसा करके उन्हें फुसलाते रहते हैं। नीतिकार भर्तृहरि बड़े रम्य शब्दोंमें कहते हैं—

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः
स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः
सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति ॥
(भर्तृहरिनीतिश० ३२, पु० सं० १६४)

इस प्रकार भौतिक जगत्में धनवान् सर्वोपरि है; परंतु आध्यात्मिक जगत्में ऐसे तथाकथित बड़े आदमीको आरण्यक पशुके समान कहा है। वस्तुतः मानवताका मापदण्ड धन नहीं, अपितु शील है—

येषां न विद्या न तपो न दानं
न चापि शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥
(नीतिश० १३, चाणक्यनीति, पुस्त० १३७)

मनुष्यमें शील ही प्रधान है, धनादि अन्य वस्तुएँ तो तुच्छ हैं, वे आने-जानेवाली वस्तुएँ हैं; आज हैं कल नहीं, जो कल नहीं तो परसों आ भी सकती हैं, परंतु शील, सौजन्य आदि एक बार नष्ट हो गये तो उनके पुनः वापस आनेका कोई प्रश्न ही नहीं उठता—

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥
(महाभा० ५ । ३५)

अध्यात्म-जगत्में महापुरुषका अर्थ—अभिमानव हृष्ट-पुष्ट, लम्बा-चौड़ा, मोटा-तगड़ा नहीं, प्रत्युत मानवता-पोषक विशिष्ट गुणगण-सम्पन्न मानव है। मनुष्यमें यदि शील है, आगे-पीछेका ध्यान है, छोटे-बड़ेकी मर्यादा है तो मनुष्यमें मनुष्यता है। इसी शीलके अभावमें मानव दानव हो जाता है। जिसने अपनी साख खो दी, सदाचारको लात मार दी, यम-नियमके पालनमें स्वेच्छाचारिता बरती, वह मानव दानव बन गया। शीलके अभावमें दया, दान-दाक्षिण्य आदि गुणोंके होनेपर भी मनुष्यका जीवन व्यर्थ है। मनुष्य-जीवनकी सार्थकता तो शीलमें है—

शीलं प्रधानं पुरुषे तद्यस्येह प्रणश्यति।
न तस्य जीवितेनार्थो न कुलेन धनेन च॥
(महाभा० ५ । ३५)

सदाचार एक ऐसा विशिष्ट गुण है, जिसमें दैवी सम्पत्ति, अभय, सत्त्व, संशुद्धि, ज्ञान, योग, व्यवस्थिति इत्यादि सभी गुणोंका समावेश है। लोकमङ्गलकी कामना, 'जीओ और जीने दो' की भावना और सह-अस्तित्वकी साधना शीलका स्वरूप है। भगवान् बुद्धका पञ्चशील प्रसिद्ध है।

संसारमें मनुष्योंकी कमी नहीं, सुरसाके मुखकी भाँति जनसंख्या प्रतिदिन विकराल रूप धारण करती जा रही है। परंतु मानवताकी कसौटीपर खरे उतरनेवाले मानव कम हैं। सदाचारके प्रमुख आधार-स्तम्भ गुणोंकी चर्चा करना कुछ अप्रासङ्गिक न होगा। 'सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्'के अनुसार सत्यमें सब कुछ है। केवल ब्रह्म ही सत्य है—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'। भगवान् शिव कहते हैं—

उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजनु जगत सब सपना॥
(मानस ३ । ३८ । ३)

जीवनमें यदि सत्यको जान लिया तो सब कुछ जान लिया, यदि उसे नहीं जाना तो बड़ी हानि है। सत्यका विवेक

सदाचार-मीमांसा

(लेखक—पं० श्रीरामकृष्णजी द्विवेदी, 'वेदान्ती')

मनन-शील मनुष्यका कर्तव्य है कि वह परम ार्थ मोक्षकी ओर अग्रसर हो। उसकी विशेषता स्से इसी दिशाकी ओर चलना है। यही उसका एक ारसे जागरण है। इसीका उपदेश उपनिषदें हैं—'उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत।' ठ० १।३।१४) यह मनुष्यत्वका जागरण सहसा सम्पन्न हो सकता है और क्रम-विकाससे भी सम्भव है।

मनुष्यत्वकी रक्षा, दिव्यत्वकी जागृति और पशुत्वकी ृत्तिके लिये एक ऐसे निर्दिष्ट पथकी आवश्यकता जो केवल मनको प्रिय लगनेवाले विषयोंकी परिधिमें सीमित न हो, प्रत्युत ज्ञानके विश्वव्यापी आलोकसे ीप्यमान हो और जिसमें पद-पदपर दिव्यभावकी ्की एवं उसकी ओर अग्रसर होनेके प्रत्यक्ष निदर्शन त होते हों। यही सदाचारका वह दिव्य राजपथ जिसपर चलते रहनेसे (मुण्डकोपनिषद् ३। ।५; २।४ के अनुसार) यह आत्मा सुपुष्ट चरित्र, ोबल एवं आत्मबलके सहारे सत्य, ब्रह्मचर्य, तप तथा म्यग्ज्ञानसे प्राप्त हो जाता है।

जीवके अस्तित्वमें भौतिक स्थूल शरीर प्रथम है, र आचारका साक्षात् सम्बन्ध स्थूल शरीरके साथ ा है। इसीके पवित्र होनेसे सूक्ष्म शरीर आदि- ा आध्यात्मिक पवित्रता-साधन होता है, इसलिये ाचारको शास्त्रोंमें प्रथम धर्म कहा है। बिना आचारवान् ए कोई भी आत्मोन्नति फलवती नहीं होती। इसके ये वेदों तथा स्मृतियोंमें सम्यक् प्रकारसे कहे हुए अपने र्मोंमें धर्ममूलक सदाचारका सर्वदा निरालस होकर ालन करना चाहिये। धर्ममूलक सदाचार किसीकी ौकिक विरोधी नहीं होता, अपितु उत्पादक होता है। शास्त्रने इसकी महिमाका वर्णन अनेक प्रकारसे किया है—

> धर्मोऽस्य मूलान्यसवः प्रकाण्डो
> चित्तानि शाखाच्छादनानि कामाः।
> यशांसि पुष्पाणि फलं च पुण्य-
> मसौ सदाचारतरुर्महीयान्॥
>
> (वामनपुराण)

'सदाचाररूपी महान् वृक्षका मूल धर्म है। काण्ड (तना) आयु है, शाखा धन है, पत्र कामना है, पुष्प यश है और फल पुण्य है। इस प्रकार यह कल्पतरु महामहीयान् है।'

स्वेच्छाचारकी निरङ्कुश प्रवृत्ति जब बढ़ने लगती है, तब मनुष्योंमें देवभाव विकसित नहीं हो पाता, ऐसे लोग पशुभावके दास होकर मनुष्य-जन्मको नष्ट कर देते हैं। सदाचारके अनुशासनसे मनुष्यकी अनर्गल वृत्ति नियमित होती है, अतः वह यथेच्छ आहार-विहार करनेमें प्रवृत्त नहीं होता। नियमितरूपसे सब कार्य धर्मानुकूल करते रहनेसे आप-ही-आप संयमका अभ्यास हो जाता है और मनुष्यमें देवभाव उत्पन्न होकर जीवन सफल हो जाता है। वह भगवान्‌की ओर स्वयं बढ़ता चला जाता है, उसका जीवन शतदल—(कमल-) की तरह विकसित होकर भगवच्चरणारविन्दोंमें समर्पित होता है और उसका धर्ममय यशःसौरभ दिग्दिगन्तको आमोदित करता है। इसीसे धर्मको सदाचारका मूल कहा गया है। सदाचाररूपी वृक्षका काण्ड (पेड़ी) आयु है, अर्थात् सदाचारके पालनसे आयुवृद्धि होती है। आयुको बढ़ानेवाले जितने उपाय हैं, उनमें संयम मुख्य है। सब इन्द्रियों और मनोवृत्तियोंके संयम करनेसे आयु बढ़ती है। सदाचार जीवनयात्रा-की सब प्रकारकी अनर्गलताओंका निरोध कर तपस्या

और भी चाहता है कि उसका साक्षी उसके प्रति सदाचारी हो, अपराधी भी चाहता है कि उसके न्याय-कर्ता सदाचारी हों, बन्दी भी चाहता है कि कारागारके अधिकारी सदाचारी हों। स्पष्ट है कि सदाचारीके संगकी कामना सब करते हैं, सदा करते हैं, जब कि दुराचारी, भ्रष्टाचारी या अत्याचारीको कुछ लोग सिर्फ किसी कुत्सित स्वार्थकी सिद्धिके लिये यदा-कदा ही चाहते हैं।

जब सदाचार प्रकाशकी ओर अग्रसर कराता है, तब वह अमरत्वकी ओर ले चलता है, देवत्वके पथकी ओर आगे बढ़ता है, अभ्युदय और निःश्रेयस प्रदान करता है, सुख-शान्ति-सम्पन्नता देता है, मोक्षका कारण होता है और भव-बन्धनसे मुक्त कराता है। फिर मनुष्य सदाचारसे विमुख क्यों होता है, दुराचारकी ओर क्यों पग बढ़ाता है? यही सनातन प्रश्न सामने आ जाता है, जो कभी अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे पूछा था—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
(गीता ३।३६)

इस प्रश्नका उत्तर भी शाश्वत सत्य है। सदाचार चित्तकी विशुद्धताके बिना सम्भव नहीं है। चित्त स्वभावतः बहुधा काम-क्रोधसे, संकीर्ण स्वार्थ और लोभसे दूषित रहता है। वे ही मनुष्यके परम शत्रु हैं। वे चित्तकी निर्मलता नष्ट कर देते हैं, ज्ञानपर काफी मोटा पर्दा डाल देते हैं, 'दिए लोभ चसमा चखन्हि, लघु पुनि बड़ो लखात' जिससे दृष्टि विकृत हो जाती है; माता वैरी, पिता शत्रु प्रतीत होने लगता है, अपना पराया बन जाता है, पाप धर्म मालूम पड़ने लगते हैं; दुःखमें सुखका भ्रम होने लगता है, अतः इनपर काबू पानेपर सदाचारका अवलम्बन नितान्त अपेक्षित है।

सदाचारसे सिर्फ सदाचारी व्यक्तिका ही कल्याण नहीं होता है, अपितु उसके परिवारका, प्रतिवेशका, गाँवका, समाजका, राष्ट्रका और मानवमात्रका कल्याण होता है। किसी राष्ट्रकी वास्तविक शक्ति उसके अणुबमों या सांघातिक अस्त्र-शस्त्रोंमें नहीं, सैन्यबलमें नहीं, बल्कि उसके सदाचारी नागरिकोंमें संनिहित है। शिक्षाका असली महत्त्व व्यक्तिको साक्षर बनानेमें नहीं, उसे सदाचारी बनानेमें है; क्योंकि सदाचारविहीन साक्षरता मनुष्यको राक्षसता प्रदान करती है। देव और असुरमें यही असली अन्तर है कि सदाचार मानवको देव बनाता है और असदाचार अथवा दुराचार मानवको राक्षस बना देता है।

शिक्षा, जप, तप, यज्ञ, ज्ञान, योग, तीर्थ, ध... संयम-नियम सबका एक ही लक्ष्य है, एक ही उद्देश्य है—मानवके चित्तको निर्मल रखना, मनुष्यको सदाचारी बनाना, मनुष्यको मर्त्यलोकसे ऊपर उठाकर सुरलोक अथवा वैकुण्ठके पथपर आगे बढ़ाना। भारत सदाचारके इस अवर्णनीय गौरवको अच्छी तरह जानता था। इसलिये युग-युगसे सत्की, सत्यकी उपासना करता आ रहा है, सत्को ही सर्वश्रेष्ठ शक्ति समझता है, सत्यको ही नारायण समझता है, उसकी उपासना और ध्यानको उसके साथ एकाकार होनेको जीवनकी सार्थकता समझता है। सदियों बाद आज भी इस नव स्वतन्त्र भारतका विजय-उद्घोष है—'सत्यमेव जयते' (मुण्डकोप०) 'यतो धर्मस्ततो जयः'में भी उसी तथ्यको दूसरे शब्दोंमें दुहराया गया है। सत्य सदाचारका मूल है।

कोई भी दृढ़ संकल्पके बलपर सदाचारी बन सकता है; क्योंकि सदाचारी बननेके लिये एम्० ए०, आचार्य होना जरूरी नहीं है। इसके लिये न राजा या करोड़पति होना आवश्यक है, न सेनापति या राष्ट्रपति होना जरूरी है, न रूपवान् या बलवान् होना जरूरी है; जरूरत है—सिर्फ निर्मल चित्त, विमल बुद्धिके होनेकी, दैवी सम्पदाको अपनानेकी और त्यागमय अनासक्त जीवनकी दृष्टिकी। अतः आइये, हम सब प्रतिदिन शुद्ध-शान्त चित्तसे सदाचरणका, सदाचारका संकल्प करें और निर्मल चित्त, विमल बुद्धि अथवा दैवी सम्पदाकी प्राप्तिके लिये भावप्रार्थनापूर्वक हृदयसे प्रयत्न करें।

है कि सदाचारपरायण होनेसे जीव अज्ञानके
र स्वाभाविकरूपसे अग्रसर हो सकता है ।
चारपालनके प्रभावसे मनुष्यका ज्ञानपथ आप
रिष्कृत हो जाता है ।

संस्कृतिका मूल शास्त्रोंमें सदाचार ही बतलाया गया है ।
ने, प्रवृत्ति, गुण और कर्म-भेदसे संस्कृतियोंकी सृष्टि हुई
भिन्न-भिन्न संस्कृतियोंके विभिन्न सदाचार होते हैं । अपनी-
ी संस्कृतिके अनुसार सदाचारपालन करनेसे उसकी
होती है । सांस्कृतिक जीवनका मेरुदण्ड सदाचार
है । सदाचारपालन किये बिना कोई राष्ट्र अपने
ीय जीवनको अक्षुण्ण और क्रमोन्नत नहीं रख
ता । अतः अपने राष्ट्रगत, संस्कृतिगत भावोंकी रक्षा
ा प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है; क्योंकि जिस प्रकार
ःप्रकृतिका परिणाम बहिःप्रकृतिपर होता है, उसी
ार बाह्य आचारोंसे अन्तःप्रकृतिका गठन होता
। यदि हम अपने आचारोंको छोड़कर दूसरोंके
चारोंको ग्रहण करेंगे तो फिर संसारसे हमारा
तत्व ही उठ जायगा या हम जिस संस्कृतिके लोगोंके
चारोंको ग्रहण करेंगे, उसीमें मिल जायँगे या एक
ो संस्कृतिका निर्माण कर बैठेंगे । लम्बे कालतककी
धीनतामें भी हमने अपनी संस्कृतिके आधार
चारको सँभाल रखा । इसीसे स्वातन्त्र्यका उदय हुआ ।

सर्व-साधारण प्रायः अदूरदर्शी होते हैं, अतः
माहात्म्यसे किसी समय किसी संस्कृतिके चमक
नेपर उसीका अनुकरण करने लगते हैं । परंतु
ा अन्धानुकरण राष्ट्रिय एवं सांस्कृतिक जीवनको
कर देता है । मनुष्यकी प्रवृत्ति नवीनताकी ओर
धिक आकृष्ट होती है । अपनी उत्तम वस्तु भी अति
रिचित होनेके कारण दूसरोंकी नवीन वस्तुके सामने
की लगती है । ऐसी अवस्थामें विचारवान् मनुष्योंको
चना चाहिये कि जो सनातन है, वही अनन्त कालतक
ा । नयी-नयी चमकीली वस्तुएँ नित्य उत्पन्न होकर
विलीन होती रहती हैं, उनपर प्रेम करनेसे लाभ ही क्या
है ? अतः यदि हमें अपनी राष्ट्रियताको बनाये रखना
है तो अपने देश, संस्कृति एवं वर्णाश्रमके सदाचारोंके
पालनपर विशेष ध्यान देना चाहिये ।

'आचारः शास्त्रमूलकः'के अनुसार आचारका
मूल शास्त्र है । आर्यसंस्कृतिके सदाचारशास्त्रोंमें स्थिर
किये हुए होनेसे आर्य-सदाचारोंका मूल शास्त्र ही
हैं । 'वेदवाक्यं शास्त्रमूलम्'—'अर्थात् शास्त्रोंके मूल
वेदवाक्य हैं ।' हम सबोंका विश्वास है कि वेद अपौरुषेय
हैं । जीवके कल्याणार्थ श्रीभगवान्ने वेदोंको प्रकट
किया है । भारतीय सनातनधर्मके जितने शास्त्र हैं,
वे सब वेदानुयायी हैं । त्रिकालदर्शी महर्षियोंने अपनी
अभ्रान्त बुद्धिकी सहायतासे वेदमत-प्रतिपादनार्थ नाना
(धर्म-)—शास्त्रोंकी रचना की है ।

वर्तमान निबन्धका विषय आर्य-सदाचार है ।
प्रातःकालसे लेकर रात्रिको सोनेके समयतक किस-किस
प्रकार शारीरिक चेष्टाओंके करनेसे शरीरकी यथार्थ उन्नति
और उसके द्वारा मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति हो
सकती है, यह नित्यका सदाचार है । मनुके अनुसार
ब्रह्मावर्त देशमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा
अवान्तर जातियोंका परम्परागत क्रमबद्ध जो आचार
है, वही 'सदाचार' कहलाता है (मनु० २ ।
१८) । इस सदाचारका वर्ण एवं जाति-धर्मसे बहुत
निकट सम्बन्ध है । इसलिये ब्राह्मण, क्षत्रिय,
वैश्य, शूद्र तथा अवान्तर जातियोंको अपने-अपने वर्ण और
जातिके धर्म-कर्मका पालन अवश्य करना चाहिये । जो
अपने वर्ण या जातिके कर्मोंका त्याग कर अन्य वर्ण
या जातिके धर्मोंको अङ्गीकार करता है, वह अपना ही
नहीं, वरन् समस्त देश और प्रजाका अहित करनेवाला
होता है । इसलिये रागद्वेषके अधीन होकर अथवा
आलस्य, प्रमाद, मोह और अज्ञान आदिके कारण भी
सवर्ण तथा अवान्तर जातियोंको अपना-अपना सदाचार-

[illegible]

सदाचारः परो धर्मः

(लेखक—स्वामी श्रीओंकारानन्दजी महाराज, आदिबदरी)

'सदाचार' शब्दकी व्याख्या करनेमें वैदिक महर्षियोंने अपना समस्त जीवन ही अर्पित कर दिया तथा हजारों वर्षोंके चिन्तन एवं अनुभवोंके आधारपर उन्होंने सदाचारके जिन मूल तत्त्वोंका अन्वेषण किया, उन निराधाङ्कितका पालन कर आज भी मानव पूज्य बन सकता है।

तृष्णाका त्याग—मानवमात्रपर आज जो घना अँधेरा छाता जा रहा है, उसके समस्त कारणोंके मूलमें मानवकी असीम तृष्णा है। कलकत्ता-जैसी महानगरीमें मैंने हर व्यक्तिको दौड़ते देखा। वह मानारूढ है तो भी दौड़ रहा है और पैदल है तो भी दौड़ रहा है। आखिर कहाँ जाना चाहता है मानव ? अहंकी तुष्टिके प्रसारका परिसीमन न होनेसे सदाचार निष्प्राण होता जा रहा है। श्वेताश्वतर ऋषिने ठीक ही कहा है कि 'मानव आकाशको भले ही चमड़ेकी भाँति लपेट कर रख दे, किंतु अपने अन्तःस्थ प्रकाशमय सत्ताको जाने बिना उसके

> यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
> तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥
> (श्वेताश्वतरोप० ६। २०)

तृष्णाकी निरङ्कुशतापर अङ्कुश न लगाया जाय तो वह मानवीय गुणोंको निगल जाती है। जीवन अनियन्त्रित हो जाता है और इन्हीं अनियन्त्रित मस्तिष्कोंकी भीड़ पाश्चात्य सुधारीकी समस्या बन गयी है। तृष्णा-परित्यागके इसी अपरिमेय सदाचारतत्त्वने कलिङ्गविजेताको तथागतके चरणोंमें तलवार रखकर प्रियदर्शी बना दिया। अमरबेलिकी भाँति तृष्णा निरन्तर स्वयं पल्लवित होती रहती है और धीरे-धीरे अपने आश्रयदातापर भी पूरी तरह छा जाती है। सुप्रवृत्तियोंका कोई भाग उससे अछूता नहीं रहता। तृष्णातुर मानव स्वयं ही देहाभिमानी हो जाता है। मनकी आकाङ्क्षा विभिन्न प्रकारके विषयोंके उपभोगसे कभी शान्त नहीं होती, अपितु वह घृत पड़नेसे अग्निके समान निरन्तर अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है—'हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।' (मनु० २। ९४)

जो अपने पास हैं, उसकी कीमत न समझना और जो अपने पास नहीं है, उसकी कामना करना और इस तरह जीवनमें अभाव और असंतोष अनुभव करते रहना—यह है हमारा स्वभाव ! धर्मविमुख विलासपूर्ण जीवनवृत्ति और संसारको चलानेके लिये अधिक तृष्णाकी चेष्टा उदात्तके लक्षण नहीं कहे जा सकते। महर्षि अष्टावक्रने ठीक ही कहा है—

यत्र यत्र भवेत् तृष्णा संसारं विद्धि तत्र वै।
(अष्टावक्रगीता १० । ३)

'जहाँ तृष्णा है, वहीं संसारी नर दुःखी है।' किंतु 'जब आवे संतोष धन सब धन धूरि समान।' की पुष्टि करते हुए तुलसीदासजी भी संतोषके बिना सुखकी कामनाको धरतीपर नौका-चालन-जैसी मूर्खता ही सिद्ध करते हैं। वे कहते हैं—

कोउ बिश्राम कि पाव तात सहज संतोष बिनु।
चलै कि जल बिनु नाव कोटि जतन पचि पचि मरिअ॥
(मानस, उत्तरकाण्ड ८९, दोहावली २७५)

मनोनिग्रह—शुक्ल यजुर्वेद (३४ । १–६)में 'शिवसंकल्प' सूक्त है। इसके प्रत्येक मन्त्रके अन्तमें 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु'—आता है। 'मेरा मन कल्याणकारी शुभ संकल्पोंवाला हो।' परंतु क्या हम अपने इस विचारोंको इतना नम्र बना पाते हैं कि मस्तिष्कके दुराग्रही हथौड़े उसे पीट-पीटकर विकृत नहीं बना पायेंगे! 'मन से बड़ा न कोय' का अनर्थ लगाकर आज तो यहाँ परिस्थितियाँ ही ऐसी निर्मित की जा रही हैं, जिनसे हमारे मनके विकृतभावोंका निरन्तर पोषण होता रहे। चलचित्र, टेलिविजन, रेडियो और अश्लील साहित्यकी प्रतिस्पर्धा मनके निग्रहको पीछे ढकेलनेमें जागरूक है। दूसरे शब्दोंमें इसे हम चारित्रिक पतन भी कह सकते हैं। 'पिछली तुलनामें हमारा चरित्र ऊँचा रहा है'—केवल इतने मात्र दीसे संतोष कर लेनेसे सदाचारका पोषण नहीं होगा, वरन् हमें अब अपनी नैतिक सुधारका अधिक अभ्युत्थान होना ही होगा। राष्ट्रके चरित्रनिर्माणकी बात तो हम तब कर सकते हैं, जब हमारा व्यक्तिगत जीवन निखरे, हम स्वयं नैतिक हो जायँ।

मनके निग्रहके विषयमें उपनिषदें चेतावनी देती हुई कहती हैं—'जिस प्रकार धैर्यपूर्वक कुशाके अग्रभागसे एक-एक बूँदद्वारा समुद्रको भी उलीचा जा सकता है, उसी प्रकार खेदशून्य रह (शिथिलताका त्याग) कर ही मनका निग्रह किया जा सकता है'—

उत्सेक उदधेर्यद्वत् कुशाग्रेणैकबिन्दुना।
मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः॥
(माण्डूक्यकारिका ४१)

ऋषियोंने इसी प्रकारके संकल्पसे आत्माको दीक्षित किया और जीवनको यज्ञ बनाकर उस सत्यको उपलब्ध किया जो ब्रह्माण्डको धारण करनेवाला मध्य बिन्दु है। महाराजा धृतराष्ट्रकी उद्विग्नता शान्त करते हुए विदुर अपने नीतिपूर्ण प्रवचनोंद्वारा मनोनिग्रहको सर्वोपरि बताते हुए कहते हैं—'राजन्! मनुष्यका शरीर रथ है, बुद्धि सारथी और इन्द्रियाँ इस रथके घोड़े हैं। इनको वशमें करके सावधान रहनेवाला चतुर एवं धीर पुरुष काबूमें किये हुए घोड़ोंसे रथीकी भाँति सुखपूर्वक यात्रा करता है'—

रथः शरीरं पुरुषस्य राजन्-
नात्मा नियन्तेन्द्रियाण्यस्य चाश्वाः।
तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वै-
र्दान्तैः सुखं याति रथीव धीरः॥
(विदुरनीति ३४ । ५९)

सदाचारकी स्थितिको अक्षुण्ण करने [illegible] हमें मनोनिग्रहका [illegible] होगा। विचार कीजिये, हमारा [illegible] [illegible] है! [illegible] [illegible] होगा। [illegible] [illegible] [illegible]

प्रतिशोध भी हिंसाकी ही एक प्रमुख शाखा है। अपने पिताद्वारा मृत्युको सौंप दिये गये नचिकेताने जब यम उसकी अडिग निष्ठाके प्रतिदानरूप अभीष्ट वर माँगनेको कहते हैं तो सबसे पहला वरदान वह यही माँगता है कि मेरे पिता मेरे प्रति शान्तसंकल्प (प्रतिशोधरहित) होकर प्रसन्नचित्त मुझसे बातें करें और मुझे वहाँ जानेपर पहचान लें। दोनों पक्षसे प्रतिशोधशमनका वरदान! कैसी भावना है!!

'क्षमा धीरस्य भूषणम्' कहकर इसीलिये तो क्षमाकी महत्ता दर्शायी गयी है। वीरोंद्वारा क्षमादानके प्रसङ्गसे हमारे ग्रन्थ भरे पड़े हैं।

द्वाविमौ पुरुषौ राजन् स्वर्गस्योपरि तिष्ठतः।
प्रभुश्च क्षमया युक्तो दरिद्रश्च प्रदानवान्॥
(विदुरप्रजा० ३५।६३)

'राजन्! निर्धन होकर भी दानी और शक्तिशाली होकर भी क्षमावान्—दोनों ही अपवर्गके अधिकारी होते हैं।' मर्यादापुरुषोत्तम राम स्वयं अहिंसाधर्मके विषयमें अपनी मा कौसल्यासे कहते हैं—'मा! अन्य उपायोंके अतिरिक्त अत्युत्तम हिंसाहीन कर्मयोगसे भी मेरी

क्रोधका परित्याग भी सदाचारका एक
महाभारतके वनपर्वमें शुक्राचार्य-देवयानी
अन्तर्गत क्रोध न करनेवाले पुरुषको उससे
बताया है, जो अश्रान्त सौ वर्षतक यज्ञ करता

यो यजेदपरिश्रान्तो मासि मासि शतं स
न कुद्ध्येद् यश्च सर्वस्य तयोरक्रोधनोऽधि

क्रोध, लोभ, अहंकार तथा कपटका
सदाचारी बननेके लिये आवश्यक मान्य शर्त
अपने हृदयमें सदाचारी गुणोंके पूर्ण वि
स्वाध्याय भी एक ऐसा मार्ग है, जो सेतुका
सकता है। अज्ञानसे छुटकारा पाना और ज्ञा
जगत्के स्वरूप तथा स्वयंको पहचानना
श्रेष्ठतम लक्ष्य है। इसी पुरुषार्थको मोक्ष कह
जीवन-मृत्युसम्बन्धी दुविधाका सुलझाव
मानवको अपनी मुक्ति अपने ही अंदर और
परिवेशमें खोजना सिखाकर वैदिक ऋषि
उपकार किया है, उससे उऋण तभी हुआ ज
है, जब हम उनके विचारोंको केवल पढ़ भर न

सदाचारकी गरिमा

(लेखक—वासुदेवके एक पथिक)

सत् वही है, जो नित्य है, निरन्तर है। जो वस्तुका, व्यक्तिका अथवा क्षण-क्षण परिवर्तनशील इन्द्रिय-गोचर दृश्यका परमाश्रय है, उसे ही परमात्मा कहते हैं। वही आनन्दमय है, परम शान्तिमय, सर्वशक्तिमय है, वह सत्-परमात्मा उत्पत्ति, विनाश तथा परिवर्तनसे रहित अखण्ड अनन्त परम तत्त्व है। उस सत्-परमात्माको ध्यान-ज्ञानमें रखते हुए जो आचरण मनुष्यद्वारा आचरित होता है, उसे ही श्रुति-स्मृतिमें सदाचार कहा गया है। सदाचारकी पूर्णतामें शाश्वत शान्ति एवं अखण्ड आनन्दकी अनुभूति है। दुराचारीको क्षणिक सुखके पीछे भागते हुए अन्तमें अशान्तिका दुःख भोगना पड़ता है। असदाचारी नित्यप्राप्त सत्-स्वरूप परमात्मासे विमुख रहकर अनित्य देहादिक वस्तुओंके सम्मुख रहता है, इसीलिये वह मोही, लोभी, अभिमानी, कामी आदि बना रहता है।

सदाचारको पूर्ण करना अपने-आप तथा जगत्के प्रति भी कल्याण करना है। सदाचारके द्वारा ही आसुरी वृत्तियोंको दमन किया जाता है और शक्तिको नष्ट करनेवाले वेगोंका शमन किया जाता है। सदाचारके सहारे ही क्रमशः क्रोधको क्षमासे तथा लोभको उदारतासे एवं मोहको विवेकसे, अभिमानको निम्रतासे और इन्द्रियसुखके प्रभावको नित्य सद्ज्ञानसे पराजित किया जाता है। सदाचार ही मानव-जीवनमें उन्नति, सद्गति, परमगति, परमशान्ति प्राप्त करनेके लिये भूमिका है। सदाचारकी पूर्णतामें ही दिव्यताका अवतरण होता है और दुराचार पतनकी भूमिका है। दुराचार मनुष्यको शान्तिके सम्मुख करता है तो मनुष्य[illegible]तिकी परिधिमें आबद्ध रखता

तथा कई भाषाओंके विद्वान् भी हैं। सदस्यों पदाधिकारी शासन-प्रशासनद्वारा समाजको सुन्दर आदर्श बनाना चाहते हैं, परंतु सदाचारकी पूर्णताके बिना समाजका सुन्दर बन पाना कठिन ही है।

सदाचारके बिना हृष्ट-पुष्ट और बलवान् पुरुष भी पशुके समान है। सदाचारके बिना ही धनवान् मनुष्य राक्षसके समान दूसरोंका शोषण करता है। सदाचार-हीन पदाधिकारी सत्तावान् दानवके समान निर्बलोंको सतानेवाला होता है। सदाचारमें तत्पर धर्मात्मा मानव-समाजका हितैषी होता है। सदाचारी वही है, जो भाग्यवश सुलभ होनेवाली शक्ति, सम्पत्ति, योग्यता और पदाधिकारद्वारा प्राणिमात्रकी सेवामें तत्पर रहता है। जबतक मनुष्य धनकी तृष्णा तथा मानकी तृष्णा एवं सुखोपभोगकी तृष्णाको पूर्ण करनेके लिये दरिद्रकी भाँति अधीर है, तबतक वह सदाचारका पालन नहीं कर पाता। सुखासक्ति, धनासक्ति, सम्बन्धासक्ति, अधिकारासक्ति मनुष्यको दुराचारी बनाये रखती है। धर्मप्रेमी मनुष्य ही आसक्तियोंसे मुक्त हो पाता है। ज्ञानमें सत्-असत् तथा विष-अमृतका निरीक्षण करनेवाला विरक्त हो जाता है। आसक्त व्यक्तिके लिये मोह, ममता आदि दोषोंसे विरक्ति और अनासक्त व्यक्तिके लिये सदाचार-व्रतमें दृढ़ रहना अनिवार्य है। कामी-क्रोधी-लोभी व्यक्ति कितना ही विद्वान् क्यों न हो, फिर भी वह सुखासक्तिके कारण सदाचारसे विचलित हो जाता है।

दया, क्षमा, उदारता, सहिष्णुता, विनम्रता, सरलता तथा सद्, आनन्द, धर्माधर्मका विवेक एवं निष्काम प्रेम आदि दैवी सम्पदा सदाचारतामें नित्य सहायक

...न्त्र और सांसारिक भूमि, भवन, धन बढ़ानेके लिये ...तन्त्र है; किंतु कुसंस्कार एवं कुसङ्गके कारण दैवी ...को बढ़ानेका संकल्प हर एक मनुष्य नहीं करता। ...सी, अभिमानी, घमंडी, अहङ्कारी लोगोंसे उसे ...दाचारकी ही प्रेरणा मिलती है। फलस्वरूप मनुष्य ...ी सदाचारका पालन भले नहीं करता, पर भी ...पने प्रति सदैव सदाचारका ही बर्ताव चाहता है। ...मानवसमाजमें जहाँतक परस्पर ईर्ष्या, द्वेष, कलह, क्रोध, निन्दा-घृणाके साथ हिंसात्मक व्यवहार चल रहा है, वह सब सदाचारके द्वारा समाप्त हो सकता है। मनुष्यको धन, वैभव, भूमि, भवन, ऐश्वर्य आदिके द्वारा जितनी भी सुखद सुविधाएँ सुलभ होती हैं, उन्हें दुराचारयुक्त प्रवृत्ति नष्ट-भ्रष्ट कर देती है। परमात्मा ज्ञान, प्रेमरूप तथा सभी सद्गुणोंसे परिपूर्ण है। उसके योगसे साधकको भी पूर्णता प्राप्त होती है। और, यह पूर्णताप्राप्ति जीवनका परम लक्ष्य है। यही सदाचारकी सिद्धि है।

वेदोक्त सदाचार

(लेखक—आचार्य श्रीउमाकान्तजी 'कपिध्वज', एम्० ए०, काव्यरत्न)

मनुष्यके परम विकासका अजस्रस्रोत धर्म ही है। ...ति-स्मृति-प्रतिपादित मर्यादाका अनुसरण, सत्-आचरण, ...णिमात्रके साथ सद्भावना एवं कर्तव्य, धर्माचार, मानसिक ...द्धिको ही धर्मका मूल बताया गया है। भारतीय दार्शनिकोंने ...संसार सभी जीवोंमें आत्मवत् दर्शनका उपदेश देकर दूसरोंके कष्टों, व्यथाओं और दुःखोंको अपनी अनुभूति ...नानेका उपदेश दिया और, 'आत्मनः प्रतिकूलानि ...रेषां न समाचरेत्' —(श्रीविष्णुधर्मो० ३। २५३। ...४)का निर्देश दिया। अपने विपरीत कोई भी कार्य ...सरोंके लिये भी न करे। दूसरे शब्दोंमें यही 'सदाचार' है। ...सके पालन करनेकी हमसे नैतिक अपेक्षा की जाती है। ...दान, सत्य बोलना, चोरी न करना, माता-पिता एवं गुरु-...जनोंकी आज्ञा शिरोधार्य करना, स्वदेश-प्रेम होना, दीन-...दुःखियोंपर दया करना, दिया हुआ वचन नहीं तोड़ना ...आदि नियमोंके समूहसे 'सदाचार'का कलेवर निर्मित है।

'सदाचार' मानव-जीवनमें उस कीर्ति-स्तम्भके समान है, जो मनुष्यको उसके जीवनकालमें तथा मृत्युके पश्चात् भी उसके यशस्वी शरीरको अमर बनाये रखता है। विष्णुपुराणमें सदाचारकी परिभाषा बतलाते हुए महर्षि और्व कहते हैं 'सत्'* शब्दका अर्थ साधु है और साधु वही है, जो दोषरहित हो। उस साधु (श्रेष्ठ) पुरुषका जो आचरण होता है, उसीको 'सदाचार' कहते हैं। स्कन्दपुराणमें भी कहा गया है कि 'राग' और 'द्वेष'से रहित उत्तम बुद्धिवाले महापुरुष जिसका पालन करते हैं, उसीको धर्ममूलक 'सदाचार' कहते हैं। †

वस्तुतः 'सदाचार'के आदिस्रोत हमारे वेद ही हैं। अथर्ववेद (११।५।१९)में ऋषि कहते हैं कि परमपिता परमात्माने अपने पुत्र मनुष्यको आदेश दिया है कि वह परस्पर सहानुभूति, उदारता और निर्वैरता धारण-करें, जिस प्रकार गौ अपने तत्कालके उत्पन्न बछड़ेकी गर्भस्थ

---

* साधवः क्षीणदोषास्तु सच्छब्दः साधुवाचकः। तेषामाचरणं यत्तु सदाचारः स उच्यते॥ (३।११।३)

† (क)—आचारः परमो धर्म आचारः परमं तपः।

(ख) यस्तूदारचमत्कारः सदाचारविहारवान्। स निर्याति जगन्मोहान्मृगेन्द्रः पञ्जरादिव॥

(योगवासिष्ठ मु० ६। २८)

मलिनताको अपने गुणसे काटकर उसे स्वच्छ और स्वच्छ बना देती है, उसी प्रकार मनुष्य भी एक दूसरेके कल्याणसाधनमें रत रहें। वहीं (१०। १५।५में।) यह भी कहा गया है कि उषशिनराष्ट्र राष्ट्रों एवं जातियोंके मानवोंको उचित है कि वे सबोंका सम्मान करें, सोच-विचारकर कार्य करें, कार्यसिद्धिपर्यन्त अथक परिश्रम करनेवाले हों, अपने लक्ष्यके प्रति दत्तचित्त हों, परस्पर वैर-विरोधका भाव न रखें, प्रेमपूर्वक भाषण करें तथा सभी मानवोंको ऐसा ज्ञान दें कि जिससे सबके मन शुद्ध हों। ऋग्वेदमें कहा गया है कि सब मानव धर्म एवं नीतिसे संयुक्त हुए परस्पर प्रेमसे सम्मिलित रहकर संघटित बनें। सब मिलकर अभ्युदयकारक अच्छे सत्य-हित-प्रिय वाक्योंको ही बोलें तथा परस्पर सबके मन, सुख-दुःखादिरूप अर्थको सबके लिये समानरूपसे जानें (१०। १९१)। जिस प्रकार पुरातन इन्द्र-वरुणादि देव धर्म एवं नीतिकी मर्यादाको जानते हुए अपने ही हविर्भागको अङ्गीकार करते हैं, उसी प्रकार आप सब मानव भी अपने ही न्यायोचित भागको अङ्गीकार करें—अन्यायसे अन्यके भागको ग्रहण न करें। इसी संदर्भमें वेद भगवान्का आदेश है कि पापकी कमाई छोड़ दो। पसीनेकी कमाईसे ही मनुष्य सुखी बनता है। पुण्यसे ही कमाया हुआ धन सुख देता है। (अथर्व० ७। ११५।)

'वसुधैव कुटुम्बकम्'की भावना 'सदाचार'का प्रधान अङ्ग है। इसके अभावमें मानव-जीवन अधूरा-सा प्रतीत होता है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि जो सब मानवोंको समान रूपसे देखता है, वही सच्चा मानव है। मनुष्यकी दृष्टि जब सर्वत्र समान हो जाती है, तब उसके सारे राग-द्वेष, सारे क्षोभ, सारे विरल... हो जाते हैं। इस स्थितिमें अपना उनका परि-वार उदार हो जाता है। उनके लिये वि... दुनिया अपने कुटुम्बका रूप धारण कर लेती है। विश्वपरिवारका सदस्य बन जाता है। उनके लिये 'मेरा', 'तेरा'-का भाव समाप्त हो जाता है। वह परस्त्रीको माताके तुल्य, परद्रव्यको मिट्टीके... एवं समस्त भूतोंको आत्मवत् ही समझने लगता है।*

'ऋग्वेदके एक मन्त्रमें प्रभु परमेश्वर सब जीवों... समानता बतलाते हुए परस्पर मिलकर ही उन्नत होने... आदर्श उपस्थित करते हैं। साथ ही यह भी कहते... कि जो अपनेको हीन मानकर दिन-रात रोनेमें ही व्यतीत... नहीं करते, वे ही सुदिन देखते हैं। इतना ही नहीं, वेद आगे कहते हैं—'प्रभु परमेश्वरके अमृत-पुत्रोंमें न कोई बड़ा है न छोटा और न मध्यम। इस प्रकारकी भावना रखनेवाले मनुष्य ही उत्तम और कुलीन कहे जाते हैं। जो मातृभूमिके सच्चे अर्थोंमें पुजारी हैं, वे ही दिव्य मनुष्य हैं, उनका स्वागत है। (ऋक्० ५। ५९६ और ५—६०,५।)

'तैत्तिरीयब्राह्मण' आदिमें भी इसी प्रकार मनुष्य... विषम भावकी समाप्ति कर समभावका सदुपदेश दिया... है।† इसी प्रकार श्रीमद्भागवत आदिमें परोपकारकी मह... प्रदर्शित करते हुए कहा गया है—'परोपकारी सज्ज... प्रायः प्रजाका दुःख टालनेके लिये स्वयं दुःख झेला करते हैं। परंतु यह दुःख नहीं है, यह तो सबके...

* मातृवत् परदारांश्च परद्रव्याणि लोष्टवत्। आत्मवत् सर्वभूतानि यः पश्यति स पश्यति॥
(आपस्तम्बस्मृति १०। ११, हितोपदेश १। १३, पञ्चतन्त्र ३। ३९, पद्मपु० १। १९।)

† ॐ समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो ... १११। १२)
(ऋक्संहिता ... १९१। ४, अथर्व० ६। ६४। ३, तै० ब्रा० ...

हृदयमें विराजमान भगवान्‌की परम आराधना है । परोपकारके लिये आत्मबलिदान करनेवाले ऐसे महापुरुषोंकी गौरव-गाथासे भारतका इतिहास देदीप्यमान है । नागोंकी प्राण-रक्षाके लिये अपने जीवनका दान करनेवाले जीमूतवाहन, कबूतरकी प्राण-रक्षाके लिये अपने शरीरका मांस देनेवाले राजा शिवि, याचकके लिये अपने शरीरका कवच-कुण्डल दान करनेवाले उदारमना कर्ण, गो-रक्षाके लिये अपना शरीर समर्पित करनेवाले महाराज दिलीप, सुर-समुदायके हितार्थ अपनी अस्थियोंका दान करनेवाले महर्षि दधीचि और स्वयं भूखे रहकर (भूखकी ज्वालासे तड़पते हुए भी) भूखी आत्माओंको अन्न-जलका दान करनेवाले महाराज रन्तिदेव आदिके नाम क्या कभी मानवताके इतिहाससे भुलाये जा सकेंगे ? उन्होंने श्रीभगवान्‌द्वारा वर-याचनाकी अनुमति पानेपर भी यही माँगा कि मैं अष्टसिद्धियों, स्वर्ग-मोक्षादिकी कामना नहीं करता, मेरी तो यही कामना है कि मैं समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित होकर उनका दुःख स्वयं भोगूँ ।* कहनेकी आवश्यकता नहीं कि यही सदाचारका रहस्य है । सबके जीवनके साथ मिलकर ही हम अपने जीवनको परिपूर्ण कर सकते हैं । अपने विचारोंको संकुचित करके हम अपने 'स्व'का—अपने आत्माका ही हनन करते हैं, उसको अपेक्षाकृत क्षुद्र दीन-हीन बना देते हैं, जब कि वह स्वरूपसे अनन्त है । आत्माकी विशालताको सतत चरितार्थ करना ही सदाचारका अर्थ है, और इसीसे निःश्रेयसकी, पूर्णताकी, मुक्तिकी प्राप्ति होती है ।

हमारे ऋषि-मुनियोंने सदाचारी मनुष्यके लिये *पालनीय सात मर्यादाओंका बारंबार उपदेश दिया है ।* उनका सुन्दर नामकरण, वर्गीकरण एवं मानव-साध्य आदर्श पाठ प्रस्तुत करते हुए ऋग्वेदके एक मन्त्रमें कहा गया है कि 'हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मद्य-पान, जुआ, असत्य-भाषण तथा पाप-सहायक दुष्ट—इनका वर्जन ही सप्त-मर्यादा है† ।' इनमेंसे प्रत्येक मानव-जीवन-घातक है, यदि कोई एकके भी फंदेमें पड़ जाता है तो उसका जीवन नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, किंतु जो इनसे बचकर निकल जाता है, निःसंदेह वह आदर्श मानव बनकर रहता है। (ऋक्सं० १०।५।६।) इतना ही नहीं, मनुष्यको प्रबलतम पापोंसे बचनेके लिये भी बहुत ही सरस-मधुर एवं साहित्यिक उपदेश देते हुए कहा गया है कि 'हे मनुष्य ! तू साहसी बनकर गरुड़के समान घमंड, गीधके समान लोभ, चकवेके समान काम, श्वानके समान मत्सर, उल्लूके समान मोह और भेड़ियेके समान क्रोधको समझकर उन्हें मार भगा । ‡

सम्प्रति, यह कहना युक्ति-युक्त प्रतीत होता है कि हमारी वैदिक मान्यताएँ और आदर्श निःसंदेह मनुष्यको *सदाचारी बनने तथा अपना गन्तव्य सुधारनेकी दिशामें* बहुत ही सक्रिय और महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करती रही हैं । उनका पालन करना प्रत्येक भारतीयका परम कर्तव्य है ।

---

* श्रीमद्भा० ८।७।४४, ६।१०।८, मानस ७।४०-१।२, ३।३०।४-१।२७, वही ९।२१।१२।

† सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्। आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ॥
(ऋक्० १०।५।६)

‡ उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्। सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥
(ऋक्० ७।१०४।२२)

वेदोंमें सदाचार

(लेखक—स्वामीजी श्रीविद्यानन्दजी 'विदेह')

ऋतस्य गोपा न दभाय सुक्रतु-
स्त्रीष्पवित्रा हृद्यन्तरा दधे।
विद्वान् स विश्वा भुवनाभि-
पश्यत्यवाजुष्टान् विध्यति कर्ते अव्रतान् ॥
(ऋग्वेदसं० ९ । ७३ । ८)

'(ऋतस्य गोपाः) सत्य (सदाचार)का रक्षक (सुक्रतुः) सुकर्मा (दभाय न) दबनेके लिये नहीं हैं, (सः हृदि अन्तः) उसने हृदयके भीतर (त्रीष्पवित्रा आदधे) तीन पवित्रताओंको धारण किया है । (स विद्वान्) वह सर्वज्ञ प्रभु (विश्वा भुवना अभिपश्यति) सब लोकों—धामों—स्थानोंको देख रहा है । वह अवाजुष्टान् अव्रतान्—असेवनीय, असदाचारी अव्रतियोंको (कर्ते अव विध्यति) गर्तमें—गढेमें गिरा देता है ।'

अनृत दुराचार है, ऋत सत्य या सदाचार है । सत्य परम तत्त्व है । अनृत अथवा दुराचारका जो व्यवहार करते हैं, वे दस्यु हैं । ऋत अथवा सदाचारका जो व्यवहार करते हैं, वे आर्य हैं । सत्य अथवा परम तत्त्वमें संस्थित होकर जो व्यवहार करते हैं, वे देव हैं । उपर्युक्त मन्त्रमें ऋत और ऋताचारी, सदाचार और सदाचारी आर्यका सुन्दर विश्लेषण है । उपर्युक्त मन्त्रके अनुसार ऋत-सत्य-सदाचारका रक्षक किसीसे न दबता है, न डरता है और न किसीके आतङ्कसे आतङ्कित ही होता है । सदाचारकी रक्षा करनेवाला, सदाचारके पथपर चलनेवाला सदा अदब्ध और अदम्य रहता है । कोई उसे कितना भी दबाये, कितना भी सताये, कितना भी छकाये, कितना भी आतङ्कित करे, उसकी परेशानीपर सलें नहीं पड़तीं । वह तो बड़े-से-बड़े कष्टोंको भी सहजतया सह लेता है । वह बड़ी-से-बड़ी आपत्तियोंको पुष्पहारकी भाँति सहार लेता है । बड़े-से-बड़े संकट उसे विचलित नहीं कर पाते । सहयोगका, साधन और अर्थका अभाव उसे पीछे नहीं हटा सकता । प्रलो- उसे विमुग्ध नहीं कर सकते । कनक और कामि उसके ईमानको डिगा नहीं सकते । वैर-विरोधके सम यह दृढ़ताके साथ डटा रहता है । ईर्ष्या-द्वेष उसका स्प नहीं करते और विकार उसे विकृत नहीं कर पाते । भोग- विलास, विषय-वासना, दुःख-विषाद उसे निढाल (शिथिल) नहीं करते । वह तो हर अवस्थामें अचल और निर्द्वन्द्व रहता है । अदब्धता—अदम्यता ऋताचारका लक्षण है । कभी किसीसे किसी भी प्रकार न दबना सदाचारिताका चिह्न है । ऋताचारी सुशील और शालीन तो होता ही है, पर दब्बू नहीं होता । सदाचारी विनम्र और लचकीला होता है, पर साहसी और निर्भीक होता है । ऋताचारके अभिमानी, सदाचारके स्वाभिमानी एक क्षणको भी यह न भूलें कि सदाचारकी रक्षा करनेवाला दबाये नहीं दबता है । 'ऋतस्य गोपा न दभाय'—यह वैदिक सूक्ति कितनी सुन्दर और प्रेरणाप्रद है ।

काल, समय, अवस्था, परिस्थिति, ऋतु, विधि और हालतकी क्या मजाल है कि सदाचारीको दबा सकें, दुर्घटनाओं और अनाचारियोंका क्या मजाल है कि सदाचारीका मुख मोड़ सकें । चाहे पर्वत उचट-उचट कर उससे टकरायें, चाहे ब्रह्माण्ड उसपर टूट पड़े, चाहे सारी सृष्टि उससे रूठ जाये, चाहे श्री, किंवा लक्ष्मी सदाके लिये उससे रुष्ट हो जाय, चाहे विधि उसके विरुद्ध हो जाय, चाहे अग्निकी ज्वालाएँ उसे जलाने लग जायँ, चाहे अपने-पराये सब उससे मुख मोड़कर चले जायँ, चाहे चक्रवर्ती सम्राट् उसका शत्रु बन जाय; पर सदाचार-का धनी नहीं दबेगा, कदापि नहीं दबेगा, नहीं ठिठकेगा, नहीं झिझकेगा, वह ऋतके पथसे अपना पग न हटायेगा ।

ऋतके गोपाकी महिमा और सुनिये । ऋतका रक्षक सुकर्मा होता है। सदाचारी निःसंदेह सुकर्मा होता है । सदाचारी सदा सुकर्म ही करता है। सदाचार और सुकर्मका जोड़ा है। ये दोनों सदा एक दूसरेके साथ रहते हैं । जहाँ सदाचार होगा, वहाँ सुकर्म अवश्य होगा। सुकर्म वहीं होगा, जहाँ सदाचार होगा। सदाचारके साथ कुकर्मका कोई सम्बन्ध नहीं है। कुकर्म तो दुराचारका बन्धु है । कुकर्म दुराचारका सहगामी है अथवा यों कहिये—कुकर्म दुराचारकी छाया है और सुकर्म सदाचारकी । सदाचारी प्राण त्याग देगा, किंतु सुकर्मका त्याग नहीं करेगा। सदाचारी सर्वनाशकी ज्वालामें जल जायगा, किंतु कुकर्मका आश्रय लेकर अपनी रक्षा कदापि नहीं करेगा । सदाचारिणी हँसते-हँसते चितामें जीवित जल जायेगी, किंतु अपावन कुकर्मको अपने जीवनका स्पर्शतक न करने देगी। सदाचारी अपने बाल-बच्चोंसहित भूखा मरना स्वीकार करेगा, पर कुकर्मसे पेट भरनेका स्वप्नमें भी विचार न करेगा। सदाचारी सानन्द मृत्युका आलिङ्गन कर लेगा, पर कुकर्मको निकट न आने देगा। सदाचारी पराजय स्वीकार करेगा, पर कुकर्मसे विजय-सम्पादन कदापि न करेगा। सदाचारिणी नंगे गात रहेगी, किंतु कुकर्मद्वारा अपने शरीरको भूषित कदापि न करेगी । इस छोटी-सी सूक्तिमें कितनी सुन्दर और कैसी दिव्य शिक्षा अन्तर्निहित है कि 'ऋतस्य गोपा सुक्रतुः'—ऋतका रक्षक सुकर्म ही करेगा।

ऋतका रक्षक न दबेगा, न कुकर्म करेगा; क्योंकि उसने हृदयके भीतर तीनों पवित्रताओंको धारण कर लिया है । हृदयमें धारणीय तीन पवित्रताएँ हैं—आत्माकी पवित्रता, चित्तकी पवित्रता, मनकी पवित्रता । कुकर्म कोई तब करता है, जब उसके मन-चित्त और आत्मामें मलिनता होती है । कोई किसीसे तभी दबता है, जब वह कुकर्म करता है । मनुष्य सुकर्म कब करता है ?—जब उसका मन-चित्त और आत्मा निर्मल होता है । मनुष्य अदम्य और निर्भय कब रहता है ?—जब वह सुकर्म-ही-सुकर्म करता है । कुकर्मी दबता है। कुकर्मीको दबना पड़ता है। सुकर्मी किसीसे क्यों दबेगा ? जब मानव अपने मन, चित्त और आत्मासे नितान्त पवित्र हो जाता है, तब उसके विचार भी निर्मल हो जाते हैं। विचारोंके निर्मल हो जानेपर वह सदा सुकर्म ही करता है। सुकर्मसे अदम्यता और निर्भयताकी स्थापना होती है।

अदम्यता, सुकर्म और पवित्रता—इन तीनोंके संयोग-का ही नाम ऋत अथवा सदाचार है। सदाचारके तीन आधार हैं, अदम्यता, सुकर्म और पवित्रता। सदाचारीके तीन लक्षण हैं, सदाचारी अदम्य होगा, सुकर्मी होगा, पवित्र होगा। पवित्रता, सुकर्म और अदम्यता सदाचारके अनिवार्य और सुसंगत अङ्ग हैं। यदि किसीमें इन तीनों अङ्गोंमेंसे किसी एक अङ्गका भी अभाव है तो समझ लेना चाहिये कि वह सदाचारी नहीं है। ऋतका रक्षक, सदाचारका प्रहरी समझता है कि वह सर्वज्ञ प्रभु समस्त भुवनोंको, अखिल लोकोंको, अखिल लोकोंमें सकल धामों और स्थानों-को सर्वतः देख रहा है। किसी भी लोक और स्थानमें जब उस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्‌की दृष्टि उसे देख रही है, तब वह कहीं किसीसे क्यों दबने और डरने लगेगा ? वह सदाचारका पुतला लावारिस तथा अनाथ नहीं है, फिर वह अदम्य क्यों न हो । फिर उसे किसी प्रकारका भय या किसी प्रकारकी शङ्का हो ही कैसे सकती है ? ऋत-का प्रेमी जब यह विश्वास रखता है कि वह सर्वदा उसके मनके संकल्प और उसके मस्तिष्कके विचारतकको जान लेता है तो उस सर्वज्ञकी सुदृष्टिमें वह किसी कुकर्मका विचारतक नहीं कर सकता । जब वह उस सर्वज्ञकी सर्वव्यापिनी सर्वज्ञतामें निष्ठा रखता है तो उसके हृदयमें और उसके जीवनमें अपवित्रता कैसे ठहर सकती है ?

ईश्वरकी सर्वव्याप्ति और सर्वज्ञताकी भावना ही सदाचारका उद्गम है। जिस मनुष्यको इस बातमें विश्वास नहीं है कि वह न्यायकारी प्रभु सर्वव्यापक और सर्वज्ञ है तथा वह अन्तर्यामी रूपसे सबको देख रहा है, वह मनुष्य सदाचारी नहीं हो सकता। जिसे उस सर्वज्ञके न्याय-नियममें विश्वास है, वही सदाचारी होगा। सदाचारके पुजारीको विश्वास होता है कि सच्ची, स्थायी और शाश्वत विजय सदाचारकी ही होती है। वह सदाचार-सम्बन्धी सारे व्रतोंको धारण किये रहता है तथा सर्वदा अदम्यताका व्रत लिये रहता है। वह जानता है कि अदम्यताके बिना सदाचारके व्रतका पालन नहीं हो सकता। सदाचारकी रक्षामें पदे-पदे आपदाओंका साम्मुख्य करना होगा। इस कारण उसने संसारसागरमें अदम्यताके साथ जूझनेका व्रत ले लिया है। उसने सदा सुकर्म करनेका व्रत धारण कर लिया है; क्योंकि वह जानता है कि यदि उसने भूलकर भी कभी कोई कुकर्म किया तो उसके सदाचारको बट्टा लग जायगा। उसने पवित्रताका व्रत लिया है; क्योंकि वह जा[नता] है कि पवित्रताके बिना सदाचारके साथ एक [क्षण] भी न निभ सकेगी। वह जानता है कि अपवित्र[ताका] जरा-सा भी स्पर्श उसके सदाचारके भव्य-भवनको क्ष[ण]-भरमें धड़ामसे ढाह देगा। इसीसे उसने व्रत लिया [है] कि वह अपने हृदयको, मनको, चित्तको सदा पवि[त्र] रखेगा। उसने व्रत लिया है कि वह अपने विचार, वचन, व्यवहारको निरन्तर विशुद्ध रखेगा। उसने व्र[त] कर लिया है कि वह अपनी दृष्टि, श्रुति, संस्पर्शको नितान्त शुद्ध रखेगा।

सदाचारकी रक्षा सर्वोपरि और सर्वातिशय कठिन साधना है। जो इस साधनाको अपने जीवनकी साध बना लेता है, जो इस साधनामें संसिद्धि प्राप्त कर लेता है, वह सत्यको प्राप्त करता है, सत्यस्वरूपमें संस्थित होकर विश्वमें सत्य और सदाचारकी ज्योति जगमगाता है और शरीर त्यागनेपर ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करता है।

अथर्ववेदमें सदाचार

(लेखक—डॉ० श्रीवासुदेवकृष्णजी चतुर्वेदी, डी० लिट्०)

भारतीय संस्कृति विश्ववन्दनीया है। यह प्रत्येक भारतीयके गौरवकी बात है कि वह उस संस्कृतिका अविभाज्य अङ्ग माना जाता है, जिसे विश्वसंस्कृतियोंका मुकुटमणि कहा जाता है। इस संस्कृतिकी अनुपम विशेषताओंमें एक विशेषता सदाचार भी है। सामान्यतः सदाचार दो शब्दोंसे बना है—सद्+आचार—'सदाचार'। किंतु सामान्यतः 'श्रेष्ठ आचरण' का [illegible] नहीं [illegible]; [illegible] वेद-[illegible] इस प्रकार की—

[illegible]।
[illegible] सदाचार [illegible]॥
(१।१०।१)

[illegible] है—सद् शब्द और उसका आचरण है 'सदाचार'।' रामायणमें सदाचार [illegible] जाता है—जैसे—

सदाचार का कौन बिचारा। [illegible] बिबेक करहु मनु भाषा॥
(मानस १।८१।४)

किसी देशकी उन्नति व्यक्तिके सदाचारसे जानी जाती है। समष्टि और व्यष्टि दोनोंमें सदाचारकी महत्ता है। सदाचारी व्यक्ति विद्वान् हो तो महान् है। पर वह विद्वान् न भी हो, किंतु सदाचारी हो तो भी वह सम्मान्य होता है। सदाचार केवल लोगोंका अनुमान है, ऐसी बात नहीं, अपितु यह वेदविहित [illegible] है—

[illegible]।
(अथर्व० १।१४।१)

इसमें प्रार्थना की गयी है कि मेरी विद्या मधुमय हो और विद्याके द्वारा [illegible]

।' विचार करके देखा जाय तो यह सुस्पष्ट है कि
चारीकी जिह्वामें माधुर्य रहता है और वह मनसे भी
होता है। जिह्वाद्वारा ही संसारमें संधि-विग्रह होते रहे
जिह्वाकी मधुरतापर क्रूरोंको भी क्रूरता त्यागकर
साधुओंका मार्ग ग्रहण करना पड़ा है। जो आर्य है,
वह यही कामना करता है कि मैं वाणीसे, मनसे मधुर
नूँ। मनुष्यका कर्तव्य है कि वह अपनेको सर्वप्रिय
नानेका प्रयत्न करे। घरमें आना या जाना, वार्तालाप
ना या नेत्रोंद्वारा किसीको देखना—सब कुछ मधुर
। देखनेमें कुछ लोग मधुर हो सकते हैं; पर उनका
लाप या अवलोकन मधुर नहीं होता। गृहस्थ व्यक्ति-
शिक्षा देते हुए वेदभगवान्‌का कथन है कि वह पत्नी-
का ऐसी प्रेमभरी दृष्टिसे देखे कि वह प्रेमकी मधुरताके
वश हो स्वप्नमें भी किसी परपुरुषकी कामना न करे—

परि त्वा परितत्नुनेक्षुणागामविद्विषे।
यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः॥
(अथर्व० १। ३४। ५)

'हम परस्पर एक दूसरेके प्रति एक हृदय, एकचित्त तथा
रहित होकर रहें। एक दूसरेके प्रति ऐसा प्रेम करें, जैसे
बछड़ेसे प्रेम करती है। हम तुम्हें ईखसे घेरते हैं,
ा व्यवहार मधुर एवं द्वेषरहित हो। पुत्रको

(इस ऋचाको अ
सल्पान्तरसे देखा जा स

पापक

वेद भगवान्‌का कथ
संकल्प करे कि मैं कभी दू
करूँ। वह पापोंसे मुक्ति-हेतु
व्यूहं सर्वेण पाप्मना

पापका अर्थ मानसिक
रहना बहुत बड़ा

वेदभगवान्‌के
सर्वदा
उपदेश
परस्पर

उपनिषदोंमें सदाचार

(लेखक—श्रीसोमचैतन्यजी श्रीवास्तव, एम्० ए०, शास्त्री, एम्० ओ० एल्०

श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार सदाचारका 'सत्' शब्द ब्रह्म, सद्भाव, साधुभाव, प्रशस्त कर्म, यज्ञ, तप एवं दानका वाचक है। इनकी सिद्धि अथवा प्राप्तिके लिये किया गया कर्म भी 'सत्' शब्द द्वारा उक्त या अभिव्यक्त होता है। (१७ । २३—२७ ।) इस प्रकार सद् ब्रह्मकी प्राप्तिके उद्देश्यसे स्थूल एवं सूक्ष्म-शरीर, इन्द्रियाँ, वाणी, मन, हृदय एवं बुद्धिद्वारा की गयी प्रत्येक भली चेष्टा एवं भाव सदाचार हैं। शास्त्रोंमें ...लको 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' द्वारा निर्दिष्ट किया गया । इनमें 'सत्' शब्द ब्रह्मके सत्यमें प्रतिष्ठित स्वरूपका ...देशक है। इस शुद्ध सत्तावान्, ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये वेद शास्त्रोंका ज्ञान, तप एवं ब्रह्मचर्यादि सदाचारका ...। किया जाता है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत् ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥
(कठोप० १ । २ । १५)

उपनिषदोंका कहना है कि जो दुश्चरित्र हैं, जिनका मन अशान्त और विक्षिप्त है, वे प्रज्ञान द्वारा भी ब्रह्मको नहीं प्राप्त कर सकते। ऐसे लोगोंको बार-बार इस संसारमें आना पड़ता है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥
(कठ० १ । २ । २४, १ । ३ । ७ आदि)

...शरीरे सत्यं ज्योतिः ...त्वं पारमार्थिकम् ।
...क्षीणदोषाः प्रपश्यन्ति ...नेतरे मायायावृताः ॥
(...उपनिषद्, उ० का० ११)

...द्वारा प्रतिपादित सदाचरण एवं आत्मानुभवोंको ... तथा ... ... करनेवाली है और ... प्रकारके ... नाश करनेवाली है—

चरणं पवित्रं विततं पुराणं
तेन पवित्रेण शुद्धेन पूता ...
(महानारायणोप० । १ । ५१, तैत्तिरीय० ब्रा० ...

सामान्यरूपसे 'पातञ्जलयोगसूत्र'में प्र... एवं पाँच नियमोंमें सभी प्रकारके सदाचा... हो जाता है, फिर भी अधिक स्पष्टता एवं ... पालनीय व्रतोंकी निश्चितताके ... इनकी संख्या दस-दस बतायी गयी है। इनमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, सरलता, धृति, मिताहार और शुचिता—ये दस यम तप, संतोष, आस्तिकता, दान, ईश्वरपूजन, सिद्धान्तका श्रवण, लज्जा, मति, जप एवं व्रत—ये नियम। (शाण्डिल्योपनि० १ । २ ।) ...ब्राह्मणोपनिषद् (२ । १ । ३)के अनुसार शीतोष्णाहार निद्रापर विजय, सर्वदा शान्ति, निश्चलता तथा विषे...न्द्रियनिग्रह—ये यम हैं तथा गुरुभक्ति, सत्यमार्गानुरक्ति, सुखागतवस्तु (ब्रह्म)का अनुभव एवं उस अनुभवसे प्राप्त तुष्टि, निःसङ्गता, एकान्तवास, मनोनिवृत्ति, कर्मफलकी अभिलाषाका न होना तथा वैराग्य—ये नियम हैं। (१ । १ । ४ ।) 'त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्' (२८, २९)में देहेन्द्रियोंमें वैराग्यको 'यम' तथा परतत्त्वमें अनुरागको 'नियम' बताया है।

सदाचारके रूपमें पालनीय धर्मोंका वर्ण, आश्रम, आयु, अवस्था, जाति, लिङ्ग आदि भेदसे बहुत प्रकारसे विभाग हो सकता है, परंतु यह स्मरण रखना चाहिये कि सभी सदाचरण ... है। सदाचरण ... एवं सदाचरणके आचरणसे सभी व्रत, धर्म एवं आचरण ... हो जाते हैं। 'बृहदारण्यकोपनिषद्'के अनुसार 'सत्य' ही ब्रह्म है, सत्य ही धर्म है। ... ...

सत्यं ह्येव ब्रह्म। (४।१।१)
यस्मात् परतरं नास्ति यो वै धर्मः सत्यं वै तत्। (१।४।१४)

जैसे भूमिमें गड़ी या दबी हुई निधिका ज्ञान उक्त देशके ऊपर घूमने-फिरनेवाले व्यक्तिको नहीं होता, उसी प्रकार नित्य सुषुप्त-दशामें ब्रह्मके समीप जानेवाली प्रजाको भी अपने हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे वास करनेवाले ब्रह्मका ज्ञान असत्यसे आच्छादित होनेके कारण नहीं होता—

एवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः॥ (छान्दोग्योप० ८।३।२)

केनोपनिषद्-(४।८)का कहना है कि सत्य ब्रह्मविद्याका आयतन (गृह) है। सत्यमें ब्रह्मविद्या निवास करती है। मुण्डकोपनिषद्-(३।१।६) के अनुसार सदा सत्यकी ही जय होती है, झूठकी नहीं। देवयानका विस्तार सत्यके द्वारा ही हुआ है—

सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः॥

'सत्य जीवनका मूल है, जीवनवृक्षको संवर्धित करनेवाला रस है। जो झूठ बोलता है, उसका जीवन समूल शुष्क हो जाता है'—

समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति॥ (प्रश्नोप० ६।१)

ब्रह्मलोक उन्हींको प्राप्त होता है, जिनमें सत्य प्रतिष्ठित है तथा जो तप एवं ब्रह्मचर्यका पूर्णरूपेण पालन करते हैं, अनुष्ठान करते हैं। सत्यधर्मका साक्षात्कार करनेके लिये प्रत्येक वस्तुमें निहित निर्भ्रान्त शुद्ध सत्यको जानने एवं पानेके लिये बाहरसे आपाततः रमणीय एवं हितकर दिखायी देनेवाले पदार्थ-रूपोंके प्रति आसक्ति तथा लोभका परित्याग अपरिहार्य है। रूपकी चकाचौंधसे रमणीयता एवं लोभ-तृष्णाके आकर्षणसे सत्यका मुख आच्छादित हो जाता है। इस आच्छादनको दूर किये बिना सत्यका दर्शन कैसे हो सकता है? (ईशोप० १५।) सत्यमें वायु, सूर्यादि देवता प्रतिष्ठित हैं। सत्यमें ही वाणीकी प्रतिष्ठा है। सत्य मोक्षका परमसाधन है—

सत्येन वायुरावाति सत्येनादित्यो रोचते दिवि। सत्यं वाचः प्रतिष्ठा सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मात् सत्यं परमं वदन्ति॥ (महानारायणोप० ७९।१।)

सत्यके अतिरिक्त तप, ब्रह्मचर्य (दम), ईश्वरार्पित कर्म, सम्यग्ज्ञान, श्रद्धा एवं नित्योपासना (ध्यान) भी मुमुक्षुके द्वारा अनुष्ठानके योग्य प्रमुख सदाचार-व्रत हैं।

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम्॥ (केनोप० ४।८)

परा, विद्या भी सत्य, तप, वेदान्तज्ञान, ब्रह्मचर्यादिसे ही प्राप्त होती है—

एवं रूपा परा विद्या सत्येन तपसापि च। ब्रह्मचर्यादिभिर्धर्मैर्लभ्या वेदान्तवर्त्मना॥ (पाशुपतोप० उ० का० १२)

छान्दोग्योपनिषद्-(३।१७।४)में तप, दान, आर्जव, अहिंसा एवं सत्य वचनको आत्मयज्ञकी दक्षिणा बताया गया है। इस उपनिषद्के अनुसार धर्मरूपी वृक्षके तीन मुख्य स्कन्ध हैं। प्रथम स्कन्ध है—यज्ञ, अध्ययन एवं दान। द्वितीय स्कन्ध है—तप और तृतीय स्कन्ध है—नैष्ठिक ब्रह्मचर्य। तपके सम्बन्धमें महानारायणोपनिषद्में एक स्थान (७८।२) पर अनशनको (उपवास अथवा धर्मानुष्ठानके लिये काय-क्लेशके सहनेको) तथा अन्यत्र बुद्धि एवं चित्तकी निर्मलता तथा संयमादिको भी तप कहा गया है। मुण्डकोपनिषद् (१।१।९) 'यस्य ज्ञानमयं तपः' कहकर सर्वदा चैतन्यभावसे युक्त रहने एवं सत्यज्ञानमें स्थितिको 'तप' स्वीकार करती है। महानारायणोपनिषद् परमात्म-ज्ञानके प्रति उपकारक होनेके कारण ऋत, सत्य, वेदज्ञान, प्रशान्तचित्तता,

देवगण, पितृगण, मनुष्य, अन्य प्राणियों तथा स्वयं अपने प्रति भी अनेक पाप-कर्म करता है। उसे अहर्निश कृतपापका नाश करनेकी तथा अपनेको अधिकाधिक पवित्र बनानेकी आवश्यकता है। साधक सायं एवं प्रातःकी संध्योपासना तथा गायत्री-जपके द्वारा दिवारात्रिकृत पापोंसे मुक्त हो जाता है—

यदह्ना कुरुते पापं तदह्नात् प्रतिमुच्यते।
यद्रात्रियात्कुरुते पापं तद्रात्रियात्प्रतिमुच्यते।
(महानारायणोप० १४। २)

संध्योपासनाके अतिरिक्त मन्त्रविहित कर्म यज्ञ, नित्य एवं नैमित्तिक अग्निहोत्र, अतिथिसत्कार एवं वैश्वदेव यज्ञका नित्य अनुष्ठान भी अत्यन्तावश्यक है। ये पञ्चमहायज्ञ नित्य अनुष्ठान करनेपर पुण्यके जनक तो नहीं होते हैं, परंतु न करनेपर सात पीढ़ियोंका नाश कर देते हैं। अतिथिको वैश्वानर अग्निका रूप बताया गया है तथा उसे अर्घ्य-पाद्य देकर सन्तुष्ट करनेका संकेत दिया गया है। (कठोप० १। १। ७।) किसी भी गृहस्थके घरमें ब्राह्मण अतिथिका बिना भोजन किये रहना अत्यन्त अमङ्गलकारी है तथा उसकी आशा-अभिलाषा, इष्टापूर्तके पुण्यकर्म एवं पुत्र, पशु आदि सभीका नाश करनेवाला है—

आशाप्रतीक्षे संगतꣳसूनृतां च
इष्टापूर्ते पुत्रपशूꣳश्च सर्वान्।
एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो
यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे॥
(कठोप० १। १। ८)

उपनिषद्ने यह भी संकेत दिया है कि मनुष्यकी प्रकृतिमें जिस दोषकी प्रधानता हो उसे दूर करनेके लिये अपनेमें उक्त दोषके विपरीत प्रकृतिके गुणको अभ्यास करना चाहिये। कामलिप्साप्रधान ...) पुरु... 'दया-' अभ्यास करना चाहिये। इन तीनों प्रकारके व्यक्ति क्रमशः देव, असुर एवं मानवजातिकी प्रकृतिका प्रतिनिधित्व करते हैं। यह बात बृहदारण्यकोपनिषद्के पञ्चम अध्यायके खिलकाण्डमें वर्णित प्रजापतिद्वारा अपने पुत्रों—देव, असुर, मानवोंको केवल एकाक्षर 'द' के द्वारा उपदेश देनेकी लघु कथामें स्पष्ट रूपसे प्रतिपादित की गयी है। वस्तुतः दुर्गुणोंमें काम, क्रोध एवं लोभ सबसे अधिक प्रबल हैं। अतएव श्रीमद्भगवद्गीता (१६। २१)में इन्हें नरकके तीन द्वार बताकर इन तीनोंको परित्याग देनेका उपदेश दिया गया है। ये सदाचारके भी शत्रु हैं।

सदाचार एवं कदाचार व्यक्तिगत भी होता है एवं सामाजिक भी। व्यक्ति स्वतन्त्र इकाई नहीं है, वह कर्म-रज्जुद्वारा अपनी वंशपरम्परा तथा समुदायसे बँधा हुआ है। अतएव वह वंश तथा समुदायमें किये गये पाप-पुण्यमें सहभागी होता है तथा अपने सुकर्म एवं दुष्कर्मसे अपनी अगली-पिछली पीढ़ीको तथा अपने समाजको भी प्रभावित करता है। अतएव शास्त्रोंमें पापी, अपराधी व्यक्तियोंकी संगति करनेका तथा उनका अन्न ग्रहण करनेका निषेध मिलता है। व्यक्ति, कुल एवं समाजपर पड़नेवाले अनिष्टकर प्रभावके तारतम्यके अनुसार इन दोषोंकी महापातक एवं लघुपातकके रूपमें गणना की गयी है। महानारायणोपनिषद्के अनुसार स्वर्णकी चोरी, ब्रह्महत्या, सुरापान, गुरुपत्नीसे व्यभिचार महापाप हैं तथा इन पातक कर्म करनेवालोंके साथ व्यवहार करनेवाला भी महापातकी है—

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरꣳस्तैरिति।
(५। १०। १)

इसी उपनिषद्के एक अन्य स्थल (१। ६८) में शास्त्रविरुद्ध कार्य, ब्रह्मचर्यव्रतका भंग, चौर कर्म एवं भ्रूणहत्याको तथा अन्यत्र (६५। २) गौकी चोरी,

उपनिषदोंमें सदाचार-सूत्र

(लेखक—श्रीअनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्यजी महाराज तर्कशिरोमणि)

'उपनिषद् केवल आत्ममूलक परलोक शास्त्र ही नहीं त्युत इनमें निर्दिष्ट सदाचारोंके पालनसे हम ऐह- क जीवनमें भी—अपने व्यक्तिगत जीवन, कुटुम्ब- ।, समाज-जीवन एवं राष्ट्रजीवनमें भी महान् उत्कर्ष कर सकते हैं। औपनिषद शिक्षासूत्रके नियन्त्रणमें हुआ मानव अधिकार-योग्यतानुसार अपने लक्ष्यमें सकता है। उसके लिये उपनिषदोंमें सदाचार- धी आदेश इस प्रकार दिये गये हैं—

) मातृदेवो भव—माताके भक्त बनो।) पितृदेवो भव—पिताके भक्त बनो।) आचार्यदेवो भव—आचार्यके भक्त बनो।) यानि अनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि तराणि—सबके सद्गुणोंका ही ग्रहण करो। णोंका नहीं। (५) अतिथिदेवो भव—अतिथियोंका ार करो। (६) वृद्धसेवया विज्ञानम्—वृद्धोंकी से दिव्य ज्ञान होता है। (७) सत्यं वद—सदा भाषण करो। (८) धर्मं चर—धर्मका आचरण । (९) मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि—किसीकी ा मत करो, अर्थात् किसीको कष्ट न दो।) देवकार्यान्न प्रमदितव्यम्—देवकार्यको कभी ुल मत करो। (११) *मा गृधः कस्य स्विद् धनम्—* ोकी सम्पत्तिपर नीयत मत बिगाड़ो। (१२) न्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः—कार्य ो हुए सौ वर्षोंतक जीवित रहनेकी इच्छा रखो। (१३) स्वाध्यायान्मा प्रमदः—स्वाध्यायसे प्रमाद न करो। (१४) भूत्यै न प्रमदितव्यम्—सम्पत्तिका दुरुपयोग न करो। (१५) नैषा तर्केण मतिरापनेया—कुतर्कद्वारा वेद-पुराणोंका खण्डन मत करो।

(१६) असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत्—जो ईश्वरको नहीं जानता-मानता, वह नष्ट हो जाता है। (१७) अस्तीत्येवोपलब्धव्यः—ईश्वर सदा सर्वत्र है, ऐसा सोचकर उसकी प्राप्तिका प्रयत्न करना चाहिये। (१८) ऋतून् न निन्द्यात् तद्व्रतम्—किसी भी ऋतुकी निन्दा न करे, यह व्रत है। (१९) ब्राह्मणान्न निन्द्यात् तद् व्रतम्—ब्राह्मणोंकी निन्दा न करे, यह व्रत है। (२०) अन्नं न निन्द्यात् तद् व्रतम्—अन्नकी निन्दा नहीं करनी चाहिये, यह व्रत है। (२१) स्त्रीणां भूषणं लज्जा—स्त्रियोंकी शोभा लज्जा है। (२२) विप्राणां भूषणं वेदः—ब्राह्मणोंका भूषण (सौन्दर्य) वेद है। (२३) सर्वस्य भूषणं धर्मः—सबका भूषण धर्म है। (२४) सुखस्य मूलं धर्मः—सुखका मूल धर्म है। (२५) धर्मस्य मूलमर्थः—यज्ञ, दान, इष्ट, आपूर्त आदि धर्मका मूल धन है। (२६) *इन्द्रियजयस्य मूलं विनयः—इन्द्रियोंकी जयका मूल विनय है।* (२७) विनयस्य मूलं वृद्धसेवा—विनयका मूल वृद्धोंकी सेवा है। (२८) विद्या पुनः सर्वमित्याह गुरुः—विद्या ही सब कुछ है, ऐसा देवाचार्य बृहस्पतिका मत है।

सदाचारकी रक्षा सदा करनी चाहिये

श्रेष्ठ पुरुष पापाचारी (दूसरोंका अहित करनेवाले) प्राणियोंके पापकर्मोंका अनुसरण नहीं ते—अर्थात् बदलेमें उनके साथ वैसा बर्ताव नहीं करते। वे उत्तम सदाचारसे विभूषित ो हैं। सदाचार ही सत्पुरुषोंका भूषण है, अतः ऐसे उत्तम सदाचारकी सदा रक्षा करनी चाहिये।

—भगवती सीता (वाल्मीकि० रा० ६। ११३। ४३)

ब्राह्मण एवं आरण्यक-ग्रन्थ और सदाचार

(लेखक—साहित्यरत्न पं० श्रीगुरुरामप्यारेजी अग्निहोत्री, एम्० ए०)

ब्राह्मण-ग्रन्थ

आपस्तम्ब आदिके 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' (आपस्तम्बश्रौतसूत्र २४ । १ । ३१, सत्यापाढश्रौत० १ । १ । ७, शु० य० प्रा० प्र० १ । २ आदिके) इस सिद्धान्तानुसार वेदोंके मन्त्र और ब्राह्मण—ये दो विभाग हैं। वस्तुतः ब्राह्मणग्रन्थ यज्ञ और कर्मकाण्डके आधार-स्तम्भ हैं। किसी भी धर्मकी विशेषता कर्मकाण्डका क्रियात्मक रूप ही होता है। मन्त्र और ब्राह्मण एक दूसरेके पूरक होते हैं—'मन्त्रब्राह्मणात्मकोवेदः'के अनुसार मन्त्र और ब्राह्मण मिलकर वेद होते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें विधि, अर्थवाद और उपनिषद्—ये तीन खण्ड होते हैं। विधिभागमें कर्मका विधानात्मक विषय है, जब कि अर्थवादमें प्ररोचनात्मक और उपनिषद्में तत्त्वाभिव्यक्तिका प्रकरण प्रतिपादित किया गया है। ब्राह्मण-ग्रन्थ संस्कृति और सदाचारके मूलतत्त्व माने गये हैं। मन्त्र और ब्राह्मण-ग्रन्थोंकी अलग-अलग ११३० अनुवृत्तियोंका पता चलता है, जिनमें आज मन्त्रानुवृत्तिकी केवल ११ संहिताएँ और ब्राह्मण-ग्रन्थोंके १८ अनुग्रन्थ ही उपलब्ध हैं। इन ग्रन्थोंमें सदाचार और संस्कृतिके भी अनेक विषय हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें मुख्यतः यज्ञकर्मकी महत्ताका प्रतिपादन हुआ है। 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' (शतपथब्रा० १ । ७ । १ । ५) के अनुसार यज्ञ ही श्रेष्ठ कर्म है और यही सदाचार है। जो कुछ संसारमें कर्म हो रहा है, उसका उत्तमांश यज्ञ ही है। यज्ञसे मानव-कल्याण होता है—पाप्मानं होष हन्ति यो यजते (षड्विंशब्रा० ३ । १ । १)

सर्वस्मात् पाप्मनो निर्मुच्यते
य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति
(शतपथब्रा० २ । २ । १ । ६)

सर्वां वै पाप्मानं सर्वां ब्रह्महत्यामपहन्ति
योऽश्वमेधेन यजते (शतप

'यज्ञ करनेवाला पापका
अग्निहोत्र यज्ञ करनेवाला पापोंसे
जो अश्वमेध यज्ञ करता है, वह पा
मुक्त हो जाता है।' 'पाप' अर्थात
ही सदाचार है—

अमेध्यो वै पुरुषो यदनृ
(शतपथब्रा० ३ ।

झूठ बोलनेवालेको अपवित्र कहा ग
ग्रन्थोंमें सत्य-भाषणपर बड़ा जोर दिया ग
बोलना, सत्य संकल्पमें लीन रहना, सत्
ब्राह्मण-ग्रन्थोंके उद्देश्य हैं—

एतद्वाचश्छिद्रं यदनृतम्। (ताण्ड्यब्रा० ८ ।

असत्य भाषण करनेवालेका तेज नष्ट हो
सत्यवादको अजेय माना गया है। द्वेष करने
पापी माना गया है। चोरी करना, हत्या करना,
डालना आदि-आदि दुष्कर्मोंकी श्रेणीमें गिनाये गये
अभिमानको पतनका द्वार कहा गया है—

तस्मान्नातिमन्येत पराभवस्य हैतन्मुखं यदतिमानः
(शतपथब्रा० ५ । १ । १ । १

ब्राह्मणग्रन्थ मानव-जीवनके लिये बड़े ही उपादेय हैं
सदाचारके जो उपदेश इन ग्रन्थोंमें संगृहीत हैं, वे
संसारके अन्य ग्रन्थोंमें सर्वथा अप्राप्य हैं। वस्तुतः
ब्राह्मण-ग्रन्थ भारतीय संस्कृतिके आधार और ज्ञानके
अथाह सागर हैं। सदाचार-सम्बन्धी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म
विचारोंका प्रतिपादन ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें किया गया है।

आरण्यक-ग्रन्थ

ब्राह्मण-ग्रन्थोंकी ही भाँति आरण्यकोंकी भी मान्यता है। ब्राह्मण और आरण्यक-ग्रन्थोंका अन्योन्य- एक दूसरेके पूरक हैं।

ब्राह्मण एवं आरण्यक-ग्रन्थ और सदाचार

(लेखक—[illegible] एम० ए०)

ब्राह्मण-ग्रन्थ

आपस्तम्ब आदिके 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' (आपस्तम्बश्रौतसूत्र २४ । १ । ३१, सत्याषाढश्रौत० १ । १ । ७, शु० य० प्रा० प्र० १ । २ आदि) इस सिद्धान्तानुसार वेदोंके मन्त्र और ब्राह्मण—ये दो विभाग हैं। वस्तुतः ब्राह्मणग्रन्थ यज्ञ और कर्मकाण्डके आधार-स्तम्भ हैं। किसी भी धर्मकी विशेषता कर्मकाण्डका क्रियात्मक रूप ही होता है। मन्त्र और ब्राह्मण एक दूसरेके पूरक होते हैं—'मन्त्रब्राह्मणात्मकोवेदः'के अनुसार मन्त्र और ब्राह्मण मिलकर वेद होते हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें विधि, अर्थवाद और उपनिषद्—ये तीन खण्ड होते हैं। विधिभागमें कर्मका विधानात्मक विषय है, जब कि अर्थवादमें प्ररोचनात्मक और उपनिषद्में तत्त्वाभिव्यक्तिका प्रकरण प्रतिपादित किया गया है। ब्राह्मण-ग्रन्थ संस्कृति और सदाचारके मूलतत्त्व माने गये हैं। मन्त्र और ब्राह्मण-ग्रन्थोंकी अलग-अलग ११३० अनुवृत्तियोंका पता चलता है, जिनमें आज मन्त्रानुवृत्तिकी केवल ११ संहिताएँ और ब्राह्मण-ग्रन्थोंके १८ अनुग्रन्थ ही उपलब्ध हैं। इन ग्रन्थोंमें सदाचार और संस्कृतिके भी अनेक विषय हैं। ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें मुख्यतः यज्ञकर्मकी महत्ताका प्रतिपादन हुआ है। 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' (शतपथब्रा० १ । ७ । १ । ५) के अनुसार यज्ञ ही श्रेष्ठ कर्म है और यही सदाचार है। जो कुछ संसारमें कर्म हो रहा है, उसका उत्तमांश यज्ञ ही है। यज्ञसे मानव-कल्याण होता है—पाप्मानं होष हन्ति यो यजते (षड्विंशब्रा० ३ । १ । ३)

सर्वस्मात् पाप्मनो निर्मुच्यते
य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति
(शतपथब्रा० २ । २ । ३ । ६)

सर्वो वै पाप्मानं सर्वां ब्रह्महत्यामपमृजन्ति [illegible] (शतपथब्रा० [illegible]

'यह [illegible] जाता [illegible] अश्वमेध यज्ञ करनेवाला पापोंसे मुक्त [illegible] जो अश्वमेध यज्ञ करता है, वह पाप [illegible] मुक्त हो जाता है। 'पाप' अर्थात् दु[illegible] ही सदाचार है—

अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं व[illegible]
(शतपथब्रा० १ । १ ।

झूठ बोलनेवालेको अपवित्र कहा गया है [illegible] ग्रन्थोंमें सत्य-भाषणपर बड़ा जोर दिया गया [illegible] बोलना, सत्य संकल्पमें लीन रहना, सत्य-कर्म [illegible] ब्राह्मण-ग्रन्थोंके उद्देश्य हैं—

एतद्वाचश्छिद्रं यदनृतम्। (ताण्ड्यब्रा० ८ । ६ । [illegible]

असत्य भाषण करनेवालेका तेज नष्ट हो जाता [illegible] सत्यवादको अजेय माना गया है। द्वेष करनेवाला [illegible] पापी माना गया है। चोरी करना, हत्या करना, डा[illegible] डालना आदि-आदि दुष्कर्मोंकी श्रेणीमें गिनाये गये हैं औ[illegible] अभिमानको पतनका द्वार कहा गया है—

तस्मान्नातिमन्येत पराभवस्य हैतन्मुखं यदतिमानः।
(शतपथब्रा० ५ । १ । १ । १)

ब्राह्मणग्रन्थ मानव-जीवनके लिये बड़े ही उपादेय हैं। सदाचारके जो उपदेश इन ग्रन्थोंमें संगृहीत हैं, वे संसारके अन्य ग्रन्थोंमें सर्वथा अप्राप्य हैं। वस्तुतः ब्राह्मण-ग्रन्थ भारतीय संस्कृतिके आधार और ज्ञानके अथाह सागर हैं। सदाचार-सम्बन्धी सूक्ष्म-से-[illegible] विचारोंका प्रतिपादन ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें किया गया है।

आरण्यक-ग्रन्थ

ब्राह्मण-ग्रन्थोंकी ही भाँति आरण्यकोंकी भी मान्यता [illegible] है। ब्राह्मण और आरण्यक-ग्रन्थोंका अन्योन्य-सम्बन्ध [illegible] एक दूसरेके पूरक हैं।

रहती है, प्रमादहीन पथको प्रयोग मंगल रहता है। चरैवेति: चलते अपने आदर्शको निरन्तर ... सुनिश्चित ही होने, यह अत्यन्त ... भ्रमण करता हुआ हमारे द्वारा ... उपदेश दे रहा है। ... 'चरन्ति पथमनुगंता सूर्याचन्द्रमसाविव' अर्थात् ... सदा चलते रहते हैं। ऐतरेय भी ... —'चरैवेति, चरैवेति।' अर्थात् उनका ही वरण करता है जो अपने मार्गमें आगे कदम उठाते चले जाते हैं। भगवान् उनका कल्याण निश्चित रूपसे स्वयं करते हैं।

अन्तमें रोहितको वनमें ही अजीगर्त मुनि अपने तीन पुत्रोंके साथ भूखसे त्रस्त दृष्टिगोचर हुए। रोहितने उनके एक पुत्र शुनःशेपको उन्हें सौ गायें देकर ... उसके लिये ... लिया। हरिश्चन्द्रका ... हुआ। उसके यज्ञमें विश्वामित्र होता, जमदग्नि अध्वर्यु, वसिष्ठ ब्रह्मा और अयास्य उद्गाता बने। ... विश्वामित्रके ... शुनःशेपने ... मन्त्रोंसे प्रजापति, अग्नि, सविता, वरुण आदि देवोंकी स्तुति और प्रार्थना की। वह बन्धनोंसे मुक्त हो गया। यज्ञदेवने प्रसन्न होकर राजा हरिश्चन्द्रको रोगसे मुक्ति प्रदान की। इस प्रकार इन्द्रके उपदेशसे देवोंकी स्तुति, प्रार्थना और उपासना तथा यज्ञकी महत्तासे रोहित और ... भी सम्पन्न और आनन्दसे परिपूर्ण हो गया। ऐतरेय ब्राह्मणका निष्कर्ष यह है कि सदाचारके मार्गपर सदा चलते रहना चाहिये। 'चरैवेति-चरैवेति' सदाचारका शाश्वत संदेश है।

श्रुति-स्मृति-पुराणोंमें सदाचार-दृष्टि

(लेखक—डॉ० श्रीवर्धानन्दजी पाठक, एम० ए०, पी-एच्० डी० (द्वय), डी० लिट्०)

मनुका आदेश है कि वेद तथा स्मृति-ग्रन्थोंमें प्रतिपादित अपने विहित कर्मोंमें धर्ममूलक सदाचारका निरालस्यभावसे पालन करना चाहिये। इस सदाचारके पालनसे ऐहलौकिक तथा पारलौकिक कल्याणकी प्राप्ति होती है। उनका यह आदेश विश्वके अशेष सम्प्रदायोंमें किसी-न-किसी रूपमें अनुसृत होता है। विश्वमें कोई भी ऐसा आस्तिक सम्प्रदाय नहीं है जिसमें सदाचारको अनुपादेय माना जाता हो—चाहे वह सम्प्रदाय जैन हो, बौद्ध हो, सिक्ख हो, पारसी हो, ईसाई हो या मुस्लिम आदि जो भी हो। सदाचारकी आदर्शरूपसे प्रायः सर्वत्र अभिमान्यता है। वह नीति या प्रवृत्ति जो जीवात्माके तमससे ज्योतिकी ओर या मृत्युसे अमृतकी ओर और संसारसे ब्रह्मकी ओर गमन करनेमें मूक प्रेरक हो, सदाचार है। वेदङ्ग वेद, अशेष स्मृतियाँ, पुराण, जैन सूत्राङ्ग, बौद्ध त्रिपिटक, अवेस्ता, गुरुग्रन्थ साहिब, बाइबिल एवं कुरान शरीफ आदि विश्वके समस्त आस्तिक वाङ्मय निष्कृ आदर्शरूपसे सदाचारकी ही शिक्षा देते हैं और तद्विपरीत कदाचार या दुराचारको परित्याज्य बतलाते हैं। क्या भारतीय या अन्य, सभी सम्प्रदाय अन्तःकरणसे असदाचारकी उपेक्षा करते हैं।

अपरा एवं परा दोनों विद्याओंद्वारा भी सदाचरणका ही निर्देश है। अपरा विद्या निर्गुण परमतत्त्वके साथ-साथ यज्ञानुष्ठान आदि विहित कर्मफलोंके द्वारा सगुण परमेश्वर या स्वर्गादि पुण्यलोकोंकी प्राप्तिमें सहायिका है और परा विद्या—उपनिषद्, गीता आदि—निर्गुण, निरञ्जन, अक्षर-तत्त्वके साथ संयोग करा देती है। धर्म और सदाचार—दोनों एक दूसरेके पर्यायवाचक शब्द

है। धर्म सदाचार है और सदाचार धर्म है; दोनों
रस्परमें अभिन्नार्थक हैं। मनुके अनुसार धर्मके चार
क्षण हैं। उनमें सदाचार अन्यतम है। सदाचारके
नसे श्रौत-स्मार्त-धर्मका पालन स्वयमेव हो जाता है
और श्रुति, स्मृति आदि सच्छास्त्रोंमें निष्णात होनेपर भी
यदि मनुष्य व्यवहारतः सदाचारी नहीं हुआ तो अज्ञ ही
है। विश्वके धर्मोंका मूल उद्गम वेद ही है। वेदके ही
द्धान्तोंका प्रतिपादन प्रकारान्तरसे सर्वत्र हुआ है।
सिद्धान्त वेदमें विहित हैं, वे ही विश्वके दूसरे
साहित्योंमें भी हैं और जो वेदमें नहीं हैं, वे किसी भी
साहित्यमें नहीं हैं। समस्त धर्म वेदमूलक हैं।

वेद और सदाचार—एकान्त जितेन्द्रिय एवं
मनोजयी ऋषि-मुनियोंके श्रुतिगोचर होनेके कारण वेद
'श्रुति' शब्दसे अभिहित होता है। 'विद् ज्ञाने'—धातुसे
निष्पन्न होनेके कारण वेद स्वयं भी ज्ञानका पर्यायी है।
वेद ज्ञान है और ज्ञान वेद है। एक ही तत्त्वके दो रूप हैं।
पुनः वेदोक्त सिद्धान्तोंके स्मरणके कारण धर्मशास्त्रका नाम
स्मृति है। आमहितैषी पुरुषोंके लिये स्मार्त आदेश सदा
स्मरणीय हैं। ये दोनों शास्त्रप्रतिकूल नरकके योग्य
ही हैं, क्योंकि इन श्रुति-स्मृतियोंसे ही धर्मकी प्रादुर्भूति
है। इस शास्त्रद्वयमें कहीं भी अधर्मकी विधेयता
मोदित नहीं हुई है। अधर्म ही असदाचार है।
वैदिक साहित्यमें पराविद्यासम्बन्धी सिद्धान्तका भी
त्र दर्शन होता है। ताण्ड्यब्राह्मण (४।८।२)
नुसार वाक्‌रूप एकाक्षर अर्थात् शब्द-ब्रह्म
में सर्वप्रथम प्रकट हुआ। यह वाग्देवी 'ऋतस्य'
जा है। यह वाक् वेदों— तो

यज्ञवेदीपर पधारे और इसे निर्विघ्न मङ्गल करनेमें
हमारी वन्दना सुने—'देवी सुहवा मेऽस्तु।' (तैत्ति०
ब्राह्म० २।८।८)

सदाचार और दीर्घायुष्य—सदाचारके पालनसे
मनुष्य दीर्घायु होता है, अभिलषित संतान (पुत्र-पौत्रादि)
को प्राप्त करता है, अक्षय धन-सम्पत्ति पाता है। सदा-
चरण सभी अनिष्ट लक्षणोंको नष्ट कर देता है। यदि
मनुष्य वर्ण, विद्या, विभवादि समस्त सल्लक्षणोंसे रहित
होकर भी सदाचारगुणसे सम्पन्न है तो वह शास्त्रोक्त
अनुसार सौ वर्षोंकी आयु प्राप्त करता है। (मनु ४।
१५६, १५८) किंतु तद्विपरीत अर्थात् दुराचारी मनुष्य
वर्ण, विद्या, विभव, सौन्दर्यादि सुलक्षणोंसे सम्पन्न होनेपर
भी समाजमें निन्दाका पात्र बनता है। वह विविध
दुःखभागी, रोगग्रस्त एवं अल्पायु हो जाता है।*

जो सदाचारशील मनुष्य चौबीस, चौवालीस अथवा
अड़तालीस वर्षोंतक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए यज्ञादि-
का अनुष्ठान करते हैं, वे नीरोग रहते हुए सौ वर्ष-
पर्यन्त जीवित रहते हैं। जो ब्रह्मज्ञानी उपासक होते हैं,
उनकी मृत्यु उनकी इच्छाके अधीन होती है। महिदास
(या महीधर) नामक एक ब्रह्मोपासक ज्ञानी हो गये हैं,
जो कई सौ वर्षोंतक जीवित रहे। अतः जो चिरजीवी
होना चाहते हैं, उन्हें ब्रह्मज्ञानरूप उपासना करनी
चाहिये। दीर्घायुष्य सदाचारका अन्यतम फल है।

पुराण और सदाचार—सदाचारोंका आचरण करनेसे
इहलोक और परलोक—दोनों जगह पतनका सामना नहीं
करना पड़ता। सदाचारी पुरुष दोनों लोकोंमें विजयी होते
हैं। पुराणके अनुसार 'सत्' शब्दका अर्थ साधु है
दोषरहित हो। उस साधु
होता है, उसीको सदाचार
लक्ष्य विचरते
रोगी अर्थात्

चिन्तन करना चाहिये तथा जिसमें धर्म और अर्थकी क्षति न हो ऐसे कामका भी चिन्तन करना चाहिये। इस प्रकार दृष्ट और अदृष्ट अनिष्टकी निवृत्तिके लिये धर्म, अर्थ और काम—इस त्रिवर्गके प्रति समान भाव रखना चाहिये। धर्मविरुद्ध अर्थ और काम दोनोंका त्याग कर देना चाहिये। ऐसे धर्मका भी आचरण नहीं करना चाहिये, जो उत्तरकालमें दुःखमय अथवा समाजविरुद्ध सिद्ध हो। नित्य कर्मोंके सम्पादनके लिये नदी, तडाग, पर्वतीय झरनोंमें अथवा कुएँसे जल खींचकर उसके पासकी भूमिपर स्नान करना चाहिये।

तर्पणरूप सदाचार—स्नान करनेके अनन्तर शुद्ध वस्त्र धारण कर देवता, ऋषिगण और पितृगणका तर्पण भी अवश्य करना चाहिये। तर्पणकालमें देव ऋषि प्रजापति तथा पितृगण और पितामहोंकी तृप्तिके लिये तीन-तीन बार जल छोड़ना चाहिये। इसी प्रकार प्रपितामहोंको संतुष्टकर मातामह (नाना) और उनके पिता प्रमातामह (परनाना) तथा उनके पिता (वृद्ध प्रमातामह)को भी सावधानतापूर्वक पितृतीर्थसे जलदान करना चाहिये। इसके साथ ही माता, मातामही, प्रमातामही, गुरु, गुरुपत्नी, मामा, मित्र, राजा और इच्छानुसार अभिलषित अन्य सम्बन्धीके लिये भी जलदान करना चाहिये। तदनु देव, असुर, यक्ष, नाग, गन्धर्व, राक्षस, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध, कूष्माण्ड, पशु, पक्षी, जलचर, स्थलचर, वायुभक्षक आदि—सभी प्रकारके जीवोंको तृप्त करना चाहिये। नरकोंमें यातना भोगनेवाले प्राणियोंको, बन्धु एवं अबन्धुओंको, जन्मान्तरके बन्धुओंको और क्षुधा-तृष्णासे व्याकुल जीवोंको विशेषरूपसे जल देकर तृप्त करना चाहिये। तर्पण सद्भावका सदाचरण है।

अतिथि-सत्कार—गृहस्थके लिये अतिथि-पूजनका भी विशेष महत्त्व है। यदि कोई अतिथि घरमें आ जाय और उसका उचित सत्कार न किया जाय तो वह अतिथि पाप देकर और गृहस्थका पुण्य लेकर लौट जाता है। इस कारण अतिथिको सत्कार पुरस्सर न समझना चाहिये; क्योंकि धाता, प्रजापति, इन्द्र, अग्नि और अर्यमा—ये समस्त देवगण अतिथि होकर अन्न भोजन करते हैं। अतः मनुष्य अतिथि-पूजाके लिये प्रयत्न करना चाहिये। ज अतिथिको भोजन कराये बिना भोजन करता तो केवल पाप ही भोग करता है। गृहस्थ पुरुषके लिये दोनों समय संध्यावन्दन तथा अग्निहो कर्मके साथ नित्यप्रति देवता, गौ, ब्राह्मण, सिद्ध वयोवृद्ध पुरुष तथा आचार्यकी पूजाको करना आ है। इसी प्रकार विष्णुपुराणमें आभ्युदयिक आदि अनु विविध श्राद्धोंका, विविध विधि-विधानोंके साथ साङ्गो विवेचन हुआ है। श्राद्धकर्ममें विहित-अविहित वस्तुअ साथ पात्रापात्रका भी पूर्ण विचार है। उन्हें उसी प्रक आचरित करना चाहिये। श्राद्ध श्रद्धाका सदाचार है।

वर्णधर्म—चातुर्वर्ण्यकी सृष्टिके पश्चात् उन वर्णों लिये विहित कर्मोंका विधान किया गया है; यथा—ब्राह्मणक कर्तव्य है कि वह दान, यजन और स्वाध्याय करे तथा वृत्तिके लिये अन्योंसे यज्ञानुष्ठान कराये, पढ़ाये और न्यायानुसार प्रतिग्राही बने। क्षत्रियको उचित है कि वह ब्राह्मणोंको यथेच्छ दान दे, विविध यज्ञोंका अनुष्ठान और शास्त्रोंका अध्ययन करे। शस्त्र-धारण और पृथ्वीका पालन उसका उत्तम कर्तव्यकर्म है। लोकपितामह ब्रह्माने वैश्यके लिये पशुपालन, वाणिज्य और कृषि—ये तीन कर्म आजीविकाके रूपमें बतलाये हैं। अध्ययन, यज्ञ और दान आदि कर्म भी उस (वैश्य)-के लिये विहित हैं। शूद्रके कर्तव्यमें द्विजातियोंकी प्रयोजनसिद्धिमें यथोचित सहयोगरूप कर्म विशेष कहा गया है। उसीसे शूद्र अपना पालन-पोषण करे अथवा वस्तुओंके क्रय-विक्रय तथा शिल्प कर्मोंसे निर्वाह करे एवं ब्राह्मणोंकी रक्षा करे। वर्णधर्मोंकी उपादेयतामें कहा गया है कि इनके स्मरणमात्रसे भी मनुष्य अपने पापपुञ्जसे मुक्त हो जाता है। इस प्रकार शास्त्र-विहित वर्ण-धर्म सदाचारके ही अङ्ग हैं, जिनका सबोंको पालन होना चाहिये।

मनुस्मृतिका सदाचार-दर्शन

(लेखक—श्रीअनूपकुमारजी एम्० ए०)

राजर्षि मनुस्मृत भृगुप्रोक्त 'मनुसंहिता' प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं विश्व-विधि-साहित्यकी अमूल्य निधि है । इसमें सभी वर्णाश्रमोंके प्रत्येक क्षेत्रसे सम्बद्ध विधि-निषेधोंका वर्णन मिलता है । अतः इसमें सदाचारका वर्णन होना स्वाभाविक है । 'सदाचार' शब्दका सीधा-सादा अर्थ है—'अच्छा आचरण' । सदाचारी व्यक्ति देवता या संत कहलाता है और इसके विपरीत दुराचारी व्यक्ति दुष्ट या 'दानव'की संज्ञा पाता है । सदाचारी सुकर्मी और दुराचारी कुकर्मी कहलाता है । मनुस्मृतिमें सर्वत्र सदाचारकी ही बातें हैं । ध्यानसे देखा जाय तो इसके दूसरे अध्यायमें ब्रह्मचारीके सदाचार, ३से ५ अध्यायोंमें गृहस्थके, ६ अध्यायमें वानप्रस्थ एवं संन्यासीके, ७-८ अ०में राजाके तथा ५ एवं ९, १० अ०में स्त्रियों तथा विप्रशीर्ण, वर्ग-जाति आदिके सदाचार निर्दिष्ट हैं । यहाँ उनका अत्यन्त संक्षेपमें ही उल्लेख किया जा रहा है ।

ब्रह्मचारी या विद्यार्थीका सदाचार

ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा ।
संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः ॥
(२ । ७१)

'शिष्यको चाहिये कि वह वेदपाठके पूर्व तथा पश्चात् भी नित्य श्रद्धा-भक्तियुक्त चित्तसे गुरुके चरणोंका सादर स्पर्श कर प्रणाम करे और तत्पश्चात् दोनों हाथोंको जोड़कर अध्ययन करे । इसीका नाम ब्रह्माञ्जलि है ।'

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः ।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः ॥
(वही २ । ७२)

'नित्य ही व्यस्त हाथोंसे गुरुके चरणोंको स्पर्श करे । इस प्रकार बायें हाथसे गुरुके बायें पैर तथा दाहिने हाथसे दाहिने पैरका स्पर्श करे ।'

प्रतिश्रवणसम्भाषे शयानो न समाचरेत् ।
नासीनो न च भुञ्जानो नातिष्ठन्न पराङ्मुखः ॥
(वही २ । १९५)

'लेटे हुए, बैठे हुए, भोजन करते हुए अथवा गुरुकी ओर पीठ किये हुए खड़े-बैठे गुरुकी आज्ञाका सुनना या वार्तालाप करना ब्रह्मचारीके योग्य नहीं ।'

गुरुका सदाचार

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् ।
वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥
(वही २ । १५९)

'शिष्योंके हितके हेतु किया हुआ अनुशासन सर्वथा हिंसाशून्य होना चाहिये । धार्मिक गुरुओंका धर्म है कि शिष्योंसे प्रेमपूर्वक कोमल वचन बोले । गुरुका यह कर्तव्य है कि वह नित्य निरालस्य होकर समुचित समयपर शिष्यको पढ़नेकी आज्ञा प्रदान करे और पाठकी समाप्तिपर 'अलम्'—'अब बस करो' इस—प्रकार कहकर पढ़ाना स्थगित करे ।—(मनु २ । ७३)

ब्राह्मणके लिये सदाचार

न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन ।
अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद् ब्राह्मण जीविकाम् ॥
(वही ४ । ११)

'ब्राह्मणका कर्तव्य है कि वह अपनी जीविकाके हेतु लोकवृत्त-(मिथ्या, किंतु प्रिय भाषण-)सा कुत्सित कार्य कदापि न करे । अपनी मिथ्या बड़ाई, दम्भ (घमण्ड) तथा कपट-व्यवहार (सूद खाने)को परित्यागकर वह सात्त्विक एवं शुद्ध वृत्ति (आजीविका) धारणकर ही अपना जीवननिर्वाह करे । ब्राह्मणको चाहिये कि वह नृत्य या गायनकी जीविकासे तथा शास्त्र-विरुद्ध (अनधिकारीको यज्ञ कराने आदिके) कर्मसे सम्पत्ति संचय न करे । इसी प्रकार किसी पापीसे भी धन लेकर कदापि

औपचारिक अपितु उसके समग्र व्यवहारका भी देश, काल, अवस्था, गुण, वर्ग तथा परिस्थितिके अनुसार वर्गीकरण कर दिया है और प्रत्येक वर्ग तथा प्रत्येक स्तरके लोगोंके लिये नैतिक अनुशासनसे नियन्त्रित आचारकी व्यवस्था कर दी है। इसी प्रकार सत्य-भाषण, हितकर-भाषण, गुरुजनोंका आदर, परिवारके प्रति व्यवहार, पड़ोसके प्रति व्यवहार, सर्वसाधारणके प्रति व्यवहार, बालकों एवं नारियोंके प्रति व्यवहार इत्यादि—ऐसे अनेक व्यवहार हैं, जिनके लिये हमारे वाचिक, मानसिक और शारीरिक सदाचारकी आवश्यकता है; क्योंकि इसी सदाचारकी भूमिकापर हमारे सभी सामाजिक सम्बन्ध स्थिर हैं। समाज सम्बन्धोंका जाल है। अतः उस जालके ताने-बानेकी रक्षाके लिये हमें अपने प्रत्येक व्यवहारको सदाचारके कटघेरे सँभाले रखना होगा; अन्यथा यह सम्बन्धोंके जालसे बना समाज बिखरकर छिन्न-भिन्न हो जायगा। वेद, तदनुसारिणी स्मृति, ब्रह्मण्यता आदि तेरह प्रकारके शील, राग-द्वेष-शून्यता, महात्माओंका आचरण और अपने मनकी प्रसन्नता—ये सब धर्मके मूल हैं।

राजर्षि मनु साक्षात्-धर्मका प्रमाण वेद मानकर कालको उसका निर्देशक मानते हैं। आशय यह है कि वेदोंकी अपौरुषेयता एवं धर्मका प्रमापक होना और धर्मका वेदमूलक होकर सदाचारका आधार बनना—ये दोनों कालतत्त्व सापेक्ष हैं। अर्थात् इन दोनोंका साक्षी काल ही है। इसलिये राजर्षि मनुने कहा है कि कृतयुगमें धर्म चतुष्पाद (चार पैरोंवाला) था अतः अधर्मके द्वारा कोई भी विद्या या धन आदिकी प्राप्ति नहीं होती था—सभी धर्मपरायण थे।

ष्पात् सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे।
र्मेणागमः कश्चिन्मनुष्यान् प्रति वर्तते॥
(मनु० १।८१)

अन्य युगोंमें सत्ययुगके विपरीत परिस्थितियोंके आविर्भाव होनेपर धर्मके पूर्वोक्त पादों (चरणों) का ह्रास भी होता गया। यथा—

इतरेष्वागमाद् धर्मः पादशस्त्ववरोपितः।
चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैति पादशः॥
(वही १।८२)

मनुके अनुसार कालतत्त्वके इस साक्ष्यका मूल रहस्य यही है कि यद्यपि धर्मका नाश तो कभी नहीं होता किंतु भिन्न-भिन्न युगोंके अनुसार उसमें ह्रास और विकास अवश्य होते रहते हैं। साथ ही यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि धर्म जिस-जिस स्थान, काल अथवा वस्तुको छोड़कर हटता जाता है, उन सबमें अधर्म अपना अधिकार करता चलता है। आज हम युगधर्मके नामपर जो धार्मिक ह्रास देखते हैं, उसका संकेत भगवान् मनुकी कल्पनामें आजसे शताब्दियों पूर्व ही विद्यमान था।

युगके अनुसार धर्मके ह्रास-विकासको मानते हुए भी मनु, 'आचार' पर अत्यधिक बल देते हैं। उनका मत है कि धर्मकी गति यद्यपि अति तीव्र, गम्भीर तथा अखण्ड होती है, मानव साधारणतया उसके साथ अनुपद चलनेमें असमर्थ-सा रहता है, तथापि यह यदि अपने वर्ण और आश्रमकी परम्परासे प्राप्त आचारका पालन करे, तो धर्मके तथोक्त ह्रास और विकाससे उसकी कोई हानि नहीं हो सकती। इसलिये वे आत्मवान्‌के लिये आचारको धर्मसे भी अधिक परम धर्म मानते हैं। (१।१०८) आत्मवान् शब्दका अर्थ जितेन्द्रिय है। जो जितेन्द्रिय नहीं है, ऐसा आचार-भ्रष्ट द्विज वेदके फलसे वञ्चित रह जाता है (१।१०९)। इस प्रकार आचारसे धर्मका देखकर महर्षियोंने तपस्याके मूल आचारका ग्रहण किया है (१।११०)। वेदोक्त धर्म या आचारमें निरन्तर प्रवृत्त होनेपर मुक्ति ही मिलती है। (२।१३)

सदाचार तथा अर्थ और काम

ब्राह्मणके लिये निर्दिष्ट धृति, धी, विद्या आदि धर्मके दस अङ्गोंमें शौचका भी एक स्थान है। (मनु० ६। ९२ के) शौचसे तात्पर्य ईमानदारी अथवा भावनामूलक शुद्धतासे है। इस शुचिता (ईमानदारी) की आवश्यकता सामान्यतः जीवनके प्रत्येक पगपर ही है, परंतु अर्थ और काम (विषयभोग)के संदर्भमें इसका सर्वाधिक महत्त्व है। शुचिताके बिना अर्थ और काम सदाचारके अङ्ग नहीं बन सकते। यही कारण है कि भगवान् मनु सब प्रकारकी शुद्धियोंमें धनकी शुद्धि (अर्थशौच) को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं—

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥
(मनु० ५। १०६, विष्णुध० सू० २२। ८९, याज्ञ० ३। ३२)

'सब शुद्धियोंमें धनकी शुद्धि (न्यायोपार्जित धनका होना) ही श्रेष्ठ शुद्धि कही गयी है। जो धनमें शुद्ध है, अर्थात् जिसने अन्यायसे किसीका धन नहीं लिया है, वही पूर्ण शुद्ध है। जो केवल मिट्टी, जल आदिसे शुद्ध है, परंतु धनसे शुद्ध *नहीं है*, *अर्थात् अन्याय* अथवा बेईमानीसे, जिसने किसीका धन ले लिया है वह शुद्ध नहीं है।' इस प्रकार सदाचारसे अर्थका सम्बन्ध न केवल मनु, याज्ञवल्क्यादिने ही स्वीकार किया है, अपितु भगवान् व्यासने भी इसकी ओर संकेत किया है; क्योंकि अर्थ-शौच ही आगे चलकर अपरिग्रहका रूप ले लेता है—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥
(श्रीमद्भा० ७। १४। ८)

'जितनेसे अपना पेट भर जाये, बस उतनेपर ही अपना अधिकार है, इससे अधिकपर जो अपनेपनका अभिमान करता है, वह चोर है, और वह दण्डके योग्य है।' यह अपरिग्रहका आधार है। आजकल अर्थ-पुरुषार्थप्रधान इस *युगमें अर्थके कारण* जो बेकारी,

मँहगाई और गरीबी आदि अनेक अनर्थ समाजको पीड़ित कर रहे हैं, उससे बचनेके लिये मन्वादि-प्रतिपादित अर्थ-शौचकी नितान्त आवश्यकता है। इससे श्रम और योग्यताके अनुकूल समाजमें धनका समान वितरण होगा तथा अतिरिक्त पूँजी राष्ट्रिय योजनाओंमें विनियुक्त होकर 'बहुजनहिताय' और 'बहुजनसुखाय'में परिवर्तन हो सकती है। इन्द्रियजयके अभ्यासके लिये मनुने अत्यन्त सावधानीसे सदाचारपालन-का उपदेश किया है—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति॥
(मनु० २। ९३)

वे यहाँतक कहते हैं कि हमें इस कामसम्बन्धी सदाचारके पालनके लिये कभी माँ-बहन अथवा पुत्रीके साथ भी एकान्तमें नहीं रहना चाहिये; क्योंकि यह इन्द्रियोंका समूह कभी-कभी विद्वान् (समझदार)को भी आकृष्ट कर लेता है।

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥
(२। २१५)

महाभारतकारने भी धर्मके प्रवृत्ति-लक्षण और निवृत्ति-लक्षण दो भेद कहकर प्रवृत्ति-लक्षण धर्मके अन्तर्गत अर्थार्जन, अर्थविभाजन तथा अर्थके विनियोगमें एक अत्यन्त हितकर प्रेरणा दी है और अन्तमें यह भी कहा है कि अर्थ और कामको धर्मानुकूल बनाकर ही उनका सेवन करना हितकर है। यदि अर्थ और काम क्रमशः लोभ और मोहके अनुगामी हों तो उन्हें पीछे छोड़ देना चाहिये। जो विद्वान् सर्वदा और सर्वथा निश्चयात्मक रूपसे अर्थ और कामको धर्मानुकूल ही बनाकर स्वीकार करते हैं, केवल उन्हींसे अर्थ और काम-से सम्बन्धित शुद्धता एवं सदाचारके सम्बन्धमें पूछना चाहिये और वे लोग जो परामर्श दें, उसीका आचरण करना चाहिये। *लौकिक जीवनके व्यवहारमें अर्थ और काम प्रत्यक्ष*

भोग और कामनाके विषय हैं। अतः इनपर प्राणिमात्रकी आसक्तिका होना स्वाभाविक ही है। मानव भी उसका अपवाद नहीं है, और न हमारे शास्त्रोंने उसे अर्थ और कामके उपभोगसे वञ्चित ही किया है। परंतु उनकी शुद्धताकी परखके लिये महाभारतकारने तीन प्रमाणोंका उल्लेख किया है—श्रुति, धर्मशास्त्र तथा लोक-संग्रह। जब श्रुति त्यागपूर्वक भोगकी प्रेरणा देती है, तब वह अर्थकी शुद्धतामें प्रमाण है। मानव-धर्म-शास्त्रका प्रमाण ऊपर आ ही चुका है। लोक-संग्रहके प्रमाण भी राजा युधिष्ठिर, उशीनर, रन्तिदेव, शिवि, रघु, श्रीराम तथा राजा जनक आदिके चरित्रमें प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार अर्थ और काम पुरुषार्थोंको भी सदाचारानुकूल बनानेकी धर्मशास्त्रीय प्रेरणा विद्यमान है।

सदाचार और मोक्ष

सदाचारका सम्बन्ध मोक्षसे भी होता है। महाभारतकारके ही समान भगवान् मनुने भी वैदिक कर्मको प्रवृत्त तथा निवृत्त-भेदसे दो प्रकारका स्वीकार किया है—

सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्॥
(१२। ८८)

'वैदिक कर्म दो प्रकारके होते हैं। पहला स्वर्गादि सुखसाधक संसारमें प्रवृत्ति करानेवाला (ज्योतिष्टोमादि यज्ञ-रूप) प्रवृत्त कर्म तथा दूसरा निःश्रेयस् (मुक्ति) साधक संसारसे निवृत्ति करानेवाला (प्रतीकोपासनादिरूप) निवृत्तकर्म।' महाभारतमें भी इसके उल्लेखकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। मनोनिग्रह इसका मुख्य साधन है। भगवान् मनुका कथन है कि जो वाणी एवं मनका निग्रह कर लेता है, उसे समग्र वेदान्तका फल (मोक्ष) प्राप्त हो जाता है—

यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग् गुप्ते च सर्वदा।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम्॥
(२। १६०)

विद्वानोंके मतमें और जनसमुदायकी दृष्टिसे ऊपर उठानेवाला धर्म ही है, परंतु वह पहले मानसिक होता है और बादमें आचरणमें उतरकर सदाचार बन जाता है। सदाचार समग्र धर्मका क्रियात्मक (आचरण) पक्ष है। प्रत्येक सत्कर्म तथा शुभ कर्ममें जो कि व्यक्तिके साथ-साथ समाज और राष्ट्रके लिये हितकर हैं प्रवृत्त करनेवाला तत्त्व मन ही है।

भगवान् मनुका वचन है—

तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः।
दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात् प्रवर्तकम्॥
(१२। ४)

'उत्तम, मध्यम तथा अधम-भेदसे तीन प्रकारके तथा मन, वचन और शरीरके आश्रित होनेसे तीन अधिष्ठानवाले, दस लक्षणोंसे युक्त देही (जीव) को कर्मोंमें प्रवृत्त करनेवाला मनको ही जानो।' तैत्तिरीय-उपनिषद्की भी यही सम्मति है। अस्तु। सदैव धर्म, अर्थ और काम—इन तीनोंकी प्राप्तिके लिये धर्मशास्त्रके वचन तथा सत्पुरुषोंके आचरणसे प्रारम्भमें जिस व्यक्तिके मानसिक, वाचिक तथा शारीरिक कर्मका निर्देशन होता है, उसका सम्पूर्ण व्यवहार एवं समग्र जीवन क्रमशः अपने-आप ही सकाम-भावनासे निकलकर निष्कामभावनामें आ विराजता है। उसके 'मैं'का पर्यवसान "हम"में हो जाता है। उसके 'व्यष्टि'का लय 'समष्टि'में हो जाता है। वह सर्वभूत-हितरत, सर्वात्मदर्शी, आप्तकाम एवं निष्काम कर्मयोगी बनकर केवल लोकहितकर कर्मोंद्वारा अपने शेष प्रारब्धको क्षीण करके अन्तमें अनिवार्य-रूपसे मोक्षको प्राप्त करता है। यह श्रौत एवं स्मार्त सदाचार ही है, जो मुमुक्षुको नित्यानित्य वस्तु-विवेक, इहामुत्र फल-भोग-विराग, शमादि षट्-सम्पत्ति तथा तीव्र मुमुक्षाकी योग्यता प्रदान करता है। अतएव भगवान् मनुका कथन है कि 'यद्यपि वेदाभ्यास, तप, ज्ञान, इन्द्रियसंयम, अहिंसा तथा

[illegible] सुन्दर कथा पवित्र ही है। [illegible] में श्रीरामके सभी [illegible] राजाओंकी [illegible] भी है। इसमें धर्म, अर्थ और काम [illegible] वर्णन किया गया है। [illegible] महाराज दशरथ, जिनके [illegible] हुए, सब तपस्वी तथा [illegible] थे। [illegible] पीढ़ियोंकी [illegible] नहीं है। पुत्रकी कामनासे राजाने अश्वमेध तथा पुत्रेष्टि सम्पादन कर ज्योतिष्टोम, आयुष्टोम, अभिजित् और विश्वजित् यज्ञ भी सम्पन्न किया और होता, अध्वर्यु, उद्गाता तथा ऋत्विजोंको प्रचुर दक्षिणा दी। सभीने संतुष्ट होकर राजाको [illegible] आशीर्वाद दिया। अनन्तर ऋष्यशृङ्गने पुत्रेष्टि यज्ञ करवाया। कल्प-सूत्रोक्त-विधिसे अग्निमें आहुतियाँ पड़ीं। यज्ञमें तथा सभी देवगण भाग लेने आये। भगवान् श्रीविष्णु भी वहाँ पधारे और देवताओंकी प्रार्थनापर उन्होंने आश्वासन दिया कि वे नराकार लेकर रावण-वध आदि करेंगे। अग्निदेवने भगवान्‌की आज्ञासे राजा दशरथको पायस दिया। पायसका वितरण राजाने धर्मानुसार तीनों रानियोंमें किया। यज्ञके पूरे एक वर्ष बाद राजाके चार अनुपम पुत्र-रत्न उत्पन्न हुए। इस तरह 'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'का वचन सर्वविध आचरित हुआ।

श्रीरामादि-जन्मोत्सवके अवसरपर विविध दान दिये गये। सदाचारमें संस्कारोंका पालन भी संनिहित है। अतः राजाने पुत्रोंके जातसंस्कार आदि सब कर्म कराये। चारों भाई महर्षि वसिष्ठकी शिक्षा-दीक्षामें वेदविद्, वीर, सब लोगोंके कल्याणमें तत्पर, ज्ञानसम्पन्न और सभी गुणोंसे युक्त हुए। महाराज दशरथको अब उनके विवाहकी चिन्ता हुई। उन्हीं दिनों महातेजस्वी मुनि विश्वामित्र अयोध्या पधारे। राजाने यथोचित स्वागत एवं पूजाके बाद उनसे कहा—'मुने! आप कार्य बतायें, मैं सब कुछ करूँगा', पर श्रीरामकी माँग करते ही राजा मुकर गये। इसपर

विश्वामित्रजीको [illegible]। अतः राम, लक्ष्मण और [illegible] गये, पर [illegible] करनेवाले [illegible] उसे न [illegible] और [illegible] हो जाते हैं। [illegible] विश्वामित्र [illegible] धर्म और [illegible] [illegible] राजा [illegible] हो गये। राम और लक्ष्मण [illegible] पैदल सिद्धाश्रम पहुँचे। वहाँ ताड़का, सुबाहु [illegible] विश्वामित्रके यज्ञको [illegible] कराया। यह सिद्धाश्रम ही वह स्थान था, जहाँ भगवान् विष्णुने भी तप किया था।

अब विश्वामित्रके साथ श्रीराम और लक्ष्मण जनकपुर पहुँचे। मुनिने महाराज जनकसे श्रीरामको धनुष दिखानेको कहा। श्रीरामने हँसी-खेलमें ही उसे तोड़ डाला। तदनन्तर महाराज दशरथको बुलाया गया और वे बारातके साथ आये। गोदोदानसहित चारों भाइयोंका विवाह सम्पन्न हुआ। राजा दशरथने गोदान आदिकी विधि सम्पन्न की। राजा जनकने भगवती सीताको सुन्दर वस्त्रोंसे सजाकर, अग्नि तथा रामके सम्मुख बैठाया और कहा—'हे रघुनाथ! मेरी पुत्री सीता आजसे आपकी सहधर्मिणी बन रही है। आप अपने हाथसे इसका हाथ पकड़कर इसे अपनाइये। यह पतिव्रता कन्या छायाकी भाँति सदा आपका अनुसरण करेगी।' बहुत दिनोंतक जनकपुर रहकर बारात अयोध्या लौटी। इस प्रकार सुखसे बारह वर्ष बीत गये। अब महाराज दशरथने रामकी लोकप्रियताका ध्यानकर उनके अभिषेककी तैयारी की। पर सरस्वतीकी प्रेरणासे मन्थरा और बादमें कैकेयीने बाधा दी। जब उसने रामसे कहा कि 'सत्य ही धर्मका मूल है। तुम अब ऐसा करो कि कुपित होकर राजा तुम्हारे लिये सत्यको न त्यागें।' तब श्रीरामने कहा—'देवि! आप ऐसा न कहें। मैं महाराजकी आज्ञासे अग्निमें कूद सकता हूँ और तीक्ष्ण विषका भी पान कर सकता हूँ।'

श्रीराम, भरत, लक्ष्मण तथा श्रीसीताजी

गुरुसेवा—ये मोक्षसाधक श्रेष्ठ छः कर्म हैं, तथापि इन शुभ कर्मों (सदाचारों)में भी मानवके लिये एक सर्वाधिक श्रेयस्कर कर्म है, जिसके लिये ही समग्र सदाचार अथवा शुभकर्म किये जाते हैं। वह सर्वाधिक श्रेयस्कर कर्म है—ब्रह्मज्ञानमूलक मोक्ष'—

वेदाभ्यासस्तपोज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः।
अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयस्करं परम्॥
सर्वेषामपि चैतेषां शुभानामिह कर्मणाम्।
किंचिच्छ्रेयस्करतरं कर्मोक्तं पुरुषं प्रति॥
सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद्ध्यग्रयं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः॥
(मनु० १२। ८३—८५)

इस प्रकार सम्पूर्ण वेदोक्त एवं स्मृत्युक्त सदाचार मोक्षरूप साध्य (फल)की प्राप्तिका साधन ही कहा जाना चाहिये। सदाचारके द्वारा हमें अपने मन, वाणी और शरीरपर कोई ऐसा विवेकपूर्ण नियन्त्रण रखना चाहिये, जिससे कि हम सामाजिक जीवनमें घुलमिलकर भी त्रिदण्डी (संन्यासी)के समान राग-द्वेषसे शून्य रहते हुए सर्वभूत-हितैषी तथा सर्व-हितकारी बन सकें। सदाचारका सर्वोत्तम फल यही है कि समाजके सभी लोग सुखी, स्वस्थ एवं कल्याणदर्शी बन सकें—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

श्रीराम-कथामें सदाचार-दर्शन

(ले०—श्रीविन्देश्वरीप्रसादजी सिंह, एम० ए०)

'सदाचार एवं सच्चरित्रता ही श्रेष्ठ पुरुषोंकी कसौटी है। श्रेष्ठ पुरुष जो बर्ताव या व्यवहार करते हैं, वही सदाचार कहा जाता है। (महाभा० १०४। ९।) वसिष्ठस्मृति (१। ४)में सदाचारको परमधर्म कहा गया है। वाल्मीकि रामायणका श्रीगणेश श्रेष्ठ पुरुषकी जिज्ञासासे हुआ है। उसके आदि, मध्य और अन्तमें 'तप' शब्द भरा है। तपस्वी श्रेष्ठ पुरुष होते हैं, अतः वाल्मीकिरामायण स्वतः सदाचार-शास्त्र हो जाता है। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम सदाचारकी साक्षात् मूर्ति हैं। वे धर्मके विग्रह हैं—'रामो विग्रहवान् धर्मः।' उनका अनुसरण तथा अनुकरण करनेवाले सभी तपस्वी तथा सदाचारकी मूर्ति हैं। रामायणरचयिता स्वयं वाल्मीकि हजारों वर्षोंतक तपस्या कर जब ज्ञान-तपसे पवित्र हो गये, तब उन्हें सप्तर्षियोंने वल्मीकसे निकाला और उनका वाल्मीकि नाम-करण किया। महर्षि वाल्मीकिने मुनिपुंगव नारदसे इस समयके गुणवान्, पराक्रमी, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यवक्ता, आदि गुणयुक्त एक या अनेक पुरुषोंकी जिज्ञासा की थी। इसपर नारदजीने उन्हें एक श्रीराममें ही सभी गुणोंको बताते हुए उनकी जिज्ञासा शान्त की और संक्षेपमें उनका चरित्र भी कह दिया। बादमें महर्षि वाल्मीकि स्नानार्थ तमसा-तटपर गये, जहाँ क्रौञ्च-वध तथा क्रौञ्चीके क्रन्दनसे शोकार्त एवं अप्रसन्न होकर निषादको यह शाप दिया—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥*
(वाल्मी० १। २। १५)

उनके मुँहसे सहसा निकले इस श्लोकपर चिन्तामग्न महर्षिको स्वयं प्रभु ब्रह्माजीने राम-कथा रचनेका आदेश दिया। ब्रह्माजीके चले जानेपर महर्षिने योग-बलसे ध्यान-द्वारा उक्त चरित्रका अन्वेषण किया तथा अपने एवम् उनके परिवारके सारे इतिवृत्त तथा चेष्टाओंको यथावत् जान लिया। तब उन्होंने श्रीरामचरित्रकी रचना चौबीस हजार श्लोकों एवं छः काण्डोंमें की तथा उत्तरकाण्ड और भविष्य-वर्णन कर कुश और लवको कण्ठस्थ कराया।

* यह श्लोक चम्पूरामायण १। ६, उत्तररामचरि० २। ५ आदिमें भी प्राप्त होता है।

[illegible] है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] पुत्रकी कामनासे राजाने [illegible] पुत्रेष्टि [illegible] [illegible] अनुष्ठान, अभिजित् और विश्वजित् यज्ञ भी सम्पन्न किया और होम, अश्वमेध, [illegible] ऋषियोंने प्रचुर दक्षिणा दी। महर्षि संतुष्ट होकर राजाको सि[illegible] आशीर्वाद दिया। अन्तमें ऋष्यशृङ्गने पुत्रेष्टि यज्ञ करवाया। मन्त्र-पूर्वोक्त विधिसे अग्निमें आहुतियाँ पड़ीं। ब्रह्माजी तथा सभी देवगण भाग लेने आये। भगवान् श्रीविष्णु भी वहाँ पधारे और देवताओंकी प्रार्थनापर उन्होंने आश्वासन दिया कि वे नराकार लेकर रावण-वध आदि करेंगे। अग्निदेवने भगवान्की आज्ञासे राजा दशरथको पायस दिया। पायसका वितरण राजाने धर्मानुसार तीनों रानियोंमें किया। पहले पूरे एक वर्ष बाद राजाके चार अनुपम पुत्र-रत्न उत्पन्न हुए। इस तरह 'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'का वचन सर्वविध आचरित हुआ।

श्रीरामादि-जन्मोत्सवके अवसरपर विविध दान दिये गये। सदाचारमें संस्कारोंका पालन भी संनिहित है। अतः राजाने पुत्रोंके जातसंस्कार आदि सब कर्म कराये। चारों भाई महर्षि वसिष्ठकी शिक्षा-दीक्षामें वेदविद्, वीर, सब लोगोंके कल्याणमें तत्पर, ज्ञानसम्पन्न और सभी गुणोंसे युक्त हुए। महाराज दशरथको अब उनके विवाहकी चिन्ता हुई। उन्हीं दिनों महातेजस्वी मुनि विश्वामित्र अयोध्या पधारे। राजाने यथोचित स्वागत एवं पूजाके बाद उनसे कहा—'मुने! आप कार्य बतायें, मैं सब कुछ करूँगा', पर श्रीरामकी माँग करते ही राजा मुकर गये। इसपर [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] वह मिथिला ही [illegible], [illegible] मिथुने भी [illegible] दिया था।

अब विश्वामित्रके साथ श्रीराम और लक्ष्मण जनक-पुर पहुँचे। मुनिने महाराज जनकको श्रीरामको धनुष दिखलानेको कहा। श्रीरामने हँसी-खेलमें ही उसे तोड़ डाला। तदनन्तर महाराज दशरथको बुलाया गया और वे बारातके साथ आये। वेदोच्चारसमन्वित चारों भाइयोंका विवाह सम्पन्न हुआ। राजा दशरथने गोदान आदिकी विधि सम्पन्न की। राजा जनकने भगवती सीताको धनुष पर देखा, अग्नि तथा रामके सम्मुख बैठाया और कहा—'हे रघुनाथ! मेरी पुत्री सीता आजसे आपकी सहधर्मिणी बन रही है। आप अपने हाथसे इसका हाथ पकड़कर इसे अपनाइये। यह पतिव्रता कन्या छायाकी भाँति सदा आपका अनुसरण करेगी।' बहुत दिनोंतक जनकपुर रहकर बारात अयोध्या लौटी। इस प्रकार सुखसे बारह वर्ष बीत गये। अब महाराज दशरथने रामकी लोक-प्रियताका ध्यानकर उनके अभिषेककी तैयारी की। पर सरस्वतीकी प्रेरणासे मन्थरा और बादमें कैकेयीने बाधा दी। जब उसने रामसे कहा कि 'सत्य ही धर्मका मूल है। तुम अब ऐसा करो कि कुपित होकर राजा तुम्हारे लिये सत्यको न त्यागें।' तब श्रीरामने कहा—'देवि! आप ऐसा न कहें। मैं महाराजकी आज्ञासे अग्निमें कूद सकता हूँ और तीक्ष्ण विषका भी पान कर सकता हूँ।'

सत्यनिष्ठ रामने अपनी इस प्रतिज्ञाको जिस प्रसन्नताके साथ सहजभावसे पूर्ण किया, वह विश्वके इतिहासमें अद्वितीय है। इस प्रसङ्गमें रामका सदाचार त्यागमें निविष्ट है।

विश्वधर्म या मानवधर्मके नामसे प्रख्यात धर्मके दस या तीस लक्षणोंमें सत्यके सविधि पालनसे राजा दशरथके परिवारमें अनेक सामान्य धर्म, विशेष, विशेषतर, विशेषतम धर्मोका उदय हुआ। स्वयं राजा दशरथने अपने प्राण देकर 'रामप्रेम'को सिद्ध कर दिया। लक्ष्मणजीका विशेष धर्म, भरतजीका विशेषतर एवं शत्रुघ्नजीका विशेषतम धर्म अद्भुत आदर्शपूर्ण रहा। इस प्रकार एक महा दुःखद घटना इन सदाचारियोंके कृत्योंसे प्रातःस्मरणीय बन गयी। श्रीरामका वनगमन समस्त विश्वके सभी प्राणियोंके लिये कल्याणकारी हो गया। ननिहालसे लौटकर भरत रामको मनाने चित्रकूट चल पड़े। भरत-रामका वाल्मीकीय रामायणका संवाद विश्व-साहित्यमें अद्वितीय है। श्रीरामने पिताकी बात रखी और विवश होकर भरत अयोध्या लौटे तथा चरणपादुकाको सिंहासनपर स्थापितकर उन्होंने नन्दि-ग्राममें मुनिव्रत लिया। इधर श्रीरामने लक्ष्मण और सीताके साथ दण्डकारण्यमें प्रवेश किया। श्रीजानकीजी-को विदाई देती हुई अनसूयाजीने पातिव्रत-धर्मका जो प्रवचन किया, भगवती सीता उसके परमादर्शस्वरूप ही थीं। पति चाहे जैसा हो, फिर भी सदाचारिणी और पतिव्रता स्त्रियोंका वही दे आया हूँ।' सदाचारी राम अपने सदाचारी अनुज तथा सदाचारिणी पत्नीके साथ दण्डक वनको पवित्र करते हुए तथा मुनियोंको आश्वासन देते हुए पञ्चवटीमें निवास करने लगे। दुराचारिणी शूर्पणखाको जो दण्ड मिलना चाहिये वह लक्ष्मणजीके हाथों मिला। लंकाका रावण राक्षस जातिका था। वह पुलस्त्यके पुत्र विश्रवाका बेटा था, पर जाति-विचारसे विश्रवा भी विप्र नहीं थे। वे साधु और तपस्वी थे। कैकसी राक्षसीने दारुण वेलामें उनसे पुत्र और पुत्री प्राप्त की थी। विश्रवाके वचनसे ही वह क्रूरकर्मा राक्षस हुए। वामनपुराणमें परदाराकी अभिलाषा, पराये धनके लिये लोलुपता राक्षसोंका स्वाभाविक कर्म कहा गया है, जो सदाचारके विपरीत धर्म हैं। रावणने सीता-हरण कर श्रीरामको शोकमग्न कर दिया; पर विक्षुब्ध होनेपर भी दोनों रघुवंशियोंने संध्या-वन्दन आदि नित्यकर्ममें कभी अन्तर न आने दिया, न जटायुके प्रति तिलाञ्जलि आदि पितृकार्य करनेमें शिथिलता की। श्रीरामके प्रलाप एवं विलापसे उनके पत्नीप्रेमकी अधिकता ही प्रतीत होती है। ऋष्यमूकके पथपर हनुमान्‌जी श्रीरामसे आ मिले। संत ही संतको पहचानते हैं। श्रीरामने हनुमान्‌जीके विषयमें लक्ष्मणसे कहा—

नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।

भी सहन की। पर वालीने जब कहा कि 'छिपकर मारना ठीक हो तो मुझे उत्तर दीजिये।' तब श्रीराम बोले—'वालिन्! धर्म, अर्थ, काम तथा लौकिक समाचार-को समझे बिना बच्चोंकी तरह तुम मेरी निन्दा कर रहे हो। बुद्धिमान् आचार्योंसे शङ्का-समाधान किये बिना वानरोंके स्वभाववश तुम मुझे उपदेश क्यों देना चाहते हो! ×× हमलोग पिताकी आज्ञासे अपने धर्मका पालन करते हुए धर्मविरुद्ध कार्य करनेवालोंको विधिवत् दण्ड देते हैं। तुमने धर्मका अतिक्रमण किया है। तुम कामको पुरुषार्थ समझते हो और राजधर्मानुसार नहीं चलते। धर्ममार्गपर चलनेवालोंके लिये बड़ा भाई, पिता और विद्यादाता गुरु—ये तीनों पिता-सदृश होते हैं। छोटे भाई, पुत्र और शिष्य पुत्रके समान होते हैं। हे वानर! सज्जनोंद्वारा परिज्ञात एवं पालित धर्म सूक्ष्म होता है। तुमने धर्मको त्यागकर सुग्रीवकी भार्याको रख लिया है, इसलिये मैंने तुम्हें मारा है।'

अपना धर्मद्रोह समझकर वाली रामका शरणागत बना। वानरोंमें आदर्श ब्रह्मचारी हनुमान्‌जी हैं। सीतान्वेषणके क्रममें गोपदवत् समुद्रको लाँघ गये। रास्तेमें सुरसा, मैनाक तथा लङ्किनीसे यथोचित व्यवहार करते घर-घर सीताजीकी खोज करने लगे। रावणके भरे-पूरे रनिवासमें घुसकर एक-एक नारीका निरीक्षण किया। मन्दोदरीको भी देखा। मधुशालामें भी सीताकी खोज की, पर सीता उन्हें नहीं मिलीं; तब ज्ञानी हनुमान्‌जीके हृदयमें विविध विचार उत्पन्न हुए। उन्हें धर्मका भय डराने लगा। उन्होंने विचार किया कि किसीके अन्तःपुरमें जाकर इस तरह शयन करती हुई स्त्रियोंको देखना पाप है। इससे मेरा सब धर्म नष्ट हो जायगा। फिर उन्होंने विचार किया कि मन और मेरी दृष्टि परायी स्त्रीपर नहीं जा सकती। मैंने तो परायी स्त्रीसे प्रेम करनेकी इस रावणको ही देखा है। इस प्रकार परम बुद्धिमान् हनुमान्‌के हृदयमें धर्म-अधर्मका निश्चय उत्पन्न हो गया। उन्होंने देखा कि 'यहाँ आकर गुप्त रीतिसे मैंने रावणकी सभी स्त्रियोंका निरीक्षण किया, पर मेरे मनमें कामवासना उत्पन्न न हुई। मन ही इन्द्रियोंका स्वामी है। वही धर्म और अधर्म करता है। पर मेरा मन मेरे वशमें है। सीताका पता लगानेके लिये स्त्रियोंमें ही खोजा जाता है।' सिद्धपुरुष सदाचार ही नहीं, विपरीत स्थितियोंमें ज्ञानपूर्वक सदनेवाले सदाचारके उदाहरणोंका संग्रहालय वाल्मीकिरामायण है।

भगवती सीताके ऐसे समयके भी सदाचारके उद्धरण द्रष्टव्य हैं। अशोकवनमें संतप्त सीता विलपती हुई कहती हैं—'रावणके इतने कठोर वचनोंको सुनकर भी मैं पापिनी जीवित हूँ। रावण मुझे मारेगा—इस ग्लानिसे मैं आत्महत्या कर लूँ तो भी मुझे पाप न लगेगा। ×× मैं रावणके द्वारा मार डाली जाऊँगी। मैं पतिव्रता हूँ। मैं नियमके साथ रहती हूँ। अतः क्यों न अपनी चोटीसे ही गला बाँधकर यमपुर चल दूँ!' तभी उन्हें सहसा अपने तथा रघुवंशकी मर्यादाका स्मरण हो आया। यही आत्ममर्यादा सच्चरित्रताका असली साधन है। उन्हीं सीताने हनुमान्‌जीकी पीठपर बैठकर अविलम्ब पतिदर्शनके प्रस्तपर कहा—'हे हनुमन्! मैं पतिव्रता हूँ अतएव रामचन्द्रको छोड़कर मैं किसी अन्य पुरुषका शरीर अपनी इच्छासे नहीं छू सकती। हरणके समय मुझे रावणके शरीरका जो स्पर्श करना पड़ा था, वह इच्छाके विरुद्ध था। विवश और असहाय होनेके कारण ही वैसा हो गया। श्रीरामचन्द्रजीका यहाँ आकर राक्षसों-सहित रावणको मारना और ले जाना ही उचित होगा। आदर्श पतिव्रता तो स्वेच्छासे किसीका स्पर्श भी नहीं करती, इसीसे सती नारीके अधीन भगवान् विष्णु भी रहते हैं। पातिव्रत सदाचारकी सीमा है। जौहर का उसीकी देन थी। सीताका मनचाहा हुआ। राम-रावण-युद्ध 'न भूतो न भविष्यति' ही था। पर उस भौतिक युद्धसे भी अतिरोमांचकारी युद्धका सामना

दाचारिणी सीताको करना पड़ा। श्रीरामचन्द्रके आज्ञानुसार हनुमान् अशोकवाटिकामें गये और श्रीरामका संदेश सुनाते हुए कहा—'हे वैदेहि ! हानुभाव श्रीराम लक्ष्मण और सुग्रीवके साथ सकुशल हैं। विभीषणकी सहायता तथा लक्ष्मणकी नीति और वानरोंके बलसे उन्होंने बलवान् रावणका संहार किया है। वीर रामचन्द्रने कुशल पूछते हुए आपका अभिनन्दन किया है और कहा है कि आपके ही प्रभावसे यह विजय प्राप्त हुई है। तभी हनुमान्ने चाहा कि उन राक्षसियोंको मार डालूँ, जिन्होंने सीताजीको डराया, धमकाया और दुःख दिया था। पर भूमिजा सीता बोलीं—'वानरेन्द्र ! इन परवश राक्षसियोंपर तुम्हें क्रोध नहीं करना चाहिये। मैं जानती हूँ कि प्रारब्धके अनुसार सभी फलोंको भोगना ही पड़ता है। मैंने इन दासियोंका भी क्रोध सहन कर लिया है।××× पराधीन रहनेवाले पापियोंके पापकी ओर धर्मात्मा ध्यान नहीं देते। वे उनके प्रति किये गये उपकारका बदला भी नहीं लेना चाहते। मर्यादाकी रक्षा करना ही सज्जनोंका भूषण है। इस कर्तव्य और क्षमानिष्ठापर हनुमान् बोले—हे गुणवति ! आप वस्तुतः रामचन्द्रकी अनुरूप ही धर्मपत्नी हैं।' जब सीताजी एक उत्तम ओहारवाली सुन्दर पालकीपर श्रीरामके सामने लायी गयीं, तब उन्होंने कहा—घर, वस्त्र, आकार, चहारदीवारी आदि स्त्रियोंके लिये परदा नहीं है। स्त्रियोंका सच्चा परदा तो उनका सच्चरित्र है।' फलतः पालकीसे उतरकर सीता पैदल पतिके पास आयीं और 'आर्यपुत्र' कहकर प्रेमविह्वल हो गयीं। अपने पतिका दर्शनकर उनका मुखमण्डल चमक उठा। श्रीरामचन्द्रने कहा—××'मैंने यह युद्ध अपमानको दूर करने, कुलमें कलङ्क न आने देने और लोकनिन्दासे बचनेके लिये जीता है, तुम्हारे लिये नहीं।' उन्होंने उत्तर दिया। जिस हृदयपर मेरा अधिकार है, वह आज भी आपमें अनुरक्त है।'×× हे लक्ष्मण ! चिता बनाओ ! चिता ही इस रोगकी ओषधि हो सकती है ! मेरे स्वामीने सशंक होकर मेरा त्याग कर दिया है।' सीता जलती चितामें कूद पड़ती हैं ! सभी वानर और राक्षस हाहाकार करने लगे। उसी समय सभी देवता भी वहाँ आ गये। उन्होंने श्रीरामका हाथ पकड़कर कहा—'आपने आगमें कूदती सीताकी उपेक्षा क्यों की ? आप आदि पुरुष हैं, सीता आपकी प्रकृति है।' ब्रह्माजीने भी कहा—'सीताजी लक्ष्मी हैं और आप विष्णु हैं।' अग्निदेवने सीताको गोदमें लेकर रामचन्द्रको दे दिया। वे बोले—'सीताकी अन्तरात्मा परम पवित्र है। आप उनको ग्रहण करें।' श्रीराम बोले—'यदि मैं बिना इनकी परीक्षा लिये ही ग्रहण कर लेता तो सब लोग यही कहते कि 'दशरथपुत्र रामचन्द्र संसारी व्यवहारोंसे अनभिज्ञ और कामाधीन हैं।'×× सीता अपने तेजसे स्वयं रक्षित हैं। सीतापर दुष्टात्मा रावण कभी मनसे भी आक्रमण नहीं कर सकता था। जिस तरह प्रभा सूर्यकी है, उसी तरह सीता मेरी नित्य अर्द्धाङ्गिनी है। इसलिये रावणके घरमें रहनेपर भी इनको रावणके ऐश्वर्यका लोभ नहीं हो सकता था। महादेवके साथ आये हुए श्रीदशरथजीने भी कहा—'बेटी सीते ! रामने तुम्हारी पवित्रता प्रकाशित करनेके लिये ही तुम्हारे त्यागकी बात की थी। लक्ष्मणको भी अपनी सेवाके लिये उन्होंने प्रशंसा की। श्रीरामने इस अवसरपर उनसे जो वर माँगा, वह भरत और कैकेयीके प्रति उनकी निश्छलताका द्योतक है। श्रीराम बोले—'पिताजी ! आपने कैकेयीसे कहा था—'मैंने तुमको तुम्हारे पुत्र भरतके साथ त्याग दिया है। आपका यह शाप उन्हें न लगे।' अप्रतिम सदाचारका यह दिव्य दर्शन है।'

पुष्पक विमानद्वारा लंकासे चलकर श्रीरामचन्द्र अयोध्या पहुँचे और भरतजीसे जा मिले। राजा रामका राज्याभिषेक हुआ। वाल्मीकीय रामायणका सुखान्तक भाग समाप्त हुआ। सीताके सदाचरणकी कसौटी उत्तरकाण्ड है। इसीसे वाल्मीकिने इसकी भी रचना की। स्निग्धप्रज्ञ राम-

का कर्म-धर्म-कौशल पराकाष्ठातक पहुँच चुका था, पर सीताजीके प्रति प्रेमकी अलौकिक धारामें वे भी अधीर होते देखे गये। लोकनायक श्रीरामने लोकोंको प्रसन्न रखनेके लिये सब कुछ किया, पुनः सीताका त्याग भी किया तथा उस त्यागजनित क्षोभको लोकसंग्रहद्वारा छिपाया, पर रसातलमें प्रवेश करती हुई सीताने प्रेमके उस फल्गुको अन्तमें झटका दे दिया। वे दुःखी हो नेत्रोंसे आँसू बहाने लगे तथा देरतक रोकर बोले—'पूजनीये! भगवति वसुंधरे! मुझे सीताको लौटा दो, अन्यथा मैं अपना क्रोध दिखाऊँगा। या तो तुम सीताको लौटा दो अथवा मेरे लिये भी अपनी गोदमें स्थान दो; क्योंकि पाताल हो या स्वर्ग मैं सीताके साथ ही रहूँगा।' ब्रह्माने कहा—'सीता साकेतधाममें चली गयी हैं। वहाँ उनसे आपकी भेंट होगी। पूरे ग्यारह हजार वर्षोतक 'रामराज्य' पृथ्वीपर रहा। दैवी-सम्पत्ति तथा सुखका क्या कहना। कुत्ते और उल्लूतकको न्याय मिला। त्रिलोकमें रामराज्य-का यश छा गया। सदाचार उसका आधार था।

सदाचारका प्रमाण धर्मशास्त्रादि हैं, न कि निरे तर्क। इनके पाँव नहीं होते, न ये निर्णय देते हैं। निदान, नारद-जैसे साधुद्वारा दिखाये युग-धर्मानुकूल राजाका काम (अनधिकारी तपी शम्बूकका वधकर ब्राह्मणपुत्रक जिलाना) श्रीरामने किया। कर्मसे वर्ण नहीं बनते, उनके स्वरूपका पोषण उससे होता है। वर्णानुकूल निःश्रेयसकी सिद्धि होती है। कालसे बातें करते समय दुर्वासाके कोपसे राज्य तथा श्रीरामको बचानेके लि अन्तमें भगवान् अपने पुत्रों तथा भतीजोंको राज्य अभिषिक्तकर सबन्धु एवं सहायकगणोंके साथ उन्होंने सर नदीके गोप्रतारकघाटपर स्नानकर अपने नित्य सांतानि या लोक या साकेतके लिये महाप्रस्थान किया। पृथ्वी उनके अनुगामियोंमेंसे रह गये केवल पाँच—जाम्बवा मयन्द, द्विविद, विभीषण तथा हनुमान्। अयोध्या स्थावर-जङ्गम, सूक्ष्म-स्थूल सब चले गये। वह सू पड़ गयी। कुलदेवता 'जगन्नाथकी सदा आराधना'क आदेश विभीषणको देते गये तथा 'कथाप्रचारक'क कार्य श्रीहनुमान्‌जीने अपने सिर लिया। विभीषणक शरणागति तथा हनुमान्‌जीकी कथाप्रियता दोनों ह कलिकालके जीवोंके उद्धारके लिये भगवत्कृपा-प्रसाद है प्राचेतस महर्षि वाल्मीकिने चौबीस अक्षरवाले गायत्र मन्त्रपर रामायणकी रचना की। इसकी कथामें सदाचारक सूक्ष्म व्याख्या है, जो प्राणियोंके कल्याणके लि परम आदर्श है।

आर्य-नारीकी आदर्श सदाचार-निष्ठा

अशोकवाटिकामें श्रीसीताजीको बहुत दुःखी देखकर महावीर हनुमान्‌जीने पर्वताकार शरीर धारण करके उनसे कहा—'माताजी! आपकी कृपासे मैं वन, पर्वत, मन्दिर, महल, चहारदीवारी और नगरद्वारसहित इस सारी लङ्कापुरीको रावणके समेत उठाकर ले जा सकता हूँ। आप कृपया मेरे साथ शीघ्र चलकर राघवेन्द्र श्रीरामका और लक्ष्मणका शोक दूर कीजिये।'

इसके उत्तरमें सतीशिरोमणि श्रीजनककिशोरीजीने कहा—'महाकपे! मैं तुम्हारी शक्ति और पराक्रमको जानती हूँ। परंतु मैं तुम्हारे साथ नहीं जा सकती; क्योंकि मैं पतिभक्तिकी दृष्टिसे एकमात्र आर्यपुत्र श्रीरामके सिवा अन्य किसी भी पुरुषके शरीरका स्पर्श स्वेच्छापूर्वक नहीं कर सकती। रावण मुझे हरकर लाया था, उस समय तो मैं निरुपाय थी। उसने बलपूर्वक ऐसा किया। उस समय मैं अनाथ, असमर्थ और विवश थी। अब तो श्रीराघवेन्द्र ही पधारकर रावणको मारकर मुझे [illegible] जायँ, यही मेरी इच्छा है।'

(वाल्मीकीय रामायण)

वाल्मीकीयरामायणमें श्रीरामके सदाचारसे शिक्षा

(ले०—पं० श्रीरामनारायणजी त्रिपाठी, व्याकरण-वेदान्त-धर्मशास्त्राचार्य)

न हि रामात् परो लोके विद्यते सत्पथे स्थितः ।
(वा० रा० अयो० ४४ । २६)

अम्बा सुमित्राकी इस उक्तिसे सर्वथा सिद्ध है कि श्रीरामचन्द्रसे बढ़कर इस विश्वमें सत्पथानुगामी व्यक्ति नहीं है, अतः रामके द्वारा सेवित आचार सदाचार एवं सन्मार्ग है—'रामो विग्रहवान् धर्मः'(३ । ३९ । १३) इस दृष्टिसे भगवान् रामचन्द्रद्वारा अनुमोदित, आश्रित सदाचार ही रामायणप्रतिपाद्य सदाचार है । यद्यपि रामायणमें अनेक स्थानोंपर सदाचारका निरूपण हुआ है, तथापि श्रीरामका आचार सब सदाचारोंका शिरोमणि, सन्मार्गोंमें प्रधान, लौकिक व्यवहारोंकी कसौटी तथा धर्म और मर्यादाका निष्कृष्ट पुटपाक है । रामकी तरह चरित्रवान्, मर्यादा-पालक व्यक्ति दुर्लभ है । यदि सभी मानव उनके कर्मोंका अनुसरण करें तो यह मर्त्यलोक दिव्यलोक हो जाय । उनके आचरणके विषयमें कहा गया है—

स च नित्यं प्रशान्तात्मा मृदुपूर्वं च भाषते ।
उच्यमानोऽपि परुषं नोत्तरं प्रतिपद्यते ॥
बुद्धिमान् मधुराभाषी पूर्वभाषी प्रियंवदः ।
वीर्यवान् न च वीर्येण महता स्वेन विस्मितः ॥
(अयो० १ । १०, १३)

'श्रीराम सर्वदा शान्तचित्त, पूर्व एवं मृदुतापूर्वक दूसरेके साथ बोलते थे । वे रूखा बोलनेपर उसका प्रत्युत्तर नहीं देते थे । वे बुद्धिमान्, मधुर और प्रियवक्ता तथा वलवान् होते हुए भी निरभिमानी थे ।'

मातृ-पितृ-भक्ति—पुत्रको माता-पिताकी सेवा तथा उनकी आज्ञाका पालन करना भारतीय सदाचारका मुख्य अङ्ग है । वाल्मीकीयरामायण भगवान् रामकी अनुपम मातृ-पितृ-भक्ति आदर्श उपस्थित करती है । यद्यपि माता-पिताकी उपयुक्त आज्ञा माननेवाले भारतमें पहले भी थे और अब भी अनेक हो सकते हैं; किंतु विमाताकी अनुपयुक्त कठोर आज्ञा शिरोधार्य करनेवाले तो राम ही थे । जब कैकेयीने वरदानके व्याजसे रामको वन जानेका आदेश दिया, तब रामने उपालम्भपूर्वक कहा—'मा कैकेयी ! निश्चय ही तुम मेरे सद्गुणोंके प्रति संदेह करती हो; क्योंकि स्वयम् अधिक समर्थ होती हुई भी इसे तुमने राजासे क्यों कहा !' अब पिताके आज्ञा-पालनमें उनके उत्साहको देखिये । वे कहते हैं—

अहं हि वचनाद् राज्ञः पतेयमपि पावके ।
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे ॥
(अयो० १८ । २८)

'देवि ! मैं पिताकी आज्ञासे अग्नि और समुद्रमें कूद सकता हूँ तथा तीक्ष्ण विष भी पी सकता हूँ ।' माता कौसल्याद्वारा वन जानेसे रोकनेपर रामकी पितृभक्तिका निदर्शन देखें । वे कहते हैं—'पिताकी आज्ञाके उल्लङ्घन करनेकी शक्ति मुझमें नहीं है, मैं तुमसे प्रार्थना कर रहा हूँ । मैं उनकी आज्ञासे वन जाना चाहता हूँ ।'(अयो० २१ । ३० ।) जहाँ पिताके प्रति भगवान् रामकी ऐसी अविचल भक्ति कि वे माता कौसल्याका वचनतक नहीं मानते, वहीं माताकी आज्ञा न माननेका अन्तःक्लेश सदा उनके हृदयको व्यथित करता रहा । रामकी मर्यादानिर्धारित निम्नलिखित उक्ति ही इसे प्रमाणित कर रही है ।

मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत् पुत्रमीदृशम् ।
मन्ये प्रीतिविशिष्टा सा मत्तो लक्ष्मण सारिका ।
यत्तस्याः श्रूयते वाक्यं शुक पादमरेर्दश ॥
(अयो० ५३ । २१-२२)

'लक्ष्मण ! मैं माताको अनन्त दुःख दे रहा हूँ । कोई भी नारी मेरे-जैसा पुत्र उत्पन्न न करे; है

अनृतं नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन।

'मैं पहले कभी न तो झूठ बोला हूँ और न आगे भी झूठ बोलूँगा।' वे कहते हैं—'देवि! राम दो तरहकी बात नहीं बोलता, जो कुछ यह दिया, वह दिया। फिर यह उसके विरुद्ध नहीं करता।' (२।१८।३०) सदाचारका यह एक उदात्त उदाहरण है। जिस समय सुग्रीवसे मित्रता करके रामने प्रतिज्ञा की थी, उस समय भी कहा था कि—

तद् ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकाङ्क्षितम्।
करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते॥

मैं लोभ, मोह और अज्ञानसे पिताकी सत्य मर्यादाको भङ्ग नहीं करूँगा। उन्होंने चित्रकूटमें भी भरतसे कहा था। ऋषियोंके समक्ष प्रतिज्ञा करके अब मैं जीतेजी इस प्रतिज्ञाको मिथ्या नहीं कर सकूँगा; क्योंकि सत्यका पालन मुझे सदा ही इष्ट है।

पिता-भक्ति—माता-पिताकी भक्तिका अनुपम आदर्श भगवान् रामने जो निभाया है, उसका निर्वाह करनेवाले कतिपय व्यक्ति ही गणनामें मिलेंगे। पिताके प्रति उनकी भक्तिकी चर्चा हो चुकी है। अब विमाताके प्रति देखें। मातृ-भक्तिकी परम सीमा यहाँ प्रकट है—

न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कदाचन।
तामेवेक्ष्वाकुनाथस्य भरतस्य कथां कुरु॥
(३।१६।३७)

वे पञ्चवटीमें कैकेयीके प्रति लक्ष्मणके अनुदार वचन सुनकर कहते हैं—'लक्ष्मण! तुम्हें मझली माँकी निन्दा कभी नहीं करनी चाहिये। तुम इक्ष्वाकु-कुलश्रेष्ठ भरतजीकी ही चर्चा करो।' सदाचारका यह कैसा अवदात रूप है!

कृतज्ञता—मनुष्यका कृतज्ञ होना मानवताका परम उपादेय गुण है, जिसका प्रत्येक मानवमें होना आवश्यक है। जटायुके मरनेपर भगवान् रामका कृतज्ञतापूर्वक शोकोद्गार इस विषयमें उल्लेख्य है।—'लक्ष्मण! इस समय सीताहरणका उतना दुःख नहीं है, जितना कि मेरे लिये प्राणत्याग करनेवाले जटायुकी मृत्युसे हो रहा है। जिस प्रकारसे पूज्य पिता दशरथ मेरे माननीय थे, वैसे ही ये पक्षिराज जटायु भी हैं। (३।६८।२५-२६।) इसी प्रकार हनुमान्‌जी-के प्रति रामकी कृतज्ञता तथा उदारतामयी उक्ति है—

मदङ्गे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे।
नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम्॥
(७।४०।२४)

'हनुमन्! तुमने जो मेरे साथ उपकार किया है, वह मेरे अंदर ही जीर्ण हो जाय, मेरे लिये उसका प्रत्युपकार करनेका कोई कभी अवसर ही न आये; क्योंकि आपत्तिमें ही प्रत्युपकारकी अपेक्षा होती है।'

मित्रता—रामके चरित्रमें मैत्रीकी पराकाष्ठा देखी जाती है। विपन्न सुग्रीवके साथ मैत्री कर रामने उसका पूरा निर्वाह किया और उसे श्रेष्ठ मित्र माना तथा अन्तिम समय उन्हें अपने साथ भी रखा। (वा० रा० ७। १०८।२५) मैत्रीका निर्वाह सदाचारका अन्यतम अङ्ग है।

उदारता—कैकेयीसे बात करते हुए भगवान् राम कहते हैं—

अहं हि सीतां राज्यं च प्राणानिष्टान् धनानि च।
हृष्टो भ्रात्रे स्वयं दद्यां भरताय प्रचोदितः॥
(वा० रा० २।१६।७)

'मैं भरतके लिये राज्य, सीता, प्रिय प्राणों और सम्पूर्ण सम्पत्तियोंको भी प्रसन्नतापूर्वक दे सकता हूँ।' रामकी ऐसी सदाचारमयी उदात्त भावना प्रत्येक अवसरपर देखनेको मिलती है। जहाँ देनेका प्रकरण आया है, वहाँ उनकी कहीं भी संकुचित वृत्ति नहीं देखी जाती।

अपकारकी विस्मृति—उपकारका स्मरण करना आवश्यक इसलिये है कि किसी प्रकारसे वह उसका प्रत्युपकार कर ऋणमुक्त हो, किंतु अपकारका स्मरण

रणान्तानि वैराणि निर्वृत्तं नः प्रयोजनम्।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव॥
(६। १११। १०१)

रावण-वधके अनन्तर राम विभीषणसे कह रहे हैं 'मरणतक ही वैरभावकी सीमा है। वैरभाव प्रयोजन होना चाहिये, निष्प्रयोजन नहीं। प्रयोजनकी नेके साथ ही वैरभावकी समाप्ति हो जानी चाहिये। तुम इसका संस्कार करो, जैसा यह तुम्हारा त्मीय है, वैसा ही मेरा भी है।'

मर्यादाकी रक्षा हो, इसलिये उन्होंने कौसल्याकी आज्ञा (जिनका स्थान पितासे दशगुना बड़ा है—'पितुर्दशगुणा मातर गौरवेणातिरिच्यते') स्वीकार करके अपने पिताकी मर्यादा सुरक्षित की। पुरुषके एकपत्नीव्रतकी मर्यादाको परमावश्यक समझते थे। यही कारण है कि सीता-परित्यागके अनन्तर पुत्र-पत्नी-रहित होते हुए भी द्वितीय पत्नीको स्वीकार नहीं किया और सुवर्णमयी सीताकी प्रतिमासे अश्वमेध-यज्ञका अनुष्ठान किया। मर्यादापालक रामके सम्पूर्ण जीवनके मर्यादित होनेके कारण ही उन्हें वाल्मीकिने महान् धर्मके रूपमें स्वीकार किया। रामकी यह उक्ति स्वयं उन्हें धर्ममूर्तिका स्वरूप प्रदान कर रही है—

नाहमर्थपरो देवि लोकमावस्तुमुत्सहे।
विद्धि मामृषिभिस्तुल्यं विमलं धर्ममाश्रितम्॥
(२। १९। २०)

'देवि! मैं धनका उपासक होकर संसारमें नहीं रहना चाहता। तुम विश्वास करो। मैंने भी ऋषियोंकी भाँति निर्मल धर्मका आश्रय ले रखा है।' प्रसङ्गवश कुछ सदाचारके वचनोंको भी उद्धृत करना आवश्यक समझकर अब वाल्मीकिप्रतिपादित यहाँ कुछ स्त्रियोंके सदाचार-विषयकी बातें दी जा रही हैं—

जिन स्त्रियोंको अपना पति—चाहे वह नागरिक वनवासी, भला-बुरा या किसी भी प्रकारका क्यों न हो पर प्रिय हो, उन स्त्रियोंको अभ्युदयशाली लोकोंकी प्राप्ति होती है। दुष्ट स्वभाववाला, स्वेच्छाचारी, धनहीन भी पति उत्तम स्त्रियोंके लिये श्रेष्ठ देवता है। हे सीते! पतिसे बढ़कर स्त्रीका कोई हितकारी बन्धु नहीं है, इसे मैं (अनसूया) विचारपूर्वक देख रही हूँ। असाध्वी, कामुकी स्त्रियोंको गुण और दोषोंका ज्ञान नहीं रहता। वे पतिपर शासन करती हुई स्वच्छन्द विचरती हैं। (अयो० ११७। २३। २७।)

रामका कौसल्याके प्रति यह कथन भी सदाचारिणी स्त्रियोंके लिये उपयोगी है—जो स्त्री गुण और जातिसे उत्तम होकर भी व्रत और उपवासमें (ही) आसक्त रहती है और पतिसेवा नहीं करती, वह अधम गतिको पाती है। स्त्रियाँ देवताओंकी पूजा-वन्दनासे रहित होती हुई भी पतिसेवासे उत्तम गति प्राप्त करती हैं। पतिकी सेवा तथा उनका प्रियकार्य करना ही स्त्रियोंका वेदसम्मत धर्म है। (२। २४। २५–२८।)

सीताका रामके प्रति यह कथन भी सदाचारका उत्कृष्ट रूप है—'आर्यपुत्र! पिता, माता, भाई, पुत्र और पुत्रवधू—ये अपने पुण्यका भोग करते हुए अपने-अपने भाग्यानुसार जीवन बिताते हैं। केवल नारी ही अपने पतिके भाग्यका अनुसरण करती है। स्त्रियोंके लिये इस लोक तथा परलोकमें एकमात्र पति ही आश्रय है, पिता-पुत्र आत्मा, माता और सखीजन सहायक नहीं हैं।' (अयो० २७। ४—६।) कौसल्याका सीताके प्रति उपदेश कुलीन नारियोंके लिये भी आदर्श सदाचार है—

साध्वीनां तु स्थितानां तु शीले सत्ये श्रुते स्थिते।
स्त्रीणां पवित्रं परमं पतिरेको विशिष्यते॥
(२। ३९। २४)

शील, सत्य, शास्त्र, मर्यादामें स्थित साध्वी स्त्रियोंके एकमात्र पति ही परम पवित्र देव हैं।

वाल्मीकीयरामायणमें प्रतिपादित सदाचारके वर्णनके प्रकरणमें श्रीरामके आचरणको आदर्श माना गया है और उनके द्वारा किया गया आचार ही मुख्य अनुकरणीय सदाचार समझा जाता है। इसीलिये रामायणका महातात्पर्यार्थ 'रामादिवत् वर्तितव्यं न क्वचिद् रावणादिवत्' प्रसिद्ध है। श्रीरामका सदाचार सबके लिये अनुकरणीय है। इस प्रकार देखा जाय तो भगवान् रामके प्रत्येक कार्य जन्मसे यावत्स्थिति मर्यादामें पूर्ण रहा। अतः वाल्मीकीयरामायणका सदाचार भगवान् रामका आचार ही है जो मानवमात्रके लिये अनुकरणीय है।

महाभारतमें सदाचार-विवेचन

(लेखक—श्रीगिरिधरजी योगेश्वर, एम० ए०)

सभी शास्त्रोंमें मूर्धन्य पञ्चमवेद महाभारत सदाचार-सम्बन्धी उपदेशोंका अक्षय रत्नाकर है। इस सम्बन्धमें महर्षि कृष्णद्वैपायनका यह उद्घोष कि—'जो कुछ महाभारतमें वर्णित है, वही अन्यत्र भी है, जो इसमें नहीं है, वह कहीं नहीं है'—अक्षरशः सत्य है। अठारह पर्वों, एक सौ पर्वाध्यायों, एक हजार नौ सौ तेईस अध्यायों तथा एक लाख श्लोकोंवाले इस 'कार्ष्णवेद'में पदे-पदे सदाचारके मधुर सुललित अमृतोपदेश भरे पड़े हैं। महाभारतकी मूलकथा सदाचारी पाण्डवोंकी दुराचारी कौरवोंपर विजयका दिग्दर्शन कराती है। मूलकथाके साथ-साथ अनेक अवान्तर कथाएँ भी सदाचारका महत्त्व दरसाती हैं। आदिपर्वके आरम्भमें आयोदधौम्यके शिष्यों—'आरुणि,' 'उपमन्यु' और 'वेद' आदिकी कथाएँ आदर्श गुरुभक्तिके सुन्दर उदाहरण हैं। ययातिके स्वर्ग-पतनके समय अष्टकने उनसे प्रश्न किया कि—'राजन्! मनुष्य सर्वश्रेष्ठ लोकोंकी प्राप्ति कैसे कर सकता है?' तो उन्होंने अपने उत्तरमें सदाचारका निरूपण करते हुए कहा था, 'स्वर्गके सात द्वार हैं—दान, तप, शम, दम, लज्जा, सरलता और करुणा।' अभिमान तपको नष्ट कर देता है। अभयके चार साधन हैं—अग्निहोत्र, मौन, वेदाध्ययन और यज्ञ। सम्मानित होनेपर खुश और अपमानित होनेपर दुःखी नहीं होना चाहिये।

वनपर्वमें पतिव्रता स्त्री तथा कौशिक ब्राह्मणकी कथाके माध्यमसे मार्कण्डेय ऋषि पाण्डवोंको शिष्टाचार-का उपदेश देते हुए कहते हैं—'शिष्ट पुरुष यज्ञ, तप, दान, स्वाध्याय और सत्यभाषणका ही व्यवहार करते हैं।' सदाचारी मनुष्य वही है जो काम, क्रोध, लोभ, दम्भ और उद्दण्डता आदि दुर्गुणोंको जीत लेता है। वेदका सार है—सत्य, सत्यका सार है—इन्द्रिय-संयम और इन्द्रिय-संयमका सार है—त्याग। त्याग शिष्ट पुरुषोंका विशेष गुण है। शिष्ट पुरुष अलोलुप, विद्वान् और नियम-पालक एवं धर्मपर चलनेवाले होते हैं। नास्तिक, पापी तथा निर्दयी पुरुषोंका सङ्ग छोड़ दो। अहिंसा और सत्य—ये ही जीवोंका कल्याण करते हैं। न्याययुक्त कर्मोंका आरम्भ, किसीसे द्रोह न करना और दान करना ही धर्म है—यही शिष्टाचार है।

महाभारतमें सदाचारका अत्युत्तम विवेचन शान्तिपर्व और अनुशासनपर्वमें हुआ है। शान्तिपर्वमें एक स्थान-पर युधिष्ठिरको शीलकी महत्ता बताते हुए महाराज भीष्मजीने उन्हें मन, वाणी और शरीरसे किसी भी प्राणीसे द्रोह न करना, सामर्थ्यानुसार दान देना, केवल वही कार्य करना जिससे सभी प्राणियोंका मङ्गल होता हो तथा जिसे करते समय आत्म-संकोचका अनुभव न होता हो—शीलका संक्षिप्त लक्षण बतलाया है। इसी

प्रसङ्गमें इन्द्र और प्रह्लादकी कथाके प्रतीकरूपमें शील, धर्म, सत्य, सदाचार, बल और लक्ष्मीको शीलके ही आधारपर आश्रित बताया गया है—

धर्मः सत्यं तथा वृत्तं बलं चैव तथाप्यहम्।
शीलमूला महाप्राज्ञ सदा नास्त्यत्र संशयः॥
(महाभारत शान्ति० १२४। ६२)

युधिष्ठिरके प्रति भीष्मपितामहजीने शिष्ट पुरुषोंके गुणोंका प्रतिपादन इस प्रकार किया है—'शिष्ट पुरुष मांस-भक्षणसे दूर, प्रिय-अप्रियमें सम रहते हैं; इन्द्रिय-संयम तथा सत्य-पालनमें ही प्रीति रखते और दान देते ही हैं; दान लेनेकी चेष्टा नहीं करते। वे परोपकारी, दयालु, अतिथिसेवी, माता-पिताके सेवक और देवता तथा पितरोंके पूजक होते हैं। उनमें काम, क्रोध, ममता, मोह, मत्सरता, भय, चपलता, लोभ, पिशुनता-का सदा अभाव होता है। वे लाभ-हानि, सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय तथा जीवन और मरणको समान समझते हैं। वे उद्यमी, दृढ़परिश्रमी, प्रगतिशील एवं श्रेष्ठ मार्ग-पर ही चलनेवाले होते हैं। वे धन या यशकी इच्छासे नहीं, अपितु निःस्वार्थभावसे धर्मका सेवन करते हैं, धर्मका बाह्य ढोंग नहीं रचते। दूसरोंके संकट दूर करनेके लिये वे अपना सर्वस्वतक लुटा सकनेका साहस करते हैं।'

शान्तिपर्वमें मोक्षधर्मके दो सौ तैंतालीसवें अध्यायमें मुख्य सदाचारका वर्णन है। इसमें कहा गया है कि सदाचारी पुरुष सूर्योदयसे घंटाभर पहले उठे, सूर्योदयके समय कभी न सोये। सड़कपर, गौओंके मध्य और अन्नसे भरे हरे-भरे खेतोंमें मल-मूत्रका त्याग नहीं करे। शौचके उपरान्त मनुष्यको कुल्ला करके नदी आदिमें स्नान, संध्या और देवता-पितरोंका श्रद्धाभावसे तर्पण करना चाहिये। प्रातः-सायंकी संध्या कर गायत्रीजप करे। भोजन करनेसे पहले दोनों हाथ-पैर और मुँह धो लेना चाहिये तथा पूर्व या उत्तरकी ओर मुख करके भोजन करना चाहिये। परोसे भोजनकी निन्दा नहीं करनी चाहिये। रातको भीगे पैर न सोये। ब्राह्मणको विघसाशी तथा अमृतभोजी होना चाहिये—

विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं चामृतभोजनः।*
(२४३। १९)

जो मिट्टीके ढेले फोड़ता, तिनके तोड़ता और नख चबाता है, उसकी आयु क्षीण होती है। अतिथिको कभी भूखा न रहने दे। न्यायसे जीविका अर्जित करे और माता-पिता आदि बड़ोंकी आज्ञासे ही उसे खर्च करे। गुरुजनोंको आसन, मान, दान आदिसे सदैव प्रसन्न रखे। नंगी स्त्री, उदय, अस्त, मध्याह्न तथा ग्रहणके समय सूर्यपर दृष्टिपात वर्जित है। परिचित मनुष्यसे भेंट होनेपर कुशल-क्षेम पूछना चाहिये। सभी शुभकार्य दाहिने हाथसे करे। सूर्य और चन्द्रमाकी ओर मुँह करके कभी पेशाब न करे। स्त्रीके साथ एक आसनपर सोना और एक ही पात्रमें भोजन करना आयुको नष्ट करता है। अपनेसे बड़ोंको कभी 'तू' कहकर न पुकारे। शिष्ट लोगोंका कथन है कि सभी प्राणियोंका धर्म मानसिक है, अतः मनसे समस्त जीवोंके कल्याणका ही चिन्तन करना चाहिये।'

अनुशासनपर्वके ९७, ९९ तथा १०४वें अध्याय-में सदाचारका अत्यन्त मार्मिक निरूपण हुआ है। अध्याय १०४में आता है कि युधिष्ठिरने भीष्मपितामह-से पूछा कि 'शास्त्रोंमें मनुष्यकी आयु सौ वर्ष बनायी गयी है; पर क्या कारण है कि वह पूरी आयु भोगने-से पहले ही मृत्युका ग्रास बन जाता है?' तब भीष्मजीने जो कहा वह इस प्रकार है—'युधिष्ठिर! आयु, लक्ष्मी तथा इहलोक एवं परलोकमें

* इसीके श्लोक १२-१३के अनुसार कुटुम्बशेष अन्नको 'विघस' तथा यज्ञशेषको 'अमृत' कहा गया है।

ष नींद लेना, पढ़ना और भोजन करना; अनध्यायमें
ा अनध्यायरात्रमें भी वेद पढ़ना, जहाँ अपना आदर
होता हो वहाँ जाना और निन्दा एवं चुगली
दि आयुनाशक अवगुण सर्वथा छोड़ दे। भोजन
भीगे पाँव ही करे, पर भीगे पाँव शयन करना
षिद्ध है। पक्षियोंकी हिंसा न करे। पुत्रोंको अच्छी
या पढ़ाये, कन्याको श्रेष्ठ कुलमें विवाहे, मित्रको धर्म-
र्यमें प्रेरित करे तथा नौकर भी अच्छे कुलके ही
े। बलिवैश्वदेवयज्ञोपरान्त देवता, ब्राह्मण, अतिथि,
य और बालकके भोजन कर लेनेपर ही स्वयं भोजन
रे। जिसे कुत्तेने देख लिया हो, जो रजस्वलाकी आँखोंका
य बना हो, जो लाँघ दिया गया हो, जो उच्छिष्ट अथवा
सी हो और जिसे रजस्वला स्त्रीने पकाया हो उस
जनका परित्याग कर दे। अपने जन्मनक्षत्रमें श्राद्ध
भी न करे, महात्माओंकी निन्दा और उनके गुप्त
मोंके प्रकटीकरणसे सदैव बचे। निवास उसी गृहमें
रे, जो ब्राह्मणद्वारा वास्तुपूजनपूर्वक अच्छे कारीगरसे
र्मित हो। रातको नहाना और सत्तू खाना नहीं चाहिये।
ंस-भक्षण एवं मदिरापानसे बढ़कर कोई पाप नहीं
—इनका कभी भूलकर भी उपयोग न करे। स्त्रियोंसे
र न रखे। सुलक्षणा, सुन्दर, रूपवती, कुलीन एवं गृह-
ार्यदक्ष कन्याका ही पाणिग्रहण करे और नित्य
ग्निहोत्र करे।

बूढ़े, मित्र, गरीब तथा बन्धुको अवश्य आश्रय दे।
ंगलकारी पक्षी—जैसे तोता, मैना आदि पालना अच्छा
ै, पर उद्दीपक—गीध, जंगली कबूतर तथा भ्रमर नामक
क्षी यदि घरमें कभी आ जायँ तो वास्तुशान्ति करवाना
चाहिये। यज्ञ देखनेके अतिरिक्त बिना बुलाये कहीं न
जाय। भोजन करते समय आसनपर बैठना, मौन रहना,
पवित्र वस्त्र धारण करनेके साथ-साथ उत्तरीय (चादर या
गमछा) भी रखना आदि नियमोंका पालन करे। सैरके
लिये, सड़कोंपर घूमनेके लिये और देवपूजाके लिये
अलग-अलग वस्त्र रखे। पेशाब आदि क्रियाएँ घरसे दूर
करे, दूर ही पैर धोये और दूरपर ही जूठन फेंके।
स्नानके बाद लाल रंगके पुष्प धारण करे तथा गीला
चन्दन अपने ललाटपर लगाये।' आश्रमभेद और वर्ण-
भेदके अनुसार सदाचार-पालनमें अन्तर तो है, पर
उपर्युक्त शुभ कर्मोंका अनुष्ठान सभीके लिये आवश्यक है।*

गृहस्थको स्वदारनिरत दान्त, अनिन्दक और जितेन्द्रिय
होना चाहिये। उसे अपने घरके लोगों तथा नौकरोंसे
झगड़ा नहीं करना चाहिये—

स्वदारनिरतो दान्तो ह्यनसूयुर्जितेन्द्रियः।
सुहृद्भिः दासवर्गेण विवादं न समाचरेत्॥

(शान्ति० २४४। १४। १६)

इस प्रकार यहाँ गृहस्थके आचरणका वर्णन किया
गया। वानप्रस्थियों तथा संन्यासियोंके शास्त्रनिर्दिष्ट
आचार बड़े पवित्र हैं। वानप्रस्थी वर्षाके समय खुले
आकाशके नीचे, हेमन्तमें जलमें और ग्रीष्म ऋतुमें
पञ्चाग्नि सेवन कर तप करते हैं। संसारी प्रायः सारे
प्रपञ्चसे अलग रहकर केवल भगवच्चिन्तन करते हैं।
वे सभी द्वन्द्वोंसे मुक्त होकर सर्वात्मभावपूर्वक केवल
भगवद्धर्म ही शुद्ध धर्मका अनुष्ठान करते हैं।

---

* महाभारत १२। २४३–४६ तथा मनु० ६। ३८, ६। ९७ (एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः) के अनुसार गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासादिके आचार मुख्यतया ब्राह्मणके ही लिये हैं। मनु० ७-८ अध्यायोंके आचार राजाके लिये हैं, तथापि जितना सम्भव हो, दूसरोंको भी इनका अनुवर्तन करना चाहिये।

श्रीमद्भगवद्गीतामें सदाचारका सिद्धान्त

(श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ श्री १०८ स्वामी ईश्वरानन्दगिरिजी महाराज, वेदान्तमार्तण्ड, आयुर्वेदाचार्य, महामण्डलेश्वर)

हमारे पूर्वजोंने धर्मकी परिभाषा करते हुए कहा है कि **'आचारः परमो धर्मः'** —आचार ही सबसे बड़ा धर्म है और 'आचारहीन पुरुषको कण्ठस्थ किये गये चारों वेद भी पवित्र नहीं कर सकते। अतः सदाचारका बड़ा महत्त्व है । उसके सिद्धान्तोंको गीताके माध्यमसे यहाँ समझें ।

गीतामें सदाचारका क्रमिक वर्णन तो नहीं है, पर उसका सदाचार क्या है, साधकको क्या करना चाहिये, क्या नहीं—यह निर्णय उसका मनन करनेवाला स्वयं कर लेता है । प्रायः मानवके समक्ष ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि क्या करे, क्या न करे, इस कर्म-संकटको गीता सुलझा देती है । समस्त कामनाओंका परित्याग कर स्वार्थको परार्थमें आहुति देकर ममता और अहंकारसे रहित हो देश-काल-अवस्थाको ध्यानमें रखता हुआ व्यक्ति जो कुछ करेगा, वही सदाचार होगा । इस प्रकार कर्तव्यका निर्णय करनेवाली मति गीताकी परिभाषामें 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' कही गयी है । गीता-शास्त्रके उपसंहारमें भगवान् कहते हैं—'मैंने जो यह अति गोप्य ज्ञान तुम्हें बतलाया, अब उन सबोंको विचारकर तुम जो चाहो उसे करो ।' इससे सिद्ध होता है कि गीता बुद्धिवादी दर्शन होनेसे मानवको अपना आचार स्वयं निर्णय करने योग्य बनाती है । सम्पूर्ण गीताशास्त्र श्रवण करनेके बाद अर्जुन समझ गया कि गर्हित होनेपर भी उसके लिये उस स्थितिमें गुरुजनोंके साथ युद्ध क्यों न्याययुक्त था । यही गीताकी विशेषता है ।

गीतामें वर्णित सदाचारका संक्षिप्त सार यह है— इन्द्रियोंका संयम करते हुए काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष आदि दुर्गुणोंका त्याग, मैत्री, करुणा, क्षमा, सरल उदारता आदि सद्गुणोंका पालन, इष्ट-अनिष्ट, अपमान, सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय समभाव, निर्भय, शुद्ध विचार, कामवासना कर्तव्यपरायणता और परमेश्वरको मणियोंमें सूत्र सब ऊँच-नीच प्राणियोंमें अनुस्यूत देखना, अन्तः और बुद्धिको उन्हींमें समर्पित करते हुए सर्वतः श हो जाना गीतामें वर्णित सदाचार है ।

अन्य शास्त्रों एवं गीतामें वर्णित सदाचारमें अन्तर है; क्योंकि गीता अन्तःशुद्धिपर विशेष बल है । वस्तुतः बाह्य सदाचारका कारण भी अन्तः ही है । मनुष्यकी यह प्रकृति है कि जो भाव उ मनमें उदित होते हैं, वे ही वाणीसे निकलते हैं और वे ही आचरणमें भी आते हैं । जो जैसा आचरण क है, वैसा ही उसका परिणाम भी भोगता है । जब भावशुद्धि नहीं होगी, तबतक कोई कितनी भी ब आचारसंहिता क्यों न बना डाले, सुधारकी सम्भाव न होगी । अतः सदाचारकी पृष्ठभूमि बाहर नहीं अंदर है । केवल बाह्याचरणसे भी सदाचारका निर्ण नहीं हो सकता । यह भी देखना चाहिये कि वह उस कार्यको किस भावना या उद्देश्यसे कर रहा है । शुद्ध और अशुद्ध भावनाके अनुसार ही उसका सत्-असत् परिणाम होगा । इसीलिये गीतामें भाव-संशुद्धिको 'मानस तप' कहा गया है । यही सदाचारका सैद्धान्तिक मूल है ।

महात्मा विदुरकी सदाचार-शिक्षा

(लेखक—श्रीगिरिराजशरणजी अग्रवाल, अवकाशप्राप्त न्यायाधीश)

न तत् परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः।

यह वाक्य विदुरनीति (७ । ७१)का है । इसका तात्पर्य है कि वह कार्य दूसरेके प्रति न किया जाय जो स्वयं अपने प्रति किये जानेपर प्रतिकूल हो । स्वर्गीय राष्ट्रपति श्रीराजेन्द्रप्रसादजीने विदुरकुटीस्थित महात्मा विदुरकी प्रतिमाका अनावरण (कार्तिक पूर्णिमा दिनाङ्क ३ नवम्बर सन् १९६०को) करते हुए कहा था कि 'विश्वके इतिहासमें महात्मा विदुर पहले संत थे, जिन्होंने मानव-जातिको यह सूत्र दिया और जिसे महात्मा ईसाने लगभग ढाई हजार वर्ष उपरान्त दुहराया ।* स्पष्ट है कि यह मूल मन्त्र बहुत प्राचीन कालमें मानव-जातिको सदाचारपर लानेके लिये दिया गया था ।' इस मन्त्रको अपनाते ही व्यावहारिक जीवनमें सदाचार आ जाता है । यह सूत्र सम्पूर्ण मानव-मात्रके लिये दिया गया था । सदाचारकी आवश्यकता प्रत्येक धर्म व मजहबमें होती है । यह ऐसा मन्त्र है कि यदि इसे सिद्धान्तरूपमें स्वीकार कर जीवनमें उतार लिया जाय तो लोक एवं परलोक दोनों ही सँभल जायँ । यह सरल तो इतना है कि इसमें किसी प्रकार-की विद्वत्ताकी आवश्यकता ही नहीं है । जब कभी कोई कार्य किया जाय, तब यह भाव आना चाहिये कि ऐसी परिस्थितिमें यदि अन्य व्यक्ति हमारे साथ यही व्यवहार करता तो हमको कैसा लगता ! उदाहरणार्थ हम नहीं चाहते कि कोई हमसे झूठ बोले तो हमें भी दूसरोंके प्रति झूठ नहीं बोलना चाहिये । हम चाहते हैं कि कोई हमारी चोरी न करे, हमसे छल-कपट न करे तो हम भी किसीसे किसी प्रकारकी चोरी या छल-कपट न करें । हम यह भी चाहते हैं कि दूसरे लोग हमारे साथ शिष्ट व्यवहार करें, प्रिय बोलें, हमें आदर दें । अतः हमें भी चाहिये कि दूसरोंके प्रति हम भी ऐसा ही करें । कोई नहीं चाहता कि कोई उसके साथ बलका दुरुपयोग करे, चाहे वह बल शारीरिक हो, बौद्धिक या धन-पदका अथवा किसी परिस्थिति-विशेषका हो; अतः हमारे लिये भी आवश्यक हो जाता है कि जो भी किसी प्रकारका बल हमको प्राप्त है, उसे अन्यके प्रति अन्यथा प्रयुक्त न करें । केवल इतनेसे ही हम बुराइयोंसे बच जायँगे और हममें सदाचार आ जायगा—भले ही हम शिक्षित हों या नहीं, मनुस्मृति या अन्य धर्मशास्त्र पढ़ें हों या नहीं और महात्माओंके प्रवचन सुने हों या नहीं । सदाचारके लिये प्रथमतः नैतिकता आवश्यक है । किंतु कहना पड़ता है कि पाश्चात्य लोगोंकी तुलनामें हम लोगोंमें उसकी कमी है, जिसका मुख्य कारण उपर्युक्त मूल मन्त्रको भूल जाना ही है ।

यह सूत्र व्यावहारिक जीवनमें केवल व्यक्तियोंसे ही सम्बद्ध नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्रों व सभी समाजों-पर भी लागू होता है । हम विपत्तिके समय समाजसे आशा करते हैं कि समाज हमारी सहायता करे, अतः हम भी समाजके काम आयें—यह भावना बनानी चाहिये । समाजसे हम आशा करते हैं कि कोई भी हमारी बहू-बेटीको कुदृष्टिसे न देखे तो हमको भी वही बात जीवनमें उतारनी चाहिये जिससे अपना ही नहीं, बल्कि समाजका भी कल्याण होगा । अतएव यह मूलमन्त्र मानवताके लिये हर परिस्थिति व हर कालमें व्यक्तिमें सदाचार लानेके लिये आवश्यक है । इसके लिये मानव-जाति महात्मा विदुरका आभारी है । इसीका प्रकाश भीष्मपितामहका युधिष्ठिरको प्रकारान्तरसे दिया गया यह उपदेश है कि—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

---

* Do not do unto others as you wish others not to do unto you (Holy Bible)

मन तथा तन परोपकारके लिये अर्पित होता है। उसकी समस्त विभूतियाँ परोपकारके लिये होती हैं[२]। (८) कामैरहतधी-उसकी बुद्धि कामनाओंसे धूमिल नहीं होती, क्योंकि वह कामवासनाओंसे परे होता है। वह कभी विषयोंका अनुचिन्तन नहीं करता और उनमें उसकी आसक्ति नहीं होती। अतः काम, क्रोध, लोभादि दुर्जेय शत्रु उससे स्वयं पराजित रहते हैं। वे उसके विवेकको अपहृत नहीं कर पाते[३]। (९) दान्त-उसकी चित्तवृत्तियाँ दमित रहती हैं और इन्द्रियोंके घोड़े विषयोंकी ओर नहीं दौड़ते; क्योंकि विवेककी लगाम उनके मुँहमें लगी रहती है। वह संयमित, अनुशासित, आत्मनिगृहीत और आत्मवश्य होता है[४]।

(१०) मृदु-वह मृदु होता है। जैसे पुष्प, जल, नवनीत और कमलदण्ड स्वभावसे ही कोमल हैं, वैसे ही सदाचारीका स्वभाव कोमल होता है, परंतु उसमें वज्रसे भी अधिक कठोरता भी रहती है। वह दूसरे दीन, दुःखी जनकी थोड़ी-सी पीड़ासे भी व्यथित हो जाता है, किंतु स्वयं बड़ी-से-बड़ी आपत्तिको सह लेता है। उसका चित्त सरल होता है और पुष्पके समान सभीको सुगन्धित करना उसका स्वाभाविक धर्म होता है। वह किसीसे परुष वचन नहीं बोलता। उसकी वाणीमें अमृत घुला होता है[क]। (११) शुचि—वह पवित्र होता है। शरीरकी पवित्रताके साथ मन, वाणी और कर्मकी पवित्रता उसमें सदैव रहती है[५]। वह मनसे कभी बुरा नहीं सोचता, वाणीसे बुरा नहीं बोलता और शरीरसे कभी बुरा नहीं करता। वह सम्यक् आजीव, सम्यक्-कर्मान्त और सम्यक्-चरित्र होता है। सत्य और अहिंसाका पूर्णतः परिपालन करनेके कारण उसका नाम तथा उसकी कथाएँ भी पावन होती हैं। (१२) अकिंचन—उसके पास कुछ भी नहीं होता। संग्रहकी वृत्ति भी उसमें नहीं होती। यदि थोड़ा-बहुत संग्रह होता भी है तो वह उसे भगवान्‌का—समाजका समझता है और सदैव समाजके हितमें लगानेके लिये तत्पर रहता है। उसके हृदयमें संगृहीत वस्तुओंके प्रति अधिकारकी भावना किंवा ममत्व नहीं होता।

(१३) अनीह—वह अनीह होता है। प्राप्त विषयोंके भोगकी स्पृहा उसमें नहीं होती और अप्राप्त विषयोंकी प्राप्तिकी भी वह लालसा नहीं करता। वह अकाम—कामनाओंसे मुक्त और वासनाओंसे अदूषित होता है।

२— पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥
संत सहहिं दुख परहित लागी। पर दुख हेतु असंत अभागी॥
भूर्जतरू सम संत कृपाला। परहित नित सह बिपति बिसाला॥

तथा- संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्ह कै करनी॥
संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह परि कहै न जाना॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥ (मानस ७ । १२५ । ३-४)

३—कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः। (गीता ७ । २०)

४—दान्तः शमपरः शश्वत् परिक्लेशं न विन्दति। न च तप्यति दान्तात्मा दृष्ट्वा परगतां श्रियम्॥
(महाभारत, वनपर्व)

(क) गीता २ । ६७, ६ । ६-७, १६ । ११ ॥

वंदउँ संत समान चित हित अनहित नहिं कोइ। अंजलिगत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोइ॥ (मानस १ । ३क)

५-(अ) अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति। विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति॥ (मनु० ५ । १०९)

उसी प्रकार वह भी मर्यादाका पालन करता है, शक्ति पाकर बौराने अथवा अन्योंको पीड़ित करने नहीं लगता। अपने उदरमें अनेक विषैले और भयानक जीवजन्तुओंको प्रश्रय देनेपर भी अप्रभावित रहनेवाले समुद्रकी भाँति ही वह समाजमें विषाक्त एवं अशान्त वातावरण बनानेवाले तत्त्वोंको अपने हृदयमें पचा लेता है और निर्विकार रहता है। वह गुणोंका संग्रह करता है।

(२१) **धृतिमान्**—वह धैर्य धारण किये रहता है। वह न्यायपूर्ण तथा धर्मोचित मार्गसे कभी विचलित नहीं होता। प्रतिकूल परिस्थितियोंमें भी वह नहीं घबराता और न उसका विवेक ही कभी नष्ट होता है। हिमालयके समान वह सदा अचल रहता है। दुःख पड़नेपर वह स्वयं उसे सहता है। न वह अपना मानसिक संतुलन खोता है और न दूसरोंको भी दुःखी होने या बनानेकी कल्पना या उपक्रम करता है।

(२२) **अमानी**—वह मान चाहनेवाला अथवा मिथ्या गर्व करनेवाला मानी या अभिमानी नहीं होता। यदि उसे मान मिलता है तो वह प्रसन्न एवं गर्वित नहीं होता और *यदि अपमान मिलता है तो वह दुःखी नहीं होता।*[13]

(२३) **मानदः**—वह दूसरोंका सम्मान करता है। कभी किसीको अपमानित नहीं करता। उसके हृदयमें जीवमात्रके प्रति आदर, स्नेह, वात्सल्य और प्रेमका भाव होता है। वह सभीमें प्रभुकी मूर्तिका अवलोकन करता है। अतः समस्त जड़-चेतन जगत्के प्रति वह पूज्य-भाव रखता है और सम्मान करता है।

(२४) **कल्पः**—वह समर्थ होता है। प्रत्येक कार्यको आत्मविश्वास और पूर्ण योग्यताके साथ करता है। अक्षमता, अयोग्यता एवं शक्तिहीनता उसमें नहीं होती। वह पलायनवादी, निराशावादी, कुण्ठा-ग्रस्त और दिग्भ्रमित नहीं होता।

(२५) **मैत्रः**—वह जीवमात्रके प्रति मैत्रीभाव रखता है, समताके धरातलपर औरोंके दुःखोंको बाँट लेता है और अपने सुख तथा साधनाके शुभ परिणामोंको स्वयं नहीं भोगता। उनमें वह सभीको समानभागी मानता है। उसका किसीसे वैर-विरोध नहीं होता।[13] 'वसुधैव कुटुम्बकम्'के सिद्धान्तका वह पूर्णतः परिपालन करता है।

(२६) **कारुणिकः**—वह करुणापूर्ण करुणाका सागर और करुणाकर होता है। उसका हृदय इतना *संवेदनशील होता है कि दूसरेकी अल्प-से-अल्प पीड़ा भी* उसके हृदयमें करुणाकी स्रोतस्विनी धारा प्रवाहित कर देती है। उसकी यह करुणा किसी जीवविशेष अथवा कारणविशेषकी अपेक्षा नहीं करती। जिस प्रकार सूर्यका प्रकाश सभीको बराबर मिलता है, वैसे ही उसकी करुणा भी सभीको समानरूपसे मिलती है।

२७—कविः—वह कवि होता है[14]। कवि ही नहीं, मनीषी-परिभू और स्वयम्भू भी होता है। उसे क्रान्तदर्शी कहा गया है। जीवनकलाकी नयी सृष्टि, भविष्यके लिये संदेश, समाजके लिये प्रेरणा, सत्य, शिव और सौन्दर्यकी उपासना व

---

१२ (अ) धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः। योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥
(गीता १८। ३३।)

(ब) साथ ही देखें वही १८। २४ और २५।

१३—सबहि मानप्रद आपु अमानी॥ (मानस।)

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः। निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥ (गीता ११। ५५।)

यथात्मनि च पुत्रे च सर्वभूतेषु यस्तथा। हितकामो हरिस्तेन सर्वदा तोष्यते सुखम्॥
(वि॰ पु॰ ३। ८। १३। १८।)

१४-अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्। स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥ (गीता १७। १५।)

उसकी अभिव्यक्ति उसका धर्म है। समाजको उन्नतिके पथपर ले जाना, मार्गदर्शन देना और समग्र मानवताको नये आयाम-प्रदान करना उसका धर्म होता है। अन्यायके प्रति विद्रोहके स्वर निनादित कर प्रसुप्त मानवताको जाग्रत् करना उसका लक्ष्य है। वह ज्ञानवान्, विवेकी, कल्पनाशील, विचारक, भावुक, सहृदय और मर्मज्ञ होता है। एक शब्दमें वह विश्वजनीन होता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थोंमें एक ऐसे सदाचारयुक्त चरित्रका सर्वाङ्गीण रूप प्रस्तुत किया गया है, जो अलौकिक, दिव्य और असाधारण आभासित होते हुए भी अति मानवीय (Superhuman) चरित्र मात्र आदर्शपरक तथा असम्भव नहीं है। तथा परिकल्पित चरित्र (Hiphothetical character)भी नहीं है, एक दार्शनिक परिकल्पना (Hypothesis) नहीं है। यह एक ऐसे चरित्रका रेखाङ्कन है, जिसका आ[illegible] भारतीय संस्कृति, मानवीय मूल्य और उन मूल्योंकी जीवनकी धरापर अवतारणा करनेवाले साधकोंकी वे स्व[illegible] आकाङ्क्षाएँ हैं, जिनकी साधनाका वे आजीवन करते हैं और उनका जीवन इनके लिये ही समर्पित हो[illegible] है। इन्हें आदर्श मानकर चलना हमारा कर्तव्य है।

उपपुराणोंमें सदाचारकी अवधारणा

(लेखक—डॉ० श्रीसियारामजी सक्सेना 'प्रवर', एम० ए०, साहित्यरत्न, आयुर्वेदरत्न)

वेदार्थ-तत्त्वको जन-सामान्यके लिये बोधगम्य बनानेके उद्देश्यसे पुराणोंकी रचना हुई। पुराणोंका मूल रूप वेदोंके समान ही अति प्राचीन है। उपपुराणोंकी संख्या सामान्यतया अठारह प्रसिद्ध है—यद्यपि हमें सौके लगभग उपपुराणोंके नामोंके उल्लेख प्राप्त होते हैं। इनमें कालक्रमसे कुछ उपपुराण नष्ट हो गये हैं और कुछ अभीतक हस्तलिखित अवस्थामें पड़े हुए हैं। पाश्चात्यों की मान्यता है कि उपपुराणोंकी रचना गुप्तकालमें हुई थी, किंतु [illegible] [illegible] अनुसार महर्षि [illegible] को भी उपपुराणोंके [illegible] थी। ([illegible], [illegible] पृ० १५०) कूर्मपुराणमें और स्कन्दपुराणकी [illegible] कहा गया है कि [illegible] [illegible] [illegible] पुराण [illegible] [illegible] उपपुराणोंका [illegible] किया। [illegible] उपपुराणोंको पुराणोंका ही [illegible] [illegible] [illegible] पुराणोंसे [illegible] कहा गया है—

अष्टादशभ्यस्तु पृथक् पुराणं यत्तु दृश्यते।
विजानीध्वं द्विजश्रेष्ठास्तदेतेभ्यो विनिर्गतम् ॥
([illegible])

अतः कुछ उपपुराण तो पुराणोंके खिल (पूरक) दीखते हैं; किंतु उनका कुछ-न-कुछ स्वतन्त्र स्वरूप [illegible] उपपुराण स्थानीय मतों और सम्प्रदायों, [illegible] व्यवहार तथा रीतियों और अन्य धार्मिक आवश्यक (पूजा-विधि आदि)का वर्णन विस्तारसे करते [illegible] वे धर्म, समाज, साहित्य और विज्ञानके विषयमें भी [illegible] अन्तर्दृष्टि प्रदर्शित करते हैं। अतः वे भारतीय समा[illegible] सांस्कृतिक इतिहासकी दृष्टिसे बहुत महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं[illegible] प्राप्त उपपुराणोंका पाठ बहुत कुछ अपने मूल रूपमें सुरक्षित है। उपलब्ध पुराणोंको हम छः कोटियोंमें र[illegible] सकते हैं—(१) वैष्णव, (२) सौर, (३) शैव, (४) शाक्त, (५) गाणपत्य और (६) [illegible] विविध। जिस कोटिके जो उपपुराण हैं, उनमें उसी सम्प्रदायके अनुसार ही देवता, व्रत, पूजा, लोकमहिमा और देवस्थलोंका विवरण हुआ है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

-भक्ति), आचरणकी शुद्धि और यम-नियम-पालनपर ३ देते हैं। दान-महिमा, कर्मफल, प्रायश्चित्त और नर्जन्मकी मान्यता सभी उपपुराणोंमें एक-सी है।

वैष्णव-उपपुराण—ये पाञ्चरात्र और भागवत मतोसे म्बद्ध हैं। वैष्णव-उपपुराणोंमें श्रीविष्णुधर्म, विष्णु-र्मोत्तर, नारसिंह, बृहन्नारदीय और क्रियायोगसार—ये ः उप-पुराण प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त भार्गव-उपपुराण, र्मपुराण, पुरुषोत्तमपुराण, आदिपुराण और कल्किपुराण भी कई स्थानोंसे मुद्रित हो चुके हैं। 'क्रियायोगसार' और 'बृहन्नारदीय' पुराणमें विष्णुभक्तिका विशेष निर्वचन हुआ है। बृहन्नारदीयमें भक्तिके दस सोपानों तथा विष्णुकी पञ्च शक्तियोंका सुन्दर निरूपण हुआ है। कुछ अध्याय गङ्गाकी महिमापर हैं। शिवकी भक्ति विष्णुभक्तिमें सहायक बतायी गयी है। 'क्रियायोगसार'में दास्यभक्तिपर विशेष बल दिया गया है और क्रियायोग अर्थात् कर्मद्वारा योगमें छः कार्योंका संनिवेश किया गया है—(१) गङ्गा, श्री लक्ष्मी और विष्णुकी आराधना, (२) ब्राह्मण-भक्ति, (३) अतिथि-सेवा, (४) दान, (५) एकादशी-व्रत और (६) धात्रीवृक्ष तथा तुलसीकी पूजा।

वैष्णव-उपपुराणोंका विवेच्य वैष्णव-दर्शन और तदनुरूप वैष्णवचर्या है। वैष्णव-आचार, वैष्णव-कर्मकाण्ड, वैष्णव-पर्वोंके अनुष्ठान और वैष्णव-तीर्थोंकी महिमाका भी इन उपपुराणोंमें विस्तारसे वर्णन हुआ है। ये आचार-विचार जनताको इतने मान्य हुए कि हिंदुओंके लिये सामान्य आचारकी व्यवस्था देनेवाले स्मृतिकारों और प्रबन्ध-लेखकोंने इनके उद्धरण प्रचुरतासे ग्रहण किये हैं।

सौर-उपपुराणोंमें—सूर्य, साम्ब और भविष्योत्तरपुराण उपलब्ध हैं। साम्बपुराण पूर्णतया सूर्याराधनसे सम्बद्ध है। इनमें योगाचार, शिष्टाचार, आचार-विचार, मन्त्र, दीक्षा, विविध दान और कर्मफल आदिका निरूपण है। प्रायः सभी महापुराणोंमें भी सूर्याराधन-सदाचारकी प्रचुर सामग्री है।

शैव-उपपुराणोंमें—शिवपुराण, सौरपुराण, शिव-धर्म, शिवधर्मोत्तर, शिवरहस्य, एकाम्रपुराण, पराशर-पुराण, वासिष्ठ, लैंग आदि प्रसिद्ध शैवउपपुराण हैं। इनमें शिव, लिङ्ग और एकाम्रपुराण मुद्रित हैं। शिवपुराण आगमिक शैवमतके अनुकूल है। 'एकाम्र-पुराण' भी आगमिक शैवोंका है। 'सौर-पुराण' पाशुपत-मतसे सम्बद्ध है। इसमें शिव-पार्वतीकी महिमा तथा अन्य मतोंकी अपेक्षा पाशुपतमतकी उत्कृष्टता प्रतिपादित हुई है। 'शिव-धर्म' और 'शिवधर्मोत्तर' भी वेदनिष्ठ पाशुपतोंसे सम्बद्ध हैं। इनमें शिव-उपासकोंके विभिन्न कर्तव्य, शिवज्ञान-प्राप्ति, शिवयोगका अभ्यास, शिवपर्व-पूजा, व्रत, उपवास, पापियोंको दण्ड और पुनर्जन्म आदिका निर्वचन है।

शाक्त-पुराणोंमें—इन पुराणोंमें देवीपुराण, महाभागवत-पुराण, देवीभागवतपुराण और कालिकापुराण—ये चार महत्त्वके हैं और मुद्रित हैं। देवीपुराणमें आदिशक्ति भगवती विन्ध्यवासिनीके स्वरूप, अवतार, कार्य और आराधनपर प्रकाश डाला गया है। इसमें विविध शाक्तव्रतोपवास, आचार-विचार-व्यवहार और शैव, वैष्णव, ब्राह्म, गाणपत्य आदि सम्प्रदायोंका भी परिचय है। 'महाभागवत' भागवत महापुराणसे सर्वथा भिन्न है। इसमें परब्रह्मस्वरूपा कालीका स्वरूप-विवेचन, उनके विभिन्न रूपों, कार्यों, दस महाविद्याओं तथा आराधना-विधियोंका वर्णन है। 'देवी-भागवत' उपपुराणको तो शाक्तजन महापुराण भी मानते हैं। इसमें शाक्त विचारणाका निरूपण है। इसमें परब्रह्म और परमात्मस्वरूपा देवी भुवनेश्वरीकी धारणा है, जो सृष्टि-हेतु स्वयंको पुरुष-प्रकृति-रूपोंमें विभक्त कर लेती हैं और विभिन्न लक्ष्योंकी पूर्तिके लिये दुर्गा, गङ्गा आदि रूपोंमें प्रकट होती हैं। 'देवीभागवत' भक्ति-पर बल देता है और सर्वोच्च अवस्थामें ज्ञानको भक्ति ही मानता है। 'कालिकापुराण'में विष्णुकी योगनिद्रा, कालिकाके स्वरूप और आराधनाका विवेचन है। कालिका ही सती और पार्वतीरूप धारण कर शिवकी पत्नी बनती हैं। 'कालिकापुराण'में सामाजिक और धार्मिक महत्त्वकी अनेक बातें हैं।

गुण, परनारीके प्रति मातृभाव आदि विभिन्न गुणोंका संवर्धन तथा आसक्ति-हिंसादि दोषोंसे समावेश होता है[१]। इनमें शुभाशुभ कर्मोंको ल्लेख किया जाता है। स्वर्ग दिलानेवाले धर्म पने कर्तव्योंका विधिवत् पालन, मांस-मदिराका वेच दान आदि) शुभ कार्य हैं और नरकमें धर्म (निषिद्ध कर्म) अशुभ कर्म हैं। पूजन, पितृपूजन, अतिथि-गो-ब्राह्मण-सेवा, मधुर सम्भाषण और पुरस्कार-सम्पन्नता अभय-धीर-साहसी होना) आदि सदाचार थि-सेवा न करनेसे पुण्य क्षीण हो जाते हैं[४]। गुरुजन-अभिवादन तथा वृद्धादिकोंका पालन हित कर्मोंके अन्तर्गत हैं[५] और दूसरे-देनेकी इच्छा, क्रुद्ध होकर दूसरेपर आघात द्ध कर्म हैं। वर्णाश्रमधर्मको भी प्रायः सामान्य-ही समझना चाहिये। उपपुराणोंमें वर्णों और आश्रमोंके कर्तव्योंका साङ्गोपाङ्ग विस्तृत निरूपण हुआ है। आरम्भमें पाञ्चरात्रसंहिताएँ वर्णाश्रम-धर्मको मान्य नहीं करती थीं, किंतु कालक्रममें वे वर्णाश्रम-धर्मके प्रभावमें आ गयीं और तब पाञ्चरात्र-दर्शन-प्रेरित उपपुराणोंमें वर्णाश्रम-धर्मका निरूपण होने लगा[२]। विष्णुधर्मोत्तरपुराणमें चतुर्वर्ण और मिश्रवर्णके सामान्य धर्म और आपद्धर्मका भी विवेचन है[३]। विष्णुधर्मपुराणके अनुसार वर्णाश्रम-धर्म मनुष्यकी चरम शक्तिकी पथ-प्रगति है।

सम्प्रदायसम्बन्धी आचारोंमें शैव, वैष्णव और शाक्त धर्माचारोंका निरूपण हुआ है। परम धर्मके चार पाद हैं—चर्या, विद्या, क्रिया और योग। दैनिक चर्या सदाचारमय होनी चाहिये। इष्टदेवके स्वरूपका बोध होना चाहिये, उनकी प्रसन्नताकी क्रियाओंमें—उपासना-विधियों और सदाचारमें रत रहना चाहिये तथा योगनिष्ठ होकर उनका ध्यान करना चाहिये। शिवधर्म

१-विष्णुधर्मपुराण अध्याय ३, ४, ५, ७, ८, १४, १५, २२, २५ और ७३ इनमें अ० २५ विशेषरूपसे द्रष्टव्य है।

२-विष्णुधर्मोत्तरपुराण अ० ११७-११८।

३-वही, अ० २८७ से २९९।

४-अतिथिं चावमन्यन्ते काले प्राप्ते गृहाश्रमे। तस्मात् वै दुष्कृतं प्राप्य गच्छन्ति निरयेऽशुचौ ॥
अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते। स ... ष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति ॥
(शि० पु० उ० सं० १० । ३१, ४८)

५-(क) ...
(ख) वृद्धो ... ॥
... पु० अ० ४४)
दासी शिष्य-भ्रातृभ्यः।

पाँच प्रकारके हैं—तप, कर्म, जप, ध्यान और ज्ञान[1]। इसी प्रकार केशवको प्रसन्न करनेवाले कर्म हैं—तप, पूजा, मुक्ति-प्रयास, संगम-स्नान, सर्वदेव-सम्मान, सर्वधर्म-आदर, पाञ्चरात्र भक्तोंका सत्कार और यथाकाल भक्ति[3]। योग, क्रियायोग और वृत्तिनिरोध आवश्यक हैं[4]। देवीको प्रसन्न करनेवाले भी ऐसे ही कार्य हैं[5]।

भक्तिपरक उपपुराणोंमें भक्तिको नित्य-विधेय कहा गया है। भक्तिके लक्षण तथा उसकी महिमा बताते हुए कहा गया है कि भक्ति ज्ञानका मुख्य हेतु है,[6] अथवा भक्ति और ज्ञान अभिन्न हैं[7]। भक्तिहीन ज्ञान नरककारी हैं[8]। भक्ति भगवान्‌की प्राप्तिका सर्वप्रमुख साधन है[9]। यहाँतक कि भक्तिसे भगवान् भक्तके अधीन रहते हैं। (शिवपुराण २ । २ । २३ । १६ ।) इस क्षणभङ्गुर, किंतु दुर्लभ मनुष्य-जीवनमें शिवपूजन (भगवदाराधन) ही सार है। (शिवपुराण ६ । २ । २६ ।) अतः हमें अपने समस्त (दानादि) कर्म भक्तिपूर्वक ही करने चाहिये। (वही २५ । ५१-५२) अथवा समस्त कर्म भगवदर्पण कर देने चाहिये। भक्तिहीन कार्य निष्फल और [illegible] जाते हैं। अतः वेद-[illegible], [illegible] विष्णुमें मनकी लीनता और विष्णु[illegible] यज्ञों और दुष्कर तपोंकी अपेक्षा अधिक [illegible] इन भागवत आचारोंका पालन करना सर्व[illegible] है। क्योंकि अभागवतको विष्णु-प्राप्ति [illegible] सकती। आत्मज्ञान, निरति, हिंसा-विरति [illegible] संतोष, सत्य, धीरता, दयालुता, परस्त्री[illegible] स्वपत्नीव्रत, स्वकर्मपालन, गो-ब्राह्मण-सेवा आदि [illegible] के लक्षण ही श्रुति-स्मृतिकथित भारतीय सदा[illegible]

इस प्रकारके आचरण सबके लिये हैं, यह [illegible] है। भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये व्रतोपवास, सत्कर्म, [illegible] आदिका विधान करनेवाला 'पाञ्चरात्र' लोकधर्म है [illegible] जनताका सदाचार है[10]। उत्तम लोकाचार [illegible] सदाचारको हम शिष्टाचार भी कहते हैं। अत: [illegible] पुराणोंने शिष्टाचारमें लोकाचारको पर्याप्त महत्त्व [illegible] है, यहाँतक कि शिष्टाचार और सदाचारका [illegible] करनेमें भी 'लोकसंग्रह'का ध्यान सर्वाधिक रखा [illegible]

१—तपः कर्म जपो ध्यानं ज्ञानं चेति समासतः। (शि० पु० वा० सं० उ० ख० ८ । ३७)

२—विष्णुधर्मोत्तर, अ० ५८ । ३—वही, अ० ६१-६५ । ४—विष्णुधर्मपु० अ० १२ । ५—देवीभागवत, नवम स्क[illegible]

६—इससे मार्कण्डेय मुनि कहते हैं कि वैष्णव-तेज (विष्णुकी शक्ति) के बिना ब्रह्मा और शिवका अतिक्र[illegible] नहीं रह सकता। विष्णु-तेजको भक्तिरहित मनुष्य जान और समझ नहीं सकता। (विष्णुधर्मपु० अ० १७)

७—भक्तौ ज्ञाने न भेदो हि तत्कर्तुः सर्वदा सुखम्। विज्ञानं न भवत्येव सति भक्तिविरोधिनः ॥ (शिवपु० रु० स० स० ख० २३ । १६)

८—केवलं ज्ञानमाश्रित्य निरीश्वरपरा नराः। निरयं ते च गच्छन्ति [illegible] ॥

९—[illegible] भक्तिमहत्त्वः [illegible] गुणाकरः। [illegible] ॥ (वही ३५ । ११)

[illegible] ॥ (वही २३ । १८)

[illegible] ॥

[illegible] ॥

(शि० म० पु० १ । ५२ । १५७—१५९)

१०—[illegible]

[illegible] ॥ महाभारत १२ । ३३९ । ३९-४१ ।

-संमद-दृष्टिसे किये हुए उत्तम व्यवहार ही हैं। गुरुजनों, वयोवृद्धों, ज्ञानवृद्धों और हाथ जोड़कर अभिवादन करना तथा उनके स्वयंको कृतार्थ एवं पवित्रीकृत मानना उप- अनुसार सर्वमान्य भारतीय शिष्टाचार है। [न]रपुराणमें भारतीय शिष्टाचारका विस्तृत निरूपण ।

'[आ]चारहीनं न पुनन्ति वेदाः' 'वृत्ततस्तु हतो हतः' [श्र]ुतिः स्मृतिः सदाचारः' हमारे आचारके प्रमुख [है]। आचारहीन व्यक्ति इस लोकमें निन्दित होता [औ]र परलोकमें भी सुख नहीं पाता। सदाचारसे [शु]द्धि और आत्मशुद्धि होती है—'सदाचारो हि [शत]ं वर्षाणि जीवति,' 'शौचाचारः सदाचारः।' [पुर]ाणोंके अनुसार आचार ही परम धर्म है। आचार धन, परम विद्या, परम गति है। अतः आचार- होना चाहिये।' (शि० पु० ६। २। १४। —६) दृढ़-व्रत और दृढ़-चित्त आचारवान् [पुरु]ष व्यक्तियोंके कर्मोंका अनन्त फल अर्थात् स्वर्गतक हो जाता है। आचारवान् सदा पवित्र, सुखी और धन्य होता है। अपने आचारका उल्लङ्घन किये बिना जो व्यक्ति हरि-भक्ति-निरत रहता है, वह देव-दृष्ट विष्णुधामको जाता है। वेद-विहित वर्णाश्रमधर्मका पालन करनेवाला हरिभक्त परमपद प्राप्त करता है।

आचारसे धर्मका उद्भव होता है। धर्मके स्वामी अच्युत हैं। शास्त्रनिर्दिष्ट स्वाचारमें निरत होकर जो व्यक्ति अच्युताराधन करता है, उसे हरि सब कुछ देते हैं। वेदान्त-पारंगत होकर भी जो व्यक्ति अपने आचारसे च्युत हो जाता है, उसे 'पतित' कहा जाता है; क्योंकि वह श्रौत-स्मार्त कर्मसे बाहर रहता है। समस्त पवित्र शास्त्रोंमें आचारका प्रथम स्थान है; क्योंकि आचारसे धर्म होता है, जिसके स्वामी अच्युत हैं। हरिकी आराधना स्वधर्मका उल्लङ्घन न करनेसे ही सम्भव है। जो व्यक्ति सदाचारका पालन नहीं करते, उन्हें धर्म और अर्थ कोई आनन्द प्रदान नहीं करते।' आचारसे धर्म प्राप्त होता है। आचारसे आनन्द प्राप्त होता है, आचारसे परम पद (चरमगति, मोक्ष) प्राप्त होता है। आचारसे क्या नहीं प्राप्त होता!" किंतु आचारका पूर्णतया पालन कभी-कभी दुष्कर भी हो जाता है, अतः

१—यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
(नरसिंहपुराण १२। २४, श्रीमद्भगवद्गीता ३। २१।)

२—अभिवाद्य यथा न्यायं मुनींश्चैव स धार्मिकः। कृताञ्जलिपुटो भूत्वा तस्थौ तत्पुरतो दमी॥
(नरसिंहपु० ७। २६)

३—महर्षि भृगुसे राजा सहस्रानीकने कहा था—'पावितोऽहं मुनिश्रेष्ठ साम्प्रतं तव दर्शनात्॥
(वही १२। ६)

४—द्रष्टव्य—अध्याय २२७ से २३६।

५—यमीके बार-बार याचना करनेपर भी यम बहनसे समागमके लिये प्रस्तुत नहीं हुआ। उसके सदाचार-की दृढ़ताकी प्रशंसा करते हुए नरसिंहपुराणकार कहते हैं—

असकृत् प्रोच्यमानोऽपि तथा चैव दृढव्रतः। कृतवान् न यमः कार्यं तेन देवत्वमाप्तवान्॥
नराणां दृढचित्तानामेवं पापमकुर्वताम्। अनन्तं फलमित्याहुस्तेषां स्वर्गफलं भवेत्॥
(१२। ३५–३६)

६—आचारवान् सदा पूतः सदैवाचारवान् सुखी। आचारवान् सदा धन्यः सत्यं सत्यं च नारद॥
(देवीभागवत ११। २४। ९८)

७—बृहन्नारदीयपुराण ४। २०-२१; ८—वही, ४। २२-२६; ९—वही, १४। २०; १०—२०९–२११; ११—वही, ४। २७।

श्रीमद्देवीभागवतमें सदाचार

(ले०—महामहोपाध्याय आचार्य हरिशंकर वेणीरामजी शास्त्री, कर्मकाण्ड-विशारद, विद्याभूषण, संस्कृतरत्न, विद्यालंकार)

वर्तमानयुगमें प्रायः सर्वत्र सादगी, शील, सदाचार, गुण तथा नैतिक मूल्योंका दिन-प्रति-दिन ह्रास होता रहा है। इसके विपरीत स्वेच्छाचार, दुराचार, [अना]चार, दुर्गुण और अनैतिकताका बाहुल्य होता जा रहा है। ऐसे कठिन समयमें सदाचारका अध्ययन, [आच]रण तथा शिक्षणका विशेष महत्त्व हो गया है। [सदा]चार आजके जीवनकी सर्वाधिक और सामयिक [आव]श्यकता है, किंतु सदाचारका विषय गम्भीर तथा [व्याप]क है। यहाँ इस सम्बन्धमें केवल यथा-बुद्धि नीलकण्ठी [टीका]सहित देवीभागवतके कुछ प्रसङ्ग उपस्थित करनेके [प्रय]त्न किये जा रहे हैं।

> उदयास्तमयं यावद् द्विजः सत्कर्मकृद् भवेत्।
> नित्यनैमित्तिकैर्युक्तः काम्यैश्चान्यैरगर्हितैः॥
> (देवीभा० ११। १। ५-६)

देवीभागवतमें श्रीभगवान् नारायण नारदजीसे [क]ह रहे हैं कि नारदजी! मैं आपसे सदाचारकी विधि और [उ]सका क्रम बतला रहा हूँ, जिसके आचरणमात्रसे [दे]वी सदा प्रसन्न रहती हैं। प्रातःकाल उठकर ब्राह्मण, [क्ष]त्रिय, वैश्य—इन द्विजातियोंका प्रतिदिन जो कुछ कर्तव्य होता है, उसे सदाचार कृत्य कहा जाता है। 'सूर्योदयसे लेकर सूर्यास्तपर्यन्त जो द्विजोंद्वारा नित्य-नैमित्तिक काम्य तथा अनिन्द्य कार्य हैं, उनका ही अनुष्ठान करना चाहिये।' 'कोई भी मनुष्य इस संसारमें क्षणभर भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता'—ऐसा सोचकर मनुष्यको व्यापार-रहित होना असम्भव देखकर कुकर्मका परित्याग कर सद्-व्यापार, सदाचार या सत्कर्मोंका ही आश्रय लेना चाहिये—

> नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृदिति-न्यायेन व्यापाररहितस्यासम्भवेनान्यव्यापारं विहाय सद्व्यापारं एवाश्रयणीय इत्यर्थः।'
> (देवीभाग० ११। १। ५की नीलकण्ठी टी०)

परलोकमें पिता, माता, पुत्र, स्त्री और जातिवाले भी सहायता करनेके लिये समर्थ नहीं होते। वहाँ केवल एक धर्म ही सहायता करता है। यह धर्म ही आत्माका सहायक है, अतः धर्माचरण या सदाचारके द्वारा आत्म-कल्याणकी साधना करनी चाहिये। थोड़ा-थोड़ा प्रतिदिनके साधनोंसे धर्मका संग्रह करना चाहिये। इसकी सहायतासे मनुष्य दुःख और अज्ञानको दूर करता है—

> तस्माद् धर्मं सहायार्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः।
> धर्मस्यैव सहायात्तु तमस्तरति दुस्तरम्॥
> (देवीभाग० ११। १। ७-८, मनुस्मृति ४।२३९-४०)

'ननु पित्रादिभिर्ललितहास्यविनोदेन कालः सुखेन गच्छति तदा तद्विहाय किमिति धर्म आस्थेय इति चेत्तत्राह नामुत्रेति। परलोके न पित्रादयः सहाया भविष्यन्ति, किंतु धर्म एव। स चात्मनैव जायते इति आत्मैव स्वस्य सहायो नान्य इति स्वेनैव स्वस्य धर्माचरणेन कल्याणं कर्तव्यमिति भावस्त दुक्तम्—'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः' इति॥
(देवीभा० नी० टीका)

धर्मके भी अनेक भेद हैं। मुख्य धर्मका आश्रय अवश्य लेना चाहिये। यह मुख्य धर्म वेद और स्मृतियोंमें निरूपित है। इसमें भी सदाचारकी मुख्यता है। सदाचारके द्वारा मनुष्य आयु, संतान, अक्षय अन्न-धन और सुखको प्राप्त करता है। इससे लोक-परलोक दोनोंमें सुखी होता है—

'तत्र धर्मस्यानेकविधत्वेऽपि मुख्यरूपस्य तस्याश्रयणेनापि निर्वाहादवश्यं स विधेय इति दर्शयन् धर्मस्य मुख्यं रूपमाह। आचारः प्रथमो धर्म इति। मुख्यः स च श्रुत्युक्तः स्मृत्युक्तश्च मान्यो आत्मनः सदाचारे द्विजो नित्यं समायुक्तः स्यादित्यन्वयः।'

सदाचार श्रेष्ठ धर्म है, सदाचार श्रेष्ठ कर्म है, इससे ज्ञान उत्पन्न होता है—ऐसा मनुने कहा है, अतः सदाचारका प्रयत्नपूर्वक पालन करे।

अज्ञानान्धजनानां तु मोदितैर्भ्रामितात्मनाम्।
धर्मरूपो महादीपो मुक्तिमार्गप्रदर्शकः॥
(वही १२)

"अत्रैव मनुवचनमर्थतः पठति । आचारात् प्राप्यत इति । तथा च मनुः 'आचारः परमो धर्मः' इत्यादि 'कर्मणो जायते ज्ञानं ज्ञानान्मोक्षमवाप्यते', इत्यन्तम्।"

यह आचार सभी धर्मोंमें अत्यन्त श्रेष्ठ है । आचार श्रेष्ठ तप है, यही श्रेष्ठ ज्ञान है और इस आचारसे ही सब प्रकारकी सिद्धि हो सकती है । जो द्विज उत्तम होकर आचाररहित है, वह पतितके समान बहिष्कार करने योग्य है । क्योंकि जैसा पतित होता है वैसा ही वह भी है । इसमें पराशरस्मृतिका भाव है—

यस्त्वाचारविहीनोऽत्र वर्तते द्विजसत्तम।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यो यथा शूद्रस्तथैव सः॥१५॥

पराशरस्मृतिमर्थतः पठति । यस्त्वाचारविहीन इति । तथा च पराशरः—'आचारः परमो धर्मः' इत्यादि 'सर्वधर्मबहिष्कार्यो यथा शूद्रस्तथैव सः' इत्यन्तम्।

यह सदाचार दो प्रकारका है —एक शास्त्रीय, दूसरा लौकिक । ये दोनों ही आचार पालन करने योग्य हैं, इनमें कोई भी कल्याणकामीके लिये छोड़ने लायक नहीं है । गाँवका धर्म, जातिवालोंका धर्म, देशवासियोंका धर्म, उनके क्रममें आया हुआ धर्म यह सब मनुष्यको पालन करना चाहिये । इनमेंसे किसीका भी परित्याग नहीं करना चाहिये । दुराचारी पुरुषकी लोकमें अवश्य निन्दा होती है । वह आगे चलकर दुःख भी पाता है और उसके शरीरमें रोग व्याप्त हो जाते हैं । इसमें गौतम-स्मृतिके प्रमाणका भाव आता है—

आचारो द्विविधः प्रोक्तः शास्त्रीयो लौकिकस्तथा।
उभावपि प्रकर्तव्यौ न त्याज्यौ शुभमिच्छता॥
ग्रामधर्मा जातिधर्मा देशधर्माः कुलोद्भवाः।
परिग्राह्या नृभिः सर्वे नैव ता स्त्यजेन्मुने॥

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति [illegible]
दुःखभागी च सततं व्याधिना [illegible]
(वही श्लो[illegible])

तथा च गौतमः—

तथापि लौकिकाचारं मनसापि न [illegible]
परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां [illegible]
धर्ममप्यसुखोदर्कं लोकविद्विष्टमेव [illegible]

संसारमें जो धन और कामना धर्मसे [illegible] दोनोंका परित्याग कर देना चाहिये । और यदि दुःखरूप परिणामवाला तथा [illegible] दिखायी पड़े तो उसका भी परित्याग कर देना [illegible]

बहुत्वादिह शास्त्राणां निश्चयः स्यात् [illegible]
कियत् प्रमाणं तद्ब्रूहि धर्ममार्गविनिर्णय[illegible]

इस लोकमें शास्त्र अनेक हैं, फिर धर्मका [illegible] कैसे किया जाय, नारद मुनिके ऐसा प्रश्न [illegible] नारायण भगवान्ने कहा—

श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे पुराणं हृदयं स्मृतम्।
एतत्त्रयोक्त एव स्याद् धर्मो नान्यत्र कुत्रचित्॥
विरोधो यत्र तु भवेत् त्रयाणां च परस्परम्।
श्रुतिस्तत्र प्रमाणं स्याद् द्वयोर्द्वैधे श्रुतिर्वरा
श्रुतिद्वैधं भवेद् यत्र तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ
स्मृतिद्वैधं तु यत्र स्याद् विषयः कल्प्यतां पृथक्

'वेद और स्मृति ये दो नेत्र हैं और पुराण [illegible] अतः इन तीनोंमें जो कहा गया है, वही धर्म है । इन तीनोंमें विरोध हो, वहाँ वेदको प्रमाण म[illegible] चाहिये और शेष दोमें विरोध होनेपर स्मृतिको प्र[illegible] मानना चाहिये । जहाँ दो प्रकारके वेदके मत हों, [illegible] दोनोंका अनुष्ठान करना चाहिये । स्मृतियोंमें पर[illegible] भेद या दुविधा उत्पन्न होनेपर विकल्पकी व्यवस्[illegible] करनी चाहिये ।'

धर्मागमें वेद ही सर्वोच्च प्रमाण है—जिनका [illegible] [illegible] प्रमाण है, दूसरे नहीं ।

णस्य प्रत्यक्षश्रुतिविरुद्धतप्तमुद्राधारणादिप्रति-
न्त्रस्य न प्रामाण्यं किंतु वेदाविरोध्यंशे एव
म्। तथा च तन्त्रार्थप्रतिपादकपुराणस्य प्रत्यक्ष-
रोधात्र प्रामाण्यमिति। न केवलं पुराणानि
कानि किंतु तन्त्रमूलकान्यपि सन्ति। तथा
पणापेक्षया केवलवेदमूलकत्वात् स्मृतीनां
युक्तमव्याहतमेव। तदुक्तं स्कान्दे सूत-
ग्राम्। यथा—'क्वचित्कदाचित्तन्त्रार्थकटाक्षेण
ाः। सन्ति तानि पुराणानि सोंऽशो ग्राह्यो न
इति। अतएव तन्त्रार्थप्रतिपादकपुराणस्य
श्रुतिविरोधात्र प्रामाण्यमिति भावः। तदुक्तं
महाकालसंहितादिषु। यथा—

रोधी योंऽशस्तु सैव ग्राह्यो द्विजोत्तमैः।
ारि बहुत्वाद्याप्यनेकार्थः प्रकाश्यते॥

: वेदोक्त सद्धर्म ही—जो सदाचार हैं वे ही, मनुष्यके
नुष्ठेय हैं। प्रत्येक दिन मनुष्यको उठकर विचार
चाहिये कि मैंने कल क्या किया, आज क्या किया
न-सा धर्म-कर्म-दान दिया-दिलाया, कहाँ और
या करना चाहिये—

कर्मेव सद्धर्मं तस्मात् कुर्यान्नरः सदा।
थोत्थाय बोद्धव्यं किं मयाद्य कृतं कृतम्॥३२॥
ं वा दापितं वापि वाक्येनापि च भाषितम्।
पापेषु सर्वेषु पातकेषु महत्स्वपि॥३३॥

छः अङ्गोंसहित वेद यदि किसीको ज्ञात हो, पर यदि वह वैसा आचरण न करता हो तो वेद उसे पवित्र नहीं कर सकते। जैसे पक्षीके बच्चे पंख निकल जानेपर घोंसला छोड़कर उड़ जाते हैं, वैसे सब वेद भी मरनेके समय उसका परित्याग कर देते हैं। मनुष्यको प्रातःकाल, सायंकालमें संध्याकी उपासना इत्यादि नित्यकर्म अवश्य करने चाहिये। जो नित्य-नैमित्तिक काम्य और प्रायश्चित्त कर्मोंका विधिपूर्वक आचरण करता है, वह भोग तथा मोक्षरूप फलको अवश्य प्राप्त करता है।

नैमित्तिकं च नित्यं च काम्यं कर्म यथाविधि।
आचरेन्मनुजः सोऽयं भुक्तिमुक्तिफलाप्तिभाक्॥
आचारवान् सदा पूतो सदैवाचारवान् सुखी।
आचारवान् सदा धन्यः सत्यं सत्यं च नारद॥
(देवीभाग० ११। २४। ९६, ९८।)

'सदाचार ही परमधर्म है। सदाचारका फल परम सुख और आनन्द है। सदाचारवान् मनुष्य सदा पवित्र रहता है, सुखी रहता है, उसे धन मिलता है और वह धन्य-धन्य हो जाता है। ये सारी बातें सर्वथा सत्य हैं।'

सदाचारेण सिद्ध्येच्च ऐहिकामुष्मिकं सुखम्।
(देवीभाग० ११। २४। १००।)

सदाचारसे इस लोक तथा परलोकके सारे सुख सिद्ध हो जाते हैं।

सदाचारी कौन ?

न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं
नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः।
दत्त्वा न पश्चात् कुरुतेऽनुतापं
स कथ्यते सत्पुरुषार्यशीलः॥
—महात्मा विदुर

'जो अपने सुखमें प्रसन्न नहीं होता, दूसरेके दुःखके समय हर्ष नहीं मानता तथा दान देकर पश्चात्ताप नहीं करता, वह सत्पुरुषार्यशील अर्थात् सदाचारी कहलाता है।'

ं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
ाणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति॥
(७। ११। १२)

तीस प्रकारका आचरण सभी मनुष्योंका
है। इसके पालनसे सर्वात्मा भगवान् प्रसन्न
।

द्भागवतमें वे इस प्रकार वर्णित हैं—

ष्ठिर! धर्मके ये तीस लक्षण शास्त्रोंमें कहे गये
, दया, तपस्या, शौच, तितिक्षा, उचित-
ा विचार, मनका संयम, इन्द्रियोंका संयम,
ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, सन्तोष,
, महात्माओंकी सेवा, धीरे-धीरे सांसारिक भोगों-
ेष्टासे निवृत्ति, मनुष्यके अभिमानपूर्ण प्रयत्नोंका फल
होता है—ऐसा विचार, मौन, आत्मचिन्तन,
णियोंको अन्न आदिका यथायोग्य विभाजन (दान-
ष्टदेव), उनमें और विशेष करके मनुष्योंमें अपने
ा तथा इष्टदेवका भाव, संतोंके परम आश्रय भगवान्
णके नाम, गुण, लीला आदिका श्रवण, कीर्तन,
की सेवा, पूजा और नमस्कार; उनके प्रति दास्य,
। और आत्मसमर्पण।*'

सदाचारके इन तीस लक्षणोंका अनुष्ठान करनेवाले
साधकोंकी तो बात ही क्या! जिन्होंने इसके
लक्षणका भी आश्रय लेकर अपने जीवनको
तासे मण्डित कर दिया, ऐसे स्वनामधन्य अनेक
पुरुषोंका जीवनवृत्त श्रीमद्भागवतमें वर्णित होकर
व-जातिके मनमें सृष्टिसे प्रलयकालतक भागवतधर्म
सदाचारका उद्बोधन करता रहेगा। किंतु इन
भगवदवतारों एवं महापुरुषोंका एक-एक लक्षणके
निरूपणके क्रममें उल्लेख करनेका यह अर्थ कदापि नहीं
है कि उनमें अन्य लक्षणोंका अभाव था, अपितु इन
सभीमें भागवत-धर्म एवं सदाचारकी परिपूर्णताका
उन्मेष हुआ था। केवल प्रसङ्गकी परिपूर्णताके
लिये सदाचारके जिस अंग-विशेषका इन भगवदवतारों
एवं भगवद्भक्तोंमें विशेष प्रकाश हुआ था, उसके
संदर्भमें उनका उल्लेख किया जा रहा है। अस्तु।

(१) सत्यके विषयमें दैत्यराज बलिका उदाहरण
मनको बरबस आकृष्ट कर लेता है। वामन वटुकके
रूपमें भगवान्द्वारा तीन पग भूमिके नामपर सर्वस्व
ग्रहणका 'छल' किये जानेपर भी बलि सत्यसे पराङ्मुख
नहीं होते! दैत्याचार्य शुक्रद्वारा बारंबार निषेध करने
एवं शाप देनेपर भी उनका मन सत्यसे नहीं डिगता
एवं एक इसी सत्यके प्रतिपालनके फलस्वरूप भगवान्को
उनका द्वारपाल बनना पड़ता है। उनकी सत्यनिष्ठाकी
प्रशंसा करते हुए स्वयं भगवान् वामनने उनको देव-
दुर्लभ इन्द्रपद प्रदान किया—

गुरुणा भर्त्सितः शप्तो जहौ सत्यं न सुव्रतः।
छलैरुक्तो मया धर्मो नायं त्यजति सत्यवाक्॥
एष मे प्रापितः स्थानं दुष्प्रापममरैरपि।
सावर्णेरन्तरस्यायं भवितेन्द्रो मदाश्रयः॥
(८। २२। ३०। ३१।)

(२) दयाके लिये द्रौपदीका उदाहरण अद्वितीय
है। अपने पाँचों पुत्रोंकी सुप्तावस्थामें पशुवत् नृशंस हत्या
करनेवाले द्रोणपुत्र अश्वत्थामाको अर्जुनद्वारा पकड़कर लाये
जानेपर भी वह उसे प्रतिशोधमें दण्डित करवाना नहीं
चाहती, अपितु करुणाविगलित होकर कह उठती है—

* सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः। अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्॥
संतोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः। नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम्॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः। तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः। सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥
(श्रीमद्भा० ७। ११। ८-११)

मा रोदीदस्य जननी गौतमी पतिदेवता।
यथाहं मृतवत्साऽऽर्ता रोदिम्यश्रुमुखी मुहुः॥
(१।७।४७)

'जैसे अपने बच्चोंके मर जानेसे मैं दुःखी होकर रो रही हूँ और मेरी आँखोंसे बारंबार आँसू निकल रहे हैं, वैसे इनकी माता पतिव्रता गौतमी न रोयें।

(३–५) तपस्याका चरम उत्कर्ष हमें दिखलायी पड़ता है, ऋषिप्रवर नर-नारायणमें। शौचके कठोरता-पूर्वक पालनमें राजसंन्यासी भरत एवं दक्षके शाप देने-पर समर्थ होते हुए भी उसे सहन करनेमें देवर्षि नारदकी तितिक्षा अविस्मरणीय है। (६) यदुकुल-संहारके पश्चात् द्वारकासे लौटे हुए कृष्णविरहकातर अर्जुनसे धर्मराज युधिष्ठिरके कथोपकथनमें उचित-अनुचितके विचारकी अपूर्व झलक दिखायी पड़ती है। (७) मनःसंयममें बालक ध्रुव आदर्श स्थानीय कहे जा सकते हैं। योगिजन जिसे एकाग्र करनेमें अपना समग्र जीवन समर्पित कर देते हैं, उसी मनको तीव्र भक्तियोगका आश्रय लेकर बालक ध्रुव पाँच वर्षकी अवस्थामें ही वशीभूत करके उसकी सारी चञ्चलताको निरोहित करके शून्य अवस्थामें ले आते हैं—

सर्वतो मन आकृष्य हृदि भूतेन्द्रियाशयम्।
ध्यायन् भगवतो रूपं नाद्राक्षीत् किञ्चनापरम्॥
(४।८।७७)

(८) इन्द्रियसंयममें स्वयं योगेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी जीवनी पर रखना कि "पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणैर्यस्येन्द्रियाणि विमथितुं करणैर्न विभ्व्यः" सोलह हजार पत्नियाँ भी काम बाणोंका प्रहार करके उनकी इन्द्रियोंको क्षुब्ध करनेमें समर्थ नहीं हो सकीं—जिससे इन्द्रियोंमें इन्द्रियसंयमका सर्वोच्च उदाहरण प्रस्तुत करती है। (९–१२) [illegible] भगवान् शङ्करसे अधिक, इन्द्रियोंसे भी [illegible]

ऊर्ध्वरेता सनकादि ब्रह्मपुत्रोंका नैष्ठिक ब्र[illegible] दधीचिका देवताओंके याचना करनेपर श[illegible] तनका त्याग तथा "प्रेम्णा पठन् भागवतं[illegible] —'निरन्तर श्रीमद्भागवतका गान करते [illegible] नन्दन शुकदेव तो स्वाध्यायकी मूर्ति ही [illegible] सकते हैं। (१३) राजर्षि अम्बरीषकी [illegible] प्रशंसा तो अकारण ही उनका [illegible] महर्षि दुर्वासा भी श्रीभगवान्के [illegible] दिलानेपर स्वीकार करते हैं—

अहो अनन्तदासानां महत्त्वं दृष्टम[illegible]
कृतागसोऽपि यद् राजन् मङ्गलानि [illegible]
(९।५।[illegible])

(१४) संतोषकी पराकाष्ठा हमें दिखलायी [illegible] है, कृष्णसखा अकिञ्चन ब्राह्मण सुदामामें। फटी धोती, पादुकाविहीन चरण एवं दीन-हीन जीर्ण शरीरवाले सुदामा भक्तवाञ्छाकल्पतरु परमसखा श्रीकृष्णसे भी कुछ माँगनेमें संकुचित हो उठते हैं और जैसे आये थे, वैसे ही खाली हाथों घरको लौट पड़ते हैं। मनमें भगवान्की प्रशंसा करते नहीं थकते कि [illegible] मदोन्मत्त होकर कहीं मैं उनको भूल न बैठूँ, यही सोचकर उन परम करुणामयने मुझे [illegible] सा भी धन नहीं दिया—

अधनोऽयं धनं प्राप्य माद्यन्नुच्चैर्न मां स्मरे[त्]
इति कारुणिको नूनं धनं मेऽभूरि नाददा[त्]
(१०।८१।[illegible])

(१५) समदर्शी महात्माओंके शेलनका [illegible] अद्भुत ही है। राजा रहूगणको महात्मा जडभरत ढो पालकीमें [illegible] परमार्थतत्त्वकी प्राप्ति हो गयी। [illegible]

...क ज्ञान नष्ट हो गया है।' (श्रीमद्भा० ५। २२।) (१६) धीरे-धीरे सांसारिक भोगोंकी निवृत्तिकी शिक्षा विषयकूपमें आकण्ठनिमग्न यातिसे ली जा सकती है। यद्यपि उन्होंने ...ौतिक इन्द्रियोंसे विषयोंका सुख भोगा था, ... जैसे पाँख निकल आनेपर पक्षी अपना नीड ...ता है, वैसे ही उन्होंने एक क्षणमें सब कुछ ...या था। (श्रीमद्भा० ९। २०। २४।)

(१७) देवी भद्रकालीको तृप्त करनेके उद्देश्यसे ... मदान्ध चौगण महात्मा जड़भरतकी बलि ...लेये उद्यत होते हैं; किंतु उनके इस अभिमान-...ृत्यका फल ठीक उल्टा होता है एवं देवीकी ...के स्थानपर उन्हें प्राप्त होता है—उनका भीषण ... उन सबके भयंकर कुकर्मको देखकर देवी ...ीके शरीरमें अति दुःसह ब्रह्मतेजसे दाह होने ...गता है एवं वे मूर्तिको विदीर्ण करके उसमेंसे निकल ...ड़ती हैं। वे क्रोधसे तड़पकर भीषण अट्टहास करती हैं ...र उछलकर उस अभिमन्त्रित खड्गसे ही उन पापियोंके ...र उड़ा देती हैं। सच है कि अभिमानपूर्ण कृत्योंका ...ल सदा विपरीत ही होता है। (१८-१९।) ...सदाचार-कर्म कल्याण नहीं दे सकता और सदाचार ...दैव श्रेयःसाधक होता है।

राजा इन्द्रद्युम्नकी जयकालमें ऋषिगणोंके आ जानेपर ...ी मौनव्रतमें ... तथा महर्षि अवधूत दत्तात्रेयका ... है।

निमित्त उसका भी वितरण कर दिया एवं उसमें क्षुधार्त उन रन्तिदेवको जो आनन्दानुभूति होती है, वह प्राणोंपर मृत्युका नहीं, अपितु अमृतका जयघोष बन जाती है; देखिये—

> क्षुत्तृट्श्रमो गात्रपरिभ्रमश्च
> दैन्यं क्लमः शोकविषादमोहाः।
> सर्वे निवृत्ताः कृपणस्य जन्तो-
> र्जिजीविषोर्जीवजलार्पणान्मे॥
> (९। २१। १३)

इस मुमूर्षु दीन-हीन प्राणीको जल दे देनेसे मेरी भूख-प्यासकी पीड़ा, शरीरकी शिथिलता, दीनता, ग्लानि, शोक, विषाद और मोह सब दूर हो गये। इसी सदाचारके प्रभावसे उनके सम्मुख ब्रह्मा, विष्णु, महेश प्रकट हो जाते हैं। सदाचारकी उत्कृष्ट यह उदात्तता आचन्द्र-दिवाकर आदर्शरूपमें प्रतिष्ठित रहेगी।

(१२) सभी भूत-प्राणियोंमें अपने आत्मा एवं इष्टदेवकी अनुभूतिके क्षेत्रमें ऋषभनन्दन योगीश्वर कविका उल्लेख करना समीचीन होगा। विदेहराज निमिकी यज्ञ-सभामें उनकी उक्ति बड़ी मननीय एवं अनुकरणीय है—

> खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
> ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
> सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
> यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥
> (११। २। ४१)

'राजन्! यह आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष-वनस्पति, नदी, समुद्र सब-के-सब भगवान्‌के शरीर हैं। सभी रूपोंमें स्वयं भगवान् ही क्रीडा कर रहे हैं, ऐसा समझकर जड़ या ... सभी प्राणियोंको अनन्य भगवद्भावसे प्रणाम करे।'

... । करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥'

... मानस-सूक्ति है।

... प्रकार भागवतशास्त्र 'परीक्षित्साक्षी ... कहकर श्रवणरूप

आगम-ग्रन्थोंमें सदाचार

(लेखक—डॉ० श्रीकृपाशंकरजी शुक्ल, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

वैसे आगम शब्द सामान्यतः सभी शास्त्रों एवं वैदिक [तान्त्रिक] परम्पराओंका वाचक है*। आगम शब्दका [विशिष्ट] अर्थ है—पार्वतीके प्रति शिवद्वारा वैष्णवमतका [निरू]पण। प्राचीन मनीषियोंका कथन है—

[आ]गतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजाश्रुतौ।
[म]तं च वासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते॥

'यह शिवजीके मुखसे निकला, पार्वतीजीके कानोंमें [गय]ा और भगवान् वासुदेवका मत है, अतः इसे 'आगम' [कह]ा जाता है।' 'कुलार्णव' (१७। ३४)के अनुसार [सदा]चारयुक्त परमात्मतत्त्वके निरूपक होने और दिव्यगति[प्राप्ति]के कारण ही इसके 'आगम' नामकी चरितार्थता है—

आचारकथनाद्दिव्यगतिप्राप्तिविधानतः।
महात्मतत्त्वकथनादागमः कथितः प्रिये॥

मीमांसकोंके अनुसार श्रुतियाँ आगम-निगमके भेदसे [द्]विध हैं (द्रष्टव्य मन्वर्थमुक्तावली २। १)। ऋषियोंने [नि]गम अथवा वेदोंके साथ ही परम्परासे जिस ज्ञानराशिको [उप]लब्ध किया था, उसे आगम कहते हैं। यों तो [आ]गमसे पाञ्चरात्र-वैखानसादि वैष्णवागम, शाक्तागम, [सौ]र-गाणपत्यादि आगम तथा शैवागम आदि सभी [अभि]प्रेत होते हैं, साथ ही इसके अन्तर्गत अधिकांश [द]र्शन-शास्त्रोंका भी—जिनमें षड्दर्शन भी सम्मिलित [हैं]—समावेश है (द्रष्टव्य—'सर्वदर्शनसंग्रह')। वास्तवमें [आ]गम भी वेदोंके समान अनादि हैं और अथर्ववेदमें [इ]नका बाहुल्य होनेसे इन्हें निगमसे सर्वथा [अ]लग भी करना शक्य नहीं है। इसीलिये आगम-[ग्र]न्थोंके अंशोंको मन्त्र कहा जाता है। आचार्य-[प]रम्परामें इस तन्त्रको भी (प्रायः) वेदवत् प्रमाण माना [ग]या है।

आगम-साहित्य विपुल है। इन ग्रन्थोंमें सूक्ष्म [वि]चाओंका अपार व्यापक तथा गम्भीर प्रसार है। विषयवस्तुकी दृष्टिसे आगमसंज्ञा उन ग्रन्थोंको दी जाती है, जिनमें सृष्टि-प्रलय, देवतार्चन, सर्वसाधन, पुरश्चरण, कर्मसाधन एवं ध्यानयोगकी व्याख्या की गयी हो। अगणित लोकाचारों, लोकमें पूजित देवियों तथा लोक-प्रचलित रहस्यमय अनुष्ठानोंका परिणतरूप आगम-ग्रन्थोंमें देखनेको मिलता है। यह वाङ्मय दैवी-शक्तिके दिव्य चमत्कार और ऋषियोंके ज्ञान-विस्तारका श्लाघनीय चरम प्रयास है। यहाँ इनके आधारपर सदाचारकी दो-एक मुख्य बातें दी जा रही हैं। निम्नोक्त 'कुलार्णवतन्त्र'में उस साधकको श्रेष्ठ स्वीकार किया गया है, जिसकी जिह्वा परान्नसे दूषित नहीं, हाथ दूसरेकी वस्तुके ग्रहण करनेसे कलङ्कित नहीं और मन परनारीके दर्शनसे क्षुब्ध नहीं होते हैं, ऐसा सात्त्विक साधक ही सिद्धि प्राप्त करता है, दूसरा नहीं—

जिह्वा दग्धा परान्नेन करौ दग्धौ प्रतिग्रहात्।
मनो दग्धं परस्त्रीभिः कथं सिद्धिर्वरानने॥
(कुलार्णव १५। ८४)

अतः सिद्धि चाहनेवालोंको सदाचारके इन नियमोंका पालन सावधान होकर करना चाहिये। सत्य धर्माचरणका उदात्त-स्वरूप 'महानिर्वाण'तन्त्रमें देखनेको मिलता है। सत्य-विहीन मानवकी साधना, उपासना व्यर्थ है। सत्यका आश्रय ही सुकृतोंका आश्रय है—'सत्य मूल सब सुकृत सुहाए।' (मानस० २। २७। ६) सत्यधर्मका आश्रय लेनेवाले कर्म-सौन्दर्यके उपासकको सिद्धियाँ अनायास वरण कर लेती हैं। सत्यसे बढ़कर कोई धर्म नहीं है और असत्यसे बढ़कर कोई पाप नहीं है। एतदर्थ अनित्य असुख दुःखालय जगत्में आये हुए मानवको सत्य-कल्पतरुका ही सयत्न सतत सेवन करना चाहिये।

* प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि। (योगदर्शन १। ७ इत्यादि।)

वैदिक गृह्यसूत्रोंमें संस्कारीय सदाचार

(लेखक—डॉ० श्रीसीतारामजी सहगल 'शास्त्री', एम्० ए०, ओ० एल०, पी-एच्० डी०)

प्राचीन भारतमें अन्तर्हृदयकी ग्रन्थियोंको सुलझाने
वा भगवत्प्राप्तिके लिये व्यक्तिका जन्मसे लेकर मृत्युतकका
वन संस्कारोंसे संस्कृत होता रहता था। इसकी ध्वनि
दसे ही सुनायी देती है। वेदोंका गृह्यसूत्र-साहित्य
पने-आपमें बड़ा व्यापक है, जिसका कारण हमारे
के विस्तृत भूभाग, विविध भाषाएँ, विविध धर्म तथा
विध जातियोंकी आचार-धाराएँ रही हैं। आचार-
विधनाओंके कारण अनेक गृह्यसूत्रोंकी रचना युक्ति-
त ही प्रतीत होती है।

ऋग्वेदके तीन गृह्यसूत्र हैं—आश्वलायन, शाङ्खायन
ा कौषीतकिगृह्यसूत्र। शुक्लयजुर्वेदके दो
यसूत्र हैं—पारस्कर और बैजवाप। कृष्णयजुर्वेदके
ायन, भारद्वाज, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशीय, वैखानस,
ग्निवेश्य, मानव, काठक तथा वाराह—ये नौ गृह्यसूत्र
। सामवेदके—गोभिल, खादिर तथा जैमिनि—ये तीन
सूत्र हैं। अथर्ववेदका कोई गृह्यसूत्र नहीं है, उसका
क वैतानकल्पसूत्र या कौशिकसूत्र प्रसिद्ध है, जिसमें
यसूत्रादिके सभी कर्म निर्दिष्ट हैं।

हम यहाँ ऋग्वेदीय शाङ्खायनगृह्यसूत्रके प्रधान
रोंकी सूची उद्धृत करते हैं, जिससे सब संस्कारोंका
रिचय सम्भव हो सकेगा। उदाहरणार्थ—स्वाध्यायविधि
१ । ६), इन्द्राणीकर्म (१ । ११), विवाहकर्म
१ । १२), पाणिग्रहण (१ । १३), सप्तपदक्रमण
१ । १४), गर्भाधान (१ । १९), पुंसवन
१ । २०), सीमन्तोन्नयन (१ । २२), जातकर्म
१ । २४), नामकर्म (१ । २५), चूडाकर्म
१ । २८), उपनयन (२ । १), वैश्वदेवकर्म
२ । १४), समावर्तन (३ । १), गृह्यकर्म,
शकर्म (२, ३, ४), श्राद्धकर्म (४ । १),
उपाकरण (४ । ५), उपाकर्म (४ । ७),
सपिण्डीकर्म (४ । ३), आभ्युदयिक श्राद्ध-कर्म
(४ । ४), उत्सर्गकर्म (४ । ६), उपरमकर्म
(४ । ७), तर्पण (४ । ९) और स्नातक
धर्म (४ । ११)—ये संस्कार सत्युगसे लेकर
भगवान् राम, कृष्ण एवं हर्षवर्धनके समयतक
जीवन्तरूपमें रहे। महाकवि कालिदासने इनमेंसे कुछ
संस्कारोंकी चर्चा अपने ग्रन्थोंमें की है; जैसे—पुंसवन
(कुमारसम्भव ३ । १०), जातकर्म (रघुवंश
३ । १८), नामकरण (रघु० ३ । २१), चूडाकर्म
(रघु० ३ । २८), उपनयन (कुमार० ३ । २९),
गोदान (रघु० ३ । ३), विवाह (कुमार० ६ । ४९),
पाणिग्रहण (रघु० ७ । २१), दशाह (रघु० ७ । ७३)।
संस्कारोंके इस वर्णनसे यह भलीभाँति प्रमाणित हो जाता
है कि राजासे रङ्कतक—सबकी परम्परागत इन कर्मोंमें श्रद्धा
होती थी। यही कारण है कि भारतमें समय-समयपर
होनेवाले आक्रमणकारियोंके बर्बरतापूर्ण आक्रमण निष्फल
रहे। ये थीं हमारे पूर्वजोंकी अमर योजनाएँ, जिन्होंने
देशको अखण्डित तथा हमें स्वाधीन बनाये रखा और
जिनके द्वारा संस्कृत होनेके कारण हम सब एकतामें
आबद्ध रहे।

गृह्यसूत्रोंमें आश्रमोंकी व्यवस्थाका व्यापकरूपसे वर्णन
मिलता है। ब्रह्मचर्य, विवाह और वानप्रस्थ—ये तीन
आश्रम व्यापकरूपसे समाजमें प्रचलित रहे। 'तैत्तिरीय-
संहिता'के एक मन्त्रमें प्रकारान्तरसे इनसे सम्बद्ध तीन ऋण
कहे हैं—'जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवा जायते।
ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः।
एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासी
(६, ३, १०, १३) 'जब ब्राह्मण पैदा होता है तो
उसपर तीन ऋण लदे रहते हैं। ऋषि-ऋणके अपाकरणके

लिये ब्रह्मचर्यव्रत (शिक्षा), देव-ऋण देनेके लिये यज्ञ (समाज) तथा पितृऋणसे मुक्तिके लिये वह श्रेष्ठ परिवार-में विवाह करता है। 'शाङ्खायनगृह्यसूत्र'के उपनयन-संस्कारमें तीनों वर्णोंकी अवधिका उल्लेख है, जो इस प्रकार है—गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयेत (२।१), गर्भैकादशेषु क्षत्रियम् (२।४)। गर्भद्वादशेषु वैश्यम्, (२।५), आषोडशाद् वर्षाद् ब्राह्मणस्यानतीत-कालः (२।७), आ द्वाविंशात् क्षत्रियस्य (२।७), आ चतुर्विंशाद् वैश्यस्य (२।८)। अर्थात् 'गर्भाधान-संस्कारके बाद आठवें वर्षमें ब्राह्मणका उपनयन-संस्कार करे (२।१), गर्भाधान-संस्कारके बाद ग्यारहवें वर्षमें क्षत्रियका उपनयन-संस्कार करे (२।४)। गर्भाधान-संस्कारके बाद बारहवें वर्षमें वैश्यका उपनयन-संस्कार करे। ब्राह्मणके संस्कार सोलह वर्षतक हो जाने चाहिये (२।६), बाईस वर्षतक क्षत्रियके (२।७) और चौबीस वर्ष-तक वैश्यके (२।८)। यदि तीनों वर्ण इस अवधिके बीच अपना संस्कार सम्पन्न नहीं कर लेते थे तो वे उपनयन, शिक्षा तथा यज्ञके अधिकारोंसे वञ्चित समझे जाते थे।

आजके युगमें भी शिक्षाको राज्यकी ओरसे अनिवार्य बनानेकी योजना उसी प्राचीन महनीय परम्पराकी ओर संकेत करती है। उपर्युक्त उद्धरणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अर्थात् पन्द्रहवर्ष प्रतिशत लोग उस युगमें शिक्षित ही नहीं होते थे, अपितु वे सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मयका साक्षात्कार करनेके अधिकारी भी होते थे। वर्णाश्रम-व्यवस्था भारतीय जीवनका मेरुदण्ड

किंतु प्राचीन कालमें जितने भी शक, हूण आदि जातियोंके आक्रमण हुए, उनसे सुरक्षित रखनेकी शक्ति इसी वर्णव्यवस्थामें थी। इस वर्णाश्रमधर्मके ... स्वधर्मके प्रति गर्व और गौरवकी भावना इतनी थी कि वे दूसरोंकी अपेक्षा अपनेको श्रेष्ठ समझते थे।

पाश्चात्य चिन्तकोंने अपने ग्रन्थोंमें इस ... इस उत्कर्षके लिये भारतीयोंकी प्रशंसा की है। सिडनीने अपने ग्रन्थ 'भारतीय अन्तर्दृष्टि'में ... कि हिंदुओंने विदेशी आक्रमणों तथा ... प्रकोपोंका सामना करनेमें जो शक्ति दिखायी, उसका कारण उनकी अजस्र, अमर और ... वर्णाश्रम-धर्मकी व्यवस्था थी। इसी तरह सर ... अपनी पुस्तक 'भारतीय चिन्तन'में लिखा ... 'हिंदुओंकी जातीय प्रथाने संघका काम किया है, ... उसे शक्ति मिली है और उससे विभिन्न वर्ग सुसंगत रखा है।' गार्डीनरने भी अपनी पुस्तक 'समाजके स्तम्भ'में लिखा है—'वर्णाश्रम... भारतीय विश्वास तथा परम्पराओंको जीवन्त रखा है। पश्चिममें आदर्शोंके स्थानपर धन-दौलतको आदर्श माना गया है, जो बालूकी दीवारकी तरह अस्थिर है।'

पर हमारे यहाँ आचार्योंका समाजमें ही नहीं, अपितु राष्ट्रभरमें आचारसे ही आदर होता था। वे अपने क्षेत्रमें उदाहरणीय व्यक्ति समझे जाते थे। ईसासे ... सौ वर्ष पूर्व भगवान् यास्कने अपने ग्रन्थ निरुक्त आचार्यका निर्वचन करते हुए लिखा था—आचार्य कस्मात्? आचिनोत्यर्थान्, आचिनोति ... (१।४)—

बौधायन-सूत्रोंमें सदाचार-निरूपण

(लेखक—श्रीमुरारराय गणेशजी भट्ट)

धायन गृह्य-परिभाषा-सूत्रमें 'नाक्रियो ब्राह्मणः'—
। १ । २४-२६)से संध्यादिकर्म न करनेवालेको
ा' नहीं माना गया। इसी प्रकार 'नासंस्कारो
से गर्भाधानादि संस्कारोंसे रहित व्यक्ति 'द्विज'
ो सकता, ऐसा भी कहा गया है। आगे फिर जन्म-
ं और वेदादिके अध्ययनके बिना उसे श्रोत्रिय भी
ाना गया है—'नैतैर्हीनः श्रोत्रियः' और जिस यज्ञमें
। न हो, वह यज्ञ भी समीचीन नहीं माना गया—
त्रियस्य यज्ञः।'–जिसमें 'श्रोत्रिय' ऋत्विज न हों
ह 'यज्ञ' नहीं हो सकता। तथापि सदाचारको प्रमाण
गया है—'आचारः प्रमाणम्। तस्माद् यः कश्चन
ान् सतामनुमताचारः, स श्रोत्रिय एव
ः।' (बौधायनगृह्य०) अतएव जो संध्यादि-कर्मोंमें
हैं, जिनका आचार सत्पुरुषोंको मान्य है, अर्थात्
सदाचारी हैं, उनको भी 'श्रोत्रिय' मानना
े। तात्पर्य यह है कि सदाचारसम्पन्न पुरुष स्वल्प
यनके द्वारा भी श्रोत्रिय बनकर यज्ञानुष्ठानका
ारी बन सकता है। 'बौधायनगृह्यसूत्र'
। ७ । ३)के 'एकां शाखामधीत्य श्रोत्रियः'
नके अनुसार जिसने वेदकी एक शाखाका भी
न किया है, वह भी श्रोत्रिय है।

बौधायनश्रौत-सूत्र' (२ । ३ । १)के अनुसार
आर्त्विज्य करनेवालेके लिये मातृवंशसे और पितृवंशसे
द्ध होना आवश्यक है। जनसमुदायका भी इनके
पर अनुमोदन होना चाहिये। इन्हें सदाचार-सम्पन्न
ना चाहिये। आचारहीन पुरुषोंको आर्त्विज्य करनेका
ार नहीं। प्रत्येक यज्ञमें यजमानको …
पड़ता है। इस …
। है …

हैं कि 'सत्यमेव वद, मानृतम्'—सत्य ही बोलो
झूठ नहीं—यहाँ एवकारका उपयोग करके सत्यको
ज्यादा प्राधान्य दिया गया है। बौधायनीय गृह्य-
परिभाषा (१ । ६ । ११-२०) सूत्रोंमें विशेष
आचार्य बौधायनने यज्ञ-संस्थाको एक विशाल वृक्षके रूपसे
वर्णन किया है। सुक्षेत्रमें रोपित वृक्ष आगे विशालरूप
बनकर देव-दानव-गन्धर्व-ऋषिगण-पितृगण-पक्षि-मशक-
पिपीलिकादि सभी वर्गोंको उपयुक्त हो जाता है।
'हुत' ही इसका क्षेत्र है, 'प्रहुत' इसकी जड़ और
'आहुत' इसका प्रतिष्ठान है। इस विशाल महोन्नत
यज्ञवृक्षमें सुपुष्प सुफलोंसे समृद्ध असंख्य शाखाराशि हैं।
जो उपासक मन्त्र-ब्राह्मणोंमें गर्भित तत्त्वोंको जानते हैं, उसे
वे ही देख सकते हैं। यज्ञ-वृक्षको जाननेवाला 'श्रोत्रिय'
कहलाता है। गृहस्थाश्रमको स्वीकार करके इस यज्ञ-
वृक्षकी सेवा करनी चाहिये।

वेदोक्त यज्ञवृक्षको जब बुद्धिमान् पुरुष पारमार्थिक
दृष्टिसे देखता है, तब ज्ञान ही इसकी आधारभूमि, सदाचार-
मूल-जड़, श्रद्धा इसका प्राण, क्षमा, अहिंसा, दम—ये
इसकी शाखाएँ, सत्य पुष्प और ज्ञानामृत इसका फल
फलित होना है। जिसका चित्त कामसे कुण्ठित नहीं,
जिसने अहंकार और लोभ परित्याग कर दिये हैं, वह
निश्चय और तत्परता (अध्यवसाय) नामक आँखोंसे
इस आत्मवृक्षको देख सकता है। इस वृक्षको मोहके
वशीभूत होकर, वज्रसदृश क्रोधरूपी कुल्हाड़ीसे कभी
छेदन नहीं करना चाहिये—

मन्त्रब्राह्मणतत्त्वज्ञैः सुदृष्टा सा उपासकैः।
एवं हि यज्ञवृक्षस्य योऽभिज्ञः श्रोत्रियः स्मृतः॥
(बौधा० श्रौत०)

… श्रोत्रिय होकर पहले यज्ञवृक्षकी सेवा
…न करना चाहिये। बादमें पारमार्थिक
…, दम, सत्य आदि

साधुओंके साथ सदाचारको जीवनमें प्रकाशित करना चाहिये। यहाँ सदाचारको पैंसठी अङ्ग माना गया है। 'बौधायनधर्मसूत्र' (४ । ७ । १) में सदाचारी ब्राह्मणकी प्रशंसा करते हुए कहा गया है—

निवृत्तः पापकर्मेभ्यः प्रवृत्तः पुण्यकर्मसु।
यो विप्रस्तस्य सिध्यन्ति विना मन्त्रैरपि क्रियाः॥

'जो ब्राह्मण पापकर्मोंसे सर्वथा निवृत्त और पुण्य-कर्मोंमें ही प्रवृत्त रहता है, उस सदाचारी पुरुषके सारे कार्य बिना मन्त्रके भी सिद्ध हो जाते हैं।' 'बौधायनश्रौतसूत्र' (२ । २०) में सदाचारका निरूपण इस प्रकार किया गया है—झूठ कभी नहीं बोलना चाहिये, मृन्मयपात्रसे पानी, दूध आदि न पीना, शूद्रका उच्छिष्ट न लेना और उसको उच्छिष्ट न देना, मांस न खाना, अपने पादोंका प्रक्षालन स्वयं करना, भोजनमें तिलके बिना, मुद्ग-माष-कलकादि निषिद्ध धान्योंका उपयोग न करना। ये सब आचार 'अन्या-धानमें' विहित हैं। प्रत्येक कर्ममें इनका अनुसरण अनिवार्य है। बौधायन धर्मसूत्र (१ । ६ । ८७-८८) में बतलाया गया है कि कौन सदाचारी है और कौन दुराचारी। इसका निर्णय आयुष्यके उत्तरार्धमें किये हुए कर्मोंसे ही लेना चाहिये।

इसके अनुसार अग्निष्टोमादि श्रौत-यज्ञोंका अनुष्ठान करते समय यजमानको दीक्षाका ग्रहण करना पड़ता है और कुछ प्रवर्ग्य आदि काण्डोंके मन्त्रोंके अध्ययन करते समय अवान्तरदीक्षाका अनुसरण करना पड़ता है। ये दोनों उद्बोधक हैं। (बौ० श्रौ० सू० ६ । ६) दीक्षामें—सदा सत्य ही बोलना, झूठ मत बोलना, हँसी न उड़ाना, कंडूय न करना, के रहना, सूर्योदयके और सूर्यास्तके समय अपने अग्निको छोड़कर कभी मत जाना, यदि हँसी आयेगी तो मुँहपर हाथ रखना, मगर कण्डूयनका प्रसंग आया तो हरिणके सींगसे कंडूयन करना, मौनके भंगमें भगवान् विष्णुके मन्त्रका जप करना, जिसका नाम राम, नारायण आदि देवतावाचक है, उसके साथ ही सम्भाषण करना, जिसका नाम देवतावाचक नहीं, उससे बातचीत करनेके पहले 'चनसित' शब्दके उच्चारण और बातचीत समाप्त होनेपर 'विचक्षण' शब्दका उच्चारण करना, कृष्णाजिन और दण्डको न छोड़ना—ये सब दीक्षामें विहित विशिष्ट आचार माना गया है। अवान्तर-दीक्षामें (बौ० श्रौ० सू० ९ । १९) वाहनोंपर न चढ़ना, पेड़ोंपर न चढ़ना, कुएँमें न उतरना, छाता और जूतोंको धारण न करना, चारपाईपर न सोना, शूद्र और अन्त्यजके साथ बातचीत न करना, बातचीत करनेका प्रसङ्ग आये तो ब्राह्मणको सामने रखकर करना, शामको न खाना, यदि खानेका प्रसङ्ग ही आये तो आगसे घेर करके खाना, मौन रहना, मल, खून, शव आदिको न देखना। यदि इनका दर्शन हो गया तो अग्निकी ज्वालाको देखना इत्यादि—ये सब विशिष्ट आचार अवान्तरदीक्षा'कल्प'में विहित हैं।

दैनिक सदाचार

मातापितरमुत्थाय पूर्वमेवाभिवादयेत्॥
आचार्यमथवाप्यन्यं तथायुर्विन्दते महत्।
(अनुशा० १०४ । ४३-४४)

"प्रातःकाल सोकर उठनेके बाद प्रतिदिन माता-पिताको प्रणाम करे, फिर आचार्य तथा अन्य गुरुजनों (अपनेसे सभी बड़े जनों) का अभिवादन करे—इससे दीर्घायु प्राप्त होती है।" —महात्मा भीष्म

आयुर्वेदीय सदाचार

(ले०—डॉ० श्रीरविदत्तजी त्रिपाठी, बी० ए०, एम्० एस्० एस्०, डी० ए० वाई० एम्०, पी-एच्० डी०)

आयुर्वेद दीर्घजीवनके लिये दो लक्षणोंको अपने
ने रखता है । ये हैं—स्वास्थ्य-संरक्षण और
-प्रशमन,—'स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य
ारप्रशमनं च ।' (च० सू० १) आयुर्वेद
य पुरुषके स्वास्थ्य-संरक्षणपर विशेष बल देता
। इसकी मान्यता है कि यदि पुरुष स्वस्थ है तो
ाह्य बाह्य और आभ्यन्तर-हेतु इसमें सहसा विकार
न्न नहीं कर सकते । आयुर्वेद क्षेत्र (शरीर)को
ानता देता है; क्योंकि यदि क्षेत्र अनुकूल नहीं
ा तो बीज पड़नेपर भी सूख जायँगे । यही कारण
कि आयुर्वेदमें वैयक्तिक स्वास्थ्यपर विशेष जोर दिया
। है । इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये दिनचर्या,
ुचर्या एवं सद्वृत्त (सदाचार)के नियमोंके
देश आयुर्वेद-साहित्यमें पदे-पदे मिलते हैं । सभी
णियोंकी सब प्रवृत्तियाँ सुखके लिये होती हैं । सुखकी
ति धर्मके बिना नहीं होती, अतः सबको धर्म करना
ाहिये । (अष्टाङ्गहृदय सू० २)

शास्त्रोंमें 'आचारः प्रथमो धर्मः' से सदाचारको प्रथम
गीका धर्म कहा गया है । अत. मानवमात्रको सदाचारका
ालन करना चाहिये । आचार्य चरकने सद्वृत्तके दो
ाभ बताये हैं—(१) आरोग्य, (२) इन्द्रिय-विजय—
तद्ध्यनुतिष्ठन् युगपत्सम्पादयत्यथामारोग्य-
मिन्द्रियविजयं चेति ।' (च० सू० ८)

आयुर्वेदमें सद्वृत्तका उपदेश दो रूपोंमें किया गया
:—हिताभिलाषी मनुष्यके लिये क्या विधेय और
या निषेधनीय है । विधि-निषेधके द्वारा सद्वृत्तका
पदेश है । इसके अतिरिक्त कुछ क्रियाएँ बतायी
यी हैं, जिनमें तत्पर रहना सद्वृत्त कहा गया
। इसके अनुसार देवता, गाय, विप्र, आचार्य (गुरु)
थवनेसे श्रेष्ठ, सिद्ध पुरुषकी पूजा, अग्निकी उपासना,
श्रेष्ठ ओषधियोंका धारण, प्रातः-सायं स्नान एवं पूजन,
मलमार्गों तथा पैरोंकी सफाई; पक्षमें तीन बार केश, दाढ़ी,
रोम और नखोंको कटवाना; प्रतिदिन स्वच्छ वस्त्रोंको धारण
करना, सदा प्रसन्न रहना और सुगन्धित द्रव्योंको धारण
करना, अपनी वेष-भूषा सुन्दर रखना, केशोंको ठीक
रखना, सिर, कर्ण, नाक, पैरमें नित्य तेल लगाना
चाहिये । यदि अपने पास कोई आये तो उससे पहले ही
बोलना चाहिये । प्रसन्न-मुख रहना, दूसरेपर आपत्ति
आनेपर दया करना, हवन एवं यज्ञ करना, सामर्थ्यके
अनुसार दान देना, चौराहोंको नमस्कार करना, बलि-
वैश्वदेव करना, अतिथिकी पूजा करना, पितरोंको पिण्ड
देना, समयपर कम और मधुर वचनोंको बोलना तथा
जितेन्द्रिय एवं धर्मात्मा होना चाहिये । दूसरोंकी उन्नतिके
हेतुमें ईर्ष्या करनी चाहिये, किंतु उसके फलमें ईर्ष्या
नहीं करनी चाहिये । निश्चिन्त, निर्भीक, लज्जायुक्त,
बुद्धिमान्, उत्साही, चतुर, क्षमावान्, धार्मिक, आस्तिक
होना चाहिये तथा नर्म-बुद्धि, विद्या, कुल और अवस्थामें
वृद्ध व्यक्ति, सिद्ध एवं आचार्यकी सेवा करनेवाला होना
चाहिये । छत्र और दण्ड धारण कर, सिरपर पगड़ी
बाँधकर, जूता पहनकर चार हाथ आगे देखते हुए रास्तेमें
चलना चाहिये । व्यक्तिको माङ्गलिक कार्योंमें तत्पर, गंदे
कपड़े, हड्डी, काँटा, अपवित्र केश, तुष, कूड़ा-करकट,
भस्म, कपाल तथा स्नान करने योग्य और बलि चढ़ाने
योग्य स्थानोंका परित्याग कर देना चाहिये । आरोग्यकामी
एवं कल्याणेच्छुको सभी प्राणियोंके साथ भाईके समान
व्यवहार करना, क्रोधी मनुष्योंको विनयद्वारा प्रसन्न करना,
भयसे युक्त व्यक्तियोंको आश्वासन देना तथा दीन-दुःखी
व्यक्तियोंका उपकार करना चाहिये एवं सत्य-प्रतिज्ञ,
शान्ति-प्रधान, दूसरोंके कठोर वचनोंको सहनेवाला,
अमर्षनाशक, शान्तिके गुणका द्रष्टा, राग-द्वेष उत्पन्न

आयुर्वेदमें सद्वृत्त या सदाचार

(लेखक—डॉ० श्रीशिवशंकरजी अवस्थी शास्त्री, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः।
सुखं च न विना धर्मं तस्माद् धर्मपरो भवेत् ॥
(अष्टाङ्गहृदय, सूत्रस्थान)

शरीर प्राणियोंकी समग्र प्रवृत्तियाँ सुखकी दृष्टिमें कर होती हैं और बिना धर्मके सुख कहाँ ? अत येक व्यक्तिको धर्मपरायण होना चाहिये। आयुर्वेदके अनुसार आरोग्य ही सुख है और विकार दुःख चरक)। प्रवृत्ति या चेष्टा ही कर्म है। यह तीन कारसे होता है—मन, वाणी और शरीरद्वारा चरकसंहिता सूत्रस्थान)। कर्मके सत्कर्म और दुष्कर्म— दो प्रकारके होते हैं। सत्कर्म ही सद्वृत्त, र्म या सदाचार है। सदाचारी पुरुष आयु, आरोग्य, र्थ, यश एवं शाश्वत लोकोंको उपलब्ध करता है अष्टाङ्गहृ० सूत्रस्था० अ० २। ५६)। महर्षि त्रेयने भी कहा है—'तस्मादात्महितं चिकीर्षता र्वेण सर्वं सर्वदा स्मृतिमास्थाय सद्वृत्तमनुष्ठेयम्' च० सं० सूत्रस्थान।) आत्महितकी कामनावाले मस्त व्यक्तियोंको चाहिये कि सर्वदा सावधानीके थ सद्वृत्तका अनुष्ठान करें—'सतां वृत्तमनुष्ठानं द्वाङ्मनःप्रवृत्तिरूपं सद्वृत्तम्' (चक्रपाणिदत्त।) शरीर, वाणी और मनके द्वारा सज्जन जो आचरण रते हैं वह सद्वृत्त है।' स्वस्थ मनुष्यको चाहिये कि वनकी रक्षाके लिये ब्राह्ममुहूर्तमें उठे और सम्पूर्ण पोंकी शान्तिके लिये मधुसूदनका स्मरण करे।

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत स्वस्थो रक्षार्थमायुषः।
तत्र सर्वाघशान्त्यर्थं स्मरेच्च मधुसूदनम् ॥
(सुश्रुत)

'राजनिघण्टु'के अनुसार दो घड़ियोंका एक मुहूर्त होता है। रात्रिका चौदहवाँ मुहूर्त ब्राह्ममुहूर्त कहलाता है। शास्त्रोंमें मुहूर्तोंका निर्देश इस प्रकार हुआ है—(१) शंकर, (२) अजैकपाद, (३) अहिर्बुध्न्य, (४) मैत्रक, (५) आश्विन, (६) याम्य, (७) वाह्नेय, (८) वैधात्र, (९) चान्द्र, (१०) आदितेय, (११) जैव, (१२) वैष्णव, (१३) सौर, (१४) ब्राह्म और (१५) नाभस्वत्। ब्रह्मा देवताका मुहूर्त ब्राह्ममुहूर्त है। अरुणदत्तने 'अष्टाङ्गहृदय'की सर्वाङ्ग-सुन्दरी टीकामें लिखा है—'ब्रह्मज्ञानं तदर्थमध्ययनाद्यपि ब्रह्म तस्य योग्यो मुहूर्तो ब्राह्मः पश्चिमयामस्य नाडिका द्वयम्'—'ज्ञानको ब्रह्म कहते हैं, और उसके लिये अध्ययनादि भी ब्रह्म कहलाता है। अध्ययनोचित काल ही ब्राह्ममुहूर्त है। रात्रिके अन्तिम यामका नाडीद्वयपरिमित काल ब्राह्ममुहूर्त समझना चाहिये।' ऋतुके अनुसार, सुखदायक तैलोंसे नित्य अभ्यङ्ग* (मालिश) करना चाहिये। इससे जरा, श्रम और वायुका नाश होता है और दृष्टिकी निर्मलता, पुष्टि, आयु, निद्रा, सुन्दर त्वचा तथा दृढ़ता उत्पन्न होती है। यदि पूरे शरीरमें न हो सके तो सिर, कान और पैरोंमें तेलका विशेष रूपसे प्रयोग करना चाहिये। इसके कुछ अपवाद भी हैं—जैसे

---

* अभ्यङ्गमाचरेन्नित्यं स जराश्रमवातहा। दृष्टिप्रसादपुष्ट्यायुःस्वप्नसुत्वक्त्वदार्ढ्यकृत् ॥ ९ ॥
... ... शिरःश्रवणपादेषु तं विशेषेण शीलयेत् ॥ १० ॥
... ... वर्ज्योऽभ्यङ्गः कफग्रस्तकृतसंशुद्ध्यजीर्णिभिः ॥ ११ ॥
लाघवं कर्मसामर्थ्यं दीप्तोऽग्निर्मेदसः क्षयः। विभक्तघनगात्रत्वं व्यायामादुपजायते ॥ १२ ॥
दीपनं वृष्यमायुष्यं स्नानमूर्जाबलप्रदम्। कण्डूमलश्रमस्वेदतन्द्रातृड्दाहपाप्मजित् ॥ २० ॥
(अष्टाङ्गहृदय, सूत्रस्थान, अ० २)

करनेवाले कारणोंका परित्यागी बनना चाहिये । आचार्य वाग्भटने भी कहा है—

अर्चयेद् देवगोविप्रवृद्धवैद्यनृपातिथीन् ।

× × ×

पूर्वाभिभाषी सुमुखः सुशीलः करुणामृदुः ॥

(अ० हृ० सू० २)

अष्टाङ्गहृदयके अनुसार हिंसा, स्तेय (चोरी), अन्यथा-काम (परस्त्रीगमन), पैशुन्य (चुगली), परुष वाक्य (कठोर वचन), अनृत (असत्य), सम्भिन्नालाप (असम्बद्ध वाणी), व्यापद (किसीको मार डालनेका विचार), अभिध्या (दूसरेके धनादिको बलात् लेनेका विचार), दृग्विपर्यय (आप्त वाक्योंका उल्टा अर्थ करना आदि) का परित्याग करना चाहिये । एकान्ततः निश्चिन्त या सर्वत्र-शङ्की नहीं होना चाहिये तथा सब जगह विश्वास भी नहीं करना चाहिये । किसीको अपना शत्रु और अपनेको भी किसीका शत्रु घोषित नहीं करना चाहिये । अपने अपमान तथा प्रभु (स्वामी) की स्नेहहीनताको दूसरोंके समक्ष प्रकट भी नहीं करना चाहिये । चक्षु, कर्ण आदि इन्द्रियोंको रूप एवं शब्द आदि विषयोंसे वञ्चित एवं अत्यन्त लोलुप, मद्यका विक्रय, संधान (निर्माण), उसका आदान-प्रदान, पूर्व दिशाकी वायु, सामनेकी वायु, धूप-धूम, तुषार एवं झोंकेकी वायुका परित्याग ...

न ... शत्रुं मन्यते ...
... न निर्...
न ...न्द्रियाणि न ...
मद्यविक्रयसंधानदानादानादिना
...

(अ०

'ब्रह्मचर्यज्ञानदानमैत्रीकारुण्यहर्षोपेक्षा ... स्यादिति ।' (

ब्रह्मचर्य, ज्ञान, दान, मित्रता, दया, ... और शान्ति—इन क्रियाओंमें तत्पर रहना चाहिये ... दृष्टिसे मैत्री, सभी प्राणियोंमें दया, रोगी ... रोगरहित व्यक्तियोंमें तथा उपेक्षा ... विषयमें करनी चाहिये—

मैत्री कारुण्यमार्तेषु शक्ये ...
प्रकृतिस्थेषु भूतेषु ...

(च०

मानव-शरीरके स्वास्थ्य-संरक्षणके लिये सदाचार नितान्त आवश्यक है । इस वैज्ञानिक ... मनुष्यको विज्ञानसे जितना लाभ है, उससे ... हानि है । विश्वके सर्वाधिक सम्पन्न देश अमेरिका ... धनकी प्रचुरता है, इच्छामात्र होनेसे सभी ... उपलब्ध हैं, वहाँपर आत्महत्या, गर्भपात (भ्रूण ...

...त आवश्यक कार्य आ पड़े तो किसी सहायकके हाथमें दण्ड लेकर पगड़ी बाँधे हुए ही निकले। ...ओंके बल नदी पार न करे, महान् अग्निराशिके ...ने न जाय, संदिग्ध नौका और वृक्षपर न चढ़े। ...यानके सदृश इनका त्याग कर देना चाहिये। ...ादिसे बिना मुख ढके छींकना, हँसना और जँभाई ...ा ठीक नहीं।

बुद्धिमान् पुरुषके लिये विशिष्ट लोक ही आचारका ...देश है। अतः लौकिक कार्योंमें परीक्षकको उसीका ...करण करना चाहिये—

...ाचार्यः सर्वचेष्टासु लोक एव हि धीमतः।
...नुकुर्यात्तमेवातो लौकिके यः परीक्षकः॥
(अष्टाङ्गहृदय, सू०)

सम्पूर्ण भूतोंमें दया, दान, शरीर, वाणी और ...का दमन तथा दूसरे व्यक्तियोंके कार्योंमें स्वार्थबुद्धि, ...ये सज्जनोंका सम्पूर्ण धर्म या व्रत है। महर्षि आत्रेयने भी अग्निवेशसे कहा है—

'मनुष्यको चाहिये कि वह देव, गौ, ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध, सिद्ध और आचार्यका पूजन करे। अग्निकी परिचर्या, प्रशस्त ओषधियोंका धारण, दोनों कालोंमें स्नान और संध्यावन्दन, आँख, नाक, कान और पैरोंकी निर्मलता आवश्यक है। पक्षमें तीन बार केश—दाढ़ी-मूँछ, लोम और नखोंको कटाना चाहिये। सदैव शुद्ध वस्त्र धारणकर, प्रसन्न-चित्त, सुगन्धित, सुन्दर वेशसे सम्पन्न एवं केशोंको संयत रक्खे। सिर, कान, नाक तथा पैरमें नित्य तेल लगाये। पूर्वाभिभाषी सुमुख तथा दुर्गतिमें पड़े हुए लोगोंका रक्षक बने। नित्य हवन करे और समय-समयपर बड़े यज्ञ करे। दान, चतुष्पथको नमस्कार, बलि-उपहरण, अतिथि-पूजा, पितरोंको पिण्डदान, यथावसर हित करनेवाले, थोड़े और मधुर वचन बोलना परमावश्यक कर्तव्य है। मनको वशमें रक्खे। धर्मात्मा, हेतुमें ईर्ष्या करनेवाला हो, फलमें नहीं; निर्भीक, लज्जालु बुद्धिमान्, उत्साही, दानशील, धार्मिक और आस्तिक बने। विनय, बुद्धि, विद्या और श्रेष्ठ कुलवालोंका सदा सङ्ग करे।

'छाता, डंडा, पगड़ी और उपानह धारण करके चार हाथ आगे देखता हुआ चले। कुत्सित वस्त्र, हड्डी, काँटा, अपवित्र वस्तु, केश, भूसी, कूड़ा, भस्म, कपाल, स्नान और बलि-भूमिको बचाकर जाय। समस्त प्राणियोंको बन्धु समझे। जो क्रोधमें भरे हों, उनके क्रोधको प्रेमसे दूर करे। डरे हुए लोगोंको आश्वासन दे और दीनोंकी रक्षा करे। सत्यवादी तथा शम-प्रधान बने। दूसरेके कठोर वचनोंको सह ले। अमर्ष-अक्षमाको दूर करे। सदैव शान्ति-गुणका दर्शन करे। राग और द्वेषके मूल कारणोंको नष्ट करनेमें लगा रहे *।'

संक्षेपमें यहाँ आयुर्वेदोक्त सदाचारका निरूपण किया गया है। सुश्रुत एवं चरक-संहितामें विस्तारसे समाजके आरोग्यजनक आचारोंका उपदेश उपलब्ध होता है। आजका हमारा समाज 'अर्थ'के प्रति अधिक जागरूक है। जिस किसी प्रकारके कुत्सित साधनोंसे अर्थ-संग्रह करना आजके समाजका लक्ष्य बन गया है। हमारे मनमें, वाणीमें, कर्ममें जो एक व्यापक असंतुलन दिखायी दे रहा है, उसका कारण यही है कि हम सदाचारसे विमुख हो रहे हैं। यदि समाजको स्वस्थ रखना है तो हमें सदाचारका आश्रय लेना ही होगा।

* न पीडयेदिन्द्रियाणि न चैतान्यतिलालयेत्। त्रिवर्गशून्यं नारम्भं भजेत् तं चाविरोधयन्॥ अनुयायात् प्रतिपदं सर्वधर्मेषु मध्यमाम्। नीचरोमनखश्मश्रुर्निर्मलाङ्घ्रिमलायनः। स्नानशीलः सुसुरभिः सुवेषोऽनुल्बणोज्ज्वलः। धारयेत् सततं रत्नसिद्धमन्त्रमहौषधीः॥ सातपत्रपदत्राणो विचरेद् युगमात्रदृक्। ... नदीं तरेन्न बाहुभ्यां नाग्निस्कन्धमभिव्रजेत्। संदिग्धनावं वृक्षं च नारोहेद् दुष्टयानवत्। नासंवृतमुखः कुर्यात् क्षुतिहास्यविजृम्भणम्॥२१-३५॥ (अष्टाङ्गहृदय, सू० अध्याय २।)

र होती है और उनका अप्रतिम यश संवर्धित होता 'ऐतरेयब्राह्मण'में मनुके पुत्र 'नाभानेदिष्ट'की कथा ी है । नाभानेदिष्टने सत्य बोलकर बहुमूल्य गोधन पाया । उसी अवसरपर आदेश दिया गया -विद्वान्को सदा सत्य ही बोलना चाहिये ।

सत्यके द्वारा पापको दूर करनेका विधान बना था । मनुष्यसे कोई पाप हो ही गया तो उसके प्रभावको करनेके लिये उस पापको सबके समक्ष स्वीकार कर पर्याप्त था । तत्कालीन धारणाके अनुसार पाप के सम्पर्कमें आनेपर सत्य बन जाता है । यज्ञके रपर स्वीकार न किया हुआ पाप यजमानके न्धियोंको भी कष्टमें डालता है। उस युगमें सत्यको सर्वोच्च आराधनाके रूपमें प्रतिष्ठा मिली । रदोंसे ज्ञात होता है कि ऋषियोंके दार्शनिक जीवनकी सदाचारके आधारपर ही खड़ी हुई थी । इसके चित्तकी एकाग्रतारूप योग और शान्तिकी यकता थी । इनकी प्राप्तिके लिये ऋषियोंने केवल ही लिये नहीं, अपितु सारे समाजके लिये नैष्ठिकी आचार-पद्धतिकी व्यवस्था कर दी है।

ब्राह्मी स्थिति—उपनिषदोंके अनुसार ब्रह्मतक निके लिये सभी प्रकारके पापोंसे छुटकारा पाना यक है। ब्रह्म सभी प्रकारके पापोंसे मुक्त है। ज्यों ही की सत्ता ब्रह्मय हो जाती है, वह भी ब्रह्मकी भाँति हो जाता है। जब मानव अपने अभ्युदयकी प्रतिष्ठा रिक विभूतियोंसे परे ब्रह्मकी एकतामें करता है तो वह सांसारिक पापोंसे निर्लिप्त हो जाता है। मुण्डक उपनिषद्‌में ऐसे ब्रह्मनिष्ठके सम्बन्धमें कहा गया है—

तरति शोकं तरति पाप्मानं
गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ।

'वह शोकको पार कर जाता है, पापको पार कर जाता है। गुहा-ग्रन्थिसे विमुक्त होकर वह अमर हो जाता है'।' इसी उपनिषद्‌में मानवके व्यक्तित्वके विकासके सम्बन्धमें कहा गया है—'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वः' (३।१।८) अर्थात् ज्ञानके प्रसादसे मानवका सत्त्व विशुद्ध हो जाता है। आत्मज्ञानके लिये आचारकी आवश्यकताका निरूपण करते हुए इस उपनिषद्‌में कहा गया है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥
(३।१।५)

'आत्मा सत्य, तप, सम्यग्ज्ञान और ब्रह्मचर्यसे लभ्य है। मानवशरीरके भीतर ज्योतिर्मय शुभ्र आत्मा है। उस आत्माको दोषहीन मुनि ही देख पाते हैं।' मानव तभीतक बुरी प्रवृत्तियोंके चंगुलमें फँसा रहता है, जबतक उसे ज्ञान नहीं रहता। ज्यों ही वह जान लेता है कि सारा जगत् ब्रह्मय है, उसकी पापमयी प्रवृत्तियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं। ईशोपनिषद् (६-७)में यह कहनेके पहले कि किसीके धनके लिये लोभ मत करो, बताया गया है कि इस जगत्‌में सब कुछ ईशसे व्याप्त है। जो पुरुष अपनेको सबमें और अपनेमें सबको देखता है, वह क्योंकर किसी दूसरे प्राणीसे घृणा कर सकता है अथवा किसीकी हानि कर सकता है। यही एकत्व उस युगकी आचार-पद्धतिका दृढ़ आधार है। मुण्डकोपनिषद् (२।२।९)में ब्रह्मके सम्बन्धमें कहा गया है कि वह शुभ्र है, शुद्ध है और पापोंसे रहित है। ब्रह्मके अनुरूप मानव अपने व्यक्तित्वके विकासकी योजना बनाता आ रहा है। बृहदारण्यक-उपनिषद् (१।४।१४)में सत्यको धर्मका स्वरूप माना गया है और उसे सर्वश्रेष्ठ प्रतिष्ठा दी गयी है। सत्यके बलपर दुर्बल भी बलवान्‌को पराजित कर सकता है, अर्थात् धर्म या सत्य ही दुर्बलका सबसे बड़ा बल है'।

८-शतपथ० २।५।२।२०, ९-शतपथ० २।२।२।२०। १०-बृहदारण्यक० १।३।२८।

प्राचीन भारतमें सत्य, परोपकार एवं सदाचारकी महिमा

(लेखक—प्रो० पं० श्रीरामजी उपाध्याय, एम्० ए०, डी० लिट्०)

नेशत् तमो दुधितं रोचत द्यौ-
रुद् देव्या उषसो भानुरर्त ।
आ सूर्यो बृहतस्तिष्ठदज्राँ
ऋजु मर्तेषु वृजिना च पश्यन् ॥
(ऋग्वेदसं० ४ । १ । १७)

मानव-संस्कृतिके विन्यासमें सदाचार और सच्चरित्रताका प्रारम्भिक युगसे ही महत्त्व रहा है । इसके बिना सुस्थिर सामाजिक जीवन असम्भव होता और व्यक्तिगत सुख और शान्तिकी कल्पना भी न होती । भारतमें आचार तथा चरित्रकी प्रतिष्ठाका प्रधान आधार प्रकृतिकी उदारता और सहायकता रही है । प्रकृतिकी समृद्धिने मानवको शरीरतः केवल सुखी ही नहीं बनाया, वरं अपनी उदारताके अनुरूप मानवके हृदयको भी उदार बना दिया । परिणामतः मानव स्वार्थ और संकीर्णतासे ऊपर उठा और उसमें उदात्त भावनाओंका स्फुरण हुआ ।

वैदिक आचार-पद्धतिमें ऋत या सत्यकी सर्वोच्च प्रतिष्ठा है । वेदोंके अनुसार ऋत और ... लोगोंकी

हुए और सत्यसे ही आकाश, पृथ्वी, वायु आदि स्थिर हैं । सत्यके समक्ष असत्यकी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती ।[१] अथर्ववेदके अनुसार असत्यवादी ... पाशमें पकड़ा जाता है । उसका उदर ...

अथर्ववेदमें पापको मूर्त रूप मानकर ... अपने हृदयकी आन्तरिक वेदनाको व्यक्त करते ... कहा है—'हे मनके पाप ! तू दूर चला जा; ... ऐसी बातें कहता है, जो सुननेके योग्य नहीं ... 'शतपथब्राह्मण'में सत्यको सर्वोच्च गुण बतलाया गया है । इसके अनुसार असत्य बोलनेवाला व्यक्ति अपवित्र ... जाता है । उसे किसी यज्ञ आदि पवित्र कर्मोंके ... अधिकार नहीं रह जाते ।[४] इस ग्रन्थमें सत्यके ... मानवको तेजस्विताकी प्राप्ति तथा नित्य अभ्युदयकी सिद्धिका प्रतिपादन किया गया है । जो व्यक्ति ... बोलता है, उसका प्रकाश नित्य बढ़ता है; ... प्रतिदिन अच्छा होता जाता है । इसके विपरीत बोलनेवालेका प्रकाश क्षीण होता जाता है । ... प्रतिदिन ...

थ सत्य, सत्यके साथ सदाचार, और बलके साथ लक्ष्मीका निवास र सदाचारसे बल और ऐश्वर्यकी ो जा सकती है।

नेकी कामना करनेवालोंको आदेश उद्योगी बनो, वृद्धोंकी उपासना लो और नित्य उठकर वृद्धोंसे नमें ऐसा काम करो कि रातमें में आठ मास ऐसे काम करो, जिससे सुसे बीतें। युवावस्थामें ऐसा काम ग आनन्दसे बीते और जीवनभर ऐसा नेके पश्चात् सुख हो[23]।' मानवका भाँति होना चाहिये। सबका एकमात्र कर्तव्य है। स्वर्गमें उसी तिष्ठा होती है, जो सबको स्नेह-भी प्राणियोंके दुःखका निवारण साथ प्रेमपूर्वक सम्भाषण करके और दुःखमें दुःखी होता है।

कृष्णके चरित्रमें आदर्श आचारकी गयी है। कृष्णने कहा है—'मैं के लिये, पापियोंका विनाश करनेके स्थापना करनेके लिये प्रत्येक युगमें ' उपर्युक्त विचारधारा सच्चरित्रताके चेत वातावरणकी सृष्टि करती रही र कृष्णने बतलाया है कि अपनी बुद्धिपर अधिकार रखनेवाले क्रोधसे म कल्याण पा सकते हैं।[23] ऐसा करता है, वह निष्काम कर्म है। —'लोकहितके लिये होना। यह एक प्रकारका यज्ञ है।[24] इसे वही कर सकता है, जो किसीसे राग-द्वेष आदि नहीं करता।[25] निष्काम व्यक्तिके दृष्टिकोणके सम्बन्धमें कहा गया है—वह विद्या और विनयसे सम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल-के सम्बन्धमें समदर्शी होता है। उसके लिये शत्रु-मित्र, साधु-पापी आदिके विषयमें समान-दृष्टि ही सर्वश्रेष्ठ है।[26]

मानवीय व्यक्तित्वके सर्वश्रेष्ठ विकासकी योजना लोक-हितकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। भगवान् श्रीकृष्णके बताये हुए आचार-पथको अपनानेवाला यदि एक भी व्यक्ति किसी समाजमें हो तो उस समाजमें शान्तिका साम्राज्य होगा। कृष्णने ऐसे मनस्वीकी परिभाषा इस प्रकार दी है—किसीसे द्वेष न करनेवाला, सबसे मित्रता रखने-वाला, करुण, ममत्व और अहङ्कारसे रहित, सुख-दुःखमें समान, क्षमावान्, संतुष्ट, सदैव योगी, संयमी, दृढ़ निश्चयवाला, मुझमें ही मन और बुद्धिको अर्पित कर देनेवाला मेरा भक्त मुझे प्रिय है।[27]

महाभारतमें आचारको ग्रहणीय बनानेके लिये उसकी *पारलौकिक उपयोगिता ही नहीं बतायी गयी,* अपितु इस लोकमें भी सदाचारसे अभ्युदयकी सम्भावना और अनाचारसे विपत्तियोंके समागमका चित्र खींचा गया है। इसके अनुसार 'यदि राजा शरणागतकी रक्षा नहीं करता है तो उसके राज्यमें समयपर जल नहीं बरसता, समयपर बीज नहीं उगते, उसका कोई रक्षक नहीं मिलता, उसकी संतान छोटी अवस्थामें मर जाती है।[28]' सत्यसे स्वर्ग और असत्यसे नरक-गतिकी सम्भावना तो बतलायी ही गयी, साथ ही कहा गया है कि 'असत्यके कारण लोग नाना प्रकारके रोग, व्याधि और तापसे दुःखी रहते हैं तथा भूख-प्यास और परिश्रमसे भी कष्ट भोगते हैं।' इतना ही नहीं, 'असत्यवादीको आँधी,

अध्याय, २०—सौ० पर्व २।२३, २१—उद्योगपर्व ३५। ६१—७०, १०, ५।२८, २४—गीता ४।२३, २५—गीता ५।३, २६—गीता ५।१८, १४, २८—वनपर्व १०७।११—१८।

अशोककी आचार-निष्ठा—अशोकके शब्दोंमें उसकी नीति है—'मैं प्रजाको धर्माचरणमें प्रवृत्त करना ही यश कीर्तिका द्वार मानता हूँ। सब लोग विपत्तिसे दूर हो। पाप ही एकमात्र विपत्ति है।'[४१] दास और सेवकोंके उचित व्यवहार करना, माता-पिताकी सेवा करना, परिचित, सम्बन्धी, श्रमण और ब्राह्मणोंको दान देना, जीवोंकी हिंसा न करना धर्म है।'[४२] अशोकने प्रजाको दी—'चण्डता, निष्ठुरता, क्रोध, मान, और ईर्ष्या— पापके कारण हैं।'[४३] उसने लोगोंको पशु-पक्षियोंकी से विरत करनेके लिये भी नियम बनाये। उसने मात्रको सुख पहुँचानेके लिये सड़कोंपर छाया के पेड़ लगवाये, आम्रवृक्षकी वाटिकाएँ लगवायीं, पर आध-आध कोसपर कुएँ खुदवाये, यात्रियोंके धर्मशालाएँ बनवायीं, पशुओं और मनुष्योंके लिये बनवाये। अशोकने कहा—'धर्मकी उन्नति है कि लोगोंमें दान, सत्य, पवित्रता तथा बढ़े।' उसने इच्छा प्रकट की—दीन-दुःखियोंके था दास और नौकरोंके साथ उचित व्यवहार चाहिये।'[४४]

ऐतिहासिक प्रमाण—भारतीय आचारकी उच्चताके तत्कालीन विदेशी लेखकोंकी रचनाओंमें भी हैं। स्त्राबोके अनुसार भारतीय इतने सच्चे हैं कि घरोंमें ताला लगानेकी आवश्यकता नहीं पड़ती और ने लेन-देन और व्यवहारोंमें लिखा-पढ़ी करनी है।'[४५] एरियनके अनुसार कोई भी भारतवासी नहीं बोलता।'[४६]

वी शतीके जार्डैन्सने प्रमाणित किया है कि प्रायः रतवासी सत्यवादी हैं और वे न्यायके क्षेत्रमें निष्कपट हैं'[४७]।' फाह्यानने भारतीय लोकोपकारकी भावनाका निरूपण करते हुए लिखा है—'रथयात्राके अवसरपर जनपदके वैश्योंके मुखियालोग नगरमें सदाव्रत और औषधालय स्थापित करते हैं। देशके निर्धन, अपङ्ग, अनाथ, विधवा, निःसंतान, लूले, लँगड़े और रोगी इस स्थानपर जाते हैं। उन्हें सब प्रकारकी सहायता मिलती है। वैद्य रोगोंकी चिकित्सा करते हैं। रोगी अनुकूल पथ्य और औषध पाते हैं, अच्छे होते हैं और लौट जाते हैं।'[४८] ह्वेनसाँगने भारतवासियोंके सम्बन्धमें लिखा है—'वे स्वभावतः शीघ्रता करनेवाले और अनाग्रह बुद्धिके होते हैं। उनके जीवनके सिद्धान्त पवित्र और सच्चरित्रतापूर्ण हैं। किसी भी वस्तुको वे अन्यायविधिसे नहीं ग्रहण करते और औचित्यसे अधिक त्याग करनेके लिये तत्पर रहते हैं। भारतवासियोंका विश्वास है कि पापोंका फल भावी जीवनमें मिलकर ही रहता है। वे जीवनके भोगोंके प्रति प्रायः उदासीन-से रहते हैं। वे धोखा-धड़ी नहीं जानते और अपनी प्रतिज्ञाओंपर दृढ़ रहते हैं'।'[४९] ह्वेनसाँगने आगे चलकर पुनः लिखा है—'सारे भारतमें असंख्य पुण्यशालाएँ हैं, जिनमें दीन-दुःखी लोगोंको सहायता दी जाती है। इन पुण्य-शालाओंमें औषध और भोजन वितरित किये जाते हैं, यात्रियोंकी सब प्रकारकी आवश्यकताएँ पूरी की जाती हैं और उन्हें किसी प्रकारकी असुविधा नहीं होती'[५०]।'

ग्यारहवीं शतीके भूगोल-शास्त्र-वेत्ता इद्रीसीने भारत-वासियोंकी लोकप्रियताके कारणका निरूपण करते हुए लिखा है कि 'भारतीय लोग न्यायप्रिय हैं। वे कर्तव्य-पथमें अन्याय नहीं अपनाते हैं। वे अपनी श्रद्धा, सचाई और प्रतिज्ञा-पालनके लिये सर्वत्र प्रसिद्ध हैं।'[५१]

४१–दशम शिलालेख, ४२–एकादश शिलालेख, ४३–तृतीय स्तम्भलेख, ४४–सप्तम स्तम्भलेख, ४५–Strabo Tib (X U) p. 488 (ed. 1587), ४६–Indica Chapters XII. 6, ४७–Marcopolo, Ed. II. yule. p. 354, ४८–फाह्यान् पृ० १६, ४९–Watters Vol. I p. 171, ५०–Watters Vol. I p. 287-288 ५१–Elliot's Of India, Vol. I, p. 88.

पानी, सर्दी और गर्मीसे उत्पन्न हुए रोग तथा शारीरिक कष्ट भी होते रहते हैं और बन्धु-बान्धवोंकी मृत्यु, धनके नाश और प्रेमीजनोंके वियोगके कारण होनेवाले मानसिक शोकका शिकार भी बनना पड़ता है। उसी प्रकार वे जरा और मृत्युके दुःखोंको भी भोगते हैं।[29]

अपराधियोंसे अथवा दुष्टोंसे, कैसा बर्ताव करना चाहिये—इस सम्बन्धमें प्रायः सभी शास्त्रकारोंका मत है कि यदि अपराधी या दुष्ट पुरुष समझाने-बुझानेसे अथवा साधुतापूर्वक व्यवहार करनेसे रास्तेपर आ जाता है तो सबसे अच्छा है। महाभारतके अनुसार क्रोधको अक्रोधसे और असाधुको साधुतासे जीतना चाहिये।[30] वैरका अन्त वैरसे नहीं होता। दुष्टोंके साथ दुष्ट न बनें।[31] अपराधी पापमय उपायोंसे दबाये जानेपर स्वभावतः अधिक अत्याचारी बन जाता है। यही मनोवैज्ञानिक आधार शान्तिमय उपायोंकी उपयोगिताकी पुष्टि करता है। शान्तिमय उपायोंके असफल होनेपर बलपूर्वक अत्याचारियोंका दमन करना शास्त्रकारोंने उचित ठहराया है। जिस व्यक्तिके प्रति किसी व्यक्तिका जैसा व्यवहार हो, उस व्यक्तिसे बदलेमें वैसा ही व्यवहार करनेमें न तो अधर्म होता है और न अमङ्गल।[32] उपर्युक्त कथनका समर्थन स्पष्ट रीतिसे नीचे लिखे श्लोकमें मिलता है—

> यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यः
> तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः।
> मायाचारो मायया बाधितव्यः
> साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः॥[33]

मनुने आचारसे लौकिक और पारलौकिक अभ्युदयके कारणोंका विशद विश्लेषण किया है। उनका यह विवेचन समाजको आचार-पथपर अग्रसर करनेके लिये अवश्य ही [illegible] रहा है। मनुके अनुसार [illegible] होता है, अर्थात् [illegible] पाप है और वह [illegible] नाश करता है।[34] मनुने असत्य बोलनेवालेको [illegible] महान् चोर कहा है और कारण बताया है कि चोर तो किसी अन्य व्यक्तिका धन चुराता है, असत्यवादी तो अपनी आत्माका ही अपहरण करता [illegible] कौन किसी कामको [illegible] है।[35] मनुने शब्द और अर्थको तोड़-मरोड़कर [illegible] सीधी बातें बनानेवालोंको भी चोर कहा है। [illegible] सम्प्रदायोंमें उनका नाम 'धर्मध्वजी' अर्थात् सब [illegible] चुरानेवाला है।[36] मनुकी दृष्टिमें असत्य बोलनेवाले उसी नरकमें जाना पड़ेगा, जिसमें ब्राह्मण, स्त्री, बालक आदिकी हत्या करनेवाला जाता है। झूठ बोलनेवाले सारा पुण्य उसे छोड़कर कुत्तेके पास चला जाता है। झूठेको नङ्गा, अन्धा, भूखा, प्यासा आदि होकर भीख माँगते हुए शत्रु-कुलमें जाना पड़ता है। वह पापी सिर नीचे किये हुए नरकके घोर अँधेरेमें जा गिरता है।[37] इसके विपरीत न्यायालयमें सत्य बोलनेवालेकी प्रशंसा मनुने की है—जिस पुरुषके बोलते हुए सर्वज्ञ अन्तर्यामीको यह शङ्का हो नहीं होती कि यह कभी झूठ बोलता है, उससे बढ़कर देवताओंकी दृष्टिमें कोई प्रशंसनीय नहीं है।[38] असत्य बोलनेवालोंके लिये मनुने घोर दण्डका विधान बनाया है।[39] मनुने समाजमें पापकी प्रवृत्तियोंपर रोक लगानेके लिये मनोवैज्ञानिक आधारपर सफल योजना बनायी है। इसके अनुसार पापीका पापसे छुटकारा हो सकता है, यदि वह दूसरोंसे अपने पापकी निन्दा करे और यह निश्चय करे कि वह अब फिर वैसा काम न करेगा।[40]

२९–शान्तिपर्व १९०वाँ अध्याय, ३०–उद्योगपर्व ३८। ७३।

३१–न पापं प्रति पापः स्यात् साधुरेव सदा भवेत्। न चापि वैरं वैरेण केशव व्युपशाम्यति॥

३२–उद्योगपर्व १७९। ३०, ३३–शान्तिपर्व १०९। २९ तथा उद्योगपर्व ३६। ७, ३४–मनु० ४। १५६,

३५–मनु० ४। २२५, ३६–मनु० ४। २५६, ३७–मनु० ८। ८९–९९, ३८–मनु० ८। ९६, ३९–मनु० ८। २५७,

४०–मनु० ११। २२७–२९।

स्नान अत्यन्त ही स्वास्थ्यप्रद और पापनाशक
स्नानके बाद संयत होकर संध्या करे। प्रातः-
रक्तवर्णा, मध्याह्नमें शुक्लवर्णा और सायंकालमें
वर्णा गायत्रीका ध्यान करे। लोकान्तरगत पितृ-
को उत्तम जल नहीं मिलता, इसलिये पितृत्रत-
ण शिष्य, पुत्र, पौत्र, दौहित्र, बन्धु और मित्र
अपने मरे हुए सम्बन्धियोंकी तृप्तिके लिये कुश
में लेकर नित्य तर्पण करना चाहिये।
को काले तिलसे बहुत तृप्ति होती है,
व तिल मिले हुए जलसे तर्पण करे। स्नान
पवित्र वस्त्र पहने। धोबीसे धुला हुआ कपड़ा
त्र होता है, उसे पुनः स्वच्छ जलसे धोकर पहनना
ये। नित्य देवपूजन करे। विघ्न-नाशके लिये
की, बीमारी मिटनेके लिये सूर्यकी, धर्म और
के लिये विष्णुकी, कामना-पूर्तिके लिये शिवकी और
की पूजा करे। नित्य बलिवैश्वदेव और हवन करे।
प्रकार सब देवों और सब प्राणियोंकी तृप्ति करनेके
स्वयं भोजन करे। स्नान, तर्पण, जप, देवपूजन
संध्योपासना नियमपूर्वक नित्य करे। इनके न
नेसे बड़ा पाप होता है।

घरके आँगनको ताजे गोबरसे लीपे, बर्तनोंको
माँजे। काँसेका बर्तन राखसे, ताँबेका खटाईसे,
का तेलसे, सोने-चाँदीका जलसे और लोहेका
नेसे शुद्ध होता है। खोदने, जलाने, लीपने और
नेसे पृथ्वी पवित्र होती है। अपने बिछौने, स्त्री, शिशु,
, उपवीत और कमण्डलु सदा ही पवित्र हैं; किंतु
ही यदि दूसरोंके हों तो कभी शुद्ध नहीं हैं। एक
ड़ा पहनकर कभी स्नान या भोजन न करे। (धोती
गमछा दोनों रखे) दूसरेका स्नान-वस्त्र कभी न
ले। रोज सबेरे बालोंको और दाँतोंको धोये।
जनोंको नमस्कार करे। दोनों हाथ, दोनों पैर और
मुख—इन पाँचों अङ्गोंको गीले रखकर, धोकर भोजन करे।
जो नियमित पञ्चार्द्र (इन पाँचोंको गीले रखकर) भोजन
करते हैं, वे सौ वर्ष जीते हैं। देवता, गुरु, राजा, स्नातक,
आचार्य, ब्राह्मण और यज्ञादिमें दीक्षा लिये हुए व्यक्तिकी
छायाको जान-बूझकर न लाँघे। गौ-ब्राह्मण, अग्नि-ब्राह्मण
और दम्पति (पति-पत्नी) के बीचसे न जाय। अग्नि, ब्राह्मण,
देवता, गुरु, अपना मस्तक, फूलोंके पेड़ और यज्ञवृक्षको
जूँठे मुँह स्पर्श न करे। सूर्य, चन्द्रमा और तारे—इन
तीनों तेजमय पदार्थोंको जूँठे मुँह ऊपरको ओर ताककर न
देखे। विप्र, गुरु, देवता, राजा, संन्यासी, योगी,
देवकार्यमें लगे हुए मनुष्य और धर्मोपदेशक पुरुषको
भी जूँठे मुँह न देखे। समुद्र और नदीके किनारेपर
यज्ञीय वृक्षों (बट-पीपल आदि) के नीचे, बगीचेमें, पुष्प-
वाटिकामें, जलमें, ब्राह्मणके घरमें, राजमार्गमें और
गोशालामें मल-मूत्रादिका त्याग न करे। मङ्गलवारको
क्षौर न कराये। रवि और मङ्गलवारको तेल न
लगाये। कभी मुखमें नख न ले। अपने शरीरको और
आसनको न बजाये। गुरुके साथ एक आसनपर न
बैठे और श्रोत्रिय, देवता, गुरु, राजा, तपस्वी, पङ्गु, अन्धे
और स्त्रियोंका धन किसी तरह हरण न करे।

ब्राह्मण, गौ, राजा, रोगी, बोझ लादे हुए, गर्भिणी
स्त्री और कमजोर मनुष्यके लिये रास्ता छोड़ दे। राजा,
ब्राह्मण और चिकित्सक (वैद्य-डाक्टर) से विवाद न करे।
पतित, कुष्टरोगी, चाण्डाल, गोमांस-भोजी, समाज-
बहिष्कृत और मूर्खसे सदा अलग रहे। दुष्टा, बुरी
वृत्तिवाली, दोषारोपण करनेवाली, कुकर्म करनेवाली, कलह-
प्रिया, प्रमत्ता, अधिक अङ्गवाली, निर्लज्ज, बाहर घूमने-
फिरनेवाली, खर्चीली और अनाचारिणी स्त्रियोंसे दूर रहे।
मलिन अवस्थामें गुरुपत्नीको प्रणाम न करे। गुरु-
पत्नीको भी बिना प्रयोजन न देखे। पुत्रवधू, भ्रातृवधू,
कन्या तथा अन्य जो भी स्त्रियाँ युवती हों, उनको
ओर बिना प्रयोजन न देखे, स्पर्श तो कभी न करे।
स्त्रियोंके साथ व्यर्थ बात न करे, न उनके नेत्रोंकी ओर

भारतीय धर्म और सदाचारकी विश्वको देन

(लेखक—पं० श्रीगोपालप्रसादजी दुबे, एम्० ए०, साहित्यरत्न)

यह निर्विवाद है कि 'वेद' ही संसारका प्राचीनतम है। भारतका सनातनधर्म जब अपने पूर्ण ासपर था, तब अन्य कोई भी आधुनिक धर्म त्वमें न था। वह मनुष्यका शाश्वत एवं सनातन- था। धर्मके सम्बन्धमें वस्तुतः भारत विश्वका बहुत तिक नेतृत्व करता रहा है। परंतु खेदके साथ ना पड़ता है कि आज अनेक भारतवासी ऐसे हैं, हैं धर्मके नामसे ही घृणा है। कुछ तो ऐसे भी हैं, धर्मका अर्थतक नहीं जानते, भले उन्होंने विज्ञान नास्तिकतापर भी कुछ पुस्तकें पढ़ ली हों। ऋग्वेदमें को विश्वका उन्नायक और सम्पोषक माना है। ववेदमें—'ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक्चे- यं च श्रीश्च धर्मश्च'(—१२। ५। ७) कहा है। वैशेषिकदर्शनके अनुसार 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस- द्धेः स धर्मः'—जिससे मानवका अभ्युदय और ाण हो, वही धर्म है' ऐसा कहा गया है। फिर णुधर्मोत्तरमें कहा गया है कि—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥
(श्रीविष्णुधर्मोत्तरपुराण ३। २५३। ४४)

दूसरोंके जो आचरण हमें पसंद नहीं, वैसे आचरण हमें दूसरोंके साथ भी नहीं करना चाहिये। महाभारतमें व्यासजीने अनेक जगह धर्मको स्पष्ट किया है। 'अहिंसा परमो धर्मः', 'अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा', 'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्', 'अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः'। संक्षेपमें इनका तात्पर्य है कि दूसरोंको कष्ट नहीं देना चाहिये, अपितु सहायता करनी चाहिये। बौद्ध- जातकोंमें 'विवेग धम्म माहिये' विवेकको ही धर्म कहा है। तैत्तिरीय-आरण्यकका 'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'— धर्म ही सारे जगत्को स्थिर करनेवाला है—यह वचन सबको एक सूत्रमें पिरो देता है। 'वसिष्ठस्मृति'में 'आचारः परमो धर्मः सर्वेषामिति निश्चयः' मानवके पवित्र आचार ही परम धर्म हैं, ऐसा निश्चय है—यह भी उसीकी पुष्टि करता है। महाभारत 'आचारप्रभवो धर्मः' कहता है।

इन वचनोंमें किसी एक धर्मकी ओर संकेत नहीं है। इसलिये इनका मूल सनातनधर्म है। निदान धर्मका मूल रूप जीवनकी पवित्रता, मनकी शुद्धता और सत्यकी प्राप्ति सब धर्मोंको स्वीकार है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, वह समाज बनाकर रहता है और समाजको लेकर ही उसे चलना है। वह व्यक्तिगत स्वतन्त्र होते हुए भी सामाजिक शिष्टाचारसे घिरा है। अतएव परस्पर व्यवहारसे शिष्टाचार- को निभाना है। यही शिष्टाचार-धर्म सुसमाजका विधान है। अन्यथा—

आहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥
(हितोपदेश)

खान-पान, निद्रा, डर, मैथुनादि शारीरिक आवश्यकताएँ मानव तथा जानवरोंमें समानरूपसे वर्तमान रहती हैं। धर्म ही एक ऐसा पदार्थ है, जो मानवको पशुओंसे ऊपर उठाता है। सदाचार एक पुरुषार्थ है, कायरता अथवा अकर्मण्यता नहीं। धर्मपालनमें आत्मबल चाहिये। धर्म स्वच्छन्दतापर नियन्त्रण है। अतएव सुसंगठित समाजके लिये संयत होकर हरेकको कुछ देना है और कुछ लेना है। कुछ त्याग करना है, कुछ लाभ उठाना है। ऐसा आपसी सद्भाव न हो तो मानव बर्बर अवस्थामें पहुँच जाय। हमें ज्ञात है कि किसी भी राष्ट्र तथा समाजका उत्थान और पतन उसमें समाविष्ट मानवके उत्थान-पतनपर निर्भर है। अतएव आवश्यक है कि समाजका हर घटक इसके प्रति सजग रहे।

शिवोपासना और सदाचार

(लेखक—श्रीहीरसिंहजी राजपुरोहित)

...ान् शंकरके उपासकों एवं अन्य वर्णोंके लिये ...ंस्कृतिमें शिवपुराणकी, विद्येश्वरसंहिता, १३वें ... सदाचारका स्वरूप बतलाते हुए कहा गया ... सदाचारका पालन करनेवाले विद्वान् ब्राह्मण ही ...स्तवमें ब्राह्मण नाम धारण करनेके अधिकारी होते हैं। ...जो वेदोक्त आचारका पालन करनेवाला, वेदका ...भ्यासी है, उस ब्राह्मणकी 'विप्र' संज्ञा होती है। ...सदाचार और स्वाध्याय—इन दोनों गुणोंके होनेसे उसे ...'द्विज' कहते हैं। जिसमें स्वल्पमात्रामें ही आचारका ...पालन देखा जाता है, जिसने वेदाध्ययन भी बहुत कम ...किया है तथा जो राजाका सेवक (पुरोहित, मन्त्री ...आदि) है, उसे 'क्षत्रिय-ब्राह्मण' कहते हैं। जो ब्राह्मण ...कृषि तथा वाणिज्य कर्म करनेवाला है और कुछ-कुछ ...ब्राह्मणोचित आचारका भी पालन करता है, वह 'वैश्य-ब्राह्मण' है तथा जो स्वयं ही खेत जोतता है, उसे 'शूद्र-ब्राह्मण' कहा गया है। जो दूसरोंके दोष देखनेवाला और परद्रोही है, उसे 'चाण्डाल-द्विज' कहते हैं।'

सभी वर्णोंके मनुष्योंको चाहिये कि वे ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर पूर्वाभिमुख हो सबसे पहले देवताओंका, फिर धर्मका, अर्थका तथा उनकी प्राप्तिके लिये उठाये जानेवाले क्लेशोंका एवं आय और व्ययकी भी चिन्तन करें। संधिकालमें उठकर द्विजको मल-मूत्र आदिका त्याग करना चाहिये। जल, अग्नि, ब्राह्मण तथा देवताओंका सामना बचाकर बैठे। किसी भी वृक्षके पत्तेसे अथवा उसके पतले काष्ठसे जलके बाहर दतुअन करना चाहिये। दन्तधावनमें तर्जनीका उपयोग न करे। तदनन्तर, जल-सम्बन्धी देवताओंको नमस्कार कर मन्त्रपाठ करते हुए जलाशयमें स्नान करे; देवता आदिका स्नानाङ्ग-तर्पण भी करे। इसके बाद धौत-वस्त्र लेकर, पाँच कच्छ करके उसे धारण करे। नदी आदि तीर्थोंमें स्नान करनेपर स्नानसम्बन्धी उतारे हुए वस्त्रको वहाँ न धोये।

इसके बाद 'बृहज्जाबालोपनिषद्'में निर्दिष्ट '**अग्निरिति भस्म**' इत्यादि मन्त्रद्वारा भस्म लेकर मस्तक-पर त्रिपुण्ड् लगाये। फिर पवित्र आसनपर बैठकर प्रातःसंध्या करनी चाहिये। प्रातःकालकी संध्योपासनामें गायत्रीमन्त्रका जप करके तीन बार ऊपरकी ओर सूर्यदेवको अर्घ्य देना चाहिये। मध्याह्नकालमें एक ही अर्घ्य तथा सायंकाल आनेपर पश्चिमकी ओर मुख करके बैठ जाय और पृथ्वीपर ही सूर्यके लिये अर्घ्य दे। फिर गुरुका स्मरण करके उनकी आज्ञा लेकर विधिवत् संकल्प कर सकामी अपनी कामनाको अलग न रखते हुए पराभक्तिसे भगवान् आशुतोष श्रीशिवका षोडशोपचारसे पूजन करे। 'शिव' नामके सर्वपापहारी माहात्म्यका एक ही श्लोकमें वर्णन करता हूँ। भगवान् शंकरके एक नाममें भी पापहरणकी जितनी शक्ति है, उतना पातक मनुष्य कभी कर ही नहीं सकता।—

पापानां हरणे शम्भोर्नाम्नः शक्तिर्हि यावती।
शक्नोति पातकं तावत् कर्तुं नापि नरः क्वचित्॥
(शिवपु० विद्येश्वरसंहिता २३। ४२)

मानवको चाहिये कि वह दूसरोंके दोषोंका वर्णन न करे। दोषवश दूसरोंके सुने या देखे हुए दोषको भी प्रकट न करे। ऐसी बात न कहे, जो समस्त प्राणियोंके हृदयमें रोष पैदा करनेवाली हो। तीनों काल स्नान, अग्निहोत्र, विधिवत् शिवलिङ्ग-पूजन, दान, ईश्वर-प्रेम, सदा और सर्वत्र दया, सत्य-भाषण, संतोष,

अहिंसा, किसी भी जीवकी हिंसा न करना, सत्य, दया, [illegible], [illegible], [illegible] अध्ययन, [illegible], ब्रह्मचर्य, उपदेश-श्रवण, तपस्या, क्षमा, शौच, शिखा-धारण, यज्ञोपवीत-धारण, पगड़ी धारण करना, दुपट्टा रखना, निषिद्ध वस्तुका सेवन न करना, रुद्राक्ष माला पहनना, प्रत्येक पर्वमें विशेषतः चतुर्दशीको शिवकी पूजा करना, ब्रह्मकूर्चका पान, प्रत्येक मासमें ब्रह्मकूर्चको विधिपूर्वक श्रीशिवजीको विधिपूर्वक अभिषिक्त कर शिवलिङ्गकी पूजा करना, सम्पूर्ण क्रियाका त्याग, श्राद्धान्नका परित्याग, बासी अन्न तथा विशेषतः मांसका त्याग, मद्य और मद्यकी गन्धका त्याग, शिवको निवेदित (कार्तिकमें स्नान) शैवका व्रत—ये [illegible] सामान्य धर्म हैं।

इस विचार निर्णय करनेवाला [illegible] है, जो अनन्त रमणीय गुणोंका आश्रय [illegible] सभी पशुओंको पाशसे मुक्त करनेवाले भगवान् महादेव हैं। मनोहर भवन, हाथ, [illegible], सुन्दरी स्त्रियाँ और जिनसे पूर्ण तृप्ति हो [illegible] ये सब भगवान् शिवकी आराधनाके फल हैं। ऐश्वर्य, कान्तिमान् रूप, बल, त्याग, दयाभाव और शूरता—ये सब बातें भगवान् शिवकी पूजा करनेवाले को सुलभ होती हैं। शिवपूजक पुरुष सदाचारी है

विशिष्टाद्वैत-सम्प्रदायमें सदाचार-निरूपण

(लेखक—राष्ट्रपतिपुरस्कृत डॉ॰ श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, शास्त्री, आचार्य, एम्॰ ए॰, पी-एच्॰ डी॰)

ब्राह्मणादि वर्णोंके और ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमोंके विशेष-विशेष आचार शास्त्रोंमें भिन्न-भिन्न रूपोंमें उपदिष्ट हैं। उन सब वर्णाश्रमाचारोंका पालन आवश्यक है। उनके नित्य नियमपूर्वक पालन करनेसे श्रीभगवान् प्रसन्न होते हैं—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
सम्यगाराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारकः॥
(श्रीविष्णुपु॰ ३।८।९)

ब्राह्ममुहूर्तमें भगवत्स्मरणपूर्वक शय्या-त्याग, गुरुजनाभिवन्दन, शौच-स्नानादि दिनचर्या और रात्रिचर्याके समस्त शास्त्रोक्त व्यापार आचार या सदाचारके ही अन्तर्गत हैं। स्नानके बिना कोई धार्मिक कृत्य नहीं किया जाता। अतः स्नान सर्वप्रथम आवश्यक कर्तव्य है। (जयाख्यसंहिता ७०)। स्नानके अनन्तर संध्याका विधान है। अपनी-अपनी शाखा एवं सूत्रके अनुसार इसका स्वरूप [illegible]न लेना चाहिये। उदाहरणार्थ माध्यंदिनशा[illegible] अनुसार संध्याका संक्षिप्त स्वरूप है—स्नानके अनन्तर मार्जन, प्रा[illegible] और सूर्योपस्थान—

स्नानमब्दैवतैर्मन्त्रैर्मार्जनं प्राणसंयमः।
सूर्यस्य चाप्युपस्थानं गायत्र्याः प्रत्यहं जपः॥
(याज्ञवल्क्यस्मृति १।[illegible])

धर्मशास्त्रमें प्रातः-संध्या और सायं-संध्या न करनेवाले द्विजोंकी बड़ी निन्दा की गयी है (मनु॰ २।१०३)। जबतक मनुष्य संध्या न[illegible] ले, तबतक उसमें अन्य कार्योंके करनेकी योग्यता न[illegible] आती (—दक्ष)। संध्याके अनन्तर गायत्रीका ज[illegible] करना चाहिये। तदनन्तर होमका, तत्पश्चात् स्वाध्यायका, फिर तर्पणका और फिर पूजनका विधान है। स्नानान्तर संध्या, जप, होम, तर्पण, स्वाध्याय और देवपूजन—ये षट्कर्म नित्य अनुष्ठेय हैं। इन समस्त साधनोंका एकमात्र लक्ष्य है—चित्तमें सात्त्विकताका संचार; क्योंकि सत्त्वगुण-विभूषित [illegible] ही श्रीभगवान्-का सतत स्मरण [illegible] ६।२)।

रतत्त्वके उपासनमें निरत सत्पुरुषोंमें सदाचारके
त सात साधन प्रचलित हैं—विवेक, विमोक,
स, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुद्धर्ष।
सर्वप्रथम विवेकका विवेचन किया जाता है।
कका अभिप्रेत अर्थ है—खान-पानमें शुद्ध विचार।
जीवनमें आहार और विहारके संयमका बड़ा महत्त्व
आहारसे तात्पर्य है—भोजनका। भोजनके
रिक्त इतर कार्यकलापका नाम है 'विहार'। ये दोनों
संयत हो जाते हैं—युक्त हो जाते हैं, तब
को सर्वाङ्गीण समुन्नतिकी ओर अग्रसर करते हैं
। ६। १७)। इस प्रकारके यथायोग्य आहार-
, यथायोग्य कर्मचेष्टा और यथायोग्य सोने-जागनेवाले
का योग ही दुःखनाशक होता है। मनुष्य
भोजन करता है, वैसा ही उसका मन बनता है
दो० ६। ६। ५)। हम पहले कह आये हैं
ात्त्विक-आहार करनेसे चित्त सात्त्विक होता
श्रीभगवान्‌के उपासक सत्त्वगुणसम्पादनमें
रेकर रहते हैं। अतएव वे तामस भोजनका
त्याग कर देते हैं और राजससे भी बचना
हैं। निरामिष अन्नादि खाद्यसामग्रीमें भी
वश तामसभाव आ सकता है, अतएव वह
है अर्थात् तामसभावापन्न अन्नादि भी साधकोंके
हितकारी नहीं है।

विज्ञ पुरुषोंकी सम्मतिके अनुसार आहारमें तीन
के दोष होते हैं—१—जातिदोष, २—आश्रयदोष और
नैमित्तदोष। जो भोजनद्रव्य अपनी जातिसे ही अर्थात्
वसे या प्राकृतिक गुणोंसे ही भोक्ताके चित्तमें राजस
तामस भावोंको जाग्रत् कर देता है, उसमें जाति-
माना जाता है। ऐसे भोजनके उदाहरण हैं—
न, शलगम और प्याज आदि निषिद्ध पदार्थ।
ये शास्त्रोंमें ऐसे खाद्यका निषेध किया गया है—

लशुनं गृञ्जनं चैव जग्ध्वा चान्द्रायणं चरेत्।
(याज्ञवल्क्यस्मृति १। ७। १७६)

पतित, नास्तिक आदि तामस वृत्तिवाले लोगोंके भोजनमें आश्रयदोष हैं। ऐसे पुरुष अपने उपार्जित द्रव्यसे मोल लेकर फल-दुग्ध आदि पदार्थ भी यदि किसीको खिलायेंगे तो खानेवालेके मनमें बुरे भावोंका उदय होगा। लोभी, चोर, सूदखोर, शत्रु, क्रूर, उग्र, पतित, नपुंसक, महारोगी, जार, स्त्रैण, वेश्या, व्यभिचारिणी, निर्दय, पिशुन, मिथ्यावादी, कसाई आदि व्यक्तियोंके अन्नको अभोज्य माना गया है। 'इस अन्नको कौन खायगा'—ऐसा कहकर जिसका वितरण हुआ हो, जिसे किसी अपवित्र व्यक्तिने छू दिया हो, अथवा पवित्र व्यक्तिने भी जान-बूझकर जिसमें पैर *लगा दिया हो, बुरे लोगोंकी जिसपर दृष्टि पड़ चुकी* हो, कुत्ते-कौओं आदिने जिसे जूठा कर दिया हो एवं गाय आदिने जिसे सूँघ लिया हो—ऐसे भोजनमें निमित्तदोष माना जाता है। उपर्युक्त जातिदोष, आश्रयदोष और निमित्तदोषसे रहित खाद्यसामग्रीका भोजन करना 'विवेक' नामक साधन है। शुद्ध होकर, शुद्ध वस्त्र धारण करके, हाथ-पैर, मुँहको धोकर, शुद्ध स्थानमें आसनपर, विहित दिशाकी ओर मुँह करके, विहित समयमें, सुसंस्कृत व्यक्तिके द्वारा बनाये और परोसे हुए भगवत्प्रसादके करते रहनेसे अन्तःकरण निर्मल हो जाता है।

'विमोक'का अर्थ है—परित्याग। कामके विषयोंकी वासनाको त्याग देना, उसमें आसक्ति न रखना ही 'विमोक' नामक साधन है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, *मद और मात्सर्य—ये छः शत्रु साधक पुरुषकी* आध्यात्मिक उन्नतिमें बाधक हैं। इन सभीका त्याग श्रेयस्कर है; क्योंकि चित्तमें जब इनका अभाव होता **है, तभी साधक भक्तिभाव करनेके योग्य बन सकता है।**

आस्तिकता, किसी भी जीवकी हिंसा न करना, लज्जा, श्रद्धा, अध्ययन, योग, निरन्तर अध्यापन, व्याख्यान, ब्रह्मचर्य, उपदेश-श्रवण, तपस्या, क्षमा, शौच, शिखा-धारण, यज्ञोपवीत-धारण, पगड़ी धारण करना, दुपट्टा लगाना, निषिद्ध वस्तुका सेवन न करना, रुद्राक्षकी माला पहनना, प्रत्येक पर्वमें विशेषतः चतुर्दशीको शिवकी पूजा करना, ब्रह्मकूर्चका पान, प्रत्येक मासमें ब्रह्मकूर्चसे विधिपूर्वक श्रीशिवजीको विधिपूर्वक अभिषिक्त कर विशेषरूपसे पूजा करना, सम्पूर्ण क्रियाका त्याग, श्राद्धान्नका परित्याग, बासी अन्न तथा विशेषतः यावकका त्याग, मद्य और मद्यकी गन्धका त्याग, शिवको निवेदित (चण्डेश्वरके भाग) नैवेद्यका त्याग—ये इस सामान्य धर्म हैं।

इस विश्वका निर्माण करनेवाला तथा ... है, जो अनन्त रमणीय गुणोंका आश्रय ... वही पशुओंको पाशसे मुक्त करनेवाले भगवान् महादेव हैं। मनोहर भवन, हाव, भाव, विलाससे ... तरुणी स्त्रियाँ और 'जिनसे पूर्ण ... ये सब भगवान् शिवकी आराधनाके फल हैं। ... कान्तिमान् रूप, बल, त्याग, दयाभाव और ... सब बातें भगवान् शिवकी पूजा करनेवाले लोगोंको सुलभ होती हैं। शिवपूजक सुतरां सदाचारी होता ...

विशिष्टाद्वैत-सम्प्रदायमें सदाचार-निरूपण

(लेखक—राष्ट्रपतिपुरस्कृत डॉ० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, शास्त्री, आचार्य, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

ब्राह्मणादि वर्णोंके और ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमोंके विशेष-विशेष आचार शास्त्रोंमें भिन्न-भिन्न रूपमें उपदिष्ट हैं। उन सब वर्णाश्रमाचारोंका पालन आवश्यक है। उनके नित्य नियमपूर्वक पालन करनेसे श्रीभगवान् प्रसन्न होते हैं—

> वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
> सम्यगाराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारकः॥
> (श्रीविष्णुपु० ३।८।९)

ब्राह्ममुहूर्तमें भगवत्स्मरणपूर्वक शय्या-त्याग, गुरुजनाभिवन्दन, शौच-स्नानादि दिनचर्या और रात्रिचर्याके समस्त शास्त्रोक्त व्यापार आचार या सदाचारके ही अन्तर्गत हैं। स्नानके बिना कोई धार्मिक कृत्य नहीं किया जाता। अतः स्नान सर्वप्रथम आवश्यक कर्तव्य है। (जयाख्यसंहिता ७०)। स्नानके अनन्तर संध्याका विधान है। अपनी-अपनी शाखा एवं सूत्रके अनुसार इसका स्वरूप जान लेना चाहिये। उदाहरणार्थ माध्यंदिनशाखाके पारस्करसूत्रके अनुसार संध्याका संक्षिप्त स्वरूप है—स्नानके अनन्तर मार्जन, प्राणायाम और सूर्योपस्थान—

> स्नानमब्दैवतैर्मन्त्रैर्मार्जनं प्राणसंयमः।
> सूर्यस्य चाप्युपस्थानं गायत्र्याः प्रत्यहं जपः॥
> (याज्ञवल्क्यस्मृति १।२२)

धर्मशास्त्रमें प्रातः-संध्या और सायं-संध्या न करनेवाले द्विजोंकी बड़ी निन्दा की गयी है। (मनु० २।१०३।) जबतक मनुष्य संध्या न कर ले, तबतक उसमें अन्य कार्योंके करनेकी योग्यता नहीं आती (—दक्ष)। संध्याके अनन्तर गायत्रीका जप करना चाहिये। तदनन्तर होमका, तत्पश्चात् स्वाध्यायका, फिर तर्पणका और फिर पूजनका विधान है। स्नानान्तर संध्या, जप, होम, तर्पण, स्वाध्याय और देवपूजन—ये षट्कर्म नित्य अनुष्ठेय हैं। इन समस्त साधनोंका एकमात्र लक्ष्य है—चित्तको ... संतर; क्योंकि ... का मनन।

त्वके उपासनमें निरत सत्पुरुषोंमें सदाचारके सात साधन प्रचलित हैं—विवेक, विमोक, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुद्धर्ष। र्वप्रथम विवेकका विवेचन किया जाता है। का अभिप्रेत अर्थ है—खान-पानमें शुद्ध विचार। वनमें आहार और विहारके संयमका बड़ा महत्त्व आहारसे तात्पर्य है—भोजनका। भोजनके इतर कार्यकलापका नाम है 'विहार'। ये दोनों यत हो जाते हैं—युक्त हो जाते हैं, तब ो सर्वाङ्गीण समुन्नतिकी ओर अग्रसर करते हैं ६। १७)। इस प्रकारके यथायोग्य आहार-यथायोग्य कर्मचेष्टा और यथायोग्य सोने-जागनेवाले योग ही दुःखनाशक होता है। मनुष्य सा भोजन करता है, वैसा ही उसका मन बनता है छान्दो० ६। ६। ५)। हम पहले कह आये हैं कि सात्त्विक आहार करनेसे चित्त सात्त्विक होता है। श्रीभगवान्‌के उपासक सत्त्वगुणसम्पादनमें बद्धपरिकर रहते हैं। अतएव वे तामस भोजनका सर्वथा त्याग कर देते हैं और राजससे भी बचना चाहते हैं। निरामिष अन्नादि खाद्यसामग्रीमें भी कारणवश तामसभाव आ सकता है, अतएव वह त्याज्य है अर्थात् तामसभावापन्न अन्नादि भी साधकोंके लिये हितकारी नहीं है।

विज्ञ पुरुषोंकी सम्मतिके अनुसार आहारमें तीन प्रकारके दोष होते हैं—१—जातिदोष, २—आश्रयदोष और ३—निमित्तदोष। जो भोजनद्रव्य अपनी जातिसे ही अर्थात् स्वभावसे या प्राकृतिक गुणोंसे ही भोक्ताके चित्तमें राजस और तामस भावोंको जाग्रत् कर देता है, उसमें जाति-दोष माना जाता है। ऐसे भोजनके उदाहरण हैं—लहसुन, शलगम और प्याज आदि निषिद्ध पदार्थ। इसीलिये शास्त्रोंमें ऐसे खाद्यका निषेध किया गया है—

लशुनं गृञ्जनं चैव जग्ध्वा चान्द्रायणं चरेत्।
(याज्ञवल्क्यस्मृति १। ७। १७६)

पतित, नास्तिक आदि तामस वृत्तिवाले लोगोंके भोजनमें आश्रयदोष है। ऐसे पुरुष अपने उपार्जित द्रव्यसे मोल लेकर फल-दुग्ध आदि पदार्थ भी यदि किसीको खिलायेंगे तो खानेवालेके मनमें बुरे भावोंका उदय होगा। लोभी, चोर, सूदखोर, शत्रु, क्रूर, उग्र, पतित, नपुंसक, महारोगी, जार, स्त्रैण, वेश्या, व्यभिचारिणी, निर्दय, पिशुन, मिथ्यावादी, कसाई आदि व्यक्तियोंके अन्नको अभोज्य माना गया है। 'इस अन्नको कौन खायगा'—ऐसा कहकर जिसका वितरण हुआ हो, जिसे किसी अपवित्र व्यक्तिने छू दिया हो, अथवा पवित्र व्यक्तिने भी जान-बूझकर जिसमें पैर लगा दिया हो, बुरे लोगोंकी जिसपर दृष्टि पड़ चुकी हो, कुत्ते-कौओं आदिने जिसे जूठा कर दिया हो एवं गाय आदिने जिसे सूँघ लिया हो—ऐसे भोजनमें निमित्तदोष माना जाता है। उपर्युक्त जातिदोष, आश्रयदोष और निमित्तदोषसे रहित खाद्यसामग्रीका भोजन करना 'विवेक' नामक साधन है। शुद्ध होकर, शुद्ध वस्त्र धारण करके, हाथ-पैर, मुँहको धोकर, शुद्ध स्थानमें आसनपर, विहित दिशाकी ओर मुँह करके, विहित समयमें, सुसंस्कृत व्यक्तिके द्वारा बनाये और परोसे हुए भगवत्प्रसादके करते रहनेसे अन्तःकरण निर्मल हो जाता है।

'विमोक'का अर्थ है—परित्याग। कामके विषयोंकी वासनाको त्याग देना, उसमें आसक्ति न रखना ही 'विमोक' नामक साधन है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य—ये छः शत्रु साधक पुरुषकी आध्यात्मिक उन्नतिमें बाधक हैं। इन सभीका त्याग श्रेयस्कर है; क्योंकि चित्तमें जब इनका अभाव होता है, तभी साधक भक्तिभाव करनेके योग्य बन सकता है।

अहिंसकता, किसी भी जीवकी हिंसा न करना, क्षमा, [illegible] अस्तेय, शौच, [illegible] ब्रह्मचर्य, उपवास-व्रत, [illegible] धारण, रुद्राक्ष-धारण, भस्म धारण करना, [illegible] धारण करना, [illegible] पहनना, प्रत्येक पर्वमें विशेषतः चतुर्दशीको शिवकी पूजा करना, [illegible] पान, प्रत्येक मासमें [illegible] विधिपूर्वक श्रीशिवजीको विधिपूर्वक अभिषिक्त कर विशेषरूपसे पूजा करना, सम्पूर्ण क्रियाका त्याग, श्राद्धान्नका परित्याग, बासी अन्न तथा विशेषतः [illegible] त्याग, मद्य और मद्यकी गन्धका त्याग, शिवको निवेदित [illegible] ([illegible]) [illegible] सदाचार धर्म है।

[illegible] है, जो [illegible] सभी पदार्थोंको [illegible] शुद्ध करनेके [illegible] महादेव हैं। [illegible] और [illegible] से [illegible] भगवान् शिवकी [illegible] यज्ञ, [illegible] दान [illegible] और [illegible] सब कर्म भगवान् शिवकी पूजा करनेसे [illegible] प्राप्त होती है। शिवपूजक पुरुषों महात्माओं [illegible]

विशिष्टाद्वैत-सम्प्रदायमें सदाचार-निरूपण

(लेखक—राष्ट्रपतिपुरस्कृत डॉ० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, शास्त्री, आचार्य, एम० ए०, पी-एच्० डी०)

ब्राह्मणादि वर्णोंके और ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमोंके विशेष-विशेष आचार शास्त्रोंमें भिन्न-भिन्न रूपमें उपदिष्ट हैं। उन सब वर्णाश्रमाचारोंका पालन आवश्यक है। उनके नित्य नियमपूर्वक पालन करनेसे श्रीभगवान् प्रसन्न होते हैं—

> वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
> सम्यगाराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारकः॥
> (श्रीविष्णुपुरा० ३। ८। ९)

ब्राह्ममुहूर्तमें भगवत्स्मरणपूर्वक शय्या-त्याग, गुरुजनाभिवन्दन, शौच-स्नानादि दिनचर्या और रात्रिचर्याके समस्त शास्त्रोक्त व्यापार आचार या सदाचारके ही अन्तर्गत हैं। स्नानके बिना कोई धार्मिक कृत्य नहीं किया जाता। अतः स्नान सर्वप्रथम आवश्यक कर्तव्य है। (जयाख्यसंहिता ७०)। स्नानके अनन्तर संध्याका विधान है। अपनी-अपनी शाखा एवं सूत्रके अनुसार इसका स्वरूप जान लेना चाहिये। उदाहरणार्थ माध्यंदिनशाखाके 'पारस्करसूत्र'के अनुसार संध्याका संक्षिप्त स्वरूप है—स्नानके अनन्तर मार्जन, प्राणसंयम और सूर्योपस्थान—

> स्नानमब्दैवतैर्मन्त्रैर्मार्जनं प्राणसंयमः।
> सूर्यस्य चाप्युपस्थानं गायत्र्याः प्रत्यहं जपः॥
> (याज्ञवल्क्यस्मृति १। २२)

धर्मशास्त्रमें प्रातः-संध्या और सायं-संध्या न करनेवाले द्विजोंकी बड़ी निन्दा की गयी है (मनु० २। १०३)। जबतक मनुष्य संध्या न कर ले, तबतक उसमें अन्य कार्योंके करनेकी योग्यता नहीं आती (—दक्ष)। संध्याके अनन्तर गायत्रीका जप करना चाहिये। तदनन्तर होमका, तत्पश्चात् स्वाध्यायका, फिर तर्पणका और फिर पूजनका विधान है। स्नानान्तर संध्या, जप, होम, तर्पण, स्वाध्याय और देवपूजन—ये षट्कर्म नित्य अनुष्ठेय हैं। इन समस्त साधनोंका एकमात्र लक्ष्य है—चित्तमें सात्त्विकताका संचार; क्योंकि सत्त्वगुण-विभूषित [illegible] का सतत स्म—

तत्त्वके उपासनमें निरत सत्पुरुषोंमें सदाचारके सात साधन प्रचलित हैं—विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुद्धर्ष। सर्वप्रथम विवेकका विवेचन किया जाता है। इसका अभिप्रेत अर्थ है—खान-पानमें शुद्ध विचार। जीवनमें आहार और विहारके संयमका बड़ा महत्त्व है। आहारसे तात्पर्य है—भोजनका। भोजनके अतिरिक्त इतर कार्यकलापका नाम है 'विहार'। ये दोनों संयत हो जाते हैं—युक्त हो जाते हैं, तब मनुष्यको सर्वाङ्गीण समुन्नतिकी ओर अग्रसर करते हैं (गीता ६। १७)। इस प्रकारके यथायोग्य आहार-विहार, यथायोग्य कर्मचेष्टा और यथायोग्य सोने-जागनेवाले व्यक्तिका योग ही दुःखनाशक होता है। मनुष्य जैसा भोजन करता है, वैसा ही उसका मन बनता है (छान्दो० ६। ६। ५)। हम पहले कह आये हैं कि सात्त्विक आहार करनेसे चित्त सात्त्विक होता है। श्रीभगवान्‌के उपासक सत्त्वगुणसम्पादनमें तत्पर रहते हैं। अतएव वे तामस भोजनका सर्वथा त्याग कर देते हैं और राजससे भी बचना चाहते हैं। निरामिष अन्नादि खाद्यसामग्रीमें भी कारणवश तामसभाव आ सकता है, अतएव वह त्याज्य है अर्थात् तामसभावापन्न अन्नादि भी साधकोंके लिये हितकारी नहीं है।

विज्ञ पुरुषोंकी सम्मतिके अनुसार आहारमें तीन प्रकारके दोष होते हैं—१–जातिदोष, २–आश्रयदोष, ३–निमित्तदोष।

लशुनं गृञ्जनं चैव जग्ध्वा चान्द्रायणं चरेत्।
(याज्ञवल्क्यस्मृति १। ७। १७६)

पतित, नास्तिक आदि तामस वृत्तिवाले लोगोंके भोजनमें आश्रयदोष हैं। ऐसे पुरुष अपने उपार्जित द्रव्यसे मोल लेकर फल-दुग्ध आदि पदार्थ भी यदि किसीको खिलायेंगे तो खानेवालेके मनमें बुरे भावोंका उदय होगा। लोभी, चोर, सूदखोर, शत्रु, क्रूर, उग्र, पतित, नपुंसक, महारोगी, जार, स्त्रैण, वेश्या, व्यभिचारिणी, निर्दय, पिशुन, मिथ्यावादी, कसाई आदि व्यक्तियोंके अन्नको अभोज्य माना गया है। 'इस अन्नको कौन खायगा'—ऐसा कहकर जिसका वितरण हुआ हो, जिसे किसी अपवित्र व्यक्तिने छू दिया हो, अथवा पवित्र व्यक्तिने भी जान-बूझकर जिसमें पैर लगा दिया हो, बुरे लोगोंकी जिसपर दृष्टि पड़ चुकी हो, कुत्ते-कौओं आदिने जिसे जूठा कर दिया हो एवं गाय आदिने जिसे सूँघ लिया हो—ऐसे भोजनमें निमित्तदोष माना जाता है। उपर्युक्त जातिदोष, आश्रयदोष और निमित्तदोषसे रहित खाद्यसामग्रीका भोजन करना 'विवेक' नामक साधन है। शुद्ध होकर, शुद्ध वस्त्र धारण करके, हाथ-पैर, मुँहको धोकर, शुद्ध स्थानमें आसनपर, विहित दिशाकी ओर मुँह करके, विहित समयमें, सुसंस्कृत व्यक्तिके द्वारा बनाये और परोसे हुए भगवत्प्रसादके करते रहनेसे अन्तःकरण निर्मल हो जाता है।

इस [illegible] भी [illegible] और [illegible] है, [illegible] [illegible] गया है।

(गीता १६।११, [illegible] ५।१८)

श्रीभगवान् ही [illegible] कामसे [illegible] बच सकता है। जो निवृत्तिमार्ग है— [illegible] जिनके लिये [illegible] है, [illegible]—

‘शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः।’ ([illegible] २।४०) —इस वचनके भावको एवं [illegible] सात्त्विक शिक्षाको जिन्हें न केवल अपने ही अङ्गमें जुगुप्सा है, अपितु दूसरोंके संसर्गकी भी इच्छा नहीं, ऐसे संत महानुभाव तो कामका परित्याग ही कर देते हैं। आचार्य रामानुजने —‘भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः’ इस गीता (८।३) वचनके भाष्यमें लिखा है—

“भूतभावो मनुष्यादिभावः, तदुद्भवकरो यो विसर्गः ‘पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति’ (छां० ५।९।१) इति श्रुतिसिद्धो योषित्सम्बन्धजः स कर्मसंज्ञितः। तथाखिलं सानुबन्धमुद्वेजनीयतया परिहरणीयतया च मुमुक्षुभिर्ज्ञातव्यम्। परिहरणीयता चानन्तरमेव वक्ष्यते—‘यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्तीति’।”

—योषित्-सम्बन्धसे होनेवाले प्राणियोंके जन्म देनेवाले विसर्गको ‘कर्म’ कहते हैं। मुमुक्षुओंको इस कर्मसे उद्वेग होता है। अतएव उनके लिये यह परिहरणीय है और श्रीभगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे भी आगे काम-प्रतियोगी ब्रह्मचर्यका मुमुक्षुओंके लिये विधान किया है। मल-मूत्रसे परिपूर्ण रक्त-मांस-मय शरीरसे निर्विण्ण होकर संत तुलसीदासजीने चिदानन्द-मय राममूर्तिसे अपना मन लगा लिया था। कामका ऐसा ही परित्याग साधकोंके लिये उपदिष्ट है। जिस अवस्थामें कामकी वासनाएँ स्वयमेव शान्त हो जायँ और उनके स्थानपर भागवती भावनाओंका समुदय हो जाय, उसी अवस्थाको ब्रह्मचर्य कहते हैं। वही ब्रह्मकी ओर संचरण है।

[illegible] श्रुतिने— [illegible]

(कठ० १।३।१५) [illegible] [illegible] मुक्त हो जाते हैं। [illegible] है।

‘अभ्यास’ यह [illegible] है—जिससे [illegible] शरीरसे बार-बार ऐसी प्रवृत्ति उठती है जिससे [illegible] सदा श्रीभगवान्‌की सन्निधिमें [illegible] रहे। [illegible] अभ्यासमें [illegible] निश्चय करना ही इसका उद्देश है। [illegible] मन-वाणी-शरीर [illegible] हो जाते हैं और उसमें अविरत समावेश हो जाता है। किसी-न-किसी आलम्बनसे ही [illegible] सिद्धान्त है कि परतत्त्व [illegible] ही सर्वोत्कृष्ट आलम्बन हैं—एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्। (कठ० १।२।१७।)

जिनके स्मृतिविलाससे विश्वके उदय, स्थिति, विलय हुआ करते हैं, उन्हीं परम सौन्दर्यके आगार श्रीभगवान्‌से सम्बन्ध रखनेवाली चर्चाका ही नित्य अभ्यास होता रहे, इससे बढ़कर और कौन-सा [illegible] होगा ? कर्म-भेदसे आचार भी चार प्रकारका है—नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध। इनमेंसे अन्त भाषण आदि निषिद्ध कर्मोंका त्याग ही श्रेयस्कर है। ‘षट् कर्माणि दिने दिने’ आदि वाक्योंद्वारा शास्त्र जिन कर्मोंके करनेका उपदेश दे रहे हैं, वे नित्य हैं। इनको प्रति दिवस करना चाहिये; क्योंकि इनके न करनेसे प्रत्यवाय (पाप) होता है। सूर्यग्रहण आदि निमित्त-विशेषके उपस्थित होनेपर जो स्नान-दानादि कर्म किये जाते हैं, वे नैमित्तिक कहलाते हैं। काम्यकर्म दो प्रकारके हैं—एक तो वे जो किसी शुभ स्वार्थ या परार्थके साधनकी भावनासे किये जाते पुत्रेष्टि आदि,

।अशुभ उद्देश्यकी पूर्तिके लिये किया जाता है, —उच्चाटन-प्रयोग आदि। इनमेंसे सत्त्वगुणप्रधान शुभकामनाको लेकर किये जानेवाले धर्मकल्याणमें प्रवृत्त होते हैं, पर अशुभ कामनाओंमें नहीं। शुभ नाओंमें भी वे ही अभिरुचि रखते हैं, जो प्रवृत्तिमार्गी जो निवृत्तिमार्गी हैं, वे तो मधुरमूर्ति श्रीभगवान्में ही समस्त कामनाओंको केन्द्रित कर चुकनेके कारण दितरविषयक काम्यकर्मोंका न्यास ही कर देते हैं। यज्ञ, दान और तपको भगवत्प्रीत्यर्थ वे भी करते हैं; क्योंकि ये कर्म इसलिये त्याज्य नहीं हैं ये साधकोंकी चित्तवृत्तिको सदा पवित्र बनाये रखते भगवद्गीता अध्याय १८, श्लोक ५)

गृहस्थोंके लिये पञ्चमहायज्ञोंको नित्य करनेका रूपमें विधान है। अग्निहोत्रादि अन्यान्य यज्ञ न भी न पड़ें तो भी पञ्चमहायज्ञोंका तो निर्वाह सुगमतया हो सकता है। ये पञ्चमहायज्ञ हैं—ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, वयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ। स्वाध्यायसे ब्रह्मयज्ञ, तर्पणसे तृयज्ञ, हवनसे देवयज्ञ, बलिकर्मसे भूतयज्ञ और तिथि-सत्कारसे नृयज्ञ सम्पन्न होता है। (मनु० ३। ७०) महर्षि बादरायणने अपने—'अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात्' (४।१।१६) स ब्रह्मसूत्रमें विद्वान्को भी अग्निहोत्रादि हवन करनेकी आज्ञा दी गयी है; क्योंकि ये धर्मकार्य विद्याके—सत्-ज्ञानके—साधक ही हैं, बाधक नहीं। इसी विचारसे पाञ्चरात्रान्तर्गत 'महत्तन्त्र'में आदेश दिया गया है कि साधक अपने घरमें परतत्त्व श्रीमन्नारायणके चरणोंमें स्तोत्रोंकी सुमनोऽञ्जलियाँ समर्पितकर गृह्यसूत्रके अनुसार बलिवैश्वदेव एवं महायज्ञोंका अनुष्ठान करे—

इति विज्ञाप्य देवेशं वैश्वदेवं स्वमात्मनि।
कुर्यात् पञ्चमहायज्ञानपि गृह्योक्तकर्मणा॥

यद्यपि प्रत्येक कार्यमें शरीर और मानस-व्यापार अपेक्षित है, तथापि 'क्रिया'-नामक चतुर्थ साधनमें शारीरिक कर्मकी ओर विशेष झुकाव है और 'कल्याण' नामक पञ्चम साधनमें मानस-व्यापारकी ओर है। मानवकी पूर्णता इसीमें है कि उसके साधनसम्पन्न शरीरमें साधन-सम्पन्न मन हो। शरीर और मनका घनिष्ठ सम्बन्ध है और दोनोंको ही साधन-मार्गमें प्रवृत्त करनेवाला साधक अन्तमें सिद्धि-लाभ करता है। कल्याणसे तात्पर्य मङ्गलमयी मानसिक वृत्तियोंसे है। ये वृत्तियाँ मानो कुसुमावलियाँ हैं, जिनसे साधकका हृदय-भवन सुसज्जित हो जाता है। इस प्रकार परिष्कृत और सुसज्जित मनोमन्दिरमें ही भगवद्भक्तिका उदय होता है। पूर्वोक्त 'विमोक' हेय वृत्तियोंके त्यागका साधन है—तो यह 'कल्याण' उपादेय वृत्तियोंके ग्रहणका साधन है। धृति, क्षमा, दया, आर्जव, मार्दव, अद्रोह, मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा आदि अनेक दैवीसम्पत्तिकी सद्वृत्तियाँ हैं। ये सब 'कल्याण'के अन्तर्गत हैं और इनसे सम्पन्न व्यक्ति कभी दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता, प्रत्युत वह परमोत्तम सद्गतिको प्रदान करनेवाली भक्तिका अधिकारी बन जाता है। (गी० ६। ४०)

साधकको अपना समस्त जीवन साधनामय बना लेना चाहिये। कर्मवश इस संसार-सागरमें निमज्जनोन्मज्जन करनेवाले जीवको पद-पदपर त्रिविध दुःखके आवर्त्तोंका सामना करना पड़ता है; किंतु जो सदाचारी व्यक्ति हैं, वे इन दुःखोंसे कदापि विचलितचित्त नहीं होते। इष्टका वियोग एवं अनिष्टका संयोग, प्रतिकूल वेदनीय होनेके कारण दुःखका हेतु होता है। दुःखसे उद्विग्न होकर मनुष्य कोई साधन नहीं कर सकता—न तो प्रवृत्तिमार्गी साधक त्रिवर्गसाधनमें सफल हो सकता है और न निवृत्तिमार्गी साधक पारमार्थिक सिद्धि ही प्राप्त कर सकता है। यदि साधन करते-करते कष्टोंका सामना करना पड़े तो भी प्रवृत्तिमार्गीके समान ही निवृत्तिमार्गीको भी विषाद नहीं करना चाहिये। विषण्ण होनेसे शरीर और मनका स्वास्थ्य विकृत हो जाता है—

इन छःमें भी पहले तीन अति प्रबल हैं, अतएव इन्हें नरकका 'त्रिविध द्वार' कहा गया है।

(गीता १६ । २१, मानस ५ । ३८)

श्रीभगवान् ही कृपा करके कामरूपी दुर्धर्ष शत्रुसे बचायें तो बचाव हो सकता है। जो निवृत्तिमार्गी हैं—संसारके विषयोंसे जिन्हें ग्लानि है, महर्षि पतञ्जलिके—'शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः' (योगसूत्र २ । ४०) —इस वचनकी भावनासे एवं शरीरके रक्तमांसमय संघटनके तात्त्विक विज्ञानसे जिन्हें न केवल अपने ही अङ्गमें जुगुप्सा है, अपितु दूसरेसे संसर्गकी भी इच्छा नहीं, ऐसे संत महानुभाव तो कामका परित्याग ही कर देते हैं। आचार्य रामानुजने—'भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः' इस गीता (८ । ३) वचनके भाष्यमें लिखा है—

"भूतभावो मनुष्यादिभावः, तदुद्भवकरो यो विसर्गः 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति (छां० ५ । ३ । ३) इति श्रुतिसिद्धो योषित्सम्बन्धजः, स कर्मसंज्ञितः। तच्चाखिलं सानुबन्धमुद्वेजनीयतया परिहरणीयतया च मुमुक्षुभिर्ज्ञातव्यम्। परिहरणीयता चानन्तरमेव वक्ष्यते—'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्तीति।"

—योषित्-सम्बन्धसे होनेवाले प्राणियोंके जन्म देनेवाले विसर्गको 'कर्म' कहते हैं। मुमुक्षुओंको इस कर्मसे उद्वेग होता है। अतएव उनके लिये यह परिहरणीय है और श्रीभगवान्ने अपने श्रीमुखसे भी आगे काम-प्रतियोगी ब्रह्मचर्यका मुमुक्षुओंके लिये विधान किया है। मल-मूत्रसे परिपूर्ण रक्त-मांस-मय शरीरसे निर्विण्ण होकर संत तुलसीदासजीने चिदानन्द-मय राममूर्तिसे अपना मन लगा दिया था। कामका ऐसा ही परित्याग साधकोंके लिये उपदिष्ट है। जिस अवस्थामें कामकी वासनाएँ स्वयमेव शान्त हो जायँ और उनके स्थानपर भागवती भावनाओंका उदय हो जाय, उसी अवस्थाको ब्रह्मचर्य कहते हैं। यही ब्रह्मकी ओर संचरण है। ब्रह्म-प्रेमका यही महत्त्व है। इसीका निर्देश श्रुतिने—'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं (कठ० १ । २ । १५) कहकर किया ब्रह्मचारीके क्रोधादि शत्रु, अपने आप अनन्तर स्वयमेव परास्त हो जाते हैं। इ साधनका नाम 'विमोक' है।

'अभ्यास' वह साधन है—जिसमें मन, शरीरमें बारंबार ऐसी प्रवृत्ति उठती रहे, जिससे हृदय-भवन सदा श्रीभगवान्की भक्तिभावनाओं से भावित रहे। प्रपञ्चोन्मुखी चित्तको आश्रयोंसे हटाकर प्रपञ्चातीत शुभाश्रय निविष्ट करना ही इसका उद्देश्य है। इस मन-वाणी-शरीर विनिर्मल हो जाते हैं और उसमें अधिकाधिक समावेश हो जाता है। किसी-न-किसी आलम्बनको ही लेकर शास्त्रका सिद्धान्त है कि परतत्त्व श्रीमन्नारायण सर्वोत्कृष्ट आलम्बन हैं—एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतद परम्। (कठ० १ । २ । १७ ।)

जिनके भ्रुकुटिविलाससे विश्वके उदय, स्थि विलय हुआ करते हैं, उन्हीं परम सौन्दर्यके आगार श्रीभगवान्से सम्बन्ध रखनेवाली चर्चाका ही अभ्यास होता रहे, इससे बढ़कर और कौन-सा होगा! कर्म-भेदसे आचार भी चार प्रकारका है नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध। इनमेंसे भाषण आदि निषिद्ध कर्मोंका त्याग ही श्रेयस्कर है 'षट् कर्माणि दिने दिने' आदि वाक्योंद्वारा शास्त्र कर्मोंके करनेका उपदेश दे रहे हैं, वे नित्य हैं। इनको प्रति दिवस करना चाहिये; क्योंकि इनके न करनेसे प्रत्यवाय (पाप) होता है। सूर्यग्रहण आदि निमित्त-विशेषके उपस्थित होनेपर जो स्नान-दानादि कर्म किये जाते हैं, वे नैमित्तिक कहलाते हैं। काम्यकर्म दो प्रकारके हैं— किसी शुभ स्वार्थ या परार्थके ... है—जैसे पुत्रेष्टि

शुभ वरेस्यकी पूर्तिके लिये किया जाता है, उच्चाटन-प्रयोग आदि । इनमेंसे सत्त्वगुणप्रधान शुभकामनाको लेकर किये जानेवाले कर्मकल्पमें त होते हैं, पर अशुभ कामनाओंमें नहीं । शुभ मोंमें भी वे ही अभिरुचि रखते हैं, जो प्रवृत्तिमार्गी निवृत्तिमार्गी हैं, वे तो मधुरमूर्ति श्रीभगवान्‌में ही समस्त कामनाओंको केन्द्रित कर चुकनेके कारण तद्विषयक काम्यकर्मोंका न्यास ही कर देते हैं। ज्ञ, दान और तपको भगवत्प्रीत्यर्थ वे भी करते ; क्योंकि ये कर्म इसलिये त्याज्य नहीं हैं ास्त्रोंकी चित्तवृत्तिको सदा पवित्र बनाये रखते (भगवद्गीता अध्याय १८, श्लोक ५)

। गृहस्थोंके लिये पञ्चमहायज्ञोंको नित्य करनेका ास्त्रमें विधान है । अग्निष्टोमादि अन्यान्य यज्ञ न भी न पड़ें तो भी पञ्चमहायज्ञोंका तो निर्वाह सुगमतया हो ी सकता है । ये पञ्चमहायज्ञ हैं—ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ । स्वाध्यायसे ब्रह्मयज्ञ, तर्पणसे पितृयज्ञ, हवनसे देवयज्ञ, बलिकर्मसे भूतयज्ञ और अतिथि-सत्कारसे नृयज्ञ सम्पन्न होता है । (मनु० ३ । ७०) महर्षि बादरायणने अपने—'अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात्' (४ । १ । १६) इस ब्रह्मसूत्रमें विद्वान्‌को भी अग्निहोत्रादि हवन करनेकी आज्ञा दी गयी है; क्योंकि ये धर्मकार्य विद्याके—सद्‌ज्ञानके—साधक ही हैं, बाधक नहीं । इसी विचारसे पाञ्चरात्रान्तर्गत 'महातन्त्र'में आदेश दिया गया है कि साधक अपने घरमें परतत्त्व श्रीमन्नारायणके चरणोंमें स्तोत्रोंकी सुमनोऽञ्जलियाँ समर्पितकर गृह्यसूत्रके अनुसार बलिवैश्वदेव एवं महायज्ञोंका अनुष्ठान करे—

इति विज्ञाप्य देवेशं वैश्वदेवं स्वमात्मनि ।
कुर्यात् पञ्चमहायज्ञानपि गृह्योक्तकर्मणा ॥

यद्यपि प्रत्येक कार्यमें शरीर और मानस-व्यापार अपेक्षित है, तथापि 'क्रिया'-नामक चतुर्थ साधनमें शारीरिक कर्मकी ओर विशेष झुकाव है और 'कल्याण' नामक पञ्चम साधनमें मानस-व्यापारकी ओर है । मानवकी पूर्णता इसीमें है कि उसके साधनसम्पन्न शरीरमें साधन-सम्पन्न मन हो । शरीर और मनका घनिष्ठ सम्बन्ध है और दोनोंको ही साधन-मार्गमें प्रवृत्त करनेवाला साधक अन्तमें सिद्धि-लाभ करता है । कल्याणसे तात्पर्य मङ्गलमयी मानसिक वृत्तियोंसे है । ये वृत्तियाँ मानो कुसुमावलियाँ हैं, जिनसे साधकका हृदय-भवन सुसज्जित हो जाता है । इस प्रकार परिष्कृत और सुसज्जित मनोमन्दिरमें ही भगवद्भक्तिका उदय होता है । पूर्वोक्त 'विमोक' हेय वृत्तियोंके त्यागका साधन है—तो यह 'कल्याण' उपादेय वृत्तियोंके ग्रहणका साधन है । धृति, क्षमा, दया, आर्जव, मार्दव, अद्रोह, मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा आदि अनेक दैवीसम्पत्तिकी सद्‌वृत्तियाँ हैं । ये सब 'कल्याण'के अन्तर्गत हैं और इनसे सम्पन्न व्यक्ति कभी दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता, प्रत्युत वह परमोत्तम सद्‌गतिको प्रदान करनेवाली भक्तिका अधिकारी बन जाता है । (गी० ६ । ४०)

साधकको अपना समस्त जीवन साधनामय बना लेना चाहिये । कर्मवश इस संसार-सागरमें निमज्जनोन्मज्जन करनेवाले जीवको पद-पदपर त्रिविध दुःखके आवर्त्तोंका सामना करना पड़ता है; किंतु जो सदाचारी व्यक्ति हैं, वे इन दुःखोंसे कदापि विचलितचित्त नहीं होते । इष्टका वियोग एवं अनिष्टका संयोग, प्रतिकूल वेदनीय होनेके कारण दुःखका हेतु होता है । दुःखसे उद्विग्न होकर मनुष्य कोई साधन नहीं कर सकता—न तो प्रवृत्तिमार्गी साधक त्रिवर्गसाधनमें सफल हो सकता है और न निवृत्तिमार्गी साधक पारमार्थिक सिद्धि ही प्राप्त कर सकता है । यदि साधन करते-करते कष्टोंका सामना करना पड़े तो भी प्रवृत्तिमार्गीके समान ही निवृत्तिमार्गीको भी विषाद नहीं करना चाहिये । विषण्ण होनेसे शरीर और मनका स्वास्थ्य विकृत हो जाता है—

मध्वगौड़ीय वैष्णवसम्प्रदायमें सदाचार

(लेखक—डॉ० श्रीअवधविहारीलालजी कपूर, एम्० ए०, डी० फिल०)

ड़ीय वैष्णवसम्प्रदाय (अचिन्त्य भेदाभेद)के जीवका परम धर्म है, कृष्ण-भक्ति—'स वै परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।' (श्रीमद्भा० १ । २६) इसमें सदाचारका मूल्य भक्तिके रूपमें—सहायकरूपमें है; स्वतन्त्र रूपमें नहीं। वही है, जिससे श्रीकृष्ण संतुष्ट हों— हरितोषं यत्' (श्रीमद्भा० ४ । २ । ४९) स धर्मका भी अनुष्ठान करें, उसकी पूर्णसिद्धि है कि भगवान् प्रसन्न हों—'स्वनुष्ठितस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्।' (श्रीमद्भा० १ । २ । । यदि श्रीहरिको प्रसन्न करना ही हमारे जीवनका उद्देश्य है तो हमारा स्खलन होगा, हमसे कभी कोई अनुचित कार्य न बनेगा— निर्मील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह। द्भा० ११ । २ । ३५) । सभी कार्य ठीक ही होंगे—

कृष्ण-भक्ति कैले सर्व कर्म कृत हय।
(चै० च० २ । २२ । ३०)

जैसे वृक्षके मूलमें जल देनेसे उसके तने, शाखाओं और उपशाखाओंमें जल पहुँच जाता है, से प्राणोंकी रक्षा करनेसे सब इन्द्रियोंकी रक्षा होती है, वैसे ही श्रीकृष्णकी पूजा-भक्ति करनेसे सबकी पूजा हो जाती है, सभी आचारोंका पालन हो जाता । (श्रीमद्भा० ४ । ३१) इसलिये गीताके अन्तमें भगवान्‌का सर्वगुह्यतम उपदेश है—'सब धर्मोंका परित्याग कर केवल (मुझ) भगवान्‌की शरण ले लेना', केवल उनकी भक्ति करना। सब कर्मोंके परित्यागका अर्थ, गौड़ीय वैष्णवोंके अनुसार केवल कर्मके फलका त्यागमात्र नहीं, कर्ममात्रका सम्यक् त्याग है। शुद्धाभक्तिमें कर्मका सम्यक् त्याग आवश्यक है। जो शुद्धाभक्तिके अधिकारी नहीं हैं, उन्हींके लिये फलत्यागपूर्वक कर्मानुष्ठानका विधान है। परंतु कर्मका यह सम्यक् त्याग तबतक नहीं करना चाहिये, जबतक निर्वेदकी अवस्था नहीं आती अर्थात् विषयों या कर्मफलोंसे विरक्ति नहीं हो जाती, तथा जबतक भगवत्कथा-श्रवणादिमें श्रद्धा नहीं हो जाती—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥
(श्रीमद्भा० ११ । २० । ९)

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने इस श्लोककी टीकामें लिखा है कि यहाँ श्रद्धाका अर्थ है—आत्यन्तिकी श्रद्धा। आत्यन्तिकी श्रद्धामें साधकको यह दृढ़ विश्वास हो जाता है कि भगवद्कथा-श्रवणादिसे ही वह कृतार्थता लाभ कर सकता है, कर्म-ज्ञानादिसे नहीं *। ऐसी श्रद्धा तभी होती है, जब मनुष्य कर्मके गुण और दोष भली प्रकार जान लेता है और समझ लेता है कि कर्मसे स्वर्गादिकी प्राप्ति ही होती है, वासनाओंका नाश नहीं होता, और संसार-बन्धनसे मुक्ति नहीं मिलती। ऐसे लोगोंके लिये, जिन्हें कर्मके गुण-दोष समझ लेनेपर भगवद्-कथा-श्रवणादिमें आत्यन्तिक श्रद्धा हो गयी है, भगवान् कृष्णने कहा है कि यदि मेरे द्वारा आदिष्ट स्वधर्मसमूहको सम्यक्‌रूपसे त्यागकर मेरा भजन करते हैं तो वे परम संत हैं—

आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयाऽऽदिष्टानपि स्वकान्।
धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान् मां भजेत् स सत्तमः॥
(श्रीमद्भा० ११ । ११ । ३२)

पर जिन्हें इस प्रकारकी श्रद्धा नहीं है, उनके लिये कर्म-त्याग अविधेय है। उनका कल्याण वेद-विहित

* श्रीचैतन्यमहाप्रभुने भी कहा है—
'श्रद्धा' शब्दे विश्वास कहे सुदृढ़ निश्चय। कृष्ण-भक्ति कैले सर्व कर्म कृत हय॥
(चैतन्य चरिता० २ । २२ । ३७)

'विषादो रोगकारणम्' (—चरक)। विषादका पर्यायके सम्मुख, कैवल्यसे पूर्व,
दूसरा नाम है—'अवसाद' और इसका अभाव सिद्धियाँ समुपस्थित होती हैं। यहाँ
अनवसाद कहलाता है। विषण्ण होकर साधन छोड़ है कि साधकको उन सिद्धियोंके
देनेकी अपेक्षा साधकको यही भावना करनी (ईश्वदर्शन, गुरुकृपा, गौरवत्व अनुभव) दे
चाहिये कि जो सिद्धियाँ परिणाममें अमृतोपम मधुर चाहिये। उस समयका स्मय कैवल्यका
होती हैं, वे साधन-क्षेत्रमें विषोपम कष्टदायिनी भी सकता है, जैसा कि योगसूत्रकार
होती हैं—

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥
(गीता १८। ३७)

गीतामें श्रीभगवान्‌ने स्थितप्रज्ञको—'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः' कहा है। इस प्रकार इष्टदर्शनके लिये साधन करते-करते साधनजन्य कष्टोंमें विषाद न करना 'अनवसाद' नामक छठा साधन है। 'जिस प्रकार जीवको विपत्तिमें विषण्ण न होनेका आदेश है, उसी प्रकार सम्पत्तिमें भी आपेसे बाहर न होनेका उपदेश है। अत्यन्त संतोषका नाम है—'उद्धर्ष'। उद्धर्ष होनेपर अग्रिम विकासकी अभिलाषा शान्त हो जाती है जो कि साधनाकी उच्च भूमिकामें प्रवेशकी बाधक है। उद्धर्षका अभाव 'अनुद्धर्ष' कहलाता है। जिस प्रकार प्रवृत्तिमार्गमें हर्षावसर प्राप्त होनेके समय अनुद्धर्षका भाव व्यक्तिके गाम्भीर्यका सूचक है, उसी प्रकार निवृत्तिमार्गमें साधनजन्य क्रमिक विकासकी सूचना देनेवाली गौण सिद्धियोंके लाभके समय साधकका अनुद्धर्ष उसके उत्कर्षका द्योतक है। योगमार्गके

*स्थान्युपनिमन्त्रणे
पुनरनिष्टप्रसङ्गात्। (योगसूत्र ३। ५१)

इसी प्रकार उपासनाकी साधनामें मोक्षा
सिद्धियोंके लाभके सुखसे ही संतुष्ट नहीं हो
अन्यथा साधनाका वास्तविक साध्य असिद्ध
इस प्रकार साधनाके क्रमिक विकासमें तत्त
चमत्कारोंकी प्राप्तिमें असंतोष रखना ही 'अनुद्ध
सातवाँ साधन है। राजकुमार ध्रुवने परतत्त्व
साक्षात्कारके लिये 'द्वादशाक्षरविद्या'का† जप कि
इस मन्त्रराजके एक सप्ताहतक अनुशीलनसे खेच
दर्शन हो जाता है—यं सप्तरात्रं प्रपठन् पु
पश्यति खेचरान् (श्रीमद्भा० ४। ८। ५३
ध्रुवजी यदि खेचर-दर्शनसे ही अति संतुष्ट हो ज
तो आगे प्रयत्न न करते, किंतु वे 'अनुद्ध
साधक थे। ऐसा अनुद्धर्ष ही साधकका परम आद
है। उपर्युक्त साधन-सप्तकमय सदाचारके पावन
विनिर्मित हृदय-भवनमें श्रीभगवान्‌की भक्तिका उद
अविराम हो जाता है।

---

* यहाँ राजमार्तण्डवृत्तिकार (भोज), चन्द्रिकावृत्तिकार, (नागेश) आदिके मतसे स्थान्युपनिमन्त्रण आदि पद है।

† द्वादशाक्षरविद्या—ॐ नमो भगवते वासुदेवाय है। पद्मपुराण ६१। ७१—७९ में १२ अक्षरोंके ... आदि युक्त विधासे १२ अक्षरोंमें प्रति दिवस है। स्कन्दपुराण, वायुपुराण० २०-२४ अध्यायोंमें ... आदिमें इसका महत्त्व एवं सम्प्रदाय निर्दिष्ट है। ... १। १८१ के अनुसार ... इस प्रकार यह द्वादश मंत्र परम्परासे भी सम्मान्य रहा था।

मध्वगौड़ीय वैष्णवसम्प्रदायमें सदाचार

(लेखक—डॉ० श्रीअवधविहारीलालजी कपूर, एम्० ए०, डी० फिल०)

गौड़ीय वैष्णवसम्प्रदाय (अचिन्त्य भेदाभेद)के अनुसार जीवका परम धर्म है, कृष्ण-भक्ति—'स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।' (श्रीमद्भा० १।२।२६) इसमें सदाचारका मूल्य भक्तिके साधनरूपमें—सहायकरूपमें है; स्वतन्त्र रूपमें नहीं। सत्कर्म वही है, जिससे श्रीकृष्ण संतुष्ट हों—'तत्कर्म हरितोषं यत्' (श्रीमद्भा० ४।२९।४९) हम जिस धर्मका भी अनुष्ठान करें, उसकी पूर्णसिद्धि इसीमें है कि भगवान् प्रसन्न हों—'स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्।' (श्रीमद्भा० १।२।१३)। यदि श्रीहरिको प्रसन्न करना ही हमारे जीवनका एकमात्र उद्देश्य है तो हमारा स्खलन नहीं होगा, हमसे कभी कोई अनुचित कार्य न बनेगा—धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह। (श्रीमद्भा० ११।२।३५)। सभी कार्य ठीक ही होंगे—

> कृष्ण-भक्ति कैले-सर्व कर्म कृत हय।
>
> (चै० च० २।२२।३७)

जैसे वृक्षके मूलमें जल देनेसे उसके तने, शाखाओं और उपशाखाओंमें जल पहुँच जाता है, जैसे प्राणोंकी रक्षा करनेसे सब इन्द्रियोंकी रक्षा हो जाती है, वैसे ही श्रीकृष्णकी पूजा-भक्ति करनेसे सबकी पूजा हो जाती है, सभी आचारोंका पालन हो जाता है। (श्रीमद्भा० ४।३१) इसलिये गीताके अन्तमें भगवान् कृष्णका सर्वगुह्यतम उपदेश है—'सब धर्मोंका परित्याग कर केवल (मुझ) भगवान्‌की शरण ले लेना', केवल उनकी भक्ति करना। सब धर्मोंके परित्यागका अर्थ, गौड़ीय वैष्णवोंके अनुसार केवल धर्मके फलका त्यागमात्र नहीं, धर्मनात्रका सम्यक् त्याग है। शुद्धाभक्तिमें धर्मका सम्यक् त्याग आवश्यक है। जो शुद्धाभक्तिके अधिकारी नहीं हैं, उन्हींके लिये फलत्यागपूर्वक कर्मानुष्ठानका विधान है। परंतु कर्मका यह सम्यक् त्याग तबतक नहीं करना चाहिये, जबतक निर्वेदकी अवस्था नहीं आती अर्थात् विषयों या कर्मफलोंसे विरक्ति नहीं हो जाती, तथा जबतक भगवत्कथा-श्रवणादिमें श्रद्धा नहीं हो जाती—

> तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
> मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥
>
> (श्रीमद्भा० ११।२०।९)

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने इस श्लोककी टीकामें लिखा है कि यहाँ श्रद्धाका अर्थ है—आत्यन्तिकी श्रद्धा। आत्यन्तिकी श्रद्धामें साधकको यह दृढ़ विश्वास हो जाता है कि भगवत्कथा-श्रवणादिसे ही वह कृतार्थता लाभ कर सकता है, कर्म-ज्ञानादिसे नहीं *। ऐसी श्रद्धा तभी होती है, जब मनुष्य कर्मके गुण और दोष भली प्रकार जान लेता है और समझ लेता है कि कर्मसे स्वर्गादिकी प्राप्ति ही होती है, वासनाओंका नाश नहीं होता, और संसार-बन्धनसे मुक्ति नहीं मिलती। ऐसे लोगोंके लिये, जिन्हें कर्मके गुण-दोष समझ लेनेपर भगवत्-कथा-श्रवणादिमें आत्यन्तिक श्रद्धा हो गयी है, भगवान् कृष्णने कहा है कि यदि मेरे द्वारा आदिष्ट स्वधर्मसमूहको सम्यक्‌रूपसे त्यागकर मेरा भजन करते हैं तो वे परम संत हैं—

> आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयाऽऽदिष्टानपि स्वकान्।
> धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान् मां भजेत् स सत्तमः॥
>
> (श्रीमद्भा० ११।११।३२)

पर जिन्हें इस प्रकारकी श्रद्धा नहीं है, उनके लिये कर्म-त्याग अविधेय है। उनका कर्मत्याग वेद-निन्दित

---

* श्रीचैतन्यमहाप्रभुने भी कहा है—

'श्रद्धा शब्दे विश्वास कहे सुदृढ़ निश्चय। कृष्णभक्ति कैले सर्व कर्म कृत हय॥

(चैतन्यचरित० २।२२।३७)

'विषादो रोगकारणम्' (—चरक)। विषादका दूसरा नाम है—'अवसाद' और इसका अभाव अनवसाद कहलाता है। विषण्ण होकर साधन छोड़ देनेकी अपेक्षा साधकको यही भावना करनी चाहिये कि जो सिद्धियाँ परिणाममें अमृतोपम मधुर होती हैं, वे साधन-वेलामें विषोपम कष्टदायिनी भी होती हैं—

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥
(गीता १८। ३७)

गीतामें श्रीभगवान्‌ने स्थितप्रज्ञको—'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः' कहा है। इस प्रकार इष्टदर्शनके लिये साधन करते-करते साधनजन्य कष्टोंमें विषाद न करना 'अनवसाद' नामक छठा साधन है। 'जिस प्रकार जीवको विपत्तिमें विषण्ण न होनेका आदेश है, उसी प्रकार सम्पत्तिमें भी आपेसे बाहर न होनेका उपदेश है। अत्यन्त संतोषका नाम है—'उद्धर्ष'। उद्धर्ष होनेपर अग्रिम विकासकी अभिलाषा शान्त हो जाती है जो कि साधनाकी उच्च भूमिकामें प्रवेशकी बाधक है। उद्धर्षका अभाव 'अनुद्धर्ष' कहलाता है। जिस प्रकार प्रवृत्तिमार्गमें हर्षावसर प्राप्त होनेके समय अनुद्धर्षका भाव व्यक्तिके गाम्भीर्यका सूचक है, उसी प्रकार निवृत्तिमार्गमें साधनजन्य क्रमिक विकासकी सूचना देनेवाली गौण सिद्धियोंके लाभके समय साधकका अनुद्धर्ष उसके उत्कर्षका द्योतक है। योगमार्गके पथिकके सम्मुख, कैवल्यसे पूर्व, संयमजन्य गौण सिद्धियाँ समुपस्थित होती हैं। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि साधकको उन सिद्धियोंके लाभसे 'स्मय' (ईश्वरदर्शन, मुसकराहट, गौरवका अनुभव) नहीं रहना चाहिये। उस समयका स्मय कैवल्यका बाधक हो सकता है, जैसा कि योगसूत्रकार पतञ्जलिका कथन है—

*स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्। (योगसूत्र ३। ५१)

इसी प्रकार उपासनाकी साधनामें भी साधकको गौण सिद्धियोंके लाभको सुखसे ही संतुष्ट नहीं होना चाहिये; अन्यथा साधनाका वास्तविक साध्य असिद्ध ही रहेगा। इस प्रकार साधनाके क्रमिक विकासमें तज्जन्य क्षुद्र चमत्कारोंकी प्राप्तिमें असंतोष रखना ही 'अनुद्धर्ष' नामक सातवाँ साधन है। राजकुमार ध्रुवने परात्पर भगवान्‌के साक्षात्कारके लिये 'द्वादशाक्षरविद्या'का† जप किया था। इस मन्त्रराजके एक सप्ताहतक अनुशीलनसे खेचरोंका दर्शन हो जाता है—यं सप्तरात्रं प्रपठन् पुमान् पश्यति खेचरान् (श्रीमद्भा० ४। ८। ५३)। ध्रुवजी यदि खेचर-दर्शनसे ही अति संतुष्ट हो जाते तो आगे प्रयत्न न करते, किंतु वे 'अनुद्धर्ष'के साधक थे। ऐसा अनुद्धर्ष ही साधकका परम आदर्श है। उपर्युक्त साधन-सप्तकमय सदाचारके पालनसे विनिर्मित हृदय-भवनमें श्रीभगवान्‌की भक्तिका उदय अविलम्ब हो जाता है।

---

* यहाँ राजमार्तण्डवृत्तिकार (भोज), चन्द्रिकावृत्तिकार (अनन्तदेव) आदिके मतसे 'स्थान्युपनिमन्त्रणे' आदि पाठ है।

† द्वादशाक्षरविद्या—'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' है। वामनपुराण ६१। ५३—७० में १२ मास, राशि, नक्षत्र आदि युक्त इसके १२ अक्षरोंमें भक्ति दिखाया है। स्कन्दपुराण, चातुर्मास्यमाहा० २०—२६ अध्यायोंमें तथा 'शारदातिलक' आदिमें इसका महत्त्व एवं सम्प्रदाय निर्दिष्ट है। भागवत १। १६३ में

इस प्रकार यह ध्रुवका मंत्र परमात्मने ,

। दोनोंका अक्षय-कालपर्यन्त नरकमें वास होता ।' श्रीजीवगोस्वामीने यह भी कहा है कि— गुरुरपि वैष्णवविद्वेषी चेत् परित्यज्य एव'—गुरु यदि वैष्णव-विद्वेषी हो तो वह परित्याज्य ही है। गौड़ीय सम्प्रदायमें शास्त्रानुगत्यका कितना महत्त्व है, इसका पता इस बातसे भी चलता है कि श्रीरूपगोस्वामिपादने भगवान् कृष्णतत्त्वके आचरणको अननुकरणीय बताया है, इसीलिये कि वह सदा शास्त्रके अनुकूल नहीं होता। 'उज्ज्वलनीलमणि'में उन्होंने कहा है—

वर्तितव्यं शमिच्छद्भिर्भक्तवन्न तु कृष्णवत्।
इत्येव भक्तिशास्त्राणां तात्पर्यस्य विनिर्णयः॥
(कृष्णवल्लभाप्रकरण १२-१)

'जो लोग अपनी मङ्गल-कामना करते हैं, उन्हें भक्तवत् आचरण करना चाहिये, न कि कृष्णवत्। यही है भक्तिशास्त्रोंका निर्णीत तात्पर्य।' इस श्लोककी टीकामें श्रीजीवगोस्वामीने लिखा है कि कान्तारसकी बात तो दूर रही, अन्य रसोंमें भी श्रीकृष्णका भाव अनुकरणीय नहीं है। भक्तोंमें भी सिद्ध भक्तोंका आचरण सदा अनुकरणीय नहीं है; क्योंकि वे भी कभी-कभी आवेशमें कृष्ण-का आचरण करने लगते हैं, जैसे गोपियाँ विरहमें कृष्णका ध्यान करते-करते उनसे तादात्म्य प्राप्त कर उनकी-सी लीला करने लगती थीं। केवल साधक भक्तोंका शास्त्रानुमोदित आचरण ही अनुकरणीय है।'

सदाचार एवं वैष्णवाचार—श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीने 'हरिभक्तिविलास'में भविष्योत्तर-पुराणके कृष्ण-युधिष्ठिर-संवादसे एक श्लोक उद्धृत करते हुए कहा —सदाचार-विहीन व्यक्तिके यज्ञ, दान, तपस्यादि भी पुण्यकर्म उसी प्रकार दूषित होते हैं, जिस प्रकार नरकपालमें या कुत्तेके चमड़ेसे बने पात्रमें जल या दुग्ध दूषित हो जाता है, सदाचारहीन व्यक्तिको न इस लोकमें सुख मिलता है, न परलोकमें—

नृकपालस्थं यथा तोयं श्वदृतौ वा यथा पयः।
दुष्टं स्यात् स्थानदोषेण वृत्तिहीने तथा शुभम्॥

सदाचारके अहिंसा, सत्यादि सामान्य एवं कर्मयोग, ज्ञान और भक्तिमार्गके साधकोंके लिये कुछ भिन्न एवं विशेष नियम हैं—गौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदायका साधन-पथ है—शुद्धा भक्ति, जिसका मूल है—शरणागति। शरणागतिका अर्थ है—एकमात्र श्रीकृष्णके शरणागत होना। शुद्धा-भक्तिके साधक वैष्णवके आचारसम्बन्धी जितने भी नियम हैं, वे सब शरणागतिके लक्षण, उपलक्षण या उनके स्वाभाविक परिणाम हैं। शरणागतिके छः लक्षण हैं—(१) आनुकूल्यका संकल्प, (२) प्रतिकूल्यका वर्जन, (३) भगवान् मेरी रक्षा करेंगे—यह विश्वास, (४) रक्षकरूपमें भगवान्‌का वरण, (५) आत्म-समर्पण और (६) कार्पण्य (आर्तिज्ञापन)।

रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥
(ह० भ० वि० ११। ४१७ धृत 'श्रीवैष्णवतन्त्र'-वचन)

वैष्णवाचारके बहुतसे नियम शरणागतिके प्रथम दो लक्षण 'आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्'—के परिणाम हैं। उनमें मुख्य हैं—असत्-सङ्ग-त्याग, स्त्रीसङ्गीका संग-त्याग, कृष्णाभक्तका संग-त्याग और अकिंचनत्व, जिनका महाप्रभुने सनातन गोस्वामीसे इस प्रकार वर्णन किया है—

असत् संग-त्याग, एइ वैष्णव आचार।
स्त्रीसंगी एक असाधु-कृष्णाभक्त आर॥
अकिंचन हया लय कृष्णैक शरण॥
(चै० च० २। २२। ४९-५०)

इनके अतिरिक्त कुछ और नियम हैं, जिनपर गौड़ीय, वैष्णव-सम्प्रदायमें विशेष बल दिया जाता है, वे हैं अभिमानका त्याग, सहिष्णुताका पालन, ज्ञान और वैराग्यके लिये स्वतन्त्ररूपसे प्रयत्न न करना, अपराधोंसे दूर रहना, वैष्णव-धर्मोंका पालन करना और वैष्णव-चिह्न धारण करना।

स्त्रीसङ्गीका त्याग—स्त्रीसङ्गीका अर्थ केवल परस्त्रीसङ्गी ही नहीं, अपनी स्त्रीमें आसक्ति भी है। महाप्रभुने कहा

कर्मोंको विधिपूर्वक करते रहनेमें ही है । उन कर्मोंके करते रहनेसे उनकी चित्त-शुद्धि होती है और वे क्रमशः भगवद्भजनके अधिकारी बन जाते हैं, अन्यथा कर्मोंका त्याग करनेसे वे वेदोंका आश्रय छोड़ बैठते हैं और उच्छृङ्खल जीवनके भयंकर परिणामोंको भोगा करते हैं । ऐसे लोगोंके लिये ही श्रीभगवान्ने कहा है—

> श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते ।
> आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः ॥
> (वाधूल स्मृति १८९)

'श्रुति और स्मृति मेरी ही आज्ञा है, जो मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन करता है, वह मेरा द्वेषी है, वैष्णव नहीं ।' श्रीजीवगोस्वामीने (भागवत ११ । २९ । ६-८ की टीका-में) धर्मको भक्तिका द्वारस्वरूप कहा है । कर्म उसी प्रकार द्वारस्वरूप है, जिस प्रकार गृहमें प्रवेश करनेके लिये द्वारमें प्रवेश करना आवश्यक है । श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीने भी कहा है कि धर्मका उद्गम स्थान ही सत्कर्म है—

> आचारप्रभवो धर्मः सन्तश्चाचारलक्षणाः ।
> (श्रीहरिभक्तिविलास ३ । १० धृत भविष्योत्तरवचन)

सदाचार और शास्त्र—कर्म कौनसे करने योग्य हैं, कौनसे नहीं, यह जाननेके लिये शास्त्रका आश्रय लेना आवश्यक है । भगवान् कृष्णने अर्जुनसे कहा था—'जो लोग शास्त्र-विधिका परित्याग कर स्वेच्छासे कर्म करते हैं, वे सिद्धि लाभ करनेमें असमर्थ रहते हैं; उन्हें न सुख मिलता है, न परागति ही । अतः शास्त्रोक्त विधानके अनुसार ही कर्म करना चाहिये ।' श्री-चैतन्यमहाप्रभुने शास्त्रानुमोदित [illegible] निर्देश [illegible] है । [illegible] बताते हुए उन्होंने कहा था—'[illegible]' (चैतन्य चरितामृत २ । ८ । ५४) अर्थात् [illegible] करते हुए [illegible]

और इस सम्बन्धमें जो कुछ कहें, उसका शास्त्रसे समर्थन करें,' और सनातन श्रीगोस्वामीको भी भक्तिशास्त्रके प्रचार करनेका आदेश देते हुए उन्होंने कहा था—'सर्वत्र प्रमाण दिबे पुराण-वचन' (वही २ । २४ । ११) अर्थात् 'भक्तिके सम्बन्धमें जो कुछ भी कहना या लिखना, उसके प्रत्येक अंशको पुराण-शास्त्रादिसे समर्थन करना ।' गौड़ीय-वैष्णव आचार्योंने महाप्रभुके इस आदेशका अक्षरशः पालन किया है ।

> श्रुतिस्मृतिपुराणादिपाञ्चरात्रविधिं विना ।
> ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते ॥*
> (भक्तिरसामृतसिं० १ । २ । ४९ धृत ब्रह्मयामलवचन)

श्रीजीवगोस्वामिपादने इस श्लोककी टीकामें स्पष्ट किया है कि यहाँ शास्त्रविधिके अनुसार आचरण करनेकी जो बात कही गयी है, वह साधकोंके अपने-अपने अधिकारसे सम्बन्धित शास्त्र-भागोंके लिये ही है । शास्त्रोंमें अनेक प्रकारके साधनोंका उल्लेख है । जो लोग अपने अभीष्टके अनुकूल जिस साधन-पथको अङ्गीकार करते हैं, उन्हें उस साधनपथके अनुकूल शास्त्रका ही आश्रय लेना चाहिये । श्रीकृष्णकी प्रेम-सेवाके आग्रही भक्त-जनोंके लिये सायुज्यमुक्तिका उपदेश करनेवाले शास्त्रोंका आनुगत्य अनुकूल न होगा और सायुज्य-मुक्तिके आग्रही ज्ञानी साधकोंके लिये दास्य-भावका आदेश करनेवाले शास्त्रोंका आनुगत्य अनुकूल न होगा । शास्त्र-आज्ञाके विपरीत गुरु-आज्ञाका पालन करना भी श्रेयस्कर नहीं है । श्रीजीवगोस्वामीने इस सम्बन्धमें [illegible] से [illegible] उद्धृत किया है—

> यो वक्ति न्यायरहितमन्यायेन शृणोति यः ।
> तावुभौ नरकं घोरं व्रजतः कालमक्षयम् ॥

'जो (गुरु) अन्यायी बात (शास्त्रविरुद्ध बात) कहता है और जो उसका पालन करता है, [illegible]

* [illegible]

दोनोंका अक्षय-कालपर्यन्त नरकमें वास होता ' श्रीजीवगोस्वामीने यह भी कहा है कि— पि वैष्णवविद्वेषी चेत् परित्यज्य एव'—गुरु यदि -विद्वेषी हो तो वह परित्याज्य ही है। गौड़ीय ायमें शास्त्रानुगत्यका कितना महत्त्व है, इसका पता ातसे भी चलता है कि श्रीरूपगोस्वामिपादने भगवान् गतकके आचरणको अननुकरणीय बताया है, लये कि वह सदा शास्त्रके अनुकूल नहीं होता। वज्ज्वलनीलमणि'में उन्होंने कहा है—

र्तितव्यं शमिच्छद्भिर्भक्तवन्न तु कृष्णवत्।
यैव भक्तिशास्त्राणां तात्पर्यस्य विनिर्णयः॥
(कृष्णवल्लभाप्रकरण १२-१)

'जो लोग अपनी मङ्गल-कामना करते हैं, उन्हें भक्तवद् रण करना चाहिये, न कि कृष्णवद्। यही है शास्त्रोंका निर्णीत तात्पर्य।' इस श्लोककी टीकामें श्री- गोस्वामीने लिखा है कि कान्तारसकी बात तो दूर , अन्य रसोंमें भी श्रीकृष्णका भाव अनुकरणीय नहीं भक्तोंमें भी सिद्ध भक्तोंका आचरण सदा अनुकरणीय

सदाचारके अहिंसा, सत्यादि सामान्य एवं कर्मयोग, ज्ञान और भक्तिमार्गके साधकोंके लिये कुछ भिन्न एवं विशेष नियम हैं—गौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदायका साधन-पथ है—शुद्धा भक्ति, जिसका मूल है—शरणागति। शरणागतिका अर्थ है—एकमात्र श्रीकृष्णके शरणागत होना। शुद्धा-भक्तिके साधक वैष्णवके आचारसम्बन्धी जितने भी नियम हैं, वे सब शरणागतिके लक्षण, उपलक्षण या उनके स्वाभाविक परिणाम हैं। शरणागतिके छः लक्षण हैं— (१) आनुकूल्यका संकल्प, (२) प्रतिकूलका वर्जन, (३) भगवान् मेरी रक्षा करेंगे—यह विश्वास, (४) रक्षकरूपमें भगवान्का वरण, (५) आत्म-समर्पण और (६) कार्पण्य (आर्तिज्ञापन)।

रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥
(ह० भ० वि० ११।४१७ धृत'श्रीवैष्णवतन्त्र'वचन)

वैष्णवाचारके बहुतसे नियम शरणागतिके प्रथम दो लक्षण 'आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्'— के परिणाम हैं। ...

है कि शिश्नोदरपरायण व्यक्तिको, चाहे वह अपनी स्त्रीमें आसक्त हो या परस्त्रीमें, कृष्णकी प्राप्ति कभी नहीं होती।

'शिश्नोदरपरायण कृष्ण नाहि पाय।'
(चै० च० ३ । ६ । २२५)

महाप्रभुने श्रीमद्भागवतका एक श्लोक (३ । ३१ । ३५) उद्धृत करते हुए कहा है कि स्त्रीसङ्ग या स्त्रीसङ्गीके सङ्गसे जैसा मोह और संसार-बन्धन होता है, वैसा और किसी व्यक्तिके सङ्गसे नहीं होता। उन्होंने छोटे हरिदासको, जो उन्हें गम्भीरामें नित्य कीर्तन सुनाया करते थे, केवल इसलिये त्याग दिया कि वे भगवान् आचार्यकी आज्ञासे महाप्रभुके निमन्त्रणके निमित्त भगवान् आचार्यके घरसे वृद्धा तपस्विनी माधवीदासीसे चावलकी भिक्षा माँग लाये थे। इससे उन्हें महाप्रभुके स्थानमें प्रवेश करनेकी मनाही हो गयी और उन्हें महाप्रभुको नित्य कीर्तन सुनानेकी सेवासे वञ्चित होना पड़ा। श्रीरूप, दामोदरादिने जब महाप्रभुसे उन्हें इस 'अल्प' अपराधके लिये क्षमा कर देनेका आग्रह किया, तब उन्होंने कहा—'मैं प्रकृतिसम्भाषी वैरागीका दर्शन नहीं कर सकता। यदि तुम लोग फिर मुझसे इस प्रकारका अनुरोध करोगे तो मुझे यहाँ भी न देख पाओगे।' एक वर्षपर्यन्त प्रतीक्षा करनेपर भी जब महाप्रभुने छोटे हरिदासको अङ्गीकार न किया, तब उन्होंने प्रयाग जाकर त्रिवेणीमें देह विसर्जन कर दिया। दिव्यदेह प्राप्त कर वे अदृश्यरूपसे महाप्रभुको कीर्तन सुनाने लगे। महाप्रभु जानते थे कि छोटे हरिदास स्त्रीसङ्गी नहीं हैं और उन्होंने माधवीदेवीसे उनके अपने ही लिये भिक्षान्न लाकर कोई अपराध नहीं किया था, पर बाह्यदृष्टिसे उन्होंने शास्त्राज्ञाका उल्लङ्घन किया था; क्योंकि शास्त्रमें वैरागीके लिये स्त्रीके सांनिध्यमें जाने और उससे वार्तालाप करनेका निषेध है। शास्त्रकी मर्यादा रखनेके लिये और शास्त्रकी इस आज्ञाको विशेषरूपसे साधकके हितमें जानकर लोक-शिक्षाके लिये उन्होंने उनके प्रति ऐसा कठोर व्यवहार किया था।

असत्सङ्ग एवं कृष्णाभक्त-सङ्गत्याग—श्रीरूप गोस्वामीजीने कहा है कि कृष्ण-चिन्ता-विमुख सहवासका क्लेश भोग करनेसे अग्नि-दग्ध पिंजरमें वास करना अच्छा है। सर्प, बाघ या जोंकका आलिङ्गन करना पड़े तो भले कर ले, पर वासनारूप-शल्यविद्ध नाना देवोपासक कृष्णाभक्तका सङ्ग कभी न करे। सदाचारी व्यक्तिका भी सङ्ग नहीं करना चाहिये, यदि वह भगवद्भक्तिहीन हो। मुख्यरूपसे असाधु वही है, जो भगवद्भक्ति-रहित हैं। उनकी सदाचारनिष्ठा होनेपर भी सद्गति नहीं होती—

भगवद्भक्तिहीना ये मुख्याऽसंतस्त एव हि।
तेषां निष्ठा शुभा क्वापि न स्यात् सच्चरितैरपि॥
(ह० भ० वि० १० । २११)

महाप्रभु श्रीवासपण्डितके घर रात्रिमें दरवाजा बंदकर भक्तोंसहित नृत्य-संकीर्तन किया करते थे। एक दिन नृत्य-संकीर्तन आरम्भ करनेके कुछ देर बाद वे बोले—'आज हृदयमें स्फूर्ति नहीं हो रही है। लगता है कि किसी बहिरङ्ग व्यक्तिका यहाँ प्रवेश हुआ है।' यह सुन श्रीवासपण्डितने कहा—'कोई ऐसा-वैसा व्यक्ति तो नहीं, एक दुग्धपायी तपस्वी ब्राह्मण, जो बिल्कुल निष्पाप और आजन्म ब्रह्मचारी है, यहाँ आया हुआ है।' महाप्रभुने क्रुद्ध होकर तत्काल उसे निकाल देनेका आदेश दिया—और बोले—'जबतक जीव उनके शरणागत न हो तबतक कहीं दूध पीनेसे, ब्रह्मचर्यके पालन करनेसे या तप करनेसे भगवान् मिलते हैं।'

अभिमानका त्याग—अभिमान भी कृष्ण-भक्तिके प्रतिकूल है। श्रीनरोत्तम ठाकुरने कहा है, अभिमानी

होता अर्थात् 'अभिमानी कभी भक्त नहीं होता।' स्वाभाविकरूपसे सभी जीवोंको अन्तर्यामीरूपमें भगवान्‌का अधिष्ठान जानकर उनका सम्मान करता। यदि वह ऐसा नहीं करता तो भगवान्‌के प्रति अपराध करता है और इस बातको सिद्ध करता है कि वह पूर्णरूपसे भगवान्‌के शरणागत नहीं है। इसका स्वाभाविक अभिमान है—श्रीकृष्णदासाभिमान — प्राकृतिक देहमें आत्मबुद्धिरूप धन-जन, रूप, कुल, विद्या आदि अभिमानके मूल हैं। इसलिये इनका त्याग आवश्यक है। इसे दूर करनेके लिये महाप्रभुका उपदेश है कि साधक अपने-आपको तृणसे भी तुच्छ जानकर और वृक्षके समान सहिष्णु होकर, स्वयं किसी प्रकारके सम्मानकी कामना न करते हुए और सभी जीवोंको सम्मान देते हुए निरन्तर हरिनामका कीर्तन करे —

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥
(शिक्षा० ३)

दूसरोंका सम्मान करनेसे अपने अभिमानका नाश होता है। इसलिये चैतन्य भागवतमें ब्राह्मणसे लेकर चाण्डाल और कुत्तेतकको सम्मानके साथ दण्डवत् करनेका उपदेश है (भागवत ११ तथा चै० भा० ३।३)। इतना ही नहीं, इसे वैष्णवताकी कसौटी माना गया है। जो ऐसा नहीं करता, उसे वैष्णवताका ढकोसला करनेवाला 'धर्मध्वजी' मात्र कहा गया है—

पर से वैष्णवधर्म-सभारे प्रणति।
सेइ धर्मध्वजी, जान इथे नाहि रति॥
(चै० भा० ३।३)

स्वयं महाप्रभु 'तृणादपि सुनीचेन' श्लोककी सजीव मूर्ति थे। सर्वमान्य और सर्वपूज्य होते हुए भी वे भक्तोंकी पद्धति क्रिया करते थे। सहिष्णु होना— वैष्णवको तरुके समान सहिष्णु होना चाहिये। इसको यदि कोई काटे भी तो वह कुछ नहीं कहता, चुपचाप सहन कर लेता है। उल्टा काटनेवालोंको अपने पत्र-पुष्प-फलादि देनेमें संकोच नहीं करता। सूर्यके ताप और वृष्टिके अभावमें सूखकर मर जाता है, तो भी किसीसे पानी नहीं माँगता और जो कोई इसकी छायामें बैठकर ताप-निवारण करना चाहता है, उसे आश्रय देकर उसकी रक्षा करता है, स्वयं कष्ट उठाकर दूसरोंका उपकार करता है। इसी प्रकार वैष्णव-साधकको चाहिये कि यदि कोई उसे कष्ट दे तो उसपर बिना क्रुद्ध हुए यह जानकर सहन करे कि वह अपने ही कर्मका फल भोग रहा है और कष्ट देनेवालेको केवल कर्म-फलका वाहक जानकर सामर्थ्यानुसार उसकी सेवा करे, शत्रु जानकर उसे अपनी सेवासे वञ्चित न करे। उसे चाहिये कि अपने किसी दुःखकी निवृत्तिके लिये किसीसे कुछ न कहे, दूसरोंका दुःख दूर करनेके लिये अपनेको कष्ट भी उठाना पड़े तो कष्ट उठाकर उनका दुःख दूर करे।

परम दयालु नित्यानन्द प्रभुने दुराचारी जगाई और मधाईके उद्धारका संकल्प किया। वे मद-मस्त हस्तीकी तरह उच्च स्वरसे हरिनाम-कीर्तन करते हुए उनकी बस्तीमें जा पहुँचे। जगाई-मधाई अपनी बस्तीमें एक अवधूत साधुके इस दुःसाहसको कब बरदाश्त कर सकते थे। मधाईने मटकी उठाकर नित्यानन्दप्रभुके सिरपर दे मारी। उनके सिरसे रक्त-धार बहने लगी। संवाद पाते ही महाप्रभु दौड़कर आये। प्राणाधिक नित्यानन्दके अङ्गमें रक्त देख उनके क्रोधकी सीमा न रही। वे 'चक्र-चक्र' कहकर पुकारने लगे। सुदर्शन-चक्र आकर उपस्थित हुआ, जगाई-मधाई थर-थर काँपने लगे। पर अक्रोध, परमानन्द नित्यानन्द प्रभुने महाप्रभुको स्थिर करते हुए उनसे जगाई और मधाईके देहोंकी भिक्षा माँगी। महाप्रभुने जगाईको और नित्यानन्द प्रभुने मधाईको आलिङ्गनके साथ देव-दुर्लभ प्रेम-भक्ति प्रदान कर कृतार्थ किया।

तुलसीकाष्ठकी बनी हुई माला कण्ठमें धारण करते हैं अपवित्र और आचारभ्रष्ट होते हुए भी मुझे करते हैं।* 'यजुर्वेद'में कहा है कि जो ऊर्ध्वपुण्ड्र क धारण करते हैं, वे मोक्ष प्राप्त करते अतः विधिके अनुसार शरीरके द्वादश अङ्गोंमें ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलककी रचनाद्वारा द्वादश भगवत्-स्वरूपोंको प्रतिष्ठित कर उनका ध्यान करना होता है, जिससे साधकमें इस भावकी स्फूर्ति होती है कि उसका प्रत्येक अङ्ग श्रीभगवान्‌का है और उसे भगवत्-सेवा-कार्यके अतिरिक्त और किसी कार्यमें नियोजित करना उचित नहीं है।

श्री(रामानुज)-सम्प्रदायके सदाचार-सिद्धान्त

(लेखक—अनन्तश्रीजगद्गुरु रामानुजाचार्य वेदान्तमार्तण्ड श्रीरामनारायणाचार्य त्रिदण्डीस्वामीजी महाराज)

वैदिक सम्प्रदायोंमें श्रीसम्प्रदाय अन्यतम है। अनादि-कालसे अविच्छिन्न परम्परासे प्रवर्तित श्रीनाथमुनि, यामुनमुनिप्रभृति महामनीषियोंद्वारा सुरक्षित एवं भगवत्पाद रामानुजाचार्यद्वारा संवर्धित श्रीसम्प्रदायके सदाचार-सिद्धान्त विश्वमें आदर्श एवं अनुकरणीय हैं। शास्त्र-पारदृश्वके चरम निष्कर्ष इस सिद्धान्तकी सदाचारपरम्परा पाञ्चरात्रादि, आगम, इतिहास, पुराण एवं धर्मशास्त्रोंपर आधृत है। 'ब्रह्मज्ञानके साथ-साथ श्रौत सदाचारपरायणता ब्रह्मज्ञानियोंका निकष (कसौटी) है (मुण्ड० उ० ३।१।४)। सदाचार परम धर्म है, आचारहीन मनुष्यके लोक एवं परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं। आचारहीन व्यक्तिके तपस्या, वेदाध्ययन, दक्षिणाप्रदान आदि सभी शुभ कर्म व्यर्थ हो जाते हैं। षडङ्ग वेदाध्यायी व्यक्ति भी यदि ... ही है तो वेद भी उसे प... वचनोंका समादर करने तथा शास्त्रानुमोदित सदाचारकी प्रधानता देनेके ही कारण श्रीसम्प्रदायको केवल आचार्य-सम्प्रदायके नामसे भी अभिहित किया जाता है।

परमैकान्तिक प्रपन्न श्रीवैष्णवोंकी अहोरात्रचर्याको आगमग्रन्थोंमें—१—अभिगमन, २—उपादान, ३—इज्या, ४—स्वाध्याय एवं ५—योग—इन पाँच विभागोंमें विभक्त कर जीवन-यापन करनेका विधान किया गया है। अहोरात्रचर्याको इस प्रकार विभक्तकर कालक्षेप करनेवाले भागवतोंका जीवन यज्ञमय—भगवदुपासनामय बन जाता है (सर्वदर्श० ४।२०—२२) ऐसे भागवतोंकी लौकिक-पारलौकिक सारी चेष्टाएँ भगवदाराधन एवं भगवन्मुखोल्लासार्थ होती हैं। भगवत्पाद श्रीरामानुजाचार्यने अपने ग्रन्थोंमें श्रीवैष्णवोंके लिये पञ्चकालोपासनाका विधान करते हुए

नष्ट

भावमुर्तिमें उतार 'स्वयं भगवान् ही अपने भोग्यभूत मुझ सेवकद्वारा विविध पूजनोपचारोंसे अपनी प्रसन्नता-हेतु पार्षदोंसहित अपनी पूजाका उपक्रम कर रहे हैं,' इस प्रकारकी भावनासे भावित श्रीवैष्णव नित्यकृत्य-सम्पादन-हेतु पवित्र नदीके तटपर जाकर हस्त-पादादि प्रक्षालनकर मूल मन्त्रोच्चारण करके मृत्तिका आदिका उपादान करे, फिर तत्तत् मन्त्रोंके उच्चारणपूर्वक उसका तत्तत् अङ्गोंमें लेप करके सविधि स्नान करे। उसके पश्चात् अर्घ्य प्रदानकर, पुनः भगवान्‌के चरणारविन्द-का ध्यान करते हुए मूल-मन्त्रका जप करे और तीर्थसे बाहर निकल वस्त्रादि धारणकर तिलक लगा करके वैष्णव-विधिसे संध्योपासन करे। इसके पश्चात् भगवान्, उनके पार्षदों एवं भगवदात्मक पितरोंका सम्यक् तर्पण करे। तत्पश्चात् पूजन-स्थलमें जाकर भूत-शुद्धि करके गुरुपरम्पराका अनुसंधान करते हुए भगवान्‌का ही प्राप्य-प्रापक अनिष्ट-निवारक एवं इष्ट प्रापकरूपमें ध्यानकर भगवदाराधन प्रारम्भ करे। सर्वप्रथम विभिन्न न्यासोंका आचरण कर, प्राणायाम करे, तदनन्तर वस्तु-शुद्धिपूर्वक भगवदर्चना करे।

२-उपादानकाल—भगवदाराधनरूप अभिगमन-कालके पश्चात् इस कालका प्रारम्भ होता है। इस कालमें श्रीवैष्णवजन भगवदाराधन-हेतु न्यायार्जित वृत्तिसे वस्तुओंका अर्जनकर भोग-रागकी व्यवस्था करते हैं। वे आत्मोपभोगार्थ पाकादिका निर्माण न कर, भगवान्‌की अर्चनाके ही लिये सात्त्विकजनके द्वारा पाकादिका निर्माण करते हैं।

३-इज्याकाल—स्वहस्तनिर्मित पवित्र पाक भगवान्‌को निवेदित करनेके बाद, भगवत्प्रसादको भगवदात्मक अपने सभी उपजीवियोंमें समानरूपसे वितरित कर तदीयाराधन सम्पादित करके स्वयं 'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः'की प्रक्रियाके अनुसार भगवत्प्रसाद सेवनकालको 'इज्याकाल' कहते हैं। इस परिवारके सदस्य—जिनके संरक्षणका भार हमारे ऊपर है, वे भी भगवत्प्रदत्त धरोहरकी वस्तु हैं—इस बुद्धिसे परिवारका पालन भी भगवत्पूजनरूप होनेके कारण इज्यारूप ही है।

४-स्वाध्यायकाल—भगवत्प्रसाद-सेवनके पश्चात् कुछ समयतक ऐसे ग्रन्थोंका अध्ययन करना चाहिये जिससे मन संसारकी ओरसे सहज आसक्तिरहित होकर भगवद्गामक्त एवं आचार्यकी कैङ्कर्यपरायणताकी ओर प्रवृत्त हो। नित्यसूरियोंद्वारा रचित दिव्य प्रबन्धों, पूर्वाचार्योंद्वारा प्रणीत सद्ग्रन्थों, इतिहास, उपनिषदों आदिका अध्ययन स्वाध्यायके अन्तर्गत है। श्रीपराङ्कुश सूरिप्रणीत 'सहस्रगीति'के अर्थ एवं भाव-गाम्भीर्य उत्कर्षकी चरम सीमाको छूनेवाला है। अतः उसका भी अध्ययन स्वाध्यायरूप ही है।

५-योगकाल—उस कालका नाम है, जिस समय श्रीवैष्णववृन्द सारे कृत्योंको समाप्तकर भगवान्‌के चरणारविन्दोंका ध्यान करते हुए नींदकी अतल गहराईमें अपनेको कुछ कालके लिये लीन कर देते हैं। अतः इस कालका नाम योग-काल है। श्रीसम्प्रदाय प्रत्येक कर्म सदाचारकी प्राथमिकता देता है। भक्तिके सतसोपानोंकी चर्चा करते हुए 'श्रीभीष्म'के लघु सिद्धान्तमें बड़े आदरके साथ वाक्यकार उपवर्षाचार्य (बोधायन) की पङ्क्तियोंको उद्धृत करते हैं। 'वाक्यकार' भी 'विवेक' आदिके ही द्वारा ध्रुवानुस्मृतिरूप भक्तिकी निष्पत्ति बतलाते हुए कहते हैं। भक्तिकी उपलब्धि (१) विवेक, (२) विमोक, (३) अभ्यास, (४) क्रिया, (५) कल्याण, (६) अनवसाद और (७) अनुद्धर्षके द्वारा होती है। (द्र० सर्वदर्श० सं० ४। २१ तथा इस अङ्कके पृष्ठ १६९—७२)

ये सभी साधन यद्यपि उपासनारूप ही हैं, किंतु इनमें सदाचारकी दृष्टिसे विवेक एवं क्रियाका स्थान

यन्त महत्त्वपूर्ण है। 'छान्दोग्योपनिषद्'की भूमाविद्या-करणमें आचार्य सनत्कुमार मन्त्रज्ञ देवर्षि नारदको देश देते हैं कि ध्रुवास्मृतिरूपी भक्तिकी प्राप्ति आहार-द्धिपर निर्भर करती है। आहारकी शुद्धिद्वारा सत्त्वकी द्धि होती है और उसके पश्चात् ध्रुवास्मृतिकी प्राप्ति ती है। भक्तिके साधनसप्तकमें विवेक भी आहारकी द्धिपर ही बल देता है। अन्नमें तीन तरहके दोष ते हैं—१—जातिदोष, २—आश्रयदोष और ३—निमित्त-ष। इन तीनों दोषोंसे रहित भगवन्निवेदितान्नाहारसे रीरकी शुद्धिको 'विवेक' कहते हैं।

ऐसे खाद्य पदार्थ जिनके सेवनसे तमोगुणका उद्रेक ता है—जैसे कलञ्ज, गृञ्जन, लहसुन, प्याज, मांस दि शास्त्रोंमें ऐसे खाद्य पदार्थोंको त्याज्य बतलाया या है। ये खाद्य पदार्थ जाति-दुष्ट माने जाते हैं। भिशस्त, पतित आदिके गृहका अन्न आश्रयदोषसे षित माना गया है। अन्नका किसी कारणवश जैसे जिनमें मक्खी, बाल आदि पड़ जानेके कारण सात्त्विक अन्नसे निर्मित पाक भी निमित्त-दोषसे दूषित माना जाता है। इन तीनों प्रकारके भोजनको न ग्रहण करना ही 'विवेक' कहलाता है। यह भक्तिका प्रथम सोपान है। भक्तिका चतुर्थ सोपान 'क्रिया' भी अपनी शक्तिके अनुसार पञ्चमहायज्ञोंके अनुष्ठानरूप ही है।

भगवान् रामानुजाचार्यने स्वयं जब एक सौ बीस वर्षकी आयु व्यतीत कर ली और परधामगमनका समय आ गया तो उनका शरीर अत्यन्त जर्जर हो गया, पर उस समय भी अपने शिष्योंके सहारे कावेरीतक जाकर आपने सायंकालिक सूर्यार्घ्य प्रदान किया और शिष्योंके पूछनेपर बतलाया था कि जीवनमें शास्त्रविहित नित्य-नैमित्तिक कृत्योंका कभी त्याग नहीं करना चाहिये। जीवनमें सदाचारकी शिक्षाकी प्रधानता देनेके हेतु श्रीसम्प्रदायके मान्य प्रतिष्ठानोंमें आज भी अनुदिन भगवान्‌के सामने तैत्तिरीयोपनिषद्‌की शीक्षावल्लीका सस्वर पाठ किया जाता है। इस प्रकार 'श्रीसम्प्रदाय'में सदाचारको अत्यन्त उच्चस्थान प्राप्त है।

आचरणरहित शास्त्रज्ञान—शिल्पमात्र

व्याचष्टे यः पठति च शास्त्रं भोगाय शिल्पिवत्।
यतते न त्वनुष्ठाने ज्ञानबन्धुः स उच्यते॥
कर्मस्पन्देषु नो बोधः फलितो यस्य दृश्यते।
बोधशिल्पोपजीवित्वाज्ज्ञानबन्धुः स उच्यते॥
वसनाशनमात्रेण तुष्टाः शास्त्रफलानि ये।
जानन्ति ज्ञानबन्धूंस्तान् विद्याच्छास्त्रार्थशिल्पिनः॥
(योगवासिष्ठ, निर्वाणप्रकरण, उत्तरार्द्ध २१। ३—५)

'जैसे शिल्पी जीविकाके लिये ही शिल्पकला सीखता है, वैसे ही जो मनुष्य केवल भोग-प्राप्तिके लिये ही शास्त्रको पढ़ता और उसकी व्याख्या करता है, स्वयं शास्त्रके अनुसार आचरणके लिये प्रयत्न नहीं करता (सदाचारी नहीं बनता), वह ज्ञानबन्धु कहलाता है। जो वस्त्र-भोजनसे ही तुष्ट हैं—जिन्हें शास्त्र-फल वैराग्य-विवेक नहीं हुआ, वे ज्ञानबन्धु हैं और उनका वह शास्त्रज्ञान शिल्पमात्र है।'

श्रीनिम्बार्कसम्प्रदायमें सदाचार

([illegible])

यदि मानवके जीवनमें सदाचार न हो तो उसका जीवन पशुतुल्य ही है। फलतः मानव-शरीर प्राप्त कर लेना ही इतना नहीं। जबतक मानवका समग्र जीवन वेदपुराणादि शास्त्र-प्रतिपादित सदाचारसे संवलित न होगा, वह एकमात्र केवल मानवाभासमात्र ही रहेगा। सदाचार ही मानवका मननीय भूषण है, सर्वस्व सम्पत्ति है और यही मानवताकी आधार-भित्ति एवं उत्तमोत्तम ऊर्ध्वलोक-प्राप्तिकी मूल सरणि है अथ च श्रीभगवत्प्राप्तिमें भी यह अत्यावश्यक पालनीय कर्तव्य है। श्रुति-स्मृति-सूत्र-मन्त्र-पुराणादि शास्त्रोंमें सदाचारपर सर्वाधिक बल दिया गया है, यह निम्नाङ्कित वचनसे स्पष्ट है—

आचारात् फलते धर्ममाचारात् फलते धनम्।
आचाराच्छ्रियमाप्नोति आचारो हन्त्यलक्षणम्॥

(महाभा॰ अनुशासनपर्व)

'सदाचारके परिपालनसे धर्मकी अभिवृद्धि तथा उपलब्धि होती है। सदाचारसे यशकी संप्राप्ति एवं त्याज्य अवगुणोंका विनाश होता है।' महाभारतके ही 'दानधर्म'में सदाचारका वर्णन करते हुए उसके महत्त्वका निदर्शन कराया गया है—

आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम्।
आचारात् कीर्तिमाप्नोति पुरुषः प्रेत्य चेह च॥

सदाचारसे आयु और लक्ष्मीकी उपलब्धि तथा यश मिलता है, और स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति होती है, जिससे यह मानव परमानन्दकी दिव्यानुभूति करता है। श्रुति-स्मृति आदि सभी शास्त्रों एवं ऋषि-मुनीश्वरोंका यह विनिश्चय है कि आचार ही प्रथम धर्म है, अतः इसका पालन परमावश्यक है। सदाचार पालन करनेवाला व्यक्ति सर्वत्र पूजित होता है। सदाचार-सेवनसे प्रज्ञाकी उपलब्धि होती है। सदाचारसे अक्षय अन्न मिलता है। इस भाँति सदाचारकी अनन्त महिमा है। सदाचारसे स्वर्ग [illegible] और मोक्ष भी मिलता है। [illegible] सदाचारसे [illegible] नहीं प्राप्त होता, [illegible] सहज हो जाता है। [illegible] सदाचारसम्पन्न हो तो वह [illegible] रहता हुआ शरीरपर्यन्त जीवित रहता है— [illegible] यही आदेश करते हैं कि [illegible] सदाचार-सेवनमें प्रमाद (आलस्य) [illegible] सदाचारके अनुशीलनके लिये शास्त्रोंने [illegible] है। सदाचारहीन पुरुष कभी भी श्रेयको [illegible] पा सकता—'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः' [illegible] विवर्जित मानवको वेद भी पवित्र नहीं करते। [illegible] आचारहीन मानव उभयत्र विविध [illegible] करता है और सर्वत्र अनादरणीय रहता है। [illegible] मुनिजनोंके, आचारनिष्ठ धर्मविद् धर्माचार्योंके, तत्त्वज्ञ मनीषियोंके कल्याणमय दिव्य वचनोंसे [illegible] कि सदाचारका सर्वदा आचरण करना चाहिये।

वेदादिशास्त्रोंके सिद्धान्तानुसार श्रीनिम्बार्कसम्प्रदाय में सदाचारकी सर्वाधिक मुख्यता है। [illegible] संस्कारोंमें सर्वप्रथम सदाचारकी ही अपेक्षा रहती है। बिना सदाचार-पालनके शिष्योंको वैष्णव संस्कार ही नहीं प्रदान कराये जाते। श्रीसुदर्शनचक्रावतार श्रीमन्निम्बार्काचार्य भगवान्ने 'सदाचारप्रकाश' नामक एक बृहद्ग्रन्थका प्रणयन किया है, जिसका [illegible] निम्बार्कसम्प्रदायके तत्परवर्ती पूर्वाचार्योंके ग्रन्थोंमें है। परंतु कालप्रभावसे आज वह दिव्य ग्रन्थ विलुप्त है। श्रीनिम्बार्कभगवान्कृत 'मन्त्रार्थ-रहस्य-षोडशी' एवं 'प्रपन्नसुरतरु-मञ्जरी' आदि ग्रन्थोंमें मन्त्र-दानके अधि[illegible] सदाचार-पालनपर विवेचन किया है। इसी प्रकार श्रीनिम्बार्कने 'ब्रह्मसूत्र'के 'अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात्' (४ । १ । १६)—इस सूत्रके [illegible] 'वेदान्तपारिजातसौरभ' नामक भाष्यमें लिखा है—

'विषयाभिद्रोमप्रदानतपआदीनां स्वाश्रम-र्णां निवृत्तिराद्धा नास्ति, विद्यापोषकत्वादनुष्ठे-येय। यज्ञादिश्रुती तेषां विद्योत्पादकत्वं दर्शनात्।' इसी प्रकार 'ब्रह्मसूत्र'के 'आचारदर्शनात्' (४।३) इस सूत्रके 'वेदान्त-पारिजात-सौरभ'-में श्रीनिम्बार्क भगवान्ने एवं 'वेदान्त-कौस्तुभ' में श्रीनिम्बार्क भगवान्के प्रमुख शिष्य पाञ्चजन्य अवतार तत्पीठाभिरूढ श्रीश्रीनिवासाचार्यजी महाराजने चार-पालनका विशद उपदेश किया है—

वेदान्त-पारिजात-सौरभ'भाष्यमें—'जनकोऽहं वैदेहो दक्षिणेन यज्ञेनेजे' इत्यादि श्रुतिभ्यो जनकादीना-चारदर्शनात्। तथा 'वेदान्तकौस्तुभ' भाष्यके—'नेतरोऽनुपपत्तेः', 'भेदव्यपदेशाच्च', 'अनुपपत्तेश्च न शारीर' इत्यादि सूत्रोंके आधारपर 'नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्', 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ', 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः' इत्यादि उभय भाष्योंके उद्धरणसे सम्यक्रीत्या परिलक्षित है कि श्रीनिम्बार्कसम्प्रदायमें सदाचारपर कितना अधिक बल दिया जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य साम्प्रदायिक प्राचीन-अर्वाचीन ग्रन्थोंमें सदाचारको परमावश्यक परि-पालनीय कर्तव्य माना गया है। वस्तुतः सदाचार सम्पन्न मानव अत्र परत्र एवं सर्वत्र सुख-समृद्धिका अनुभव करता है। उसका सर्वत्र समादर है, वह सभीका श्रद्धाभाजन अर्चनीय एवं अभिवन्दनीय हो जाता है। अतः समग्र दृष्टया सदाचार नितान्त संसेवनीय आचरणीय और अनुकरणीय है।

सदाचारसप्तक

(रचयिता—श्रीभवदेवजी झा, एम्० ए०, शास्त्री)

(१)

सदाचार आधार संस्कृति-सुगतिका,
यही राष्ट्र-जीवन समुन्नत बनाता,
यही विश्व-बन्धुत्वकी भावना भर,
विविध लोक-वैमत्य सत्वर मिटाता।

(२)

सदाचार सद्बुद्धि-संशुद्धि-दाता,
पथभ्रष्टजनको सुपथमें लगाता,
पतन-शील-कर्त्तव्यदिङ्मूढको भी,
प्रगतिदायि सन्मार्गको है दिखाता।

(३)

सदाचार है, शान्तिका द्वार अनुपम,
यही कीर्ति अक्षय सभीको दिलाता,
यही धर्मका सार सन्मार्ग-सम्बल,
सुधाधार जो मानवोंको पिलाता।

(४)

सदाचार सद्बीजके ही सहारे,
सकल ज्ञान-विज्ञान जगमें सुरक्षित,
सदाचार ही नींव है साधनाकी,
उसीपर टिकी सिद्धियाँ शक्ति-मण्डित।

(५)

सदाचार वह तत्त्व सद्भाव-पोषक,
है, जिसके बिना शून्य जीवन सभीका,
सदाचार सुखमूल है, वह सलोना,
है, जिसके बिना विश्वव्यापार फीका।

(६)

सदाचार वह तार-सप्तक है जिसके—
बिना है, विफल भारती दिव्य वाणी,
सदाचार ही प्राण वह सभ्यताका,
है, जिसके बिना वन्य-सम विज्ञ प्राणी।

(७)

सदाचार वह सूत्र, जो मनहृदयोंको—
निखिल विश्वके, एकतामें पिरोता,
यही वह महा अस्त्र जो वैरियोंको,
झुकाकर सहज प्यारमें है, भिगोता।

। एवं आदि पदसे कीर्तनादि नवधाभक्ति करनी ये । इससे भगवदाश्रय एवं भगवदीयत्वकी सिद्धि । है[2] । भगवदीयत्व एवं दृढाश्रयके उपरान्त भक्तका प्रभु-सेवामें लग जाता है और तब वैष्णवके कार्य प्रभु-सेवार्थ ही होते हैं । ऐसे वैष्णवके सारे सदाचारकी चरम सीमा ही होते हैं । महाप्रभु वल्लभा-जीने अपने तृतीय ग्रन्थ 'सिद्धान्तमुक्तावली'में इसपर बल दिया है । 'विवेकधैर्याश्रय'में आचार्य श्रीवल्लभने चारपर बल देते हुए कहा है कि 'वैष्णवको प्रथम अभिमानका परित्याग करना पड़ता है । ठीक ी प्रकार वैष्णवोंको दुराग्रह एवं अधर्मका भी परित्याग देना चाहिये । मन, वचन और कर्मसे इन्द्रियोंके र्योंका भी परित्याग करना भी वैष्णवोंका परम कर्तव्य । इन त्यागोंसे सदाचारकी जड़ दृढतर होती है । चरणका गहरा सम्बन्ध हमारे खानपान एवं र्मसे होता है । वल्लभ-सम्प्रदायमें इन दोनोंपर बड़ा न दिया जाता है । इस सम्प्रदायमें असमर्पित तुओंके सर्वथा परित्यागपर अधिक बल दिया जाता है[5] । सम्बन्ध दीक्षोपरान्त आज भी वैष्णव पुत्र-कलत्रादिकी निवेदित वस्तुओंका परित्याग कर देते हैं ।'

वल्लभसम्प्रदायमें गोस्वामी विट्ठलनाथजीके चतुर्थ मात्र तिलकके पोषक गोस्वामी श्रीगोकुलनाथजीरचित र्तासाहित्य एवं वचनामृत-साहित्यका भी विशिष्ट महत्त्व हा है । एक सौ चौरासी एवं दो सौ बावन वैष्णवोंकी र्ताओंमें विविध प्रकारसे सदाचारपर बल दिया गया है । स्वामी श्रीगोकुलनाथजीने अपने वचनामृतोंमें स्पष्ट आदेश देते हुए कहा है, कि 'वैष्णवको प्राणी मात्रपर दया राखनी, जो कुंजर तें चीटी पर्यन्त सबमें एक ही जीव जाननों, और प्रभु, प्रतिबिम्ब न्यारे-न्यारे दीसत हैं, यह जानके भगवदीय हिंसा ते अत्यन्त उपरत रहनों काहूको हृदय कल्पावनो नहीं ।'

'अर्थात् परोपकार, अहिंसा, दयाभाव आदि वैष्णवके लिये आवश्यक है । अपने तीसरे और चौथे वचनामृतमें श्रीगोकुलनाथजीने सदा प्रसन्नचित्त रहने, धनादिकका सद्विनियोग करने, अभिमानके परित्याग, धैर्य धारण करने, क्रोधका सर्वथा परित्याग करने, संतोषी, सरल, सत्य एवं मृदुभाषी होनेका आदेश दिया है[6] । अपने सातवें वचनामृतमें गोकुलनाथजी कहते हैं, "जो वैष्णव होयके काहूको अपराध न देखे……… दुष्ट झूठी सांची लगाय ईर्ष्या करे । कोई सों खोटो काम करे, अपराध करे तोहू वाको भूलि जाय, वाको प्रसन्न करिके संकोच छुड़ावनो ।………जो कोई निंदा करे, दुर्वचन कहे ताको उत्तर न देनो, सब सहन करनो, अपनेमें दोष जानि उनसों क्रोध न करनो………जो वैष्णवको मिथ्या भाषण सर्वथा नहीं करनो क्योंकि झूठ बराबर पाप नहीं है । (वही पृ० ४७)

इसके आचार्योंके अनुसार ज्ञानमार्गमें साधन-पक्षमें कष्ट एवं त्याग दृढ़ होनेपर उद्धार होता है । परंतु पुष्टिमार्गमें सदाचार, दृढ़ाश्रय एवं प्रभु-सेवासे ही गृहस्थीका उद्धार हो जाता है (पृ० ५५) । वल्लभ-सम्प्रदायके अन्य आचार्योंने भी इन लक्षणोंपर अपने साहित्यमें बराबर बल दिया है । प्रभुचरण गोस्वामी

२-श्रवणादि ततः प्रेम्णा सर्वकार्यं हि सिद्ध्यति ॥ (बालबोध १६)
३-समर्पणेनात्मनो हितदायत्वं भवेद् ध्रुवम् ॥ (बालबोध १८)
४-अभिमानश्च संत्याज्यः । (विवेकधैर्याश्रय ३)
आपद्गत्यादिकार्येषु हठस्त्याज्यश्च सर्वथा । अनाग्रहश्च सर्वत्र धर्माधर्माग्रदर्शनम् ॥
स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत् । (विवेकधैर्याश्रय ४, ५-८)
५-असमर्पित वस्तूनां तस्माद् वर्जनमाचरेत् । (सिद्धान्त-रहस्य, श्लोक ४)
६-श्रीगोकुलनाथजीके २४ वचनामृत, सम्पादक-पं० निरञ्जनदेव शर्मा, मथुरा ।

वल्लभ-सम्प्रदायमें सदाचार

(लेखक—पं० श्रीधर्मनारायणजी ओझा)

वैष्णवधर्मके मूलाधार, परमहंसोंकी संहिता श्रीमद्भागवत महापुराणके सप्तमस्कन्धके एकादश अध्यायमें धर्मराज युधिष्ठिरने परम वैष्णवाचार्य देवर्षि नारदसे सदाचारकी जिज्ञासा की है; जिसके उत्तरमें देवर्षिने कहा है कि 'युधिष्ठिर ! सर्ववेदस्वरूप भगवान् श्रीहरि, उनका तत्त्व जाननेवाले महर्षियोंकी स्मृतियाँ और जिनसे आत्मग्लानि न होकर आत्म-प्रसाद उपलब्ध हो, वे कर्म धर्मके मूल हैं ।' तदनन्तर परमभगवदीय श्रीनारदजी धर्मके सत्य, दया, तप, शौच, तितिक्षा, शम, दम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, आर्जव, संतोष, सेवा और भोग-त्यागादि तीस लक्षण बताते हैं (श्रीमद्भागवत ७ । ११ । ८–१२), जिन्हें किसी-न-किसी प्रकारसे समस्त धर्मावलम्बी निर्विवादरूपसे स्वीकार करते हैं । वैष्णवाचार्योंने श्रीमद्भागवतमहापुराण-को सर्वोच्च महत्ता प्रदान की है और साधनत्रय (कर्म, ज्ञान एवं भक्ति)में भक्तिको ही परम पुरुषार्थ प्राप्त्यर्थ मुख्य मानते हुए आचरणकी शुद्धतापर ही अधिक बल दिया है । अन्तिम वैष्णवाचार्य महाप्रभु वल्लभाचार्यजीने तो व्यवहारपक्ष अर्थात् सदाचारपर ही अधिक बल दिया है । उनका आचार ही सदाचाररूपमें गृहीत है ।

महाप्रभु वल्लभाचार्यने पुष्टि-भक्ति-भावनाकी तीन कोटियाँ निर्धारित की हैं—(१) प्रेम या अनुराग, (२) आसक्ति एवं (३) व्यसनभाव । नारदोक्त सदाचार धर्मके तीस लक्षणोंको इन तीन कोटियोंकी साधनामें परम [illegible] ग्रहण करना पड़ता है । प्रथम कोटिमें वे लक्षण हैं, जो अनादिसे [illegible] जीवोंके दुष्ट स्वभावको मिटाकर अन्तःकरणको शुद्ध करते हैं । ऐसा शुद्धान्तःकरणवाला जीव ही भगवच्चरणानुरागी बनता है । धर्मके या [illegible] इन लक्षणोंमें सत्य, दया, शौच, इन्द्रियसंयम, [illegible] ब्रह्मचर्य, त्याग, सरलता, स्वाध्याय, तपस्या, [illegible] समदर्शी एवं संत-सेवा है । इन लक्षणोंको [illegible] व्यवहार-क्षेत्रमें धारण करनेसे प्रभुकी ओर [illegible] बढ़ता है । अनुरागकी दृढ़ताके उपरान्त आसक्ति उत्पन्न होती है । इस हेतु सदाचार-धर्मके वे लक्षण आते हैं जिनका नामतः उल्लेख देवर्षिने इस प्रकार किया है—अपने इष्टदेवके नाम-गुण-लीला आदिका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवा, पूजा आदि-आदि । इन लक्षणोंको धारण करनेसे शुद्ध अन्तःकरणवाले जीवमें प्रभुके प्रति आसक्ति दृढ़ होती है । सदाचार-धर्मके अन्तिम तीन लक्षण अर्थात् प्रभुके प्रति दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण भक्तको आसक्तिभावकी प्राप्ति कराते हैं । इस भावकी सिद्धिका लक्षण है—भक्त एवं भगवान्में तैलधारावत् ऐक्य । महाप्रभु वल्लभाचार्यजीने अपने सारगर्भित षोडश ग्रन्थोंमें सूत्ररूपमें स्वसिद्धान्तोंका निरूपण किया है । इनके अनुसार भगवत्कृपासे स्वभावविजय नामक शूरता या सफलता मिलती है । 'स्वभावविजय'का सीधा अर्थ सदाचारी बननेसे है । जीव अपने दुष्ट स्वभाव अर्थात् काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, ईर्ष्या-मत्सरादिपर विजय प्राप्तकर सदाचारी बन जाता है । वल्लभाचार्यजीका प्रथम ग्रन्थ 'यमुनाष्टक' तथा द्वितीय ग्रन्थ 'बालबोध' है । इस द्वितीय ग्रन्थमें वल्लभाचार्यजीने अहंता-ममताके परित्यागपर बल दिया है । साधन-मार्गमें अहंता-ममताका त्याग परमावश्यक है । इनके परित्यागसे जीव भगवत्स्वरूपसे मिल हो जाता है' । अहंता-ममताका परित्याग करनेके लिये श्रीमद्भागवतमहापुराण [illegible]

1—अहंताममतानाशे सर्वथा निरहंकृतौ । स्वरूपस्थो यदा जीवः कृतार्थः स निगद्यते ॥

निकृष्ट वर्णवालोंको सादर श्रद्धाभाव तथा निकृष्ट वर्ण-के प्रति उत्कृष्ट वर्णवालोंका सप्रेम दयाभाव रखना, यह र सद्भावना बढ़ानेवाले सदाचारका शास्त्रीय सार है।

अहिंसा धर्म सभी धर्मोंमें श्रेष्ठ है। हिंसा करनेवाला मात्रमें विराजमान प्रभुका घातक है। इसलिये भी किसी जीवकी हिंसा नहीं करनी चाहिये। हिंसाके मांस नहीं मिलता है। इसलिये मांस, -मदिरा तथा व्यभिचारादि हिंसकभाव बढ़ानेवाले का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये। सभी र्म भगवत्-समर्पणकी भावनासे ही करने चाहिये भोजनादिक भी भगवन्निवेदित ही करना चाहिये। वतार-मन्दिरोंमें विराजमान भगवान्‌के दिव्य विग्रहों-दर्शन-पूजन नित्य नियमपूर्वक करना चाहिये।

आरती-स्तुतिमें पूर्ण भक्ति-भावना-प्रेम रखना चाहिये निःसंकोच साष्टाङ्ग प्रणामकर श्रीचरणोदक प्रसाद चाहिये। यह भक्तोंका सदाचार सदैव पालन करना ऐये। भगवत्सेवाके बत्तीस अपराध तथा नाम-संकीर्तनके अपराधोंसे सदैव बचकर सेवा तथा संकीर्तनका न करना स्नेही संतोंका सदाचार है, इसका पूर्वक पालन करना चाहिये। सभी वर्ण तथा मवालोंको वेदोक्त वर्णाश्रमधर्मका पालन करते हुए वान्‌की शरणागति अवश्य ही ग्रहण करनी चाहिये। से अनादि कर्मबन्धन कट जाता है। देहाभिमान नष्ट है तथा भगवत्कृपाकटाक्ष प्राप्त करनेका अधिकारी बन ता है। भगवान्‌का, श्रीसद्गुरुदेवका तथा संत-भक्तोंका णोदक पान करनेसे कोटिजन्मार्जित पाप नष्ट होकर त्कृपाका उदय होता है। भगवान्‌के भक्तोंको गण अथवा अपनेसे नीचा कभी न मानना चाहिये। वान्‌के दिव्यधाम श्रीअयोध्या, वृन्दावन, चित्रकूट, त्रिपुर तथा हरिद्वारादि तीर्थोंमें निवास करनेका आग्रह रखना चाहिये, ऐसा अवसर न मिलनेपर अपने गाँव अथवा घरमें ही भगवान्‌को पधराकर तीर्थ-स्वरूप प्रदान कर भावनापूर्वक उसमें ही निवास करना चाहिये।

त्रिकाल संध्यावन्दन-पूजा, आरती, श्रीमद्रामायण तथा श्रीमद्भगवद्गीताका पाठ, वेदोपनिषदोंका श्रवण-मनन सदैव करना चाहिये, स्वयं जा सके तो जहाँ ये सब लाभ अनायास मिल सकें, वहाँ जाकर भजन-कीर्तन, कथा-श्रवणमें मन लगाना चाहिये। भगवान्‌की छोटी-से-छोटी सेवा तथा भगवत्-भागवत-कैङ्कर्य बड़ी निष्ठासे अहंकार त्यागकर करना चाहिये। अपने इष्टदेवमें अनुपम श्रद्धा रखते हुए भी अन्य देवोंका अपमान-द्वेष स्वप्नमें भी न करना चाहिये। गृहस्थोंको माता-पिताकी सेवा तथा सात्त्विक धन उपार्जन कर घरमें ही परिवार-पालन करते हुए भगवत्-भजन करना चाहिये।

विरक्तोंको श्रीसद्गुरु तथा संतोंकी सेवा करते हुए आचार्यके आश्रममें अथवा पुण्यतीर्थमें निवास कर प्रभुके भजनमें जीवन व्यतीत करना चाहिये। श्रीवैष्णव पुरुषोंको परनारीको माताके समान तथा स्त्रियोंको परपुरुषको पिताके समान मानकर शिष्टाचार-पूर्वक सद्व्यवहार रखना चाहिये। किसीके प्रति द्वेष-भाव रखना अपना ही अहित करना है। इससे स्वभावमें क्रूरता आती है, इसलिये सबमें प्रभुका निवास मानकर सबका सम्मान करना चाहिये। गुरुद्रोही, मित्रद्रोही, भगवद्द्रोही, नास्तिक तथा दुराचारीका सङ्ग न करे, न उनसे कोई व्यवहार रखे। अर्थोपार्जन, उदरपूर्ति तथा पूजा-प्रतिष्ठाकी स्पृहा त्यागकर अपने तथा विश्वके कल्याणके लिये भगवन्मन्दिर, भजनाश्रमकी स्थापना करना तथा करवाना उत्तम कार्य है। चोरी, जुआ, शिकार, मद्यपान, धूम्रपान, परस्त्रीगमन, परनिन्दा, दुराचार, अत्याचार, कटुवचन तथा असत्यभाषण सद्यःपतनके मार्ग हैं।

श्रीहरिरायजी द्वारा अपने लघु भ्राता गोस्वामी श्रीगोपेश्वरजीको शिक्षा प्रदान करने हेतु निर्मित 'शिक्षापत्रों'का भी वल्लभसम्प्रदायमें बड़ा सम्मान है। इसके अनुसार सदाचारका उद्देश्य प्राणिमात्रका हित करना ही है। हमारी 'आचारसंहिताएँ' सत्कार्य एवं असत्कार्यका बोध कराकर पापरूपी विषफलसे हमें सावधान करती हैं। प्राणिमात्रमें एक ही चेतन 'आत्मा'का अंश है। अतः जिस कार्यसे समाजके किसी व्यक्तिको हानि पहुँचती है, उसे नहीं [illegible] चाहिये। हमारे तत्त्वचिन्तकोंने इसीलिये कहा है—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

वल्लभसम्प्रदायमें इन तत्त्वोंपर बहुत बल दिया जाता है। अन्य वैष्णवसम्प्रदायोंके समान ही इस सम्प्रदायमें भी सदाचार मेरुदण्ड सदृश है।

श्रीरामानन्दसम्प्रदायके सदाचार-सिद्धान्त

(लेखक—पं० श्रीअवधकिशोरदासजी वैष्णव 'प्रेमनिधि')

स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजी एक महान् लोक-विलक्षण महापुरुष थे। उनका सर्वधर्म-समभाव तथा अपने इष्टदेवमें अनन्य निष्ठा देखते ही बनती थी। उन्होंने वैदिक परम्पराका पूर्णतया पालन करते हुए भी पतितोंके उद्धारकी भरपूर चेष्टा की! आपने अपने 'श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर' ग्रन्थमें सदाचारके जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं, वे बड़े ही भावपूर्ण एवं उच्चकोटिके आदर्श हैं। इस लघु लेखमें उन्हींका यत्किंचित् उल्लेखकर आचार्यके उज्ज्वल सिद्धान्तोंका दिग्दर्शन किया जा रहा है।

सदाचार-संरक्षणके मूलाधार 'तत्त्वत्रय' तथा 'अर्थ-पञ्चक'का ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिये। ईश्वर-स्वरूप, जीवस्वरूप तथा मायाके यथार्थ स्वरूपको जानना ही 'तत्त्वत्रय' है तथा प्राप्य स्वरूप, प्रापक स्वरूप, उपाय स्वरूप, विरोधी स्वरूप तथा फलस्वरूपका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना 'अर्थपञ्चक' कहलाता है। इनका ज्ञान प्राप्त होनेपर मनुष्य दुराचारका त्याग कर स्वतः सदाचारपरायण हो जाता है। इसके लिये अर्थज्ञानपूर्वक श्रीराममन्त्रका श्रद्धा-प्रेमसहित नियमपूर्वक जप करना चाहिये और मन्त्रैकनिष्ठ आचार्यकी अनुकम्पासे ही मन्त्र तथा मन्त्रार्थका रहस्य प्राप्त करना [illegible]इये। यही वैदिक परम्परा[illegible] है।

सदाचारका यथार्थ ज्ञान सच्चे सदाचारी संत तथा सद्गुरुके श्रीचरणोंकी सेवा सत्सङ्ग करनेसे ही हृदयंगम [illegible] सकता है। सदाचारपरायण सात्त्विक संतोंद्वारा अ[illegible] श्रद्धापूर्वक सादर संग्रहणीय तिलक, माला, भगव[illegible] युधोंकी छाप, भगवत्सम्बन्धी पवित्र नाम धारण क[illegible] हुए मन्त्रराजका अनुष्ठान करनेसे निःसंदेह मोक्षकी प्रा[illegible] होती है। इन पञ्चसंस्कारोंमें अत्यन्त श्रद्धा रख[illegible] संतोंका सदाचार है। इनकी अवहेलना कभी न करन[illegible] चाहिये। एकादशी, श्रीरामनवमी, श्रीजानकीनवमी, श्रीकृष्णाष्टमी, श्रीनृसिंह-जयन्ती, श्रीवामनद्वादशी, श्रीहनुमान्-जयन्ती आदिका वेधरहित व्रत करना तथा सामयिक उत्सवोंको सप्रेमसविधि अनुष्ठान करते रहना चाहिये। इसमें आलस्य अथवा प्रमाद कभी न करना चाहिये। ऐसा करनेसे अनादिकालसे धर्मप्रवाहमें डूबते जीवोंपर भगवान्‌की कृपा अवश्य ही होती है।

नवधाभक्ति तथा शरणागति भगवान्‌की अहैतुकी कृपा-की समुद्र लहरानेमें समर्थ है, इसलिये प्रभुके शरण जाना सदाचारका सर्वश्रेष्ठ अङ्ग है। सदाचार प्रभुके सानुकूल है, दुराचार प्रभुसे प्रतिकूल है, इसलिये शरणागतोंको सदाचारका पालन करना तथा दुराचारका परित्याग अवश्य ही करना चाहिये। उन्[illegible] श्रीवैष्णवोंके

फिर ब्रह्मचारीके धर्मोंकी लंबी सूची देकर गुरु-वाक्यपालनके विषयमें कहा गया है—

'मनुक्तो यत्किंचित्कर्म नाचरेत्, मनुक्तोऽपि स्वाध्यायनित्यकर्माण्याचरेत् ।'

(—८।१।५६)

इसके अनुसार उनमें ब्रह्मचारीके भी चार प्रकारके भेद हैं।—गायत्रो ब्राह्मः प्राजापत्यो नैष्ठिक इति। (१।८।१।२) १—गायत्र (केवल गायत्री ध्यान करनेवाले), २—ब्राह्म (गुरुकुलमें रहकर तीनों वेद या एक वेद या स्वसूत्राध्ययन करनेवाले), ३—प्राजापत्य (वेदवेदाङ्गसहित अध्ययन तथा नारायण-परायण होकर बादमें गृहस्थ होनेवाले) और ४—नैष्ठिक (काषाय-वस्त्र धारण करके, जटा या शिखा धारण करके आत्म-दर्शनपर्यन्त गुरुकुलमें रहकर केवल निवेदित भिक्षा-चरण करनेवाले ।

वैखानसमतमें गृहस्थाश्रमी भी चार प्रकारके होते हैं। वे ये हैं—(१) वार्तावृत्ति, (२) शालीनवृत्ति, (३) यायावर और (४) घोराचारिक—वार्तावृत्तिः कृषिगोरक्ष्य-वाणिज्योपजीवी। (८ । ५ । १)—वार्तावृत्तिवाला खेती, पशुपालन एवं वाणिज्यसे जीवन चलाता है।

२—शालीनवृत्तिर्नियमैर्युतः पाकयज्ञैरिष्ट्वा अग्नीनाधाय पक्षे पक्षे दर्शपूर्णमासयाजी चतुर्षु चतुर्षु मासेषु चातुर्मास्ययाजी षट्सुषट्सु मासेषु पशुबन्धयाजी प्रतिसंवत्सरं सोमयाजी च ।(८।५।४) शालीनवृत्तिवाले कठोर नियमोंका पालन करते हुए पाकयज्ञ, प्रत्येक पक्षमें दर्श-पूर्णमास-याग, चातुर्मास्य-याग, निरूढ-पशुबन्धयाग और प्रतिवर्ष सोमयाग करते हैं।

३—यायावरो हविर्यज्ञैः सोमयज्ञैश्च यजते याजयत्यधीतेऽध्यापयति ददाति प्रतिगृह्णाति, षट्कर्म-निरतो नित्यमग्निपरिचरणमतिथिभ्योऽभ्यागते-भ्योऽन्नाद्यं च कुरुते । (—८।५।५)

यायावर हविर्यज्ञ, सोमयज्ञका यजन करके यजन-याजनादि षट्कर्म करता, अतिथि-अभ्यागतका सेवन करता है।

४—घोराचारिको नियमैर्युक्तो यजते न याजयत्य-धीते नाध्यापयति ददाति न प्रतिगृह्णाति। उञ्छवृत्ति-मुपजीवति, नारायणपरायणः सायंप्रातरग्निहोत्रं हुत्वा मार्गशीर्षज्येष्ठमासयोरसिधाराव्रतं वनौषधी-भिरग्निपरिचरणं करोति। (वैखानसधर्मसू० ९।५।६)

घोराचारिकके लिये यजन, अध्ययन-दानके अतिरिक्त तीन क्रियाएँ याजन, अध्यापन, प्रतिग्रह ये निषिद्ध हैं। वह उञ्छवृत्तिसे जीवन निर्वाह करता है और नारायण-परायण होकर अग्निहोत्र करते हुए मार्गशीर्ष, ज्येष्ठ मासोंमें असिधाराव्रत करते हुए वनौषधियोंसे अग्निकी परिचर्या करता है।

तृतीयाश्रमी—वानप्रस्थी भी दो प्रकारके होते हैं (१) अपत्नीक तथा (२) सपत्नीक। सपत्नीकके चार भेद हैं—१—औदुम्बर, (२) वैरिञ्च, (३) वालखिल्य और (४) फेनप।

अपत्नीकके अनेक भेद हैं— (१) काला-शिक, (२) उद्दण्डसंवृत्त, (३) अश्मकुट्ट, (४) अश्मकुट्टिन, (५) दन्तोलूखलिक, (६) उञ्छवृत्तिक, (७) संदंशनवृत्तिक, (८) कापोतवृत्तिक, (९) मृगचारिक, (१०) हस्तादायिन, (११) शैलफलखादी, (१२) अर्कदग्धाशी, (१३) बैल्वाशी, (१४) कुसुमाशी, (१५) पाण्डुपत्राशी, (१६) कालान्त-रभोजी, (१७) एककालिक, (१८) चतुष्कालिक, (१९) कण्टकशायी, (२०) वीरासनशायी, (२१) पञ्चाग्निमध्यशायी, (२२) धूमाशी, (२३) पाषाण-शायी, (२४) अप्स्वशायी, (२५) उदकुम्भवासी (२६) मौनी, (२७) अवाक्शिरी, (२८) सूर्य-प्रतिमुखी, (२९) ऊर्ध्वबाहुक और (३०) एकपाद-

गुरुजनोंके साथ एक आसनपर तथा उनके सामने उच्चासनपर बैठना नहीं चाहिये तथा उनके सामने अपनी बड़ाई नहीं करनी चाहिये। प्रातःकाल उठकर श्रीहरि, गुरु, देव, माता, पिता तथा पूज्यजनोंका अभिवादन करना चाहिये। स्नान-ध्यान, होम, मन्त्र-जप, देवार्चन तथा भजन-भोजनके समय मौन रहना चाहिये। स्नान-शौचादिसे देहेन्द्रिय शुद्ध होते हैं तथा सद्विचारसे मन-बुद्धि तथा आत्माकी शुद्धि होती है—

एक बीच को शालीनता, हरि मनुष्य करि देत।
जो कौस्तुभमणि दान कर, कछु दिन मधु सो लेत॥

[illegible] लोगोंके लिये [illegible] अत्यन्त ही उपयोगी है। [illegible] महापुरुषोंका कीर्तित [illegible] ही अनुकरणीय सदाचार है। [illegible] महाराजने एक दिन [illegible] करनेको [illegible] अपने ब्रह्मचारी शिष्योंद्वारा [illegible] वे सदैव सदाचारकी रक्षामें पूर्ण [illegible] ऐसे महापुरुषोंके दिव्य चरितोंसे [illegible] ग्रहण करना चाहिये।

वैखानस-सूत्रमें वर्णाश्रम-धर्मरूप सदाचार

(लेखक—पाञ्चरात्रिक भास्कर श्रीरामकृष्णमाचार्युलु, एम्० ए०, बी० एड्०)

श्रौतस्मार्तादिकं कर्म निखिलं येन सूत्रितम्।
तस्मै समस्तवेदार्थविदे विखनसे नमः॥

वैखानससूत्र अभी कुछ तो हस्तलिखित दशामें हैं और कुछ गृह्य-धर्म-स्मार्त-श्रौतादिसूत्रोंको Cawland आदिने बड़ी कठिनतासे ढूँढ़कर टीकासहित त्रिवेन्द्रम्से एवं एशियाटिक सोसाइटी आदिद्वारा मूलमात्र प्रकाशित कराया है। इन सूत्रोंको ऐहिक-आमुष्मिक साधनोंका समग्र विवरण देनेवाला अद्भुत, अमोघ, कल्पसूत्र कहें तो भी अत्युक्ति न होगी। इनमें सदाचारका विस्तारसे निरूपण किया गया है। इनपर सुन्दरराज एवं नृसिंह वाजपेयी आदिके भाष्य, व्याख्यान आदि हैं। इनमें कहा गया है कि सदाचार धर्मसे सम्बद्ध होता है। 'धर्म क्या है' इस प्रश्नके उत्तरमें भाष्यकार कहते हैं—'अथ वर्णाश्रम-धर्मम्।' वर्णाः—ब्राह्मणादयः, आश्रमाः—ब्रह्मचारिप्रभृतयः। धर्मशब्दोऽत्र षड्विधस्मार्तधर्म-विषयः। तद्यथा-वर्णधर्म आश्रमधर्मो वर्णाश्रम-धर्मो गुणधर्मो निमित्तधर्मः साधारणधर्मश्चेति।'

(—श्रीवत्सांकाचिपेयियभाष्यम्)

ब्राह्मणादि वर्णों, ब्रह्मचर्यादि-आश्रमोंके, अ[illegible] के धर्मका वर्णन धर्मसूत्रोंमें करते हुए कहा गय[illegible] ब्राह्मणके लिये समिदाधान, यज्ञाचरणादि—वर्ण एवं अ[illegible] अनुष्ठेय हैं। क्षत्रियके लिये शासीय (अभिषेक युक्त राजाका परिपालनादि) गुणधर्म, विहित[illegible] अकरण, निषिद्धक्रियाकरणनिमित्त प्रायश्चित्तरूप [illegible] धर्म, अहिंसा-पालन आदि साधारण धर्म—[illegible] प्रकारके स्मृति-धर्म अनुष्ठेय हैं। इसमें ब्राह्मण, क्ष[illegible] वैश्य, शूद्र नामक चार वर्णोंके अतिरिक्त परस्पर सं[illegible] कारण उत्पन्न अनुलोम-विलोम जाति तथा उनके [illegible] विधिकी भी विस्तृत विवेचना प्राप्त होती है। यहाँ वै[illegible] चार आश्रम एवं उनके अवान्तर भेदोंका संक्षिप्त उल्ले[illegible] मात्र किया जाता है। 'वैखानसधर्मसूत्र'के अनुस[illegible] ब्राह्मणके चार, क्षत्रिय आदिके तीन, वैश्यके दो तथा शूद्र[illegible] लिये एकमात्र गृहस्थाश्रमका ही विधान है—'ब्राह्मणस्य आश्रमाश्चत्वारः। क्षत्रियस्याद्यास्त्रयो वैश्यस्य द्वावेव तद्वाश्रमिणश्चत्वारः। ब्रह्मचारी गृहस्थो वानप्रस्थो भिक्षुरिति।'

(—८।१।१०—११)

जलसे अङ्गोंकी अच्छी तरह शुद्धि कर ले। बादमें शुद्धि करके सूत्रोक्त रीतिसे स्नान करके, तर्पण, ज्ञ, सायं-प्रातः कालोंमें संध्योपासना—समिधाधान हुए गुरुशुश्रूषा करना, ये ब्रह्मचारीके धर्म हैं। गृह्यसूत्र स्मृतिके अनुसार गृहस्थको नित्यकर्म करते हुए चारका पालन करना चाहिये—

गृहस्थोऽपि स्नानादिनियमाचारो नित्यमौपासनं वा पाकयज्ञयाजी वैश्वदेवहोमान्ते गृहागत- ज्ञातकश्च प्रत्युत्थायाभिवन्द्य आसनपाद्या- नानि प्रदाय मधुना तोयेन वा घृतदधिक्षीरमिश्रितं पर्कं दत्त्वा अन्नाद्यैर्यथाशक्ति भोजयति ॥

(वै० सू० प्र०—१ख०—४)

उक्त अंशोंमें नित्य होमके पश्चात् भगवान् विष्णुकी नित्यार्चा, अपने गृह या देवालयमें भक्तिसे करनेसे समस्त देवताओंकी अर्चा होती है—अथाग्नौ नित्यहोमान्ते विष्णोर्नित्यार्चा सर्वदेवार्चा भवति ॥ गृहे परमं विष्णुं प्रतिष्ठाप्य सायं प्रातर्होमान्तेऽर्चयति ।'

(वै० से०—४ । १० । १)

उक्त 'परम विष्णुप्रतिष्ठान' अंशको ही अलग कर विखनसोक्त सार्धकोटिग्रन्थका संग्रह चार लाख श्लोकोंमें उनके शिष्य मरीच्यादिने निर्माण किया था जिनके सारभूत ये 'कल्पसूत्रग्रन्थ' हैं।

भारतीय संस्कृति और सदाचार

(लेखक—पं० श्रीअरुणकुमारजी शर्मा, एम० ए०)

भारतीय संस्कृतिका लक्ष्य है—मानवकी आध्यात्मिक ति। सत्कर्म ही आत्मा और मनको पवित्र तथा वनानेके मुख्य साधन हैं। जन्म-मरणका बन्धन ही त्माको मुक्ति या परमानन्द प्राप्त करनेके लिये प्रेरित ता है। अनन्त और अक्षय सुख एकमात्र मोक्षमें ही । उन्नेः होकर प्रत्येक जीवात्मा इसे प्राप्त कर सकता । जीवन्मुक्त महापुरुष जीवनमें ही शाश्वत शान्ति मोक्षका परमानन्द प्राप्त करते हैं। भारतके ऋषियोंने रीरिक, मानसिक तथा आत्मोन्नतिको ही इस उद्देश्यकी त्रि साधन बतलाया है। युगादिमें ही शारीरिक शक्तिके कासके लिये ऐसा नियम और इस प्रकारका जीवन ाया गया था, जिसमें मानसिक और आत्मविकासमें भी धा न पड़े। शरीरके विभिन्न अङ्गोंको पुष्ट करनेके ये व्यायाम, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, ध्यान दिका विधान किया गया है। ये साधन शारीरिक क्तिके साथ-साथ चञ्चल चित्त-वृत्तियोंका निरोधकर नुष्यको एकाग्र बनाते और आत्मोन्नतिमें सहायता प्रदान करते हैं। प्राणायामसे शारीरिक, मानसिक शक्तिके विकासमें सहायता मिलती है। ब्रह्मचर्यसे जीवनीशक्तिकी वृद्धि होती है तथा वह आगे क्रमसे आत्मप्राप्तितक सहायक होता है।

भारतीय ऋषियोंने यह दिव्य ज्ञान प्राप्त किया कि सत्य और ऋत्—(जीवनकी सुव्यवस्था)के आधारपर ही यह सृष्टि स्थित है। ये दोनों विश्वके मूल कारण हैं। तभीसे सत्याचरणका भाव इस विश्वके वातावरणमें फैल गया है। भारतीय संस्कृतिने चरित्रबलको धर्मकी कसौटी माना है। इस कसौटीपर जो सफल हुआ, उसे भारत आदर और गौरवकी दृष्टिसे देखता आया है, भले ही उसकी विचारधारा सर्वमान्य और सर्वप्रिय न हो। इससे यह भी स्पष्ट है कि भारतमें अनादिकालसे धार्मिक स्वतन्त्रता रही है। मनुष्यके आदर और प्रतिष्ठाका मापदण्ड ईश्वरकी भक्ति और वेदादि सद्ग्रन्थोंका अनुशीलन न होकर ऋत्—चरित्रपर रहा है, जो भारतीय संस्कृतिकी दूसरी विशेषता है।

* वेद-पुराणोंके अनुसार क्रममुक्तिका सिद्धान्त भी है, जिसके अनुसार मोक्ष अत्यन्त दुर्लभ कहा गया है।

—धर्मसे बँधता है और इसी कारण पुरुषार्थकी ...का तात्पर्य है गुण-कर्मके अनुसार समाजमें ...णीत वैयक्तिक जीवनको अपनानेका प्रयास करना।

इस प्रयासका समयानुसार विकास वेदों, ...त्रों, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों, सूत्रों, ...र्यों, महाकाव्यों, नीतिशास्त्रों तथा पुराणों और ...क, काव्य तथा जनसाहित्यमें हुआ है। इस प्रकार ...तीय संस्कृति तथा जीवनके प्रति हिंदू दृष्टिकोण कुछ ...णाओंमें निहित हैं। ये धारणाएँ हैं, चारों पुरुषार्थ, ...-सिद्धान्त और वर्णाश्रम-व्यवस्था। इन्हीं धारणाओं- हिंदू-समाज तथा संस्कृतिको उसकी विशेषताएँ प्रदान की हैं। ये धारणाएँ किसी भी रूपमें निरपेक्ष नहीं हैं, सापेक्ष हैं—व्यक्तिकी मानसिक तथा सामाजिक आवश्यकताओंके अनुसार देश-कालकी परिस्थितियोंसे। युग-युगकी आवश्यकताओंके अनुसार इन धारणाओंके संवर्धन और प्रतिपादनमें ही हिंदुत्व-का विकास निहित है। यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं है कि भारतीय संस्कृतिकी मूल भित्ति सनातन-धर्म है। वेदोंमें बीजरूपमें, धर्मशास्त्रमें पल्लवित, प्रस्फुटित और पुराणादिमें पुष्पित और फलितरूपमें इस धर्मका ही दिव्य दर्शन होता है। यही कारण है कि भारतके कण-कणमें सनातनधर्मका भव्य भाव भरा हुआ है। सनातनधर्म भारतीय संस्कृतिकी पुरस्कृति है।

रामराज्य और सदाचार

(लेखक—श्रीशंकरदयालजी मिश्र, एम्० काम०, विद्यावाचस्पति)

मानव-जीवन सेवा-त्याग और प्रेमका प्रतीक है। ...लिये मनुष्यके जीवनमें केवल दूसरोंकी सेवा या ...पकारको ही सबसे श्रेष्ठ माना गया है। मानव-दर्शन-...केन्द्र-बिन्दु परहित है—परहित सरिस धर्म नहिं भाई। ...पीड़ा सम नहिं अधमाई॥ (मानस ७। ४०। १) ...सेवा या परहितके लिये मनुष्यमें कल्याणकारी विचार ...ने चाहिये। कल्याणकारी विचारोंसे तात्पर्य मानवद्वारा ...दुर्विचारोंका त्याग और सद्विचारोंको ग्रहण करना ...। विचारके अनुरूप मानवमें आचरणकी प्रक्रियाका ...फुटन होता है। सदाचारी जीवनके लिये मनुष्यमें ...द्विचारोंका होना अनिवार्य है। सदाचारसे रहित ...ष्यको सही अर्थमें मानवकी संज्ञा नहीं दी जा ...ती। मानव-जीवनकी सफलता सदाचारपर ही ...वलम्बित है। सदाचारी जीवन सभीको अभीष्ट है। ...सी आवश्यकता हमें अपने कल्याणके साथ-साथ ...माजके कल्याणके लिये भी अपेक्षित है। दुराचारी ...क्तिकी किसीको कभी भी आवश्यकता नहीं होती। परंतु सदाचारी मानवकी समाजको सदैव आवश्यकता रहती है। सदाचारी समाजमें पूजा जाता है।

मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् रामने अयोध्यामें अपने शासनके समय सदाचारके सर्वोच्च आदर्शों, मर्यादाओं तथा कीर्तिमानोंका पालन, चिन्तन तथा स्थापन करके समस्त विश्वको सदाचारका ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया है, जो अन्यत्र दृष्टिगत नहीं होता। आदर्शोंकी स्थापना तथा पालन श्रीराघव पहले स्वतः करते हैं और आदर्शोंके अनुशीलन तथा परिपालनका उपदेश वे बादमें देते हैं। सदाचारी जीवनमें अनीति-भयका कोई स्थान नहीं होता है। भगवान् राघवेन्द्रने स्वतः पुरवासियोंसे कहा है—

जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥
(मानस ७। ४२। ६)

श्रीराम स्वयं शिष्टाचारका अनुपम आदर्श सदैव प्रस्तुत करते हैं। गुरुजन तथा मुनिजनका उन्होंने

'सार्वजनसुखाय'की भावना भारतमें आदिकालसे प्रबल रही है। भारतीय संस्कृति इस आधार-शिलारूप भावनापर भारतीय जीवन और भव्य भवन अडिग और अचल खड़ा हुआ है। इस उदार, उदात्त और सर्वोच्च अभिलाषाके कारण ही आर्य-संस्कृति मौलिक महत्ता है। आर्यपुरुषोंकी अभिलाषा केवल अपनेको ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण विश्वको सुखी और शान्त बनानेमें पूरी होती है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

सर्वजनसुखायकी सद्भावना तो चरम सीमापर तब पहुँच जाती है, जब ऋषि दधीचि-जैसे महान् तपस्वी जनकल्याणके लिये अपने जीवनका विसर्जन सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं। दधीचिने यह कहकर अपना शरीर जनकल्याणके लिये अर्पित किया कि जब एक दिन यह स्वयं ही मुझे छोड़नेवाला है, तब इसको पाल-कर क्या करना है। जो मनुष्य इस विनाशी शरीरसे दुःखी प्राणियोंपर दया करके मुख्य धर्म और लौकिक यशका सम्पादन नहीं करता, वह जड़ पेड़-पौधोंसे भी गया-बीता है। बड़े-बड़े ऋषियों, महात्माओंने इस अविनाशी धर्मका पालन किया है और उसकी उपासना की है। इसका स्वरूप बस इतना ही है कि मनुष्य किसी प्राणी-के दुःखमें दुःखका और सुखमें सुखका अनुभव करे।

स्वयं मुक्त होकर यदि और किसीको मुक्त न कर सके तो अपनी मुक्तिकी सार्थकता कहाँ? वस्तुतः यदि आत्मा एक ही सत्य है तो क्या यह सत्य नहीं है कि जबतक अन्य दूसरे जीव पूर्णत्व लाभ नहीं कर लें, तब-तक वास्तवमें किसी भी आत्माका पूर्णत्व लाभ नहीं हो सकता। भारतके सभी महापुरुष इसकी घोषणा कर गये हैं कि समस्त विश्वका कल्याण हो और आत्म-कल्याणके लिये मानवजाति सचेष्ट हो। दि

और आत्मकल्याण—दोनों एक ही हैं। इस प्रकार प्रह्लाद, पूर्णतया मनसे स्तु तपस्या और विचार मुग्ध होकर वर दे वरदान देनेके लिये आये तो महामना प्र मुखसे सहसा निकला—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भव
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्।
कथमस्य स्यादुपायोऽत्र येनाहं दुःखितात्मन
अन्तःप्रविश्य भूतानां भवेयं दुःखभुक्

इस प्रकार मानव-कल्याणकी हुए ऐश्वर्य तथा मुक्तिको भी ठुकराना भारतीय लिये ही सम्भव था। यह है इसकी सर्वश्रेष्ठ विशे और अपनी इन समस्त विशेषताओंके आधारपर मात्रको यह पुरुषसे पुरुषोत्तम तथा नरसे नरोत्तम ब लिये धर्म, अर्थ, काम, मोक्षके अनुसार प्रेरित इन चारों पुरुषार्थोंका समन्वय और साधन है। कर्मके माध्यमसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्षकी ही पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ आवश्यक है, क्योंकि जीवनका उद्देश्य केवल पुरुष ही बने रहना नहीं मानव-जीवनका उद्देश्य है—मानवी स्तरसे मानवी और अग्रसर होना। इसका तात्पर्य है—पुरुषसे पुरु और नरसे नरोत्तम होना। इस साधनामें व्यक्ति और स दोनोंका समन्वय आवश्यक है; क्योंकि पुरुषसे पुरु बननेकी प्रक्रियामें व्यक्ति और समाज एक दूसरेके पू हैं। व्यक्तिसे समाजकी साधना होती है और समाज व्यक्तिकी; बशर्तें दोनोंके सम्बन्धोंका प्रणयन हो। समाजके रंग-मञ्चपर व्यक्तिका जीवन एक संक्रम प्रक्रिया है। इस प्रक्रियाकी कुछ आधारभूत अवस्था (आश्रय) हैं, जिनका साधन पुरुषार्थके लिये आवश्य है; क्योंकि ये अवस्थाएँ मानवकी शारीरी तथा स्वाभाविक अभिरुचियोंका एक सहज परिणाम है। व्यक्ति अपने गुण तथा कर्मोंके कारण ही समाज

सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती॥
राम भगति रत नर अरु नारी। सकल परम गति के अधिकारी॥
सब निर्दंभ धर्मरत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥

(मानस ७ । २० । २, ., ७)

रामराज्यमें सभी उदार, सच्चरित्र, जितेन्द्रिय, निरहंकार, मत्सररहित तथा परोपकारी हैं। पुरुषवर्ग एकपत्नी-व्रती है। इस प्रकार सभी स्त्रियाँ मन, वाणी, कर्मसे पति-हित करती हैं। रामराज्यमें किसीका कोई शत्रु नहीं। सभी एक दूसरेके मित्र हैं। जहाँ मित्र ही होते हैं, वहाँ शत्रुको परास्त करनेके उपाय साम, दाम, दण्ड, भेदका-कहीं प्रयोग होनेका प्रश्न ही नहीं उठता। वे सभी उदार, परोपकारी और विप्रपूजक हैं—

सब उदार सब पर उपकारी। बिप्र चरन सेवक नर नारी॥
एकनारि ब्रत रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी॥

(मानस ७ । २१ । ४)

सदाचारका तात्त्विक अर्थ यही होता है कि जो जिस वर्ण तथा आश्रमका है, वह उसके अनुकूल आचरण करे। भगवान् राघवेन्द्रके राज्यकी यह विलक्षणता है और दिव्य आदर्श है कि सब लोग मर्यादित हैं और शास्त्रोंके अनुसार अपने नित्यकर्मका सदा पालन करते हैं, सभी सुखी हैं, रोग-शोकका कहीं नाम नहीं है—

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग॥

(मानस ७ । २०)

राम-राज्यमें सदाचारकी महिमाका ही प्रत्यक्ष प्रमाण है कि सब मानव-शरीरके महत्त्वको समझते हैं और मानव-जीवनके परम लक्ष्य मोक्षके स्वतः अधिकारी होते हैं। सदाचारी सर्वदा दूसरोंकी सेवामें ही रत रहता है। मानवीय षट् विकारों—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सरका त्याग करनेपर ही जीवनमें सदाचारका प्रवेश हो पाता है। इन विकारोंसे मुक्त मानव प्रभुके प्रेमके अनिर्वचनीय आनन्दका रसास्वादन करता है। सदाचार व्यक्तिको भोगसे हटाकर योगकी ओर ले जाता है। परंतु इस सबके लिये मानवका विवेकी होना परम आवश्यक है। विवेकके प्रकाशमें हम दोषरहित होकर सदाचारी हो सकते हैं। भगवान् रामके राज्यमें यही विशेषता थी कि प्रत्येक मानव स्त्री तथा पुरुष विवेकका आदर करता था। सदाचारका उद्भावक मूलतः विवेक ही है।

वाणीका सदाचार

नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी न हीनतः परमभ्याददीत।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत न तां वदेद् रुशतीं पापलोक्याम्॥
वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति यैराहतः शोचति रात्र्यहानि।
परस्य वा मर्मसु ये पतन्ति तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु॥

(महाभारत, अनुशा० ४ । ३१-३२)

'दूसरोंके मर्मपर आघात न करे, क्रूरतापूर्ण बात न बोले तथा औरोंको नीचा न दिखाये। जिसके कहनेसे दूसरोंको उद्वेग होता हो, ऐसी रुखाईसे भरी हुई बात पापियोंके लोकोंमें ले जानेवाली होती है; अतः वैसी बात कभी न बोले। जिन वचन-रूपी बाणोंके मुँहसे निकलनेसे आहत होकर मनुष्य रात-दिन शोकमें पड़ा रहता है और जो दूसरोंके मर्मस्थानोंपर घातक चोट करते हैं, ऐसे वचनबाण सद्-असद् विवेक-शील, विद्वान् पुरुष दूसरोंके प्रति कभी न छोड़े।'

नमन, पूजन तथा वन्दन किया है। भगवान् राम स्वयं अपना पीताम्बर बड़ोंके सीमानमें आगन्तुक मुनियोंके बैठनेके लिये तुरंत प्रदान करते हैं—

देखि राम मुनि आवत हरषि दंडवत कीन्ह।
स्वागत पूँछि पीतपट प्रभु बैठन कहँ दीन्ह॥
(मानस ७। ३२)

सदाचारका तात्पर्य जहाँ एक ओर पर-सेवा या परोपकार प्रतिफलित है, वहीं दूसरी ओर रामराज्यमें नगरके स्त्री-पुरुष भगवान्‌की भक्तिमें भी रत हैं। कृपानिधान श्रीराघवेन्द्र सबपर सदैव सानुकूल भी रहते हैं, यह भी सदाचारकी एक पहचान उनकी भक्ति-चर्चामें भी चरितार्थ है—

जहँ तहँ नर रघुपति गुन गावहिं। बैठि परसपर इहइ सिखावहिं॥
भजहु प्रनत प्रतिपालक रामहि। सोभा सील रूप गुन धामहि॥
(मानस ७। २९। १-२)

रामराज्यमें विरक्त, ज्ञानपरायण, मुनि और संन्यासी सभी अपने नित्यकर्ममें तत्पर रहते हैं। कर्तव्यपरायणताका आविर्भाव ही सदाचारका वास्तविक तात्पर्य है। रामराज्यमें सभी लोग अपने कर्तव्यपथपर चलते हैं। सदाचारका इससे सुन्दर आदर्शयुक्त उदाहरण और क्या हो सकता है। सदाचारके फलस्वरूप अवधपुरीके लोगोंको जो उपलब्ध है, उस भौतिक निधिका वर्णन हजारों शेष भी नहीं कर सकते—

अवधपुरी बासिन्ह कर सुख संपदा समाज।
सहस सेष नहिं कहि सकहिं जहँ नृप राम बिराज॥
(मानस ७। २६)

रामराज्यके समय सदाचारका महत्त्वपूर्ण एवं ज्वलन्त प्रमाण प्रत्येक घरमें पुराणोंका पाठ है। भगवान् रामके पावन चरित्रकी कथा अनेक विधिसे सभी स्त्री एवं पुरुषोंद्वारा होती है। लोग राघवेन्द्र श्रीरामके प्रति ऐसा दिव्य अनुराग रखते हैं कि दिन-रातका उन्हें भान ही नहीं हो पाता। रामके चरणोंमें लोगोंकी अनपायिनी भक्ति सदाचारके प्रति निष्ठाका ही द्योतक है—

सब कें गृह गृह होहिं पुराना। राम चरित पावन बिधि नाना॥
[illegible]
(मानस ७। २६। ४)

रामराज्यमें सदाचारकी जो अनुपम छटा झाँकी दृष्टिगोचर होती है, उसकी छटा बड़ी दुर्लभ है। रामराज्यका प्रत्येक व्यक्ति—स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध, गुरु, मुनि आदि सब अपने-अपने धर्माचरणमें रत रहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्योंका स्वतः दिखायी देता है। जो जिस योग्य है तथा जिसका जहाँ जो दायित्व है, वह उसका पूरा निर्वाह करता है।

गुरु वसिष्ठजी नित्य सत्सङ्ग करते हैं तथा पुराणकी कथाएँ सज्जनों तथा द्विजोंको सुनाते हैं। भाई राघवेन्द्रकी सेवा करते हैं तथा अनुशासन मानते हैं। भगवान् राम उन्हें अनेक प्रकारसे नीति सिखाते हैं। अनेक निपुण दास-दासियोंके होनेके उपरान्त भी मा सीताजी भी अपने हाथोंसे ही गृहकार्य करती हैं। सदाचारका इससे अनूठा उदाहरण अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकता। जगदम्बा जनकतनया केवल गृहकार्य ही नहीं करतीं, वरन् मर्यादा-पुरुषोत्तमकी आज्ञाका सदा अनुसरण एवं सेवा भी करती हैं—

जद्यपि गृहँ सेवक सेवकिनी। बिपुल सदा सेवा बिधि गुनी॥
निज कर गृह परिचरजा करई। रामचंद्र आयसु अनुसरई॥
(मानस ७। २४। ५-६)

सदाचरणका परिणाम रामराज्यमें अपार सुख-समृद्धिके रूपमें स्पष्ट परिलक्षित होता है। समाजमें कोई दुःखी नहीं है, कोई दरिद्र नहीं है, किसीको कोई कष्ट नहीं है तथा सब लोग स्वधर्म-पालन करते हैं और आपसमें सब प्रेमसे परिपूरित हैं। सदाचारसे युक्त नगरवासी धर्मके चारों चरणों—सत्य, शौच, दया तथा दानमें रत हैं। कोई स्वप्नमें भी दुराचरण नहीं करता, निरभिमानतासे युक्त सभी अपने धर्मों संलग्न हैं।

त होंगे, जो माता-पिताका पालन-पोषण कर दें, ऐसे पुत्र कम होंगे, जो माता-पिताको संतुष्ट कर दें। कहा कि मा! तूने जो मेरे लिये वनवास माँगा, इसमें मारा लाभ-ही-लाभ है। उन्होंने अपने वनगमनमें जीके समक्ष चार लाभ बतलाये। यथा—

निगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
हि महुँ पितु आयसु बहुरि, ३—संमत जननी तोर।
(मानस २। ४१) (और चौथा यह कि—)

तु प्र नप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥

इस प्रसङ्गमें भोजराजका एक बहुत ही सुन्दर श्लोक ध्यानमें आता है, हम उसको भी उद्धृत कर रहे श्रीराम कैकेयीसे कहते हैं—

भुवि तनुमात्रत्राणमाज्ञापितं मे
सकलभुवनभारः स्थापितो वत्समूर्ध्नि।
देह सुकरतायामावयोस्तर्कितायां
मयि पतति गरीयानम्ब ते पक्षपातः॥
(चम्पूरामायण २। २५)

अर्थात् 'मा! तूने वत्स भरतके लिये सारी पृथ्वीका राज्य कर उनके सिरपर इतना बड़ा बोझ डाल दिया और लिये केवल वनकी रक्षाका भार दे कार्य सुगम कर। इससे ज्ञात होता है कि आज भी तूने हमारे साथ पात ही किया है।' इस प्रकार विमाताके साथ कैसा भाव चाहिये, यह प्रभुने अपने आचरणके द्वारा संसारके ने रखा। (२) भाई—इसी प्रकार श्रीरामने भ्रातृत्वका भी टा आदर्श संसारके सामने रखा। श्रीराम और भरतका त्व संसारके भाइयोंके लिये उच्चकोटिका पथ-प्रदर्शक गया। श्रीरामने इसे वाल्मीकिजीसे भी कहा था—

तात बचन पुनि मातु हित भाइ भरत अस राउ।
मो कहुँ दरस तुम्हार प्रभु सबु मम पुन्य प्रभाउ॥
(मानस २। १२५)

रामने अपने छोटे भाईके लिये (एवं भरतने उनके ये) कितना बड़ा त्याग किया, पर आज हमारे भाई रामायणका पाठ करते हैं और साधारण-से-साधारण वस्तुके लिये भाईसे संघर्ष भी करते हैं।

अवध राजु सुर राजु सिहाहीं। दसरथ धन सुनि धनद लजाहीं॥

जिसको श्रीराम भाईके लिये वैसे ही छोड़ देते हैं जैसे बटोही मार्गके स्थानको छोड़ देते हैं—'राजिवलोचन राम चले तजि बापको राजु बटाऊ की नाईं' (कवितावली २। २)। यह भ्रातृत्व अनुपम आदर्श है।

(३) शिष्य—शिष्य कैसा होना चाहिये, इसको भी प्रभुने अपने आचरणद्वारा दिखला दिया है। विश्वामित्रजीके साथ जिस समय राम और लक्ष्मण जनकपुरमें पहुँचते हैं और रात्रिमें जब विश्वामित्रजी विश्राम करने जाते हैं, तो—

मुनिबर सयन कीन्हि तब जाई। लगे चरन चापन दोउ भाई॥
जिन्ह के चरन सरोरुह लागी। करत बिबिध जप जोग बिरागी॥
तेइ दोउ बंधु प्रेम जनु जीते। गुर पद कमल पलोटत प्रीते॥
(मानस १। २२५। २-३)

गुरु-शिष्यका परस्परका यह व्यवहार बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, जिसका आज समाजमें विकृतरूप होता जा रहा है।

(४) राजा—राजा कैसा होना चाहिये इसे भी उन्होंने अपने चरित्रके माध्यमसे दिखलाया है। राजा जितना त्यागी होगा, उतना ही प्रजाके ऊपर अपने आदर्शका प्रभाव डाल सकेगा। राजा श्रीरामने प्रजाके लिये अपने सर्वस्वका बलिदान किया। यहाँतक कि अपनी प्राणवल्लभा (धर्मपत्नी) वैदेहीका भी परित्याग कर दिया। यही कारण है कि आज भी लोग चाहते हैं कि रामराज्य हो जाय।

(५) इसी प्रकार मित्र-धर्मका निर्वाह उनके जीवनमें बहुत ही सुन्दर देखनेको मिलता है। गोस्वामीजीने 'विनयपत्रिका' (१६६।७) में लिखा कि 'हत्यो बालि सहि गारी' 'अजहुँ सुहात न काऊ'—बालीका वध आजतक भी कितने लोगोंको अच्छा नहीं लगता। गोस्वामीजीसे लोगोंने पूछा कि बाली-वधका प्रसङ्ग आपको कैसा लगता है? गोस्वामीजीने उत्तर दिया कि जब अपने आश्रित सुग्रीवकी रक्षाके लिये श्रीराम कलङ्क लेनेको तैयार हो गये तो हमारे लिये भी ले सकते हैं—

मयो यदनृतं वदति। तेन पूतिरन्तरतः। मेध्या वा ः। मेध्यो भूत्वा व्रतमुपायानीति (१।१।१।१)।' पाठके आर्ष-दर्शी स्वभाववाले आर्यलोग भलीभाँति ते थे। शास्त्रोंमें वर्णन आता है कि 'जो मनुष्य बार पाप करता है, वह आगे भी बारबार पाप में फँस जाता है, रुकता नहीं— 'यः सकृत् किं कुर्यात् कुर्यादेनस्ततो परम।' ताण्ड्य-ब्राह्मण ता है—'झूठ बोलना वाणीका छिद्र है, जिसमेंसे कुछ गिर जाता है' (८।६।१३)। शतपथ गमें आता है कि— 'असत्यवादी निस्तेज हो जाता और उसकी भद्र, विजय होती है'—(३।४।८)। ऐतरेयब्राह्मणका उपदेश है— 'वाग्देवीके स्तन हैं—सत्य और अनृत। सत्य रक्षा करता है, त मार डालता है—'वाचो वाव तौ स्तनौ सत्या-याव ते। अवत्येनं सत्यं नैनमनृतं हिनस्ति य वेद' (४।१)।

जो सत्य-सदाचरणसे शून्य है, उसके लोक-परलोक तो ही विनष्ट समझना चाहिये। जिसका बाह्याभ्यन्तर त नहीं है, उसके यज्ञ करनेसे क्या लाभ? उसका आज्य भी जल ही है। वह तो अग्निको और ता है। वास्तवमें व्यवहारके बिना सदाचार भार है। ब्राह्मणोंने इसकी एक बड़ी सुन्दर उपमा गढ़ी —सत्य बोलना क्या है? यज्ञाग्निका घृतसे अभिषेक ना है, प्रज्वलित अग्निको तृप्त करना है। इससे की वृद्धि होती है और झूठ बोलना क्या है? ले हुए अग्निपर जल छोड़ना है, बुझाना है, इससे घट जाता है। इसलिये सत्य ही बोलना चाहिये— ः सत्यं वदति यथा अग्निं समिद्धं तं घृतेनाभिषि त्। एवं हैनं स उद्दीपयति तस्य भूयो भूय एव जो भवति, श्वः श्वः श्रेयान् भवति। अथ योऽनृतं दति यथा अग्निं समिद्धं तमुदकेनाभिषिञ्चेत्। ब्रा० २।२।२।१९)।

यजमानपत्नीको तत्त्विदने श्रद्धा नामसे अभिहित किया है। ऋग्वेदके दशम मण्डलका १५१वाँ तथा तैत्तिरीय ब्रा०का (२।८।) ८वाँ सूक्त 'श्रद्धासूक्त'के नामसे प्रसिद्ध है। उसमें मनुष्यकी उन्नतिका प्रधान कारण श्रद्धाको ही माना है। श्रद्धाके द्वारा अग्नि प्रज्वलित होती है और श्रद्धाके ही द्वारा यज्ञ-सामग्रीकी आहुति दी जाती है। इतना ही नहीं, श्रद्धा सम्पूर्ण ज्ञान-वैराग्य, धर्म-कीर्ति, धन-ऐश्वर्य आदि सबसे श्रेष्ठ है। श्रद्धाकी बड़ी महिमा है

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि॥
(ऋ० १०।१५१।१)

वेदोंमें नारीको बड़े आदरकी दृष्टिसे देखा गया है। 'तैत्तिरीयब्राह्मण'के अनुसार धर्मपत्नी साक्षात् लक्ष्मीका स्वरूप है। उसके बिना यजमान यज्ञके अयोग्य होता है; क्योंकि वह उसकी अर्द्धाङ्गिनी है— 'अर्द्धो वा एष आत्मनः यत्पत्नी' (२।९।४।७)। ऐतरेयब्राह्मणकी दृष्टिमें पत्नीके बिना पुरुष स्वर्ग नहीं पा सकता; क्योंकि न तो वह यज्ञ-यागादिमें दीक्षित हो सकता है और न वह संतान ही प्राप्त कर सकता है, फिर उसकी सद्‌गति कैसे हो सकती है?—'नापुत्रस्य लोकोऽस्ति' (ऐतरेय ७।३३, १३।१)। कैवल्योपनिषद्‌के अनुसार उमा वेदी है, महेश्वर ज्योतिर्लिङ्ग हैं, महेश्वर ब्रह्मा है। उमा वाणी है, महेश्वर यज्ञ हैं। उमा स्वाहा है, महेश्वर सूर्य है। उमा छाया है, महेश्वर ब्रह्म है—उमा माया है, महेश्वर जीव है—उमा माया है। दुग्धमें जैसे घृत समाया है, पुष्पमें गन्ध, चन्द्रमें चन्द्रिका और प्रभाकरमें जैसे प्रभा है, उसी प्रकार ब्रह्ममय माया है। भारतीय संस्कृतिने ऐसा ही अविच्छिन्न दम्पति-दर्शन हमें दिखाया है—

उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं
त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्।

सांख्य-योगीय सदाचार

(लेखक—डॉ० श्रीगङ्गाधरराव 'गुर्जर' एम्० ए०, 'आनन्द')

भारतके सभी शास्त्र एवं ऋषि-मुनि मोक्षको परम पुरुषार्थ मानते हैं । मोक्षकी सामान्य परिभाषा है—'अज्ञानहृदयग्रन्थेर्नाशो मोक्ष इति स्मृतः।' इस परिभाषापर किसीको संदेह—विप्रतिपत्ति या वैमत्य नहीं है। दार्शनिकोंका कहना है कि संतोष ही मोक्षका द्वार या राजमार्ग है और इस दृष्टिसे असंतुष्ट मानव एक संतुष्ट पामरसे भी गया-गुजरा है । उपनिषदोंमें विशेष कर कठ और श्वेताश्वतरमें सांख्ययोगका संक्षिप्त विवेचन मिलता है। गीता, अमरकोश, चरक आदिमें विद्वानके लिये भी इसका उपयोग हुआ है। संख्या या गिनती अर्थको लेकर सांख्य, 'संख्यात, 'संख्येय' आदि पद बने हैं—'सांख्यैः संख्यातसंख्येयैः सहासीनं पुनर्वसुम्' (चरकसू०१५)।

संख्याका एक दूसरा अर्थ भी किया जाता है, जिसे discrimination या 'सम्यक् विवेकज प्रज्ञा' कहते हैं। मानवकी विकासधाराके इतिहासमें ऐसी प्रज्ञाका एक निश्चित स्थान है। इसलिये योगके साथ सांख्यकी प्राचीन रूपसे ही देखी जाती है। भागवत एवं महाभारतके शान्तिधर्मपर्वमें सेश्वरसांख्यका विस्तृत विवेचन प्रकरणमें निर्दिष्ट है। वैसे कौटल्यने अपने अर्थशास्त्रमें राजपुत्रके ज्ञातव्य शास्त्रके परिगणनमें भी सांख्ययोगको सम्मिलित किया है (१।४)। भागवतमें कपिल-जैसे महासांख्य-सिद्धकी जीवनी तथा दर्शनका वर्णन किया गया है। इससे यह दृढ़तासे कहा जा सकता है कि सांख्य और योगकी विचारधारा हमारे देशमें प्राचीनकालसे ही प्रवाहित होती रही है। सांख्य और योग इन दो दर्शनोंको एक साथ निबद्ध करनेका तात्पर्य न केवल उनकी प्राचीनतासे है, अपितु उनकी विचारगत समता भी है। दोनों ही पचीस तत्त्वोंको मानते हैं। पुरुष प्रकृतिसे मौलिक रूपसे भिन्न है। इस तथ्यको निरन्तर तत्त्वाभ्यास, अनासक्ति और समाधिके द्वारा हृदयंगम करना दोनोंका अन्तिम लक्ष्य है, जिसे 'प्रकृतिपुरुषान्यताख्याति' कहते हैं।

आचारिक अङ्गका महत्त्व—'योगदर्शन'को सेश्वर-सांख्य भी कहते हैं। सांख्यकी अपेक्षा योगमें आचारिक अङ्गका अधिक वर्णन पाया जाता है। योग एक प्रायोगिक अङ्ग रहा है और वह भी ब्रह्मविद्याका; ऐसा मत लेखक डॉ० कृ० के० कालहटकरने अपनी पुस्तक 'पातञ्जलयोगदर्शन' अर्थात् 'भारतीय मानसदर्शन'की विस्तृत प्रस्तावनामें प्रकट किया है। इस दृष्टिसे उन्होंने वेदान्तको ब्रह्मविद्याका विमर्शात्मक अङ्ग कहा है। इसलिये आचारिक अङ्गकी जितनी परिपुष्टता योगमें परिलक्षित होती है, उतनी सांख्यमें नहीं। प्रायोगिककी अपेक्षा सांख्यका विमर्शात्मक स्वरूप अधिक विस्तृत एवं प्रभावशाली है। इस विमर्शात्मक अङ्गका दीर्घकालतक पूरी आस्थासे निर्वहण होता है, तभी व्यक्ताव्यक्त विज्ञान सांख्यके अनुसार प्रत्ययकारी रूपमें हो सकता है। इसलिये वाचस्पति मिश्रने 'सांख्यतत्त्वकौमुदी'में इसपर बल देते हुए कहा है—**'एतदुक्तं भवति श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेभ्यो व्यक्तादीन् विवेकेन श्रुत्वा, शास्त्रयुक्त्या च व्यवस्थाप्य दीर्घकालादरनैरन्तर्यसत्कारसेविताद् भावनामयाद् विज्ञानादिति। तथा च वक्ष्यति—'एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषमविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्** (सांख्यकारिका—६४)।'

इससे यह स्पष्ट है कि अभ्यास-वैराग्य—ये दोनों ही आचारके संदर्भमें समान आधारशिला रहे हैं। चित्तवृत्तिनिरोधको योग कहते हैं। इस योगके आठ अङ्ग प्रसिद्ध हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—पतञ्जलिने पाँच प्रकारकी सिद्धियाँ बतलायी हैं, जिनमें समाधिज सिद्धि भी ईश्वरप्रणिधान-द्वारा प्राप्य कही गयी है। प्रणिधानका प्रचलित अर्थ—

ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं
समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात्॥
(कैवल्योपनिषद् ७)

और अब यज्ञके अतिथि या जनता-जनार्दन! ऐतरेय ब्राह्मणने इसीको तो यज्ञ भगवान्‌का सिर बतलाया है—'शिरो वा एतद् यज्ञस्य यद् आतिथ्यम्' (१।२५)। इसलिये केवल यज्ञमें दीक्षित यजमानोंको ही नहीं, अपितु यज्ञमें शामिल होनेवाले सभी व्यक्तियोंके लिये भी चेतावनी देते हुए वेद कहते हैं— सदा सत्य बोलो, सैकड़ों हाथोंसे कमाओ, हजार हाथोंसे दान करो, सत्पथपर चलो, चोरी मत करो, आलसी मत बनो, कल्याणकारी बनो, स्त्रियोंकी रक्षा करो, अहंकार त्यागो, ईर्ष्या-द्वेषमें मत फँसो, मांस-मदिरा त्यागो, तेजस्वी बनो, स्वास्थ्य ठीक रखो, मनोबल बढ़ाओ, गाली बकना पाप है, किसीकी उपेक्षा मत करो और परमात्मा ही सबका मालिक है, उसकी याद करो। धन-दौलत पा जानेसे क्या होता है, अशान्ति और बढ़ती है। हिटलर, सिकन्दर, तोजो और मुसोलिनीके जीवनमें तो एक पलभरकी भी शान्ति नहीं मिली, और आज भी जो लोग अपनी मुट्ठीमें दावानल दबाये बैठे हैं, वह मुट्ठी खुली और प्रलय उगल पड़ी, उन्हें इससे क्या शान्ति मिलनेवाली है?? अरे, दिव्य सुख-शान्तिका स्रोत तो मानवतासे प्रकट होता है। चरित्र और सदाचार ही उसका मूलाधार है। सबके सुख और सबके कल्याणकी दिव्य भावना ही तो यज्ञका हेतु है—

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

यही यज्ञ आर्योंके जीवनका सदुद्देश्य था। यज्ञ-कर्म आध्यात्मिक भी है और आधिदैविक भी। वह भौतिक भी है। बड़ा विलक्षण है। वह हमें आहुति देना सिखाता है। उसमें हम अपनी गाढ़ी कमाईका होम करते हैं, त्याग करते हैं, पुण्यार्जन करते हैं, इससे सिद्धियाँ पाते हैं और फिर यज्ञ करते हैं। ऐसे ऊपर उठते जाते हैं, समक्ष आती है, स्वर्ग... हैं, उसको ग्रहण करते हैं, यज्ञ-शिष्ट होनेसे वह विशुद्ध हो जाती है। तपस्वियोंने यज्ञ-पुरुषको इसे प्रबुद्ध किया था। प्राणाग्निमें देहाभिमान होता है, तब अन्नमय-कोशकी शुद्धि होती है। ऐसे प्रथम अमृत वीर्यको रोकनेसे वह प्राणमय-कोश पोषक बन जाता है। वीर्य या रेतकी प्रशंसामें शतपथ ब्राह्मणने इसे 'सोम'की संज्ञासे विभूषित किया है—'रेतो वै सोमः' (१।९।२।९)। वीर्य ही समस्त शरीर, प्राणों और इन्द्रियोंको प्रसन्न रखता है। मस्तिष्कको शक्ति देनेके लिये वीर्यसे बढ़कर और कोई दिव्य पदार्थ नहीं है। वह शरीरका राजा है, उसके नष्ट हो जानेसे देहमें गदर मच जाता है। ब्रह्मचर्य है तो आत्मबल है, आरोग्य है, सौन्दर्य है, शौर्य है, ऐश्वर्य है, सुख और संतान है—सब कुछ है। इसकी आहुति मनोमय-कोशमें होती है। मन विज्ञानमय-कोशमें शुद्ध होता है और विज्ञानकी आहुति लगनेसे आनन्दमय-कोश जाग्रत् होता है अर्थात् संकल्प-विकल्पसे ऊपर उठकर मन-आधारका अखण्डानन्द बोधमयी स्थितिमें प्रतिष्ठित हो जाता है और आत्म-ज्योतिका प्रादुर्भाव हो जाता है। यही मनुष्य-जीवनकी सबसे बड़ी सफलता है।

एकमात्र विशुद्ध चैतन्याग्नि ही इस पूर्णाहुतिके अमृतको धारण करनेमें समर्थ है। इस समय चेतन और आनन्दका अभिन्न आलिङ्गन सम्पन्न होता है और रसानुभूतिकी पूर्ण-समुल्लसित अवस्था आ जाती है। यही सदाचार-यज्ञका पर्यवसान है—

धर्मं चरत माधर्मं सत्यं वदत माऽनृतम्।
दीर्घं पश्यत मा ह्रस्वं परं पश्यत माऽपरम्॥
(वसिष्ठस्मृति ३०।१)

र्शनिक मनीषीने यम-नियमोंको नैतिकताका प्रेरक
ताया है । इसीलिये सारे संसारके सदाचारके
इनकी मान्यता रही है तथा आगे भी रहेगी ।*

ांख्यके सदाचार—ज्ञानके संदर्भमें सोचा जाय तो
और योगका अन्तिम लक्ष्य कैवल्य है । यह कैवल्य
कृति-पुरुषान्यताख्याति'के रूपमें प्रसिद्ध है, जिसकी
हले ही संकेत किया गया है । परंतु योगमें
प्राप्तिके अङ्गोंसहित उपायोंका जैसा वर्णन किया गया
सा सांख्यने आग्रहपूर्वक नहीं किया है । इसका
सामान्य तौरपर यही दिखायी देता है कि
के अनुगामी मुख्य रूपसे ज्ञानयोगी थे, अतः उन्होंने
की प्रधानतापर ही बल दिया । इस 'विवेक-
'को सर्वाधिक महत्त्व देकर साधनामें प्रवृत्त सिद्धोंकी
ा इस देशमें बहुत प्राचीन कालसे ही चली
है । इसलिये भगवद्गीताके साथ-साथ उपनिषद्में
सांख्यमतप्रवर्तक कपिलमुनिको सिद्धोंका प्रमुख
सद स्थान दिया है—'सिद्धानां कपिलो मुनिः'
ा १० । २६) । श्वेताश्वतरोपनिषद्में भी 'ऋषिं
ं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं
श्येत्' (५ । २) से उनका गौरवगान
गया है । सांख्य-सिद्धोंकी एक विशाल
महाभारत, स्मृति-ग्रन्थ तथा सांख्य-साहित्यमें भी
ब्ध है । इतना ही नहीं, चरक-संहिताके मूल
था पुनर्वसु आत्रेयको भी सांख्यसिद्धोंमें गिना
ता था । पुनर्वसुपर सांख्यविचारधाराका इतना
ाव पड़ा दीखता है कि सांख्यज्ञानको
होने आदित्यके समान प्रखर-प्रकाशक बताया है—
ांख्यं ज्ञानमादित्यवत् प्रकाशते' ।

इन सिद्धोंकी पङ्क्तिमें आसुरि, पञ्चशिख, धर्मध्वज, जनक, वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य, सनन्दन, जैगीषव्य, देवल, हारीत, वाल्मीकि, भार्गव, उलूक, वार्षगण्य और पतञ्जलि आदि सम्मिलित हैं । इनकी जीवनियोंसे सदाचारपर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है । इसीलिये लगता है कि सदाचारोंका विशिष्ट वर्णन सांख्यकारिकामें या अन्य सांख्यग्रन्थोंमें अपेक्षित नहीं समझा गया । योगके साथ जिस प्रकार वैचारिक समानता इस दर्शनमें है, ठीक उसी प्रकार आचारगत समानता भी होनी चाहिये थी । हाँ, कपिलकृत सांख्यसूत्रमें यह विचारप्रधान आचार-दृष्टि अवश्य दृष्टिगोचर होती है । इस संदर्भमें चौथे अध्यायके कतिपय सूत्र नीचे उद्धृत किये जाते हैं, जिनमें वामदेव, शुकदेव और सौभरि मुनिके समान रहकर संयम एवं सदाचारके पालनका आदेश दिया गया है—

'प्रणतिब्रह्मचर्योपसर्पणानि कृत्वा सिद्धिर्बहुकालात् तद्वत् (१९), न कालनियमो वामदेववत् (२०), अध्यस्तरूपोपासनात् पारम्पर्येण यज्ञोपासकानामिव (२१), विरक्तस्य हेयहानमुपादेयोपादानं हंसक्षीरवत् (२३), लब्धातिशययोगाद्वा तद्वत् (२४), न कामचारित्वं रागोपहते शुकवत् (२५), गुणयोगाद्बद्धः शुकवत् (२६), न भोगाद्रागशान्तिर्मुनिवत् (२७), दोषदर्शनादुभयोः (२८), न मलिनचेतस्युपदेशबीजप्ररोहोऽजवत् । (२९ ।)

इस प्रकार ऊपर संक्षेपमें सांख्ययोगीय सदाचारका जो वर्णन किया है, उससे वैराग्यमूलक ज्ञान एवं ध्यानप्रधान अलोकविरुद्ध सामान्य सदाचारकी दिशा स्पष्ट हो जाती है । इसमें यम और नियमोंकी भूमिका मुख्य रही है । ये ही सांख्ययोगीय सदाचारके मुख्य प्रेरणाके स्रोत रहे हैं ।

* The yamas are of universal validity regardless of differences of cast and ountry, age and conditions. They are acquired by all, though all may not be hosen for the higher life of contemplation. The observances (niyama) are purification, xternal and internal contentment, austerity (tapas) and devotion to God. These are ptional, Though all, who resort to yoga are required to practice them regularly, A practice f these two favours the development of Vairagya, or passions, lessens or make free from desire ither for things of the world or the pleasures of heaven. (Indian Philophy, by Radhakrishnan age 354, 8th edn.)

संयम-धर्मका पालन करना चाहिये। योगशास्त्रमें ये ही सदाचारके प्रथम पाँच सोपान माने गये हैं। बौद्धधर्ममें प्रायः इन्हें ही पञ्चशील नामसे कहा जाता है। शील और सदाचार एक ही सिक्केके दो पहलू हैं। सदाचारी शीलवान् भी होता है।

जो इनका दृढ़ता, सुनिश्चितता तथा कठोरतासे पालन करते हैं, वे निश्चय ही देवत्वको प्राप्त होते हैं। मनुष्य देवत्व और असुरत्वके बीचकी एक महत्त्वपूर्ण शृङ्खलाकी सुदृढ़ कड़ी है। 'यम'का आश्रय और पालन-नियमन मनुष्यको ऊर्ध्वोन्नतिकी ओर ले जाता है।

योगमें यमके बाद नियमोंका स्थान आता है। इन्हें योगका दूसरा अङ्ग कहा है। इससे ईश्वरकी प्राप्ति अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति होती है। सदाचारके ये पाँच 'नियम'-सोपान सदाचारके सूचक हैं। इनमें सदाचारकी परमोत्कृष्टता निहित है। योगदर्शनानुमोदित प्रथम अङ्गके द्वारा देवत्व तथा मनुष्यत्व प्राप्त किया जा सकता है तो दूसरे अङ्ग नियम-के द्वारा ब्रह्मत्वकी प्राप्ति की जा सकती है। सदाचार बिना नियमके अधूरा रह जाता है। योगदर्शनके प्रणेता महर्षि पतञ्जलिने नियमके 'शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान'—ये पाँच अङ्ग माने हैं। सदाचारके सर्वोच्च शिखरासनासीन होनेके लिये इन पाँच सोपानों-का आरोहण आवश्यक है। मानव, देवत्व और असुरत्वके बीचकी कड़ी है। यही ब्रह्मत्व और महागर्त्तान्धकारका भी माध्यम है। ब्रह्मत्वकी प्राप्तिके हेतु शौच अर्थात् शरीर और मनकी पवित्रता अभीष्ट है, संतोष तो नन्दनकानन है। जिसमें समस्त इच्छाओंकी पूर्ण करनेवाली कल्पलता विद्यमान है। बिना तपके सदाचार व्यर्थ और निष्फल है। तपका अर्थ है परोपकारके लिये कष्टोंकी अग्निमें अपने-आपको आहुति बना देना। स्वाध्याय तो मनुष्यको वह ज्ञान और मनोबल प्रदान करता है, जो सदाचारमें परम आवश्यक है। वेदादि सत्र ग्रन्थोंका मनन, चिन्तन, स्वाध्यायकी सरल परिभाषा है। इन चार सोपानोंपर आरूढ़ होनेके बाद मनुष्य ईश्वर-के सम्बन्धमें विचार करने, सोचने, समझनेका पूर्ण अधिकारी बनता है। यम-नियमके इन दस लघु सोपानोंपर जो व्यक्ति आरोहणकर ऊपर उठता है, वही सच्चा सदाचारी बननेका अधिकारी है। इस प्रकार यम और नियमकी ये दस विधियाँ मनुष्योंके सदाचारके सुदृढ़ निर्माता हैं जिनसे समाधि-सिद्धावस्था प्राप्त होती है।

अहिंसासे अपरिग्रहतक तथा शौचसे ईश्वर-प्रणिधान-तक पहुँचानेकी शक्ति सदाचारमें है। सदाचारके द्वारा मनुष्य देवत्व और ब्रह्मत्वको प्राप्त करके महान् बन जाता है। जैसा कि कहा गया है—

'सदाचारेण देवत्वमृषित्वं च तथा लभेत्।'

सदाचारी पुरुष क्या करे !

शान्तेन्द्रियेण दान्तेन शुचिनाचापलेन वै। अदुर्बलेन धीरेण नोत्तरोत्तरवादिना ॥
अलुब्धेनानृशंसेन ऋजुना ब्रह्मवादिना। चारित्रतत्परेणैव सर्वभूतहितात्मना ॥
अरयः षड् विजेतव्या नित्यं स्वं देहमाश्रिताः। कामक्रोधौ च लोभश्च मानमोहौ मदस्तथा ॥

'मनुष्यको चाहिये कि संयतेन्द्रिय, मनोनिग्रही, पवित्र, चञ्चलतारहित, सबल, धैर्यशील, निरन्तर वाद-विवाद न करनेवाला, लोभहीन, दयालु, सरल, ब्रह्मवादी, सदाचार-परायण और सर्वभूतहितैषी बनकर सदा अपने ही शरीरमें रहनेवाले काम, क्रोध, लोभ, मान, मोह और मद—इन छः शत्रुओंको अवश्य जीते।'

—महर्षि पराशर

अग्निपुराणने तो कह दिया है कि 'बुद्धिमान्का र हृदयमें रहता है, तो फिर यह मान लेना । कि जो दुराचार करता है, वह पहले अपने से ईश्वरको निकाल फेंकता है ।'

व्यवहार

याज्ञवल्क्यस्मृतिमें विधि (कानून—Law) 'व्यवहार' कहा गया है और उस महापुरुषने स्पष्ट कर ा है कि व्यवहार तथा सदाचार एक ही वस्तु है । व्यवहारी है, वह सदाचारी भी है । 'व्यवहार-दर्पण'में ारकी व्याख्यामें कहा गया है—'कर्तव्य, शास्त्रीय, ां-स्थित, सम्राटोंका सम्राट्, शक्तिशाली, सही । सत्य ।'

यूनानी दार्शनिक देमोस्थनीज—(ईस्वीपूर्व ५००)ने लिखा था कि 'विधान ईश्वर तथा साधु-संतोंकी है ।' दार्शनिक अरस्तु कहते थे—'आचार है, तर्क तथा ईश्वरके वरदानसे प्राप्त होता है ।' ...मीकीय रामायणमें तीन प्रकारके कर्म बतलाये गये हैं—नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य । अपने जीवनमें एक तो वह है जिसे हम नित्यकी क्रिया कहते हैं—जैसे स्नान इत्यादि । दूसरा किसी निमित्त, किसी कारणसे होता है । तीसरा है काम्य, जो किसी प्रयोजन, इच्छा या संकल्पके कारण होता है । इन तीनों स्थितियोंमें आचरणकी परख होती है । जिसने किसी एक स्थितिमें आचरणका ध्यान रक्खा तथा दूसरी स्थितिमें आचरणसे उदासीन रहा, वह कदापि सदाचारी नहीं है । मनुष्य प्रायः काम्यकर्ममें ही अपने पतनकी सामग्री पैदा करता है । हम अपने लिये जो चाहते हैं, उससे दूसरेकी हानि हो तो होने दो, हमें अपना कल्याण चाहिये । पर मुसलिम धर्म-ग्रन्थ कुरान शरीफमें भी यही लिखा है—जिसकी हजारों वर्ष पहले हमारे शास्त्र भी चेतावनी दे चुके थे—कि 'ऐसा कार्य न करो, जिसे तुम चाहते हो कि दूसरे भी तुम्हारे साथ वैसा न करें'—

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।'
(श्रीविष्णुधर्मोत्तरमहा० ३ । २५३ । ४४)

छोटी-मोटी सिद्धि प्राप्त करनेसे न तो मोक्ष होता है और न आचरण बनता है । पतञ्जलि, बुद्ध तथा आजके युगके श्रीरामकृष्ण परमहंसने सिद्धि और ऐश्वर्यको कैवल्य (मुक्ति)में बाधक माना है । श्रीरामकृष्ण परमहंसने तो कहा था—'सावधान रहो ! अपने भीतर-को बनाओ । छोटी-मोटी सिद्धियाँ या ऐश्वर्यके चक्करमें मत पड़ो ।' जैनियोंके उत्तराध्ययन-सूत्रमें मनःपर्यय-को मुक्तिमें बाधक माना है । साधु-वचन है—

मनके मते न चलिये, पलक पलक कछु और ।

पारसी धर्म, जो हमारे आर्य-धर्मकी ही एक शाखा है, हमें जीवनके लिये तीन मन्त्र देता है—हुमता-सद्विचार, हुखता—सत्कथन और हुवरशता—सत्कार्य । बस, इन्हीं तीनके पालनसे स्वर्ग तथा मोक्षकी प्राप्ति होती है ।

उपासनाके भाव

सदाचारीको अपने जीवनमें एक-न-एक रेखा बनाकर प्रभुसे लगन लगानी पड़ेगी । तभी वह मनके बन्धनसे आगे उठकर अच्छे चरित्रका निर्माण कर सकेगा और इहलोक और परलोकको सँभाल सकेगा । नीचे लिखे भावोंमेंसे एकको अपनाना ही होगा—

शान्तभाव—परमात्माके प्रति ऋषियोंके भावके समान ।
दास्यभाव—श्रीरामके प्रति हनुमान्का ।
सख्यभाव—श्रीकृष्णके प्रति अर्जुनका ।
आपत्यभाव—भगवतीके प्रति मार्कण्डेय ऋषिका ।
वात्सल्यभाव—बालकृष्णके प्रति यशोदाका ।
कान्त या माधुर्यभाव—श्रीकृष्णके प्रति राधाका ।

यदि इनमेंसे किसी भावको नहीं अपनाया तो हमारा कल्याण न हो सकेगा और हमारा जीवन निरर्थक हो जायगा ।

मानसिक सदाचार

(लेखक—श्रीशिवपूर्णानन्दजी वर्मा)

कानपुरमें गङ्गातटपर भगवद्दास घाट प्रसिद्ध है। इस घाटके व्यापारी-मण्डीसे निकट होनेके कारण यहाँ अच्छी श्रेणीके लोग स्नान-ध्यानके लिये आते हैं। यहीं जलपान भी होता है। कुछ वर्ष पहलेकी बात है, इस घाटपर एक पागल-सा साधु रहता था। लोग जलपानकर जो पत्ता या कागज फेंक देते थे, वह उसीको चाटकर या जूठन खाकर वहीं पड़ा रहता था। एक दिन एक बड़ी फर्मके मुनीमजी स्नानकर ध्यान लगाये जप कर रहे थे। यकायक उस पागलने उनपर एक मुट्ठी मिट्टी फेंक दी। मुनीमजी और अन्य स्नान करनेवाले बहुत अप्रसन्न हुए। पागल चुप रहा। मुनीमजी जपमें लग गये। पागलने फिर मिट्टी फेंकी। अब उनका क्रोध उसपर बरसनेवाला ही था कि पागलने अपना फटा कम्बल उठाते हुए इतना कहा—'जप कर रहा है, मन जूता खरीद रहा है!'

मुनीमजी अवाक् रह गये। वास्तविक बात तो यह थी कि जपके समय उन्हें यकायक उस दूकानकी याद आ जाती थी, जहाँ कल एक जोड़ी जूताका भाव तय कर आये थे और वे जपके समय सोच रहे थे कि दाम कैसे घटाया जाय। पागलको उनके मनकी बात कैसे मालूम हुई? बस, लोगोंको विश्वास हो गया कि यह कोई महात्मा है। पर वह पागल जो लापता हुआ तो फिर कभी न दिखायी पड़ा। इस घटनासे प्रकट है कि हम ऊपरसे देखनेमें चाहे कितना भी भले लग रहे हों, मनके भीतर यदि दुराचार है तो हमें सदाचारी नहीं कहा जा सकता। अतएव अच्छा आचरण दिखानेसे नहीं, मनसे सम्बन्ध रखता है। इसीलिये कबीरसाहबने कहा था—'मन न रँगाये, रँगाये जोगी कपड़ा।'

इस उदाहरणका एक ही सारांश है कि वह यह कि आचरण मनमें है, बाहरी दिखावेमें नहीं। जो मनसे शुद्ध है, वही सदाचारी है। हमारे स्मृतिकारोंने कहा था—'मनःपूतं समाचरेत्' (मनु० ६। ४६, याज्ञ०, नारद० १। ...) मनको शुद्धकर पवित्र आचरणका पालन करे। इसी प्रकार एक विद्वान् अमेरिकन पादरी—एच० डब्लू० बीचर (सन् १८१३-१८७७) ने लिखा था—'मनुष्यकी असली प्रतिष्ठा उसके निजी चरित्रमें है। उसका यदि कोई बाहरी प्रतिष्ठा है, तो दूसरोंकी रायमात्र है, दूसरोंके उसके प्रति विचार हैं। चरित्र उसके भीतर है। प्रतिष्ठा तो छायामात्र है; ठोस वस्तु तो चरित्र ही है।'

जे० हावेज नामक एक विदेशी विद्वान् (सन् १७८९-१८८१) ने भी लिखा है—'मानवका चरित्र कोरे सफेद कागजकी तरहसे है। एक बार उसपर धब्बा लग गया तो फिर वह पहले-जैसा सफेद कभी न होगा।' अतः चरित्रको सदा निर्मल रखना चाहिये।

धनकुबेर जान डि राकफेलरने युवकोंको समझाया था कि 'हरेक युवकके लिये सबसे आवश्यक वस्तु है चरित्रकी साख तथा यश प्राप्त करना।' और इसी सिलसिलेमें विद्वान् दार्शनिक स्पेंसरकी बात याद रखनी चाहिये। स्पेंसर (सन् १७९८—१८५४) ने कहा था—'मनुष्यकी सबसे बड़ी आवश्यकता शिक्षा नहीं, उसका चरित्र है। वही उसका सबसे बड़ा रक्षक है।' यदि चरित्र मनकी शुद्धिसे बनता है तो मन हमारे हृदयपर निर्भर करेगा।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—हे अर्जुन ! सच्छब्दका अस्तित्वके अर्थमें एवं सत्स्वभावके अर्थमें किया है और प्रशस्ताचरणके लिये भी इसका प्रयोग है।' श्रुति-स्मृतिप्रतिपादित कर्माचरण भी सदाचार ता है; यह भी गीतामें इस प्रकार बताया गया है—

तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥
(१७।२७)

अर्थात्—यज्ञ-तप-दानोंमें आचरित निष्ठा भी सत्पदार्थ ती है एवं तदर्थीय काम भी सत्-पदवाच्य है।' 'श्रुतिस्मृत्यर्थप्रतिपादकत्वमेवात्र सच्छब्दार्थः' —इस उक्तिके अनुसार सत् शब्द श्रुति-स्मृति-दिकत्वका परिचय कराता है। स्मृतियाँ 'वेदों'का नुसरण करती हैं, जैसा कि महाकवि कालिदासने भी है—'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्'। (रघु० २) सदाचारको मनुस्मृतिने 'परम धर्म'के रूपमें प्रस्तुत है और उससे युक्त रहनेका आदेश दिया है—

चारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः॥
(मनु० १।१०७)

यही इसका फल बतलाते हुए कहा गया है कि—

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेद फलमश्नुते।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत्॥
(मनु० १।१०९)

आचारविहीन पुरुष केवल कर्मकाण्डादि करने-मात्रसे वेदोक्त फलोंको प्राप्त नहीं कर सकता है, वरन् आचारवान् ही सम्पूर्ण फलग्राही होता है।

एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम्।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम्॥
(मनु० १।११०)

इस प्रकार आचारमें धर्मकी गतिका दर्शन करके हमारे ऋषि-मुनि, आचारके सभी तपश्चर्याओंके मूल-रूपमें स्वीकार कर चुके थे।

इसका द्वितीय विग्रह इस प्रकार है—'सताम् आचारः सदाचारः' इति। अर्थात् सज्जनोंके आचारको सदाचार कहते हैं—यह सदाचार शब्दका एक और निर्वचन है। 'महाजनो येन गतः स पन्थाः'—यह उक्ति इसी सदाचारको दृष्टिमें रखकर बनायी गयी है। ब्रह्मावर्तका आचार भी इसी स्तरपर सदाचार है। इसी क्रममें भर्तृहरिद्वारा प्रतिपादित ऐसे सदा-चारियोंके गुणोंका परिचय करनेवाले ये श्लोक भी ध्यान देने योग्य हैं—

वाञ्छा सज्जनसङ्गतौ परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद् भयम्।
भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खले-
ष्वेते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो महद्भ्यो नमः॥
(नीतिशतक ५१)

सत्यसाङ्गत्यकी इच्छा, औरोंके गुणोंके प्रति प्रीति, बड़ोंके प्रति नम्रता, विद्यामें आसक्ति, स्वभार्यारतिकी कामना, लोकापवादकी भीति, ईश्वरके प्रति भक्ति, इन्द्रियोंके दमनकी शक्ति, दुर्जनोंकी संगतिका त्याग —ये सद्गुण जिसमें रहते हैं, उन्हें हमारा नमस्कार है।

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्॥
(नीतिशतक ५२)

'विपत्तिमें धीरज धरना, समृद्धिमें क्षमा, सभामें वाग्मिता (अच्छी तरह बोलना), युद्धमें विक्रम-प्रदर्शन, कीर्तिकी कामना, वेदशास्त्राभ्यासमें शौक—ये सज्जनोंके नैसर्गिक गुण हैं।'

'मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्'—यह महाजनोंका और एक लक्षण है। सज्जन लोग जो मनमें सोचते हैं, उसीको बोलते हैं; और जो बोलते हैं उसीको जैसे-के-तैसे कर डालते हैं। इस प्रकारके

समाजकी स्थितिकी चिन्तनीय गिरावट केवल सदाचारकी मर्यादा तोड़ने या भूलनेके कारण है। हाँ, व्यक्तिगत रूपसे वही सदाचारी रह सकता है, जिसको ईश्वरका, अपना, और अपने परलोकका भय है। इसीलिये जर्मन-कवि गेटेने लिखा था—'जो कुछ वास्तविक है, वह अपनी करनी है। अपना आचरण है। बाकी सब मिथ्या है।'

संत सुकरातने आजसे ढाईहजार वर्ष पहले कहा था—'हे भगवान्! मुझे वही दे, जो मेरी भलाईमें हो।'

जहाँतक जीवन-यापनका सम्बन्ध है, हमें [illegible] यही प्रार्थना करनी चाहिये कि 'कायेन [illegible] न्द्रियैर्वा'—शरीर, वचन, मन तथा इन्द्रियों [illegible] अपराध हमने किया है, उन्हें वे क्षमा करें। इसे [illegible] ऐसी भूल-चूक न होगी—हमारा मन दृढ़ [illegible] अच्छा संकल्प किया करें, जिससे हमारा [illegible] हो। वस्तुतः यही मानस सदाचार है।

सदाचारका स्वरूप-चिन्तन

(लेखक—श्रीहे० अवतार शर्मा)

सदाचार श्रुति-स्मृतिप्रोक्त धर्मकी वह क्रियात्मिका शक्ति है, जिसपर संसार टिका है। जगत्‌की रक्षा एवं नाश—इन दोनोंका एकमात्र कारण धर्मको बताकर सर्वश्रेष्ठ स्मृतिकार मनुने धर्माचरणपर जोर देते हुए कहा था—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद् धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्॥
(मनु० ७। १५)

'धर्म हमारे द्वारा विनष्ट किये जानेपर हमारा नाश करता है और हमारे द्वारा रक्षित होनेपर हमारी रक्षा करता है। इसलिये धर्मका नाश नहीं करना चाहिये जिससे धर्म भी हमारा नाश न करे।'

सदाचार धर्मका रूपान्तर है

[illegible] है। [illegible] ([illegible]) [illegible] है।

[illegible]।
([illegible])

[illegible] और [illegible] है।'

इसीके अनुरोधपर, मनुस्मृतिमें धर्मलक्षण [illegible] इस सदाचारका उल्लेख दीख पड़ता है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥
(मनु० २। [illegible])

इस प्रकार इन दोनों ग्रन्थोंमें सदाचार धर्मका रूपान्तर निरूपित किया गया है।

सदाचार शब्दकी व्युत्पत्ति

मनुस्मृतिमें सदाचार शब्दका विवेचन तीन [illegible] प्रणालियोंके अनुसार किया गया है। इनके अनुसार सदाचार शब्दकी तीन व्युत्पत्तियाँ निष्पन्न हैं।

[illegible]—यह पहली व्युत्पत्ति है। इसके अनुसार सदाचारका अर्थ है—'वह आचार जो [illegible] हो, शुद्ध हो, अच्छा हो।' [illegible] है। [illegible] है। [illegible] है—

[illegible]।
[illegible]॥
([illegible])

सदाचारकी आवश्यकता

(लेखक—श्रीगुलाबसिंह 'तोमर' एम्० ए०, एल्० टी०)

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान् नरः।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति॥
(मनुस्मृति ४ । १५८)

मनुके उपर्युक्त वचनानुसार 'सर्वलक्षणोंसे हीन होनेपर भी जो व्यक्ति सदाचारी, श्रद्धालु एवं दोष-रहित होता है, वह सौ वर्षोंतक जीवित रहता है।' द व्यक्तियों, साधुजनोंका आचरण ही सदाचार होता ।। जो व्यक्ति अच्छा ही विचार करते हैं, अच्छा श्रेष्ठ) ही बोलते हैं एवं अच्छा ही आचरण करते ;, वे ही सज्जन होते हैं। सदाचारसे ही सज्जन स्वीय न्द्रियोंको वशमें करते हुए समष्टिहितार्थ शिष्ट व्यवहार रते हैं और अन्ततोगत्वा आत्मज्ञानद्वारा परमात्माको प्राप्त ोते हैं। 'जो पापकर्मोंसे निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी न्द्रियाँ शान्त नहीं हैं और जिसका चित्त असमाहित या अशान्त है, वह उस परमात्माको केवल आत्मज्ञानद्वारा प्राप्त नहीं कर सकता (कठ० १ । २ । २४)।' यथार्थतः जिन कर्मोंसे, जिन आचरणोंसे इस लोकमें सब प्रकारका अभ्युदय हो और जीवनान्तमें निःश्रेयस प्राप्त हो, वही वास्तविक रूपेण धर्म या संयत सांस्कारिक जीवन है। यही सच्चे अर्थोंमें धर्मका शुभ स्वरूप है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः (मीमां० १।१।२)।

आर्यदेशके ऋषियोंकी वाणीके अनुसार—'मानुष्यान् न हि श्रेष्ठतरं हि किंचित्'—मनुष्यत्वसे बढ़कर कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है। विचारवादियोंके कथनानुसार भी ईश्वरकी सबसे महत्त्वपूर्ण कृति मानव-व्यक्तित्व है। गोस्वामी तुलसीदासजीने अन्यान्य जीवोंकी अपेक्षा इसकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करते हुए कहा है—

साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥
नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत तेही॥
(मानस ७ । १२० । ५)

श्रुति कहती है—अयं क्रतुमयः पुरुषः। अर्थात् मानव निश्चयमेव क्रतुमय अर्थात् निश्चयवाला होता है। इतना ही नहीं, पुरुष श्रद्धामय भी होता है। उसीके अनुरूप ही उसके आचरण और सिद्धान्त बनते हैं—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥
(गीता १७ । ३)

स्पष्ट है कि सिद्धान्तयुक्त जीवन ही सदाचारयुक्त दर्शनका प्रतिफल है, जिसका मूल इङ्गित है—समष्टिके प्रति समताके उदारतापूर्ण सद्भावमें। सदाचारकी सुदृढ़ शृङ्खलामें निम्न कड़ियाँ महत्त्वकी हैं, जो आपसमें एक दूसरेसे बँधी हुई परस्पराश्रित हैं। इनमें प्रथमतः हम विचारपक्षकी ओर झुकते हैं। विचार ही मौतिक जगत्का प्राण है। जगत्की वास्तविकता विचारोंपर ही आश्रित है। विचारोंसे ही इन्द्रिय-अनुभव-योग्य वस्तुओंकी जाँच होती है। अतः विचार मनकी क्रियाशीलताका प्रतिफल है। इस जगत्का आधार भी मन ही है। इस प्रकार यह सब भौतिक मनकी अभिव्यक्ति है। मनमें विचार आनेपर हम चिन्तन करते हैं, तत्पश्चात् तर्क करते हैं। तर्क-वितर्क चिन्तनका विशेष गुण है एवं चिन्तन विचारोंद्वारा ही सम्भव है। उक्त समस्त क्रियाएँ मस्तिष्क, मन, विचार, तर्क, चिन्तन, प्रज्ञा, नैतिकता, धार्मिक तथा आध्यात्मिक मूल्य आदि मानवमें ही होते हैं। सदाचार-सम्पृक्त मानव देवताके ही समान अल्पन्यून गौरव एवं प्रतिष्ठासे विभूषित होता है तथा उसका परमात्माकी अन्य समस्त कृतियोंपर अधिकार है। पाश्चात्त्य विद्वान् 'रॉस'के शब्दोंमें—

'He is a little lower than angles, crowned with glory and honours, having dominion over all other works of God.'
(Ground Work of Educational Theory, P. 115)

गुणवान् सज्जनोंके आचार ही सदाचार हैं। गीतामें इस सदाचारके सम्यक् परिपालनका संदेश मिलता है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
(३। २१)

'गुणवान् जो कर्म करता है अन्य लोग भी उसीका अनुसरण करते हैं और वह जिसको प्रमाणके रूपमें स्वीकार कर रहा है, सभी लोग उसके प्रामाण्यको स्वीकार करते हैं।'

सदाचारके विषयमें मनुस्मृति (४। १२२) में भी यही बताया गया है—

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते ॥

'जिस श्रेष्ठ पन्थके अनुसार अपने पितृ-पितामह चले हैं, उसी सन्मार्गका अनुसरण करना चाहिये। इस मार्गपर चलनेवाला धर्मच्युत नहीं होता।'

इसके अतिरिक्त मनुस्मृतिमें व्यवहार-निर्णय भी सदाचारके माध्यमसे करनेका आदेश दिया गया है।

सद्भिराचरितं यत् स्याद् धार्मिकैश्च द्विजातिभिः।
तद् देशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयेत् ॥
(७। ४६)

'सिद्धिको प्राप्त करनेमें मन्त्र, उपदेश और कालादिके साथ-साथ देशका भी अपना महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य है। इसलिये लोग अपनी तपस्याओंकी सिद्धिके लिये [illegible] क्षेत्रोंपर जाते हैं; इसीलिये अर्जुन तपस्या करनेके [illegible] इन्द्रकीलादिपर गये थे और महर्षि विश्वामित्र [illegible] नदीके किनारेपर गये। इस प्रकारकी [illegible] हमें अपने पुराणोंमें यत्र-तत्र देखनेको मिलती है।

इसी स्थल-माहात्म्यके आधारपर मनुस्मृति (२। [illegible]) में 'सदाचार'-विवेचन एक और दृष्टिकोणसे [illegible] किया गया है। उसके अनुसार ब्रह्मावर्त प्रदेशमें [illegible] रूपसे आनेवाले आचारको सदाचार माना गया है [illegible] कहा गया है कि 'सरस्वती और दृषद्वती नदियोंके बीचका जो प्रदेश है, उसे ब्रह्मावर्त कहते हैं। उस देशमें सवर्णों और अवान्तर जातियोंके [illegible] गत आचार हैं, वे ही सदाचार हैं।'

इस भारतकी पुण्यभूमिमें जन्म लेना [illegible] है। 'मैक्समूलर'-जैसे तत्त्वज्ञने भी अन्तकालमें भारतमें जन्म देनेके लिये भगवान्से प्रार्थना [illegible] ऐसी सुसंस्कृता पुण्यभूमिमें उत्पन्न होनेके नाते [illegible] सदाचारी बनकर मातृभूमिके यशको दुगुना करना यह तभी सम्भव है, जब सभी अपने प्राचीन स[illegible] सम्यक् पालन करें। तभी अपना और देश[illegible] प्रकारका कल्याण हो सकता है।

सदाचारकी श्रेष्ठता और फल

(श्रीऑरिसन स्वेटमार्डन)

अकेला सदाचार-बल सम्पूर्ण संसारपर अपना प्रभुत्व जमा सकता है।
सदाचार ही सर्वोत्तम शक्ति है।
सदाचार ही सर्वोत्तम सम्पत्ति है।
सदाचार ही सर्वोत्तम धर्म है।
सदाचार ही सर्वोत्तम मोक्ष-साधन है।
पवित्र विचार, पवित्र वाणी और पवित्र व्यवहार ही सदाचार है।

करनेकी अपेक्षा प्रेम करनेके लिये उत्पन्न हुए हैं। एक-दूसरेको समाप्त करनेके लिये कदापि नहीं, हम सहायता करनेके लिये आये हुए हैं। परंतु प्रचार तथा कट्टरवादिताके फलस्वरूप हम स्वयंको सर्वोच मानने लगे हैं। साथ ही हम उनको अपने परिवारका नहीं मानते हैं। मानवमें यह भावना प्राकृतिक आवेगोंके कारण उत्पन्न नहीं होती, वरन् स्वभावसे मानव एक-दूसरेसे प्रेम करता है। धर्मान्धताके कारण हमने मानवको उसकी सहृदयता, सहानुभूति तथा भ्रातृत्वकी स्वाभाविक भावनाओंसे दूर कर दिया है। हमारा इस विषयमें यह उद्देश्य होना चाहिये कि हम किसी तथ्यको अतिरञ्जित रूपमें गलत ढंगसे प्रस्तुत न करें, वरन् हम सत्यकी आवाजको सुनें तथा आत्माकी पुकारका पालन करें।' (—डॉ॰ राधाकृष्णन्)

भर्तृहरिने स्वयं सदाचारके स्वरूपका निरूपण करते हुए सदाचारी व्यक्तियोंको सम्मानास्पद दृष्टिसे देखा है। यथार्थतः सदाचार इन गुणोंसे परे कोई अन्य गुण नहीं है। इन गुणोंका पुष्कल प्रभाव जिन व्यक्तियोंमें है वे ही सदाचारकी पुनीत प्रतिमा हैं; यथा—

वाञ्छा सज्जनसङ्गतौ परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद् भयम्।
भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खलै-
रेते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो महद्भ्यो नमः॥
(नीतिशतक ५१)

'सज्जनोंके सङ्गकी वाञ्छा, परगुणोंमें प्रीति, बड़े लोगोंके प्रति नम्रता, विद्यामें व्यसन, अपनी ही स्त्रीसे रति, लोकनिन्दासे भय, महेश्वरमें भक्ति, आत्मदमनकी शक्ति एवं खलोंके सङ्गका परित्याग—ये निर्मल गुण जिन पुरुषोंमें निवास करते हैं, उन्हें हम नमस्कार करते हैं।'

सदाचारकी मान्यता

(लेखक—श्रीवेदप्रकाशजी द्विवेदी, 'प्रकाश', एम्॰ ए॰, साहित्यरत्न)

विधाताकी सृष्टि ही द्वन्द्वात्मक है। एक ओर जहाँ मुस्कराते-खिलते पुष्प सौन्दर्य-श्रीके प्रतीक हैं, वहीं हुलसते शूल अपने कुटिल अंशसे जुड़े हुए लोक-मानसको उत्पीडनके रूपमें दिखायी पड़ते हैं। जहाँ प्रवाल-सी उषाकी मोहक अरुणिमा अपने मोहक आकर्षणसे जन-मानसको रँग देती है, वहीं कज्जलिनी निशाकी घनीभूत कालिमा मनको दूसरे भावोंसे भर देती है। इन्हीं द्वन्द्वोंमें सदाचार और दुराचार हैं।

जिस आचरणसे लोक-मङ्गलका विधान बनता है, वह समाजके लिये श्रेयस्कर होता है और जिससे समाजमें वितृष्णा, कष्ट और विक्षोभ होता है, वह समाजकी मान्यतामें बुरा माना जाता है। लोक-मङ्गलकी दृष्टिसे अपनाये जानेके कारण सदाचारकी श्लाघा तथा सामाजिक विक्षोभ देनेके कारण दुराचारकी निन्दा की गयी है। सारी भौतिक सम्पदा हो, हर प्रकारका सौविध्य हो, सदाचार न हो तो वह समाजके लिये अवाञ्छनीय बन जायगा। सांसारिक सम्पदाओंकी कमी हो, किंतु जिसमें नैतिक बल और सामाजिक समुत्थानके भाव होंगे, तो उसका अविरल महत्त्व रहेगा।

रावणकी लंका सोनेकी थी। वह महाबली और महापण्डित था। चारों वेद उसे कण्ठाग्र थे। वह मन्त्र-तन्त्र और यन्त्रके वैभवोंसे भरा था और भौतिक सम्पदाओंसे भी नितान्त समृद्ध था, किंतु उसमें सदाचारका अभाव था। वहीं श्रीराम वन-वन भटक रहे थे, उनके पास न सेना थी न धन था, किंतु उनमें सदाचारका सम्बल था। फलतः श्रीरामके मुखपर उन्मादभरी लालिमा

वर्तमान युग समस्त विश्वके संक्रमण एवं निर्माणका युग है, जिसके प्रबल प्रवाहके साथ भारतमें भी विविध परिवर्तन एवं निर्माणके पग उठाये जा रहे हैं। मानव प्रकृतिको परास्त करनेकी तावमें व्यस्त है, किंतु सदाचार, आचार-विचार विलुप्त होते जा रहे हैं। मनुष्य श्रद्धा और विश्वाससे हीन होता जा रहा है। विलास-आरामकी प्रवृत्तिमें मानवकी चिन्तनशक्ति थक गयी है। सम्प्रति सदाचारके दर्शन दुर्लभ हो रहे हैं और मानवताविरोधी कृमि पनप रहे हैं। निमिष-निमिषमें होनेवाले भीषण कुकृत्य—आत्मघात, बलात्कार, भ्रूणहत्या, विश्वासघातके भयंकर परमाणु वृद्धिकी चरम सीमापर हैं। मनुष्यने भौतिकताकी चकाचौंधमें, अमान्ध प्रगतिके व्यामोहमें सदाचारपरायणताको विस्मृत कर दिया है; किंतु क्या इससे उसका कल्याण सम्भव है ?

> ताहि कि संपति सगुन सुभ सपनेहुँ मन बिश्राम।
> भूत द्रोह रत मोहबस राम बिमुख रति काम॥
>
> (मानस ६। ७८)

मानव विश्वमें परिव्याप्त चेतनसत्ताकी अनुभूति अपने अन्तःमें व्याप्त चैतन्यकी अनुभूतिसे कर सकता है। सदाचारसे ही आत्मानुभूति (अपने वास्तविक स्वरूपकी पहचान) होती है। जो व्यक्ति स्वयंका ज्ञान प्राप्त करेगा, वह सद्गुणके मार्गपर स्वयं चलेगा। 'सुकरात' (Socrates)के कथन 'Knowledge i virtue' (ज्ञान पुण्य है)के अनुसार 'Know thyself' (अपनेको जानो)का तात्पर्य यही है, न कि स्वयंको जानकर शान्त होना। सदाचारकी पुनीत भावना है—समष्टिगत 'स्व'में व्यक्तिगत 'स्व'का विलीन होना। संसार परिवर्तनशील है और 'परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते।'के अनुसार मृत्यु और जन्मका क्रम अनादिकालसे चलता चला आ रहा है। मृत्युके उपरान्त मनुष्यका केवल नाम ही शेष रहता है। अतः क्यों न नेक नामको शेष छोड़ा जाय! जीवनमें क्यों न सदाचारशीलताका अनुगमन किया जाय! जन्म उन्हीं व्यक्तियोंका सार्थक है, जिनके भौतिक देह अस्तित्व न रहनेके बाद भी नाम (यश) अमर है—'नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयं' (नीतिशतक २०)

सम्प्रति मानव राकेट आदि यानोंसे चन्द्रमातक पहुँ गया है। इस प्रगतिकी परिधिमें परिबद्ध महान् वैज्ञा युगका आर्थिक-सामाजिक ढाँचा भी अपने ही कु विश्लेषणकी चकाचौंधमें विवेक एवं अन्तः अभावमें कभी अपने ही खोखलेपनके कारण अणुयुद्धमें ध्वस्त हो सकता है। ऐसे विवेकहीन सदाचारहीन जीवनमें शान्ति कहाँ! विजयश्री राकेट आदि यानोंसे सम्भव नहीं, सच्चा विजय तो दूसरा ही है—जेहिं जय होइ सो स्यंदन

> सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पता
> बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु
> ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपा
> दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदं
> अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख
> कवच अभेद बिप्र गुर पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दू
> सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु
>
> महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर।
> जाकें अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मतिधीर॥
>
> (मानस ६। ७९। २½-६,८०

सदाचारकी महनीय साधना शान्ति, श्रेय एवं प्रे सहज समन्वयमें होनी चाहिये। सम्प्रति हमें—वि रूपसे नवयुवक-साधकोंको—उनके समन्वयदि निरत रहना है, जिसकी अनिवार्य उपयोगिता व्या लोकजीवन तथा विश्वमङ्गलके लिये ही नवीन विश नवीन सौन्दर्यबोध तथा शक्तिसे प्रेरित करना है राष्ट्रिय एवं अन्ताराष्ट्रिय सद्भावना इसीमें निहित है सदाचारकी भूमिका विश्वमङ्गलका प्रसारित है—

> 'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।'
>
> (हितोप० १। ७०)

'विश्वको एक राजधानी माना जाता है। इसको मैत्रीपूर्ण मनःस्थितिके रूपमें देखा जाता है। इस पुना

आचार परम धर्म है

(लेखक—श्रीयुत शिशिरकुमार सेन, एम्० ए०, बी० एल्०, सम्पादक 'दूध')

[आ]चारः परमो धर्मः आचारः परमं तपः।
[आ]चारः परमं ज्ञानं आचारात् किं न साध्यते॥
[आ]चाराद् विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
[आ]चारेण समायुक्तः सम्पूर्णफलभाग् भवेत्॥
[य]: स्वाचारपरिभ्रष्टः साङ्गवेदान्तगोऽपि चेत्।
[स] एव पतितो ज्ञेयो सर्वकर्मबहिष्कृतः॥

'आचार ही सर्वोत्तम धर्म है, आचार ही सर्वोत्तम [तप] है, आचार ही सर्वोत्तम ज्ञान है, यदि आचारका [पाल]न हो तो असाध्य क्या है?' शास्त्रोंमें आचारका [स]र्वप्रथम उपदेश (निर्देशन) हुआ है। 'धर्म भी [आचा]रसे ही उत्पन्न है (अर्थात्) आचार ही धर्मका [माता]-पिता है और एकमात्र ईश्वर ही धर्मका स्वामी [है]। इस प्रकार आचार स्वयं ही परमेश्वर सिद्ध होता है। [जो] ब्राह्मण जो आचारसे च्युत हो गया है, वह [वेद]के फलकी प्राप्तिसे वञ्चित हो जाता है, चाहे [वह] वेद-वेदाङ्गोंका पारंगत विद्वान् ही क्यों न हो, किंतु [जो] आचारका पालन करता है, वह सबका फल प्राप्त [कर] लेता है।' आचार आयुकी वृद्धि करता है, आचारसे [इच्छि]त संतानकी प्राप्ति होती है, वह शाश्वत एवं असीम [धन] देता है और दोष-दुर्लक्षणोंको भी दूर कर देता [है]। 'जो आचारसे भ्रष्ट हो गया है, वह चाहे सभी अङ्गों-[सहित] वेद-वेदान्तका पारगामी क्यों न हो, उसे पतित [और] सभी कर्मोंसे बहिष्कृत समझना चाहिये।'

[शा]स्त्र कहते हैं कि धर्म भी आचारसे ही उत्पन्न है—[आचा]रप्रभवो धर्मः' अर्थात् वह हमारे अच्छे-बुरे कर्मोंपर [निर्भर] है। धर्मका पालन शारीरिक, मानसिक और वाचिक [आचा]रके बिना सम्भव नहीं है। इस लेखमें मेरा लक्ष्य केवल [शारी]रिक सदाचारसे ही सम्बद्ध है—यद्यपि कई [परिस्थि]तियोंमें वह भी मानसिक तथा वाचिक आचारोंसे [सम्बद्ध] रहता है। यदि कोई व्यक्ति क्रोधके आवेशमें आ जाता है तो यह उद्वेग केवल उसके मनतक ही सीमित नहीं रहता, शरीरको भी प्रभावित कर देता है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति कामभावाभिभूत हो जाता है तो वह सदाचारका पालन कदापि नहीं कर सकता। इस दृष्टिसे सदाचारको मानसिक और वाचिक रूपमें यद्यपि सर्वथा पृथक् करना शक्य नहीं है, तथापि यहाँ स्पष्ट एवं विस्तृत विचार करनेके लिये शारीरिक आचारका ही वर्णन किया जा रहा है।

भगवान्ने शास्त्रोंमें कृपापूर्वक तीन प्रकारके आचारों-का निर्देश किया है। प्रायः यही आचार हमारे देशके निवासियोंद्वारा नित्यप्रति आचरित होता है। जब भारतवासी प्रातःकाल शय्या-त्याग करते हैं तो शौचसे निवृत्त होकर किसी चूर्ण या दतुअनसे मुँह धोते हैं। कोई भी हिंदू बिना मुँह धोये भोजन करनेकी कल्पना भी नहीं कर सकता; क्योंकि इसके बिना वे अपनेको अस्वच्छ समझते हैं। यह हमारे प्रातःकालीन सदाचारका आदर्श है। ठीक इसके विपरीत अमेरिका आदि-के निवासियोंको इस बातका अभी पतातक नहीं है। वे भोजन करनेके बाद ही मुँह धोते हैं और नींदसे उठते ही शय्यापर ही चाय ग्रहण करते हैं। यथार्थ बात तो है यह कि अभी एक शताब्दीपूर्वतक यूरोपवालोंको 'टूथब्रुस' (दाँत साफ करनेकी कूँची) का पतातक न था। अंग्रेज १८५० ई०के लगभग जब भारतसे विलायत लौटे तो स्वच्छताकी यह प्रारम्भिक शिक्षा वहाँ प्रविष्ट हुई। ये भारतके हिंदू ही थे, जिनसे अंग्रेजोंने मुँह धोनेकी विधि सीखी। पाश्चात्यदेशोंमें विज्ञानके विकासके बावजूद वर्तमान लोग अब भी स्वच्छताके इस रहस्यसे अनभिज्ञ हैं। परंतु निरक्षर भारतीय भी परम्परागत इसका ज्ञान रखते हैं।

आचार परम धर्म है

(लेखक—श्रीयुत शिशिरकुमार सेन, एम्० ए०, बी० एल्०, सम्पादक 'दूध')

चारः परमो धर्मः आचारः परमं तपः।
चारः परमं ज्ञानं आचारात् किं न साध्यते॥
चाराद् विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
चारेण समायुक्तः सम्पूर्णफलभाग् भवेत्॥
स्वाचारपरिभ्रष्टः साङ्गवेदान्तगोऽपि चेत्।
एव पतितो ज्ञेयो सर्वकर्मबहिष्कृतः॥

'आचार ही सर्वोत्तम धर्म है, आचार ही सर्वोत्तम ; आचार ही सर्वोत्तम ज्ञान है, यदि आचारका हो तो असाध्य क्या है !' शास्त्रोंमें आचारका सर्वप्रथम उपदेश (निर्देशन) हुआ है। 'धर्म भी चारसे ही उत्पन्न है (अर्थात्) आचार ही धर्मका ता-पिता है और एकमात्र ईश्वर ही धर्मका स्वामी ।' इस प्रकार आचार स्वयं ही परमेश्वर सिद्ध होता है। क ब्राह्मण जो आचारसे च्युत हो गया है, वह वेदके फलकी प्राप्तिसे वञ्चित हो जाता है, चाहे वेद-वेदाङ्गोंका पारंगत विद्वान् ही क्यों न हो, किंतु आचारका पालन करता है, वह सबका फल प्राप्त र लेता है।' आचार आयुकी वृद्धि करता है, आचारसे च्छित संतानकी प्राप्ति होती है, वह शाश्वत एवं असीम देता है और दोष-दुर्लक्षणोंको भी दूर कर देता । 'जो आचारसे भ्रष्ट हो गया है, वह चाहे सभी अङ्गों-हित वेद-वेदान्तका पारगामी क्यों न हो, उसे पतित सभी कर्मोंसे बहिष्कृत समझना चाहिये।'

शास्त्र कहते हैं कि धर्म भी आचारसे ही उत्पन्न है—'आचारप्रभवो धर्मः' अर्थात् वह हमारे अच्छे-बुरे कर्मोंपर निर्भर है। धर्मका पालन शारीरिक, मानसिक और वाचिक आचारके बिना सम्भव नहीं है। इस लेखमें मेरा लक्ष्य केवल शारीरिक सदाचारसे ही सम्बद्ध है—यद्यपि कई परिस्थितियोंमें वह भी मानसिक तथा वाचिक आचारोंसे भिन्न रहता है। यदि कोई व्यक्ति क्रोधके आवेशमें आ जाता है तो यह उद्वेग केवल उसके मनतक ही सीमित नहीं रहता, शरीरको भी प्रभावित कर देता है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति कामभावाभिभूत हो जाता है तो वह सदाचारका पालन कदापि नहीं कर सकता। इस दृष्टिसे सदाचारको मानसिक और वाचिक रूपमें यद्यपि सर्वथा पृथक् करना शक्य नहीं है, तथापि यहाँ स्पष्ट एवं विस्तृत विचार करनेके लिये शारीरिक आचारका ही वर्णन किया जा रहा है।

भगवान्ने शास्त्रोंमें कृपापूर्वक तीन प्रकारके आचारोंका निर्देश किया है। प्रायः यही आचार हमारे देशके निवासियोंद्वारा नित्यप्रति आचरित होता है। जब भारतवासी प्रातःकाल शय्या-त्याग करते हैं तो शौचसे निवृत्त होकर किसी चूर्ण या दतुअनसे मुँह धोते हैं। कोई भी हिंदू बिना मुँह धोये भोजन करनेकी कल्पना भी नहीं कर सकता; क्योंकि इसके बिना वे अपनेको अस्वच्छ समझते हैं। यह हमारे प्रातःकालीन सदाचारका आदर्श है। ठीक इसके विपरीत अमेरिका आदिके निवासियोंको इस बातका अभी पतातक नहीं है। वे भोजन करनेके बाद ही मुँह धोते हैं और नींदसे उठते ही शय्यापर ही चाय ग्रहण करते हैं। यथार्थ बात तो है यह कि अभी एक शताब्दीपूर्वतक यूरोपवालोंको 'टूथब्रुश' (दाँत साफ करनेकी कूँची) का पतातक न था। अंग्रेज १८५० ई०के लगभग जब भारतसे किलायत लौटे तो स्वच्छताकी यह प्रारम्भिक शिक्षा वहाँ प्रविष्ट हुई। ये भारतके हिंदू ही थे, जिनसे अंग्रेजोंने मुँह धोनेकी विधि सीखी। पाश्चात्यदेशोंमें विज्ञानके विकासके बावजूद वहाँके लोग अब भी स्वच्छताके इस रहस्यसे अनभिज्ञ हैं। परंतु निरक्षर भारतीय भी परम्परागत इसका ज्ञान रखते हैं।

आचार परम धर्म है

(लेखक—श्रीयुत शिशिरकुमार सेन, एम्० ए०, बी० एल्०, सम्पादक 'दूध')

चारः परमो धर्मः आचारः परमं तपः।
चारः परमं ज्ञानं आचारात् किं न साध्यते ॥
आचाराद् विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
आचारेण समायुक्तः सम्पूर्णफलभाग् भवेत् ॥
ः स्वाचारपरिभ्रष्टः साङ्गवेदान्तगोऽपि चेत्।
स एव पतितो ज्ञेयो सर्वकर्मबहिष्कृतः ॥

'आचार ही सर्वोत्तम धर्म है, आचार ही सर्वोत्तम है, आचार ही सर्वोत्तम ज्ञान है, यदि आचारका न हो तो असाध्य क्या है !' शास्त्रोंमें आचारका सर्वप्रथम उपदेश (निर्देशन) हुआ है। 'धर्म भी चारसे ही उत्पन्न है (अर्थात्) आचार ही धर्मका -पिता है और एकमात्र ईश्वर ही धर्मका स्वामी ' इस प्रकार आचार स्वयं ही परमेश्वर सिद्ध होता है। न ब्राह्मण जो आचारसे च्युत हो गया है, वह के फलकी प्राप्तिसे वञ्चित हो जाता है, चाहे वेद-वेदाङ्गोंका पारंगत विद्वान् ही क्यों न हो, किंतु आचारका पालन करता है, वह सबका फल प्राप्त लेता है।' आचार आयुकी वृद्धि करता है, आचारसे त संतानकी प्राप्ति होती है, वह शाश्वत एवं असीम देता है और दोष-दुर्लक्षणोंको भी दूर कर देता 'जो आचारसे भ्रष्ट हो गया है, वह चाहे सभी अङ्गों-त वेद-वेदान्तका पारगामी क्यों न हो, उसे पतित सभी कर्मोंसे बहिष्कृत समझना चाहिये।'

शास्त्र कहते हैं कि धर्म भी आचारसे ही उत्पन्न है—'चारप्रभवो धर्मः' अर्थात् वह हमारे अच्छे-बुरे कर्मोंपर र है। धर्मका पालन शारीरिक, मानसिक और वाचिक चारके बिना सम्भव नहीं है। इस लेखमें मेरा लक्ष्य केवल रिक सदाचारसे ही सम्बद्ध है—यद्यपि कई स्थितियोंमें वह भी मानसिक तथा वाचिक आचारोंसे न रहता है। यदि कोई व्यक्ति क्रोधके आवेशमें आ जाता है तो यह उद्वेग केवल उसके मनतक ही सीमित नहीं रहता, शरीरको भी प्रभावित कर देता है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति कामभावाभिभूत हो जाता है तो वह सदाचारका पालन कदापि नहीं कर सकता। इस दृष्टिसे सदाचारको मानसिक और वाचिक रूपमें यद्यपि सर्वथा पृथक् करना शक्य नहीं है, तथापि यहाँ स्पष्ट एवं विस्तृत विचार करनेके लिये शारीरिक आचारका ही वर्णन किया जा रहा है।

भगवान्ने शास्त्रोंमें कृपापूर्वक तीन प्रकारके आचारों-का निर्देश किया है। प्रायः यही आचार हमारे देशके निवासियोंद्वारा नित्यप्रति आचरित होता है। जब भारतवासी प्रातःकाल शय्या-त्याग करते हैं तो शौचसे निवृत्त होकर किसी चूर्ण या दतुअनसे मुँह धोते हैं। कोई भी हिंदू बिना मुँह धोये भोजन करनेकी कल्पना भी नहीं कर सकता; क्योंकि इसके बिना वे अपनेको अस्वच्छ समझते हैं। यह हमारे प्रातःकालीन सदाचारका आदर्श है। ठीक इसके विपरीत अमेरिका आदि-के निवासियोंको इस बातका अभी पतातक नहीं है। वे भोजन करनेके बाद ही मुँह धोते हैं और नींदसे उठते ही शय्यापर ही चाय ग्रहण करते हैं। यथार्थ बात तो है यह कि अभी एक शताब्दीपूर्वतक यूरोपवालोंको 'टूथब्रुश' (दाँत साफ करनेकी कूँची) का पतातक न था। अंग्रेज १८५० ई०के लगभग जब भारतसे विलायत लौटे तो स्वच्छताकी यह प्रारम्भिक शिक्षा वहाँ प्रविष्ट हुई। ये भारतके हिंदू ही थे, जिनसे अंग्रेजोंने मुँह धोनेकी विधि सीखी। पाश्चात्यदेशोंमें विज्ञानके विकासके बावजूद करोड़ों लोग अब भी स्वच्छताके इस रहस्यसे अनभिज्ञ हैं। परंतु निरक्षर भारतीय भी परम्परागत इसका ज्ञान रखते हैं।

नाचती रहती थी। उनमें साहस, सौहार्द और लोक-प्रियताका भाव चरम शिखरपर था। वे वन्दनीय बने और रावणके साथ युद्धमें विजयी हुए। विभीषणने युद्धके मैदानमें जब 'रावनु रथी बिरथ रघुबीरा' देखा तो वह अधीर होकर विकलतामें भगवान् श्रीरामसे बोल उठा—

नाथ न रथ नहिं तन पद त्राना। केहि बिधि जितब बीर बलवाना॥

वह घबड़ा-सा गया था। किंतु श्रीरामने उसे सदाचारकी महिमासे अवगत कराते हुए सौम्यभावसे कहा—

सुनहु सखा कह कृपानिधाना। जेहिं जय होइ सो स्यंदन आना॥
सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना॥
सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें॥
(मानस ६। ७९-८०)

श्रीरामकी इस वाणीमें भौतिक शक्ति और सम्पदाका नगण्य-भाव मिलता दीख रहा है और आध्यात्मिक गुणों तथा सम्पदाओंका सनातन ध्वज फहरा रहा है। एक ओर सांसारिक सम्पदाओंका अखण्ड राज्य था, दूसरी ओर सदाचारका परिवार देखनेमें क्षीण, किंतु अनन्त-शक्ति-सम्पत्से सम्वलित। संसारने देखा कि भौतिक सम्पदा सदाचारकी धारामें विनष्ट हो गयी। रामका सदाचार रावणके दुराचारपर विजयी हुआ। आर्ष काव्यका महाकाव्यार्थ—'रामवद् वर्तितव्यं न क्वचिद् रावणादिवत्' लोकप्रसिद्ध सदाचारका निर्देशक बन गया।

हिरण्यकशिपु भी सम्राट् था। शस्त्र-बल और अस्त्र-बल तो उसमें थे ही अन्य भौतिक उपादान भी उसके हाथसे बढ़ानेमें उसकी महत्ताके लिये सतत संलग्न थे। वहीं अकिंचन प्रह्लाद अपनी स्थितिमें भी सदाचारी था। संसारकी आँखोंने देखा 'कलंक' लगानेवाला भौतिकवादी सम्राट् हि... हो गया, किंतु प्रह्लादके मुखमण्डलकी लालिमा आह्लादकारिणी बनी रह गयी। आज भी प्रह्लादकी अक्षय-कीर्ति-पताका फहराती हुई देखी जा सकती है।

न जाने कबसे सृष्टिका यह क्रम चल रहा है। इसके सम्बन्धमें धर्माचार्यों, वैज्ञानिकों आदिके अपने विडम्बना और प्रश्नोंके तार-पर-तार बँधे हैं, किंतु उसका कोई अन्तिम समाधान नहीं है। जो भी हो, चिरकालसे प्रकृतिकी यह लीला धराधामको ... करती आ रही है। जबसे इसका इतिहास प्राप्त होता है, आजतक यही बात मिलती है कि लौकिक सम्पदाओंको आध्यात्मिक सम्पदाओंके आगे झुकना पड़ा है। सत्य तो यह है कि लौकिक सम्पदाका जहाँ अन्तिम ... बनता है, वहींसे आध्यात्मिकताका प्रथम चरण होता है। शास्त्र, पुराण, काव्य, इतिहास, धर्म... आदि जितने भी ग्रन्थ हैं, उन सबमें इस सत्यका स्वर गूँजता चला आ रहा है—सदाचारकी गरिमा संसारमें फहराता चला आ रहा है।

आदिकालसे आजतक सदाचार-रत्नोंका सम्मान ... है। मनु, याज्ञवल्क्य, आपस्तम्ब, अङ्गिरा, ... जमदग्नि, लोमश, दिलीप, राम, कृष्ण, बुद्ध, दया... स्वामी रामकृष्ण, विवेकानन्द, तिलक, मालवीय और महात्मा गाँधी प्रभृति इसके उद्दीप्त उदाहरण हैं। संसारमें जबतक मानव-अस्तित्वमें बुद्धि और विवेकका अंश रहेगा, तबतक सदाचारकी विजयपताका फहराती रहेगी।

आचार परम धर्म है

(लेखक—श्रीयुत शिशिरकुमार सेन, एम्० ए०, बी० एल्०, सम्पादक 'दूध')

ः परमो धर्मः आचारः परमं तपः।
ः परमं ज्ञानं आचारात् किं न साध्यते॥
राद् विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
रेण समायुक्तः सम्पूर्णफलभाग् भवेत्॥
आचारपरिभ्रष्टः साङ्गवेदान्तगोऽपि चेत्।
एव पतितो ज्ञेयो सर्वकर्मबहिष्कृतः॥

'आचार ही सर्वोत्तम धर्म है, आचार ही सर्वोत्तम है, आचार ही सर्वोत्तम ज्ञान है, यदि आचारका न हो तो असाध्य क्या है!' शास्त्रोंमें आचारका सर्वप्रथम उपदेश (निर्देशन) हुआ है। 'धर्म भी चारसे ही उत्पन्न है (अर्थात्) आचार ही धर्मका ा-पिता है और एकमात्र ईश्वर ही धर्मका स्वामी ' इस प्रकार आचार स्वयं ही परमेश्वर सिद्ध होता है। ब्राह्मण जो आचारसे च्युत हो गया है, वह के फलकी प्राप्तिसे वञ्चित हो जाता है, चाहे वेद-वेदाङ्गोंका पारंगत विद्वान् ही क्यों न हो, किंतु आचारका पालन करता है, वह सबका फल प्राप्त लेता है।' आचार आयुकी वृद्धि करता है, आचारसे न संतानकी प्राप्ति होती है, वह शाश्वत एवं असीम देता है और दोष-दुर्लक्षणोंको भी दूर कर देता 'जो आचारसे भ्रष्ट हो गया है, वह चाहे सभी अङ्गों- त वेद-वेदान्तका पारगामी क्यों न हो, उसे पतित सभी कर्मोंसे बहिष्कृत समझना चाहिये।'

शास्त्र कहते हैं कि धर्म भी आचारसे ही उत्पन्न है— चारप्रभवो धर्मः' अर्थात् वह हमारे अच्छे-बुरे कर्मोंपर र है। धर्मका पालन शारीरिक, मानसिक और वाचिक चारके बिना सम्भव नहीं है। इस लेखमें मेरा लक्ष्य केवल रिक सदाचारसे ही सम्बद्ध है—यद्यपि कई स्थितियोंमें वह भी मानसिक तथा वाचिक आचारोंसे न रहता है। यदि कोई व्यक्ति क्रोधके आवेशमें आ जाता है तो यह उद्वेग केवल उसके मनतक ही सीमित नहीं रहता, शरीरको भी प्रभावित कर देता है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति कामभावाभिभूत हो जाता है तो वह सदाचारका पालन कदापि नहीं कर सकता। इस दृष्टिसे सदाचारको मानसिक और वाचिक रूपमें यद्यपि सर्वथा पृथक् करना शक्य नहीं है, तथापि यहाँ स्पष्ट एवं विस्तृत विचार करनेके लिये शारीरिक आचारका ही वर्णन किया जा रहा है।

भगवान्ने शास्त्रोंमें कृपापूर्वक तीन प्रकारके आचारों- का निर्देश किया है। प्रायः यही आचार हमारे देशके निवासियोंद्वारा नित्यप्रति आचरित होता है। जब भारतवासी प्रातःकाल शय्या-त्याग करते हैं तो शौचसे निवृत्त होकर किसी चूर्ण या दतुअनसे मुँह धोते हैं। कोई भी हिंदू बिना मुँह धोये भोजन करनेकी कल्पना भी नहीं कर सकता; क्योंकि इसके बिना वे अपनेको अस्वच्छ समझते हैं। यह हमारे प्रातःकालीन सदाचारका आदर्श है। ठीक इसके विपरीत अमेरिका आदि- के निवासियोंको इस बातका अभी पतातक नहीं है। वे भोजन करनेके बाद ही मुँह धोते हैं और नींदसे उठते ही शय्यापर ही चाय ग्रहण करते हैं। यथार्थ बात तो है यह कि अभी एक शताब्दीपूर्वतक यूरोपवालोंको 'टूथब्रुश' (दाँत साफ करनेकी कूँची) का पतातक न था। अंग्रेज १८५० ई०के लगभग जब भारतसे विलायत लौटे तो स्वच्छताकी यह प्रारम्भिक शिक्षा वहाँ प्रविष्ट हुई। ये भारतके हिंदू ही थे, जिनसे अंग्रेजोंने मुँह धोनेकी विधि सीखी। पाश्चात्यदेशोंमें विज्ञानके विकासके बावजूद वहाँके लोग अब भी स्वच्छताके इस रहस्यसे अनभिज्ञ हैं। परंतु निरक्षर भारतीय भी परम्परागत इसका ज्ञान रखते हैं।

नाचती रहती थी। उनमें साहस, सौहार्द और लोक-प्रियताका भाव परम शिखरपर था। वे वन्दनीय बने और रावणके साथ युद्धमें विजयी हुए। विभीषणने युद्धके मैदानमें जब 'रावनु रथी बिरथ रघुबीरा' देखा तो वह अधीर होकर विकलतामें भगवान् श्रीरामसे बोल उठा—

नाथ न रथ नहिं तन पद त्राना। केहि बिधि जितब बीर बलवाना॥

वह घबड़ा-सा गया था। किंतु श्रीरामने उसे सदाचारकी महिमासे अवगत कराते हुए सौम्यभावसे कहा—

सुनहु सखा कह कृपानिधाना। जेहिं जय होइ सो स्यंदन आना॥
सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना॥
सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें॥
(मानस ६। ७९-८०)

श्रीरामकी इस वाणीमें भौतिक शक्ति और सम्पदाका नगण्य-भाव गिरता दीख रहा है और आध्यात्मिक गुणों तथा सम्पदाओंका सनातन ध्वज फहरा रहा है। एक ओर सांसारिक सम्पदाओंका अखण्ड राज्य था, दूसरी ओर सदाचारका परिवार देखनेमें क्षीण, किंतु अनन्त-शक्ति-सम्पन्नतासे सम्पन्नित। संसारने देखा कि भौतिक सम्पदा सदाचारकी धारामें विनष्ट हो गयी। रामका सदाचार रावणके दुराचारपर विजयी हुआ। आज काव्यका महावाक्यार्थ—'रामवद् वर्तितव्यं न क्वचिद् रावणादिवत्' लोकप्रसिद्ध सदाचारका निर्देशक बन गया।

हिरण्यकशिपु भी सम्राट् था। शस्त्र-यन्त्र और अस्त्र-यन्त्र तो उसमें थे ही अन्य भौतिक उपादान भी उसके हाथसे बहनेमें उसकी सहायताके लिये सतत संनद्ध थे। वहीं अकिंचन प्रह्लाद अपनी निरीहतामें भी सदाचारी था। संसारकी आँखोंने देखा कलंक लगानेवाला भौतिकवादी सम्राट् [illegible] हो गया, किंतु प्रह्लादके मुख[illegible] लालिमा आह्लादकारिणी बनी रह गयी। [illegible] प्रह्लादकी अक्षय-कीर्ति-पताका फहराती हुई देखी जा सकती है।

न जाने कबसे सृष्टिका यह क्रम चल रहा है। इसके सम्बन्धमें धर्माचार्यों, वैज्ञानिकों आदि[illegible] विडम्बना और प्रश्नोंके तार-पर-तार बँधे हैं। उसका कोई अन्तिम समाधान नहीं है। जो [illegible] चिरकालसे प्रकृतिकी यह लीला [illegible] करती आ रही है। जबसे इसका इतिहास प्राप्त होता है आजतक यही बात मिलती है कि लौकिक सम्पदाओंको आध्यात्मिक सम्पदाओंके आगे झुकना पड़ा है तो यह है कि लौकिक सम्पदाका जहाँ अन्तिम बनता है, वहींसे आध्यात्मिकताका प्रथम चरण होता है। शास्त्र, पुराण, काव्य, इतिहास, चम्पू आदि जितने भी ग्रन्थ हैं, उन सबमें इस सत्यका गूँजता चला आ रहा है—सदाचारकी गरिमाका संसारमें फहराता चला आ रहा है।

आदिकालसे आजतक सदाचार-रत्नोंका सम्मान है। मनु, याज्ञवल्क्य, आपस्तम्ब, अङ्गिरा, वसि[illegible] जमदग्नि, लोमश, दिलीप, राम, कृष्ण, बुद्ध, परम[illegible] स्वामी रामकृष्ण, विवेकानन्द, तिलक, मालवीय और महात्मा गाँधी प्रभृति इसके उदीप्त उदाहरण हैं। संसारमें जबतक मानव-मस्तिष्कमें बुद्धि और विवेकका अंश रहेगा, तबतक सदाचारकी विजयपताका फहराती रहेगी।

आचार परम धर्म है

(लेखक—श्रीयुत शिशिरकुमार सेन, एम्० ए०, बी० एल्०, सम्पादक 'ट्रुथ')

रः परमो धर्मः आचारः परमं तपः।
रः परमं ज्ञानं आचारात् किं न साध्यते॥
राद् विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
रेण समायुक्तः सम्पूर्णफलभाग् भवेत्॥
आचारपरिभ्रष्टः साङ्गवेदान्तगोऽपि चेत्।
एव पतितो ज्ञेयो सर्वकर्मबहिष्कृतः॥

-आचार ही सर्वोत्तम धर्म है, आचार ही सर्वोत्तम है, आचार ही सर्वोत्तम ज्ञान है, यदि आचारका न हो तो असाध्य क्या है!' शास्त्रोंमें आचारका सर्वप्रथम उपदेश (निर्देशन) हुआ है। 'धर्म भी चारसे ही उत्पन्न है (अर्थात्) आचार ही धर्मका ा-पिता है और एकमात्र ईश्वर ही धर्मका स्वामी ' इस प्रकार आचार स्वयं ही परमेश्वर सिद्ध होता है। ा ब्राह्मण जो आचारसे च्युत हो गया है, वह के फलकी प्राप्तिसे वञ्चित हो जाता है, चाहे वेद-वेदाङ्गोंका पारंगत विद्वान् ही क्यों न हो, किंतु आचारका पालन करता है, वह सबका फल प्राप्त लेता है।' आचार आयुकी वृद्धि करता है, आचारसे त संतानकी प्राप्ति होती है, वह शाश्वत एवं असीम देता है और दोष-दुर्लक्षणोंको भी दूर कर देता 'जो आचारसे भ्रष्ट हो गया है, वह चाहे सभी अङ्गों- त वेद-वेदान्तका पारगामी क्यों न हो, उसे पतित सभी कर्मोंसे बहिष्कृत समझना चाहिये।'

शास्त्र कहते हैं कि धर्म भी आचारसे ही उत्पन्न है— चारप्रभवो धर्मः' अर्थात् वह हमारे अच्छे-बुरे कर्मोंपर र है। धर्मका पालन शारीरिक, मानसिक और वाचिक चारके बिना सम्भव नहीं है। इस लेखमें मेरा लक्ष्य केवल कि सदाचारसे ही सम्बद्ध है—यद्यपि कई स्थितियोंमें वह भी मानसिक तथा वाचिक आचारोंसे त रहता है। यदि कोई व्यक्ति क्रोधके आवेशमें आ जाता है तो यह उद्वेग केवल उसके मनतक ही सीमित नहीं रहता, शरीरको भी प्रभावित कर देता है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति कामभावाभिभूत हो जाता है तो वह सदाचारका पालन कदापि नहीं कर सकता। इस दृष्टिसे सदाचारको मानसिक और वाचिक रूपमें यद्यपि सर्वथा पृथक् करना शक्य नहीं है, तथापि यहाँ स्पष्ट एवं विस्तृत विचार करनेके लिये शारीरिक आचारका ही वर्णन किया जा रहा है।

भगवान्‌ने शास्त्रोंमें कृपापूर्वक तीन प्रकारके आचारों- का निर्देश किया है। प्रायः यही आचार हमारे देशके निवासियोंद्वारा नित्यप्रति आचरित होता है। जब भारतवासी प्रातःकाल शय्या-त्याग करते हैं तो शौचसे निवृत्त होकर किसी चूर्ण या दतुअनसे मुँह धोते हैं। कोई भी हिंदू बिना मुँह धोये भोजन करनेकी कल्पना भी नहीं कर सकता; क्योंकि इसके बिना वे अपनेको अस्वच्छ समझते हैं। यह हमारे प्रातःकालीन सदाचारका आदर्श है। ठीक इसके विपरीत अमेरिका आदि- के निवासियोंको इस बातका अभी पतातक नहीं है। वे भोजन करनेके बाद ही मुँह धोते हैं और नींदसे उठते ही शय्यापर ही चाय ग्रहण करते हैं। यथार्थ बात तो है यह कि अभी एक शताब्दीपूर्वतक यूरोपवालोंको 'टूथब्रुश' (दाँत साफ करनेकी कूँची) का पतातक न था। अंग्रेज १८५० ई०के लगभग जब भारतसे विलायत लौटे तो स्वच्छताकी यह प्रारम्भिक शिक्षा वहाँ प्रविष्ट हुई। ये भारतके हिंदू ही थे, जिनसे अंग्रेजोंने मुँह धोनेकी विधि सीखी। पाश्चात्यदेशोंमें विज्ञानके विकासके बावजूद वहाँके लोग अब भी स्वच्छताके इस रहस्यसे अनभिज्ञ हैं। परंतु निरक्षर भारतीय भी परम्परागत इसका ज्ञान रखते हैं।

हमलोगोंके साथ विशेष निकट-सम्पर्कमें रहने तथा विज्ञानद्वारा कूँचीसे दाँत साफ करनेकी शिक्षा प्राप्त करनेपर भी उन्हें अभीतक यह ज्ञान नहीं हुआ है कि मुँह धोये बिना भोजन कर लेना एक घिनौनी बात है। इंग्लैंडमें उठते ही चाय पीनेकी प्रक्रिया प्रचलित है। यह लिखते हुए दुःख होता है कि उनकी नकल करनेवाले भारतीय हिंदुओंमें भी अब यह प्रक्रिया धीरे-धीरे व्याप्त होने लगी है। इस प्रकार पाश्चात्त्य देशोंके साथके सम्पर्कने हमारे सदाचारको अत्यन्त पतनोन्मुखी दशातक पहुँचा दिया है। साथ ही हमारे देश तथा उसकी सीमाओं-पर भी सदाचारका धीरे-धीरे ह्रास होने लगा है।

अब एक दूसरी बात लीजिये। हमारे यहाँ दूसरों-का जूठन प्रायः विक्षिप्त चित्तवाले अथवा अत्यन्त गये-गुजरे व्यक्ति ही खा सकते हैं। कोई भारतीय (सदाचारी) दूसरेका उच्छिष्ट भोजन करनेकी बात भी मनमें नहीं सोच सकता और यदि कोई इस विषयपर ध्यान देकर सोचता है तो इसे पूर्ण वैज्ञानिक—आचार ही मानता है; क्योंकि चिकित्सा-विज्ञानके अनुसार भी बीमारियाँ प्रायः खान-पानके माध्यमसे ही फैलती हैं—विशेष-कर तरल पदार्थोंके संसर्गसे। शास्त्रोंके अनुसार तो बीमारियाँ ही नहीं, भले-बुरे संस्कार भी संक्रमित हो जाते हैं। किंतु पश्चिमके लोगोंने अभी केवल उच्छिष्ट भोजनसे बीमारियोंके ही संक्रमणका ज्ञान सीखना प्रारम्भ किया है। कहा जाता है कि उनके होटलों (भोजनालयों), जलपानगृहों, वायुयानों, गाड़ियों आदिमें तश्तरियोंमें छोड़े हुए भोजन फेंके नहीं जाते। इन स्थानोंमें तथा अन्य स्वागतके स्थानों-पर भी अतिथियोंके अनजानेमें दूसरोंके द्वारा परित्यक्त भोजनको परोसनेमें तनिक हिचकतक नहीं होती। ऐसी प्रक्रियाओंकी वहाँ कोई आलोचना भी नहीं करता। विमानकी परिचारिकाएँ तो ऐसे भोजनोंको परोसते समय अपना हाथ भी नहीं धोतीं। विमान-यात्री भी खानेके पहले या बादमें अपना हाथ नहीं धोते। विमानोंमें आप प्रायः प्लास्टिक या कागजके ग्लासोंको ही जलके पायेंगे, जो दूसरोंके द्वारा पहले व्यवहृत हो चुके और जिन्हें पीनेके बाद जलसे धोयातक नहीं जो लोग आचारका पालन करते हैं औ प्रकारके खान-पानके अभ्यस्त नहीं हैं, वे भी संसर्गवशात् दुर्भाग्यवश जब इसके आदी हो जाते हैं उन्हें भी जैसी पहली बार घबराहट हुई थी, वैसी नहीं होती। अन्ततोगत्वा इस प्रकार मनुष्यका बदल जाता है और वह भी उन्हीं प्रक्रियाओंका करने लगता है, जो आरम्भमें उसे अत्यन्त घृणित होती थी। फिर भी जहाँतक हो सके, इन बातोंकी परिस्थितियोंमें सदाचार-प्रेमीको परहेज रखना चाहिये।

शल्य-चिकित्सक (सर्जन) लोग चीर-फाड़-घरमें जानेके पहले कीटाणु-निरोधक वस्त्र एवं घावमें कीटाणु प्रविष्ट होनेसे रोकनेके लिये मुख-नासिकादिके ऊपर आच्छादन-वस्त्र धारण किये रहते हैं और घावको चीरते फाड़ते समय भी ऐसा ही करते हैं। वे अपने हाथोंमें भी कीटाणु-निरोधक रबरके दस्ताने धारण किये रहते हैं। चीर-फाड़-घरमें प्रायः सामान्य जूतोंका व्यवहार नहीं होता। एक विशेष प्रकारके जूते ही उस घरमें सभी व्यक्तियोंद्वारा व्यवहृत होते हैं, जो प्रायः रबर या एक प्रकारके निर्यास द्रव्यसे बने होते हैं। ये शल्य-चिकित्सक रोग-संक्रमणकी इस प्रकारकी सुरक्षाकी विधियाँ तो अपनाते हैं, पर अभी उन्होंने इस शिक्षा नहीं प्राप्त की कि भोजन भी एक प्रकार संक्रमणका कारण है। इसलिये खानेके पहले हाथ-पैरोंको धो लेना आवश्यक है और जूतोंको भोजन कक्षमें नहीं ले जाना चाहिये; क्योंकि जूते चीर-फाड़-घरमें नहीं ले जाये जाते हैं। भोजनके समय वार्तालाप भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि उनके भोजन कण इस प्रकार उनके मुँहसे निकलकर दूसरोंकी थाली या वायुमण्डलद्वारा मुँहमें प्रविष्ट हो सकते हैं।

विज्ञानकी प्रगतिने चिकित्सकोंको शल्यक्रियामें आचारकी शिक्षा तो दे दी, पर अभी उन्हें इसका अपने घरों तथा अन्य स्थानोंमें आचरण करना शेष ही है। हाँ, हिन्दूका एक बालक भी शास्त्रोंके आधारपर इस सदाचारका ज्ञान रखता और पालन करता है। हम ऐसे बहुत-से अन्य उदाहरण भी प्रस्तुत कर सकते हैं, जिनसे ज्ञात होगा कि पाश्चात्य देशोंमें अभी शुद्धताका प्रारम्भिक ज्ञान भी प्राप्त नहीं हुआ है। पाश्चात्य चिकित्साविज्ञानके अनुसार शीतला, चेचक, प्लेग, हैजा, अविरामज्वर तथा कई अन्य रोग भी संसर्गसे संक्रमित होते तथा फैलते हैं। अतः ऐसे रोगियोंको चिकित्सक जब स्पर्श करते हैं तो उन्हें अपने हाथोंको धोना पड़ता है, पर अभी इन लोगोंने इस समय भी वस्त्रोंको बदलना नहीं सीखा है। यह सामान्य बात है कि ऐसे अवसरोंपर केवल हाथ धोना ही पर्याप्त नहीं है। रोगके संक्रमणकी सम्भावना तबतक नष्ट नहीं होती, जबतक सम्पृक्त वस्त्र नहीं बदल दिये जाते। अतः शौचालयसे लौटने तथा संक्रामक रोगियोंके सम्पर्कमें आनेके बाद अथवा ऐसे रोगियोंके मल-मूत्र-स्पर्शके बाद भी वस्त्रोंको बदल डालना चाहिये। यदि पाश्चात्य वैज्ञानिक इधर थोड़ा भी ध्यान दें तो उन्हें ज्ञान हो जायगा कि इस प्रकारकी प्रक्रिया मूलतः वैज्ञानिक है, किंतु पाश्चात्य चिकित्सा-विज्ञान इस शुद्धिकी वकालत नहीं करता, अतः वे घरपर इस आचारका पालन नहीं करते। पर एक हिन्दू व्यक्ति शास्त्रोंद्वारा निर्दिष्ट होनेके कारण इस आचारका पालन करता है। केवल वे हिन्दू, जो पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षासे प्रभावित हैं, इस आचारका पालन नहीं करते।

पश्चिमके शिक्षित व्यक्ति शव-स्पर्शको कुछ भी विचार नहीं करते। पाश्चात्य विज्ञान—जिसका वे अनुसरण करते हैं, इस विषयपर मौन है। फिर भी आजसे एक सौ वर्ष पहले वियना नगरके एक अस्पतालके प्रसूति-विभागमें अत्यधिक लोगोंकी मृत्यु देखकर एक दार्शनिक विचारकने पर्याप्त समयतक इसपर विचार किया कि उस प्रसूतिविभागमें ऐसी घटनाओंका कारण क्या है? पर उसे ज्ञात न हो सका। अन्तमें उसने एक दिन देखा कि विद्यार्थी शवगृहोंसे शवपरीक्षण कर उस कक्षकी ओर जा रहे हैं। तब उसे तुरंत ध्यान आया कि सम्भवतः यही इसका कारण हो सकता है। उसने तत्काल ही उन्हें उस विभागमें प्रवेश करनेसे रोका और इसके बाद वहाँकी मृत्यु-संख्यामें तुरंत ही कमी हो गयी। इस घटनासे पाठ अवश्य सीखना चाहिये था, किंतु पाश्चात्य चिकित्साविज्ञानने अभी भी शवस्पर्श या शव-परीक्षणके बाद स्नान या वस्त्र बदलनेकी बात नहीं सीखी जब कि हमारे यहाँ स्नान करने तथा वस्त्र बदलकर शुद्ध होनेकी परम्परा है।

आधुनिक विज्ञान यह भी नहीं बतलाता कि मृत व्यक्तिसे किसी प्रकारका सम्बन्ध होनेसे मनुष्यको स्नान तथा वस्त्रादिकी शुद्धि करनी चाहिये। अतः डॉक्टर लोग भी ऐसा नहीं करते, जब कि एक मूर्ख-से-मूर्ख हिन्दू भी इसका अनुसरण करता है। हिन्दू शौचादिके बाद केवल जलसे ही हाथ नहीं धोते, बल्कि मिट्टीका भी प्रयोग करते हैं, किंतु मिट्टी लगानेकी यह प्रक्रिया पाश्चात्य विद्वानोंको कौन कहे, सर्वोच्च वैज्ञानिकोंतकको भी ज्ञात नहीं है। विलायतके एक वैज्ञानिकने अब इस बातका अनुभव किया है कि ऐसे समयमें कागजोंका उपयोग कितना गंदा कार्य है। उसने बतलाया है कि जब एक बच्चा फर्शपर ही शौच करता है और वह फर्श मुलायम कागजसे फिर रगड़कर साफ किया जाता है तो मलके सूक्ष्म अंश फर्शपर शेष रह जाते हैं। इसी प्रकार शौचके बाद कागजका उपयोग उपस्थको भी पूर्णतया स्वच्छ नहीं कर पाता। इतना ही नहीं, कागजसे साफ करते समय मलके सूक्ष्मकण अँगुलियोंमें भी लग जाते हैं। उसी विदेशी वैज्ञानिकने यह भी बतलाया है कि छात्रावासके विद्यार्थी शौचके

विवाह-पद्धतिकी भिन्न गोत्र एवं एक वर्णमें रीति शुद्धवंश-परम्पराकी रक्षाका कारण है। of India 1921, Volume VIII, page 103) शास्त्रोंका भी वस्तुतः यही उद्देश्य था।

व कहते हैं कि जल नारायणके आवास या आराध्य ही हैं—'आपो नारा इति प्रोक्ता नर सूनवः अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन : स्मृताः' अब इसका तात्पर्य क्या समझें। जब हम कभी किसी या बहते जलमें लघुशङ्का और शौच कर ो कितनी दयनीय बात होती है। कुछ लोग तालाबोंपर भी ऐसा करते हुए सामाजिक हानिका नहीं करते। हमारे मोह और आसक्तिकी भी हीं है। धर्मके प्रति उपेक्षाका भाव, ईश्वरकी शास्त्रोंके प्रति अश्रद्धा और अनादरका भाव एक ही कारणसे है—पाश्चात्य अनुकृतिका सी प्रभाव और मोहमें पड़कर हम शास्त्रोंके ी अवहेलना करते हैं। इस मोहने हमारे ऊपर इतना दृढ़ अधिकार जमा रखा है कि हम शास्त्रोंकी अवहेलना ही नहीं करके रह जाते, बल्कि उन्हें गलत भी मानने लगते हैं। पर पाश्चात्योंके अन्धानुसरणमें हम अपनी या उनकी गलती नहीं मानते, जब कि वे प्रत्यक्ष गलत रास्तेपर भी चलते दीखते हैं। मद्यपान जो पहले सर्वथा पापपूर्ण समझा जाता था, अंग्रेजोंके शासन-कालमें बंगालमें एक फैशन बन गया था; विशेषकर आधुनिक शिक्षा प्राप्त किये हुए विद्यार्थियोंमें। इस मोहने हमारे सदाचारके आदर्शों एवं मूल्योंको गिरा दिया और हमें आचारसे दूर ले जाकर अनाचारके दलदलमें डाल दिया है और अब अधर्मका शासन ही सर्वोपरि हो गया है। अब केवल बस एक ही आशा रह गयी है कि भारतवर्ष वैकुण्ठधामका प्राङ्गण है और भगवान् श्रीहरि नारायण कभी भी अपने भारतवर्षको पापोंकी बाढ़में सर्वथा बहने नहीं देंगे। वे देर या सबेर—हमें सदाचारके लंगरके पास अवश्य ही वापस लायेंगे।

अचिन्त्यभेदाभेद-मतमें सदाचार

(लेखक—प्रभुपाद श्रीप्राणकिशोरजी गोस्वामी)

वेदोंके अनुसार—'सदेव सोम्य इदमग्र —पहले अनादि सद् (परमेश्वर) मात्र ही था। ध्यान कर तत्त्वद्रष्टा ऋषियोंने 'हरिः ॐ तत्सत्' ह ॐकार—एकाक्षर परम मङ्गलमय है, फिर इसी क विराटमें वायु, अग्नि, जल और जीव-जगत्‌की

के ... व्यक्ति ही सद्

... सदाचार

...न्दमय,

... होते हैं। उन्हें कोई बन्धन नहीं होता। जीव दुर्भाग्यसे अनादिकालसे सत्‌स्वरूप भगवान्‌को भूला हुआ है। जन्म-जन्मान्तरोंके स्वप्नोंने उसे अपनी आत्मस्वरूपकी चिरन्तन चेतना तथा आनन्दमयताकी अनुभूतिसे विच्युत कर रखा है। जगत्-सुखके प्रति उसकी आसक्ति प्रधान हो गयी है। ऐसे परम सत्य निष्ठावञ्चित जीवके लिये साधु-सङ्गकी नितान्त आवश्यकता है। साधु-सङ्ग और सत्कार्यके रूपमें भगवत्प्राप्तिके निमित्त किये गये प्रयोग सदाचार हैं। भगवत्प्राप्तिमें ही इन सबकी सफलता है।

वर्तमान व्यावहारिक जीवनमें जीवको नाना प्रकारके प्रलोभन आकर्षित करते हैं। इस दुःख या दुर्योगसे

बाद कागजका ही प्रयोग करते हैं और इसके बाद हाथको भी साबुन या जलसे नहीं धोते । इस प्रकार वे रोगोंके संक्रमणके साधन बन जाते हैं, जिससे ऐसी बीमारियाँ प्रायः विद्यालयोंमें फैलती रहती हैं ।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि कोमल शृङ्गारपत्रोंसे की गयी सफाई पर्याप्त नहीं होती और उनके सूक्ष्मांश हाथों तथा मल-स्थानोंपर लगे ही रह जाते हैं, जिससे अनेक आपत्तिजनक परिस्थितियाँ पैदा होती हैं । वस्तुतः स्वच्छताका यह प्रकार बड़ा ही असभ्य है । शौचके बाद हाथ आदि न धोनेकी घिनौनी प्रक्रिया भारतीय मस्तिष्कको घृणा एवं अरुचिसे भर देती है । फिर भी कुछ लोग अब यहाँ भी कागजसे ऐसी शुद्धि करने लग गये हैं । वस्तुतः अनुसरणकी इस दुष्प्रवृत्तिने ऐसे भारतीयोंको अन्धा बना दिया है और वे शौचके बाद गंदे रहनेके लिये प्रसिद्ध हो गये हैं । दिवंगत पूज्य पण्डित मदनमोहन मालवीय जब राउण्ड टेबुल कान्फ्रेंस (Round Table Conference) के लिये समुद्रद्वारा विलायतकी यात्रा कर रहे थे, तो वे मिट्टीसे ही अपना हाथ साफ करते थे । वे अपने साथ पर्याप्त गङ्गाजल और मिट्टी ले गये थे । उनकी इस प्रवृत्तिसे कुछ दूसरे भारतीय, जो उसी जहाजसे यात्रा कर रहे थे, कुछ लज्जित-से हुए; क्योंकि उनकी यह प्रक्रिया उनके देखनेमें असभ्य-सी लग रही थी ! इसे आप भला अनुसरणकी अन्ध-प्रवृत्ति एवं बुद्धिनाशके अतिरिक्त और क्या कह सकते हैं !

शास्त्रोंद्वारा सम्यक् स्वच्छताके अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं । वस्त्र बदलनेकी ही बातको लीजिये; यह १–प्रातः शय्यासे उठने, २–प्रातः भ्रमणसे वापस आनेके बाद, ३–शौचके बाद, ४–शव-स्पर्शके बाद और ५–किसी रजस्वला स्त्रीके स्पर्श हो जानेपर परिवर्तित किया जाता है । अब आप विचार करें कि वैज्ञानिक-दृष्टिसे निर्णय करनेपर यह बात कितने महत्त्वकी तथा सारगर्भित सिद्ध होती है । कोई भी मिठाई रजस्वला स्त्रीके [illegible] बाद विषाक्त हो जाती है । ([illegible] इण्डियन मेडिकल एसोसिएशन, अक्टूबर १९[illegible]

यह बात दीर्घकालीन जर्मन और [illegible] अनुसंधानोंसे भी सिद्ध हो चुकी है । हम [illegible] इस बातको भली प्रकार समझ सकते हैं कि जिसे [illegible] शास्त्रोंने युगों पहले बतलाया था, आजके पाश्चात्य वैज्ञानिक भी समीचीन मानकर उसीका अनुसरण कर रहे हैं ।

लघुशङ्काके बाद इन्द्रियको जलसे [illegible] फ्रान्सीसी वैज्ञानिकोंद्वारा भी स्वीकार किया गया है; क्योंकि इससे कई संक्रामक रोगोंसे मुक्ति मिल जाती है । ऐसा न करनेसे मूत्र सूखकर कष्टकर हो सकता है । तथापि उन लोगोंने भी खड़े-खड़े पेशाब करनेसे [illegible] हानि होती है और जो मूत्रबिन्दु बिखरकर पैरों तथा अन्य अङ्गोंपर पड़ते हैं, इसका ज्ञान प्राप्त नहीं किया है । अतः बैठकर लघुशङ्का करनेकी विधि सर्वथा निरापद है और श्रेष्ठ है । इतनेपर भी [illegible] धोना ही पड़ता है; क्योंकि इस विधिमें भी [illegible] बिन्दुओंके पैरपर पड़नेकी आशङ्का रहती है । आचार विज्ञानसिद्ध होनेपर भी आज भारतमें [illegible] उपेक्षित-से हो रहे हैं; क्योंकि पश्चिमके लोग ऐसा नहीं करते और वे खड़ा होकर ही लघुशङ्का करते हैं ।

अब विवाहको लें । शास्त्रोंने सगोत्र विवाहका [illegible] निषेध किया है, फिर भी एक जातिमें ही विवाहका विधान किया है, विभिन्न वर्णोंका विवाह निषिद्ध है । बम्बई जनगणनाआयुक्त एल० जे० सीजवीककी १९२१ की रिपोर्ट of L. J. Sedgewick, Census Commissioner (Report Bombay 1921) से भी यह स्पष्ट होता है कि पश्चिमके भी कुछ महान् व्यक्तियोंने इस रीतिको [illegible] लाभदायक और संतोषजनक माना था (द्रष्टव्य जातिगोत्र-विचार) । बम्बईके इसी जनगणना-रिपोर्टमें (जिल्द ८, पृष्ठ १०३पर) सीजविकने कहा है कि

फल, फूल, तुलसीपत्र या एक अञ्जलि जल प्रदान तो मैं परमानन्दसहित उसे ग्रहण करता हूँ। उससे प्यास दूर होती है। और भी शास्त्रोंमें कहा गया है—

लसीदलमात्रेण जलस्य चुल्लुकेन वा।
ग्मानमपि विक्रीणीते भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः॥
ष्ण के तुलसी देय जेइ जन।
र भ्रूण शोधिवार कृष्ण करेन चिन्तन॥
लसी दलेर मतन धरे नाई धन।
तएव आत्मनेचि करे भ्रूण शोधन॥
(चैतन्यचरितामृत)

कलिकालमें सदाचार-प्रतिष्ठा और साधु जीवन-नके निमित्त अद्वैताचार्यने तुलसी व जलका दान ा। उसके फलस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण-चैतन्य महाप्रभुका आविर्भाव हुआ। उस युगमें धर्म-प्रदर्शन करके महाप्रभुने सारे भारतमें नाम-कीर्तन सदाचारका प्रवर्तन किया। कलिका दोष केवल नाम-संकीर्तनकी ध्वनिमात्रसे दूर हो जाता है और तात्त्विक अभेदबुद्धि उत्पन्न होकर सात्त्विक परमानन्दकी प्राप्ति होती है। सदाचार मनुष्यके देह और मनको किस प्रकार परमात्माके अनुसंधानमें नियुक्त कर उन्नत दशाकी ओर आकर्षित करता है। श्रीहरिनाम ही हर प्रकारके सदाचारका जनक है। आइये, हम भी सत्य शास्त्र-सिद्धान्तके साथ स्वर मिलाकर कहें—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

वैष्णव-सदाचार

(लेखक—श्रीगुरुराजकिशोरजी गोस्वामी, भागवततीर्थ)

विष्णुपुराणके अनुसार राजा सगरने जब ऊर्व ऋषिसे र किया कि 'सदाचार क्या है? उसका किस प्रकार न किया जा सकता है?' तब ऋषिने कहा था—पृथ्वीपाल! सदाचारी पुरुष इहलोक और परलोक दोंपर विजय प्राप्त करता है। सप्तर्षिगण, मनुगण एवं ापतिगण ही सदाचारके वक्ता एवं कर्ता हैं। राजन्! सदाचारका पालन निम्नप्रकारसे कर सकते हो। मुहूर्तमें स्वस्थ एवं प्रशान्त चित्तसे धर्मका चिन्तन करो। विरोधी अर्थ तथा कामका परित्याग करो। जो धर्म ाज-विरोधी हो उसका परित्याग करो। देव-ऋषिकी ा, संध्या-वन्दन, सश्रद्ध यज्ञानुष्ठान करो। केश रने और परिष्कृत एवं वस्त्र-परिधान स्वच्छ-सुगन्धित ो। कभी किसीका कुछ भी अपहरण मत करो। प्रिय वाक्य न बोलो। मिथ्या प्रिय वाक्य भी मत ो। पर-दोष-कथन मत करो। परायी सम्पत्ति लोभ न करो।' और्व मुनिने और भी कहा है—'पतित व्यक्तिके साथ, कुदेश-स्थित व्यक्तिके साथ, मिथ्यावादी, पर-निन्दापरायण एवं शठ व्यक्तिके साथ मित्रता मत करो। प्रज्वलित गृहमें प्रवेश मत करो। वृक्षके शिखरपर आरोहण मत करो। मुँह ढके बिना जम्हाई न लो। नाखूनसे भूमिपर लिखो नहीं। अपवित्र अवस्थामें सूर्य-दर्शन मत करो। अतिथि-सत्कारमें कृपणता नहीं करो' इत्यादि।

श्रीचैतन्य-चरितामृतके अनुसार श्रीचैतन्यदेवने भक्त सनातनगोस्वामीको सदाचारके बारेमें शिक्षा देते हुए कहा है—'दन्तधावन, स्नान, सन्ध्यावन्दनादि कर्म, गुरुसेवा, ऊर्ध्वपुण्ड्र-चक्रादि धारण, गोपीचन्दन, माला-धृति, तुलसी-आहरण, वस्त्रपीठ, गृह-संस्कार, कृष्ण प्रबोधन आदि पूजाके उपचार सदाचारके अङ्ग हैं और नाम-महिमा, नामापराधवर्जन, स्नान-संध्या, निवेदन, भगवदाराधन, शंख, जल, गन्ध, पुष्प-धूपादि, लक्षण-जप, स्तुति, परिक्रमा, दण्डवद् वन्दन, साधु-लक्षण, साधुसङ्ग,

निरक्षर प्राणी सद्गुरुके आश्रयसे आत्म-शोधनसे सम्पन्न होता है। मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक सदाचारमें स्थूल एवं सूक्ष्म भेद है। अन्तःशोधन न होनेसे वाणी संयत तथा नियन्त्रित नहीं हो सकती। आहार-शोधन न होनेसे मनसे काम-क्रोध आदिकी घृणित वृत्तियाँ दूर नहीं होतीं, जिससे सदाचारका उल्लङ्घन होता है। क्रोध और असत्यसे सुकर्मकी ओर प्रवृत्ति नहीं होती है, और व्यक्तिगत जीवन और समाज-जीवनमें अराजकता प्रारम्भ होता है। सनकादिके विषयमें भागवतपुराण (२।७।५) का कथन है—'आदौ सनात्स्वतपसः स चतुःसनोऽभूत्।' वे ही सनत्कुमार देवर्षि नारदकी चिन्तामयी अवस्था देखकर उनके विषादका कारण पूछते हैं। नारदजी कहते हैं—'नाना तीर्थ भ्रमण कर मैं हताश हो गया हूँ। देखा कि सर्वत्र कलिने अधर्मको स्वेच्छया विचरण करनेकी छूट दे रखी है। सत्य, शौच, दया, दान, विलुप्तप्राय हैं। मनुष्य असदाचरणमें लिप्त है। कौन किसको रोकेगा? आज असदाचारी लोग भी केवल प्रचारके जोरपर साधु कहलाते हैं। आश्रमकी पवित्रता अरक्षित है। तीर्थोंपर अधर्म और असत्यका दबाव है। अब सद्भावपूर्वक जीवन-यापन करनेमें आचारभ्रष्ट दुष्ट लोग बाधा देते हैं। उनकी बात मानकर ही चलना होगा। कलिके प्रभावसे भला-बुरा सब एकाकार हो गया है। वस्तुतः आज यही दशा है और सच्चे साधुजन तभीसे सदाचारके विचार-विवेचनकी चिन्तामें लगे हैं।

कलिकी प्रथम संध्यामें एक वृद्ध साधक—जिनका नाम अद्वैताचार्य था, आविर्भूत होकर कलिकालमें मनुष्यके लुप्त सदाचारकी अन्तिम परिणतिकी पर्यालोचना कर रहे थे। उन्होंने देखा कि देव-पूजाके नामपर पशुबलि एवं हिंसा, साधनाके नामपर दुष्ट-संसर्ग, सुरापान, रात्रिजागरण और शासनके नामपर सज्जन और असज्जनपर समान रूपसे अत्याचार होता है। उन अद्वैताचार्यने शास्त्रानुमोदित मार्गसे अनाचार, अविचार और कदाचारके प्रतिकार-स्वरूप चिन्तन किया। देखा कि सब प्रकारके दोषोंके रहते हुए भी एक बड़ा सद्गुण है कि भक्तिरस ... और यह जीवनमें जितना भी दुराचार ... पड़ जाता हो, साधुओंके पास ... जहाँ यथार्थ सदाचारका विचार होता, वहाँ ... आदरणीय, पूज्य और प्रशंसापात्र होता। इस प्रकारके मनुष्यको महाभाग्यवान् कहा ... है। भक्ति-भूमिमें तो हैं—प्रेम, क्षमा और अहिंसा ... ज्ञानकी आनन्दभूमिमें है—मिलन, सेवा और ... एका स्वभाव। सब जीवोंमें एकात्मताका सुन्दर भाव ... में सच्ची आत्मीयता जगाता है जो निरन्तर ... परमात्माकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म आनन्दमयी चेतना ... अनुभव कराती है। विज्ञानने सूक्ष्म परमाणुमें ... का प्रदर्शन किया है तो सदाचार-सम्पन्न, सत्यनिष्ठ भारतीयने भी उस प्राण परमाणुमें अनन्त ... खोज की है। इसीलिये भक्तिरसकी एक बूँद भी ... वृक्ष-लता, भूमि-जल—सबोंको अमृतमय कर सकती है।

पशुयोनिमें जन्मे वज्राङ्ग श्रीहनुमान्‌जी ... थे। उनके नाम लेनेमात्रसे कोटि-कोटि मनुष्य ... होते हैं। जटायु, गरुड़ आदि पक्षी होते हुए भी भगवद्-अनुकम्पासे सभी साधुओंके भी परम पूजनीय एवं आदरणीय बने। निषादकी जाति क्या थी? व्याध-कन्या ... कथा कैसे भुलायी जा सकती है? किस सदाचारके अन्तर्गत श्रीरामने इन्हें इस प्रकार आत्मसात् किया? अहल्याके किस आचरणके बलपर श्रीरामने उसे ... स्पर्श प्रदान किया? गोपियोंके पास कौन-सी ... थी? केवल प्रेम-भक्तिके बलपर ही तो उन्होंने ... चिरकालानुरागी बना लिया? इस भक्तिके साथ ... भी सदाचारी साधुओंके लिये परम काम्य और ... प्रदायक हो जाता है। भगवान्‌ने इसी सदाचार-... अभिप्रायसे कहा है—यदि कोई मुझे भक्तिपूर्वक

नाथ-सम्प्रदाय और सदाचार

(लेखक—श्रीशि० भ० देशमुख)

अब यह भलीभाँति सिद्ध हो गया है कि नाथ-एक प्रकारसे अनादि-सा है। महर्षि दत्तात्रेयने नाथजीकी चर्चा की है और पुराणोंमें इनका लेख है। पर दसवीं-ग्यारहवीं शतीमें नाथ-ी साधना-पद्धति भारतमें विशेष जोर पकड़ रही समय बौद्धधर्मका पतन होता जा रहा था अतः तत्त्व नष्टप्राय हो रहा था। इसी पार्श्वभूमिमें दाय विशेषरूपसे संघटित हुआ। 'ज्ञानेश्वरी'में राजने महायोगी गोरखनाथका 'विषय-र' इस यथार्थ विशेषणसे गौरव गान किया है। गसे उन्होंने केवल गोरखनाथकी ही नहीं, सारे ायकी विशेषता बतलायी है। तान्त्रिकों और ी भी ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वे साधारण तौरपर की व्याख्यापरक पद्धतियाँ ही हैं। उनमें दार्शनिक क उपदेशोंका आभास बहुत कम मिलता है। थ-सम्प्रदायके योगियोंकी वानियोंके ग्रन्थोंमें ह सदाचार एवं नैतिक उपदेश दिखायी 'हठयोग-प्रदीपिका,' 'सिद्ध-सिद्धान्त-संग्रह,' ता', 'अमरौघशासन', 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति', ी'—इन सब ग्रन्थोंसे यह स्पष्ट हो जाता है सम्प्रदाय सदाचारके प्रति कितना सजग था।

ोगप्रदीपिका'में स्वात्मारामयोगीन्द्रने अहिंसा, स्तेय, दया, क्षमा आदि सद्-आचारोंकी ना प्रतिपादित की है, साथ-ही-साथ ी महिमा भी जगह-जगहपर बतायी गयी योगी गोरखनाथने अपनी बानियोंमें निन्दनीय आदतोंपर कई स्थलोंपर टीका की है। कि संयम करनेवाले व्यक्तिको ही 'जोगी' दूसरोंको नहीं—

जोगी सो जो राखै जोग। जिभ्या यंद्री न करै भोग।
अंजन छोडि निरंजन रहै। ताकू गोरख जोगी कहै॥
(गोरखबानी २३०)

वे इसके आगे कहते हैं—'जोगी होकर जो परायी निन्दा करता है; मद्य, मांस और भाँगका सेवन करता है, उसके इकहत्तर सौ पूर्व पुरुष नरक चले जाते हैं'।

जोगी होइ पर निंद्या झषै। मद मांस अरु भाँगि जो भषै॥
इकोतरसै पुरिषा नरकहि जाई। सति सति भाषंत श्रीगोरष राई॥
(गोरखबानी १६४)

'जो अफीम खाता है और भाँगका भक्षण करता है, उसको बुद्धि कहाँसे आये। भाँग खानेसे पित्त चढ़ता है और वायु उतरती है, इसलिये गोरखने कभी भाँग न खायी'।

आफू खाय भाँगि भसकावै। ता मैं अकलि कहाँ तै आवै॥
चढ़ता पित्त उतरता बाई। तातै गोरष भाँगि न पाई॥
(गोरखबानी २०८)

'दया-धर्म सदाचारका मूल है। इसलिये श्रीगोरखनाथजी कहते हैं, हे अवधूतो! मांस खानेसे दया-धर्मका नाश हो जाता है, मदिरा पीनेसे प्राणमें नैराश्य आता है, भाँग खानेसे ज्ञान-ध्यान सब खो जाता है और ऐसे प्राणी यमके दरबारमें रोते हैं'—

अवधू मांस भषंत दया धर्मका नास।
मद पीवत तहाँ प्राण निरास॥
भाँगि भषत ग्यान ध्यान षोवंत।
जम दरबारी ते प्राणी रोवंत॥
(वही १६९)

असंयत व्यक्तिके लिये तो इस सम्प्रदायमें कोई स्थान ही नहीं है। असंयमित प्रवृत्तिपर गोरखनाथ और नाथयोगियोंने जगह-जगह कड़ी टीका की है। एक स्थलपर गोरखनाथजी कहते हैं कि जो इन्द्रियों-

कथा-श्रवण कीर्तन आदि, आत्म-महत्त्वज्ञान, शौचाचा-रादि [illegible] नियम ये सब भी सदाचार हैं। सत्य ही अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य-पालन, [illegible] वर्जन, देव, साधु, माता-पिताओंकी सेवा-अर्चना, दुर्गा, शिवपूजन, मायावी प्रभृतिके प्रति उपहास-वर्जन, उद्धत, उन्मत्त, शठ, अविनीत, नीच, निन्दित, हीन-स्वभावी व्यक्तियों-का संग-वर्जन, सदाचारावलम्बी साधु, प्राज्ञ, सत्यभाषी व्यक्तियोंका संग, तीर्थस्थान-दर्शन, वैराग्य-भावका अनुष्ठान एवं पालन—ये सब भी सदाचार हैं।

उपसंहार—सदाचारका [illegible] धर्मका है। सदाचारी पुरुष दीर्घायु होते हैं। [illegible] अक्षय धन-लाभ करते हैं। सभी अंग, [illegible] कार्योंमें सफल होते हैं। सदाचारी सबके [illegible] होकर सभीके प्रिय पात्र बनते हैं। उनके [illegible] फलस्वरूप समाजका मङ्गल होता है, देशका [illegible] कल्याण-साधन होता है। सदाचारी देशके [illegible] व्यक्ति होते हैं और सदाचारहीन व्यक्ति निन्द[illegible] होते हैं। वे निन्दित, रोगग्रस्त, धनहीन, अल्पायु [illegible] हैं। अतएव सबको जीवन-यापनके लिये सदाचारी होना चाहिये। इसके फलस्वरूप ही [illegible] प्राणियोंका मङ्गल होता है।

वीरशैव-मतमें पञ्चाचार और सदाचार

(लेखक—जगद्गुरु श्रीभद्रादानीश्वर महास्वामीजी महाराज)

वीरशैवमत, लिङ्गायत, शिवाद्वैत वीर माहेश्वर एवं पञ्चाचार्यमतों आदि नामसे भी प्रसिद्ध है। इसके मठोंमें काशीका जङ्गमवाड़ी मठ, हृषीकेशका ऊखीमठ, आन्ध्रका श्रीशैलमठ, कर्णाटकका रम्भापुरीमठ और उज्जयनीका शैवमठ—ये पाँच तो बहुत ही प्रसिद्ध स्थान हैं।

कर्णाटकके वीरशैव लोग अपने धार्मिक सिद्धान्तके अनुसार आचारको शरीरस्थ प्राणादि पाँच वायुके समान मुख्य मानते हैं। वीर शैवमतका तात्त्विकस्वरूप इस प्रकारका है, कि 'अष्टावरण' धर्मपुरुषके शरीरमें ये पञ्चाचार, पाँच प्राण एवं षट् स्थल आत्माके समान हैं। देहधारीको चैतन्यरूपी प्राणादि वायुकी आवश्यकता है। प्राणवायु शरीरमें स्थिर रहनेतक आत्माका अस्तित्व भी बना रहता है। परमात्माके जो जल आदि आठ शरीर हैं, वे इस धर्मके अष्टावरण बन गये हैं। इस मतमें आठ ये शरीर हैं—गुरु, लिङ्ग, जङ्गम, विभूति, रुद्राक्ष, मन्त्र, पादोदक और प्रसाद और पञ्चाचारके नाम हैं—लिङ्गाचार, शिवाचार, सदाचार, भृत्याचार और गणाचार। आजन्म लिङ्गधारण करना, लिङ्ग[illegible] करना लिङ्गाचार है। लिङ्ग धारण करना भवरोग[illegible] दिव्यौषध है। उसके साथ नियमोंका पालन करना [illegible] महत्त्वपूर्ण है। सदाचार ही उसके लिये पथ्याहार है। यदि पथ्यका पालन न हुआ तो ओषधि अपना असर [illegible] दिखा सकेगी। शिवाचारमें अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्म[illegible] आदि दस धर्म आते हैं। धर्मसंकट दूर [illegible] गणाचार है। सबके साथ मिल-जुलकर नम्रताका व्यव[illegible] करना भृत्याचार है। आत्मस्वरूपके छः स्थल ये हैं—भक्त, महेश, प्रसाद, प्राणलिङ्ग, शरण एवं ऐक्य। इन सब तत्त्वोंका प्राण सदाचार ही है।

जीवात्मा परमात्माका स्वरूप तो है, किंतु वह आणव-मल, मायामल और कार्मिकमल—इन मलत्रयदोषसे बद्ध[illegible] वन्धित हो जाता है एवं आत्मस्वरूपको भूल जाता है। इस सांसारिक बन्धनसे मुक्ति गुरुकृपासे ही साध्य है। [illegible] अपने शिष्यके मलत्रयको हटाकर स्थूल-सूक्ष्म और [illegible] तीनों शरीरमें इष्टलिङ्ग, प्राणलिङ्ग और [illegible]

नाथ-सम्प्रदाय और सदाचार

(लेखक—श्रीसि० भ० देशमुख)

वैसे अब यह भलीभाँति सिद्ध हो गया है कि नाथ-प्रदाय एक प्रकारसे अनादि-सा है। महर्षि दत्तात्रेयने गोरखनाथजीकी चर्चा की है और पुराणोंमें इनका भी उल्लेख है। पर दसवीं-ग्यारहवीं शतीमें नाथ-प्रदायकी साधना-पद्धति भारतमें विशेष जोर पकड़ रही । उस समय बौद्धधर्मका पतन होता जा रहा था अतः का महत्त्व नष्टप्राय हो रहा था। इसी पार्श्वभूमिमें थ-सम्प्रदाय विशेषरूपसे संगठित हुआ। 'ज्ञानेश्वरी'में नेश्वरमहाराजने महायोगी गोरखनाथका 'विषय-वंसकवीर' इस यथार्थ विशेषणसे गौरव गान किया है। विशेषरूपसे उन्होंने केवल गोरखनाथकी ही नहीं, सारे थ-सम्प्रदायकी विशेषता बतलायी है। तान्त्रिकों और योंकि जो भी ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वे साधारण तौरपर यनमार्गकी व्याख्यापरक पद्धतियाँ ही हैं। उनमें दार्शनिक र नैतिक उपदेशोंका आभास बहुत कम मिलता है। तु नाथ-सम्प्रदायके योगियोंकी बानियोंके ग्रन्थोंमें ह-जगह सदाचार एवं नैतिक उपदेश दिखायी ते हैं। 'हठयोग-प्रदीपिका,' 'सिद्ध-सिद्धान्त-संग्रह,' रक्षसंहिता', 'अमरौघशासन', 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति', रखबानी'—इन सब ग्रन्थोंसे यह स्पष्ट हो जाता है ; यह सम्प्रदाय सदाचारके प्रति कितना सजग था।

'हठयोगप्रदीपिका'में स्वात्मारामयोगीन्द्रने अहिंसा, य, अस्तेय, दया, क्षमा आदि सत्-आचारोंकी वश्यकता प्रतिपादित की है, साथ-ही-साथ ह्मचर्यकी महिमा भी जगह-जगहपर बतायी गयी । सिद्धयोगी गोरखनाथने अपनी बानियोंमें निन्दनीय वं बुरी आदतोंपर कई स्थलोंपर टीका की है। हते हैं कि संयम करनेवाले व्यक्तिको ही 'जोगी' हते हैं, दूसरोंको नहीं—

जोगी सो जो राखै जोग। जिभ्या यंद्री न करै भोग।
अंजन छोडि निरंजन रहै। ताकूं गोरख जोगी कहै॥
(गोरखबानी २३०)

वे इसके आगे कहते हैं—'जोगी होकर जो परायी निन्दा करता है; मद्य, मांस और भाँगका सेवन करता है, उसके इकहत्तर सौ पूर्व पुरुष नरक चले जाते हैं'।

जोगी होइ पर निंद्या झषै। मद मांस अरु भाँगि जो भषै॥
इकोतरसै पुरिषा नरकहि जाई। सति सति भाषंत श्रीगोरख राई॥
(गोरखबानी १६४)

'जो अफीम खाता है और भाँगका भक्षण करता है, उसको बुद्धि कहाँसे आये। भाँग खानेसे पित्त चढ़ता है और वायु उतरती है, इसलिये गोरखने कभी भाँग न खायी'।

आफू खाय भाँगि भसकावै। ता मैं अकलि कहाँ तै आवै॥
चढ़ता पित्त उतरता बाई। तातै गोरख भाँगि न पाई॥
(गोरखबानी २०८)

'दया-धर्म सदाचारका मूल है। इसलिये श्रीगोरखनाथजी कहते हैं, हे अवधूतो! मांस खानेसे दया-धर्मका नाश हो जाता है, मदिरा पीनेसे प्राणमें नैराश्य आता है, भाँग खानेसे ज्ञान-ध्यान सब खो जाता है और ऐसे प्राणी यमके दरबारमें रोते हैं'—

अवधू मांस भषंत दया धर्मका नास।
मद पीवत तहाँ प्राण निरास॥
भाँगि भषत ग्यान ध्यान खोवंत।
जम दरबारी ते प्राणी रोवंत॥
(वही १६५)

असंयत व्यक्तिके लिये तो इस सम्प्रदायमें कोई स्थान ही नहीं है। असंयमित प्रवृत्तिपर गोरखनाथ और नाथयोगियोंने जगह-जगह कड़ी टीका की है। एक स्थलपर गोरखनाथजी कहते हैं कि जो इन्द्रियों-

शुद्धिके उपर्युक्त साधनसे स्वर्ग मिलता है एवं शिव-साक्षात्कार भी उपलब्ध होता है। सदाचार-पालनसे स्वर्गसुखका अनुभव हो जाय तो अनाचारमार्गसे नरकका अनुमान हो जायगा। इस सदाचार-विषयपर प्रत्येक शरण लोगोंने अपने ढंगसे बहुत सुन्दर प्रतिपादन किया है। तोंटदसिद्ध लिङ्गयतिने कहा है—

सत्यपथमें चलना और सत्य वचन बोलना—सदाचारका उद्देश्य है। सदाचारीको अपनी रोटीके लिये कमाना पड़ता है, उसके लिये दूसरेके आश्रय रहना उचित नहीं है। वह सदाचार-पालनसे ही भक्त तथा उद्योगशील बनेगा। उद्योग करनेसे गरीबी न रहेगी और दूसरेसे भीख माँगनेकी जरूरत नहीं पड़ेगी। वीरशैवधर्ममें उद्योगके लिये महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। स्वावलम्बी होना ही सदाचार-पालनका मर्म है। इसलिये सदाचारके नियमों-पर चलना सबका कर्तव्य है।

चौथा आचार 'भृत्याचार' माना गया है। भृत्याचार-का अर्थ सेवाभावसे आचरण करना है। सेवाधर्म जीवनमें आना चाहिये। सेवाभावसे अहङ्कार, ममकार टूट जाता है और नम्रता आती है। नम्रभाव मानवके व्यक्तित्वको ऊँचा उठा देता है। परमादरणीय हानगल्के कारगिन-पुरुष कुमारशिवयोगीजीने भगवान्‌से ऐसी प्रार्थना की है—'हे शङ्कर! आप सदा अपने किङ्करोंकी रक्षा करें।' इससे ज्ञात होता है कि सेवाधर्मसे चलनेवालोंकी रक्षा जरूर होती है। बसवेश्वरजी ज्ञान-भक्तिके भंडार होते हुए भी बहुत विनम्रभावसे रहते थे और कहते थे 'भक्तिका मूल भृत्याचार है। भृत्याचारसे भक्त शिवको अत्यन्त प्रिय होता है। [illegible] अनुकम्पा और सेवाभाव विराजित रहते हैं। [illegible] गांधी श्रेष्ठ भृत्याचारी हुए, उनमें वे सब गुण [illegible] थे। भृत्याचारीको सदा शान्ति मिलती है।'

पाँचवें आचारका नाम 'गणाचार' है। [illegible] होना, अन्याय, अनाचार और दुर्मार्गका प्रतिरोध [illegible] ही गणाचारका लक्ष्य है। स्वधर्मका पालन करते हुए परधर्मके प्रति सहिष्णु बनना चाहिये। गणाचारसे पुरु[illegible] जाग्रत् हो जाता है। आत्मसाक्षात्कारमें धैर्य[illegible] आवश्यकता है। बलहीनको भगवान् नहीं मिल[illegible] और उससे धर्मरक्षणका काम भी नहीं है[illegible] इसलिये गणाचारका आश्रय करना आवश्यक है[illegible] संविधानका सिद्धान्त भी गणाचारसे युक्त है।

इस प्रकार वीरशैवमतमें लिङ्ग धारण क[illegible] शिवभावसे सम्पन्न होकर सदाचार (पञ्चा[illegible] पालन करना पड़ता है और भृत्याचारसे विन[illegible] अपने धर्मके प्रति श्रद्धावान् भी बनना पड़ता है[illegible] शिवसाक्षात्कार (लिङ्गाङ्गसामरस्य)का मार्ग [illegible] होगा और उन्हें जीवन्मुक्त बननेका अवसर मिले[illegible] वीरशैवमतके ये पाँच आचार आदरणीय एवं अनु[illegible] हैं। सामान्य सदाचार वीरशैवमतके पञ्चाचारके अ[illegible] बना है। इसमें [illegible] सुन्दररूपसे [illegible] निहित

सदाचारके साक्षी भगवान्

[illegible] ही हमारे पूज्य हैं। अहिंसा ही धर्म है। [illegible] सर्वाकार [illegible] ही [illegible] भक्ति है। [illegible] हैं। [illegible] आप साक्षी हैं।

[illegible]

शील पालनीय हैं। इसका नियम यह है कि अष्टशील ग करनेवाला व्यक्ति किसी भिक्षुके सम्मुख श्रद्धा-त्रताके साथ उपस्थित होकर उसे तीन बार नमस्कार त्रिशरण ग्रहण करे तथा निम्नलिखित अष्टशील ले—

(१) प्राणातिपातः वेरमणी सिक्खापदं ादियामि—मैं प्राणि-हिंसासे विरत रहनेकी शिक्षा ग करता हूँ। (२) अदिन्नादाना वेरमणी क्खापदं समादियामि—मैं चोरीसे विरत रहनेकी ा ग्रहण करता हूँ। (३) अब्रह्मचरिया वेरमणी क्खापदं समादियामि—मैं अब्रह्मचर्यसे विरत रहनेकी ा ग्रहण करता हूँ। (४) मुसावादा वेरमणी क्खापदं समादियामि—मैं झूठ बोलनेसे विरत की शिक्षा ग्रहण करता हूँ। (५) सुरामेरयमज्ज-दट्ठाना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि—सुरा, मैरेय, मद्य और नशीली चीजोंके सेवनसे ा रहनेकी शिक्षा ग्रहण करता हूँ। (६) विकाल-ना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि—मैं असमय-भोजनसे विरत रहनेकी शिक्षा ग्रहण करता हूँ।) नच्चगीतावादित विसूकदस्सन मालागंध-लेपन-धारण मण्डन-विभूसनट्ठाना वेरमणी क्खापदं समादियामि—मैं नाच-गान, बाजा और तमाशे तथा मेला आदि देखने तथा फूल, माला और न्ध-लेपनादिको धारण करने एवं शरीर-शृङ्गारके लिये ी प्रकारके आभूषणकी वस्तुओंको धारण करनेसे ा रहनेकी शिक्षा ग्रहण करता हूँ। (८) उच्चास-' महासयना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि—बहुत ऊँची और महार्घ शय्यापर सोनेसे विरत की शिक्षा ग्रहण करता हूँ।

ोष बात—

बौद्धोंके जीवनमें वन्दना, परित्राण, संस्कार, व्रत-ार एवं तीर्थोंकी बड़ी महिमा है। चूँकि इन सबका ा सम्बन्ध शील-सदाचारसे है, अतः इनका भी संक्षेपमें वर्णन किया जा रहा है—

वन्दना

वन्दना बुद्धकी, धर्मकी, संघकी, चैत्यकी और बोधि (वृक्ष)की की जाती है। फिर बुद्ध-पूजा पुष्प, धूप, सुगन्धि, प्रदीप और आहारसे निम्नलिखित संकल्पके साथ होती है—

इमाय धम्मानुधम्म-पटि पत्तिया बुद्धं पूजेमि।
इमाय धम्मानुधम्म-पटि पत्तिया धम्मं पूजेमि।
इमाय धम्मानुधम्म पटि पत्तिया संघं पूजेमि॥१॥

'इस धर्मकी प्रतिपत्तिसे मैं बुद्ध, धर्म, संघकी पूजा करता हूँ।'

श्रद्धा इमाय पटि पत्तिया जाति जरा मरणम्हा परि मुचिस्सामि॥ २॥ निश्चय ही इस प्रतिपत्तिसे जन्म, बुढ़ापा और मृत्युसे मुक्त हो जाऊँगा।'

इमिना पुञ्ञकम्मेन मा मे बाल समागमो।
सतं समागमो होतु या निब्बानपत्तिया॥३॥

'इस पुण्यकर्मसे निर्वाण प्राप्त करनेके समयतक कभी भी मूर्खोंसे मेरी संगति न हो, सदा सत्पुरुषोंकी संगति हो।'

देवोवस्सतु सस्ससम्पत्ति हेतु च।
फीतो भवतु लोको च राजा भवतु धम्मिको॥४॥

'फसलकी वृद्धिके लिये समयपर पानी बरसे, संसारके प्राणी उन्नति करें और शासक धार्मिक हों।'

परित्राण—परित्राण-पाठ अपने मङ्गलके लिये किया जाता है। यों तो परित्राण-पाठके लिये कितने ही सूत्र हैं, किंतु इनमें आवाहन, महामङ्गलसूत्र, करणीय मेत्त-सुत्त, महामङ्गल-गाथा, पुण्यानुमोदन तथा जयमङ्गल अट्ठगाथा प्रमुख हैं। कहा गया है कि इन पाठोंसे मनुष्यका कल्याण होता है, भूत-प्रेतोंके उपद्रव शान्त होते हैं, रोग भाग जाते हैं, देवताओंकी रक्षा बनी रहती है, मिथ्या-दृष्टि दूर होती है और शीलता-सदाचारिताका आगम होता है। इससे काम-तृष्णा नष्ट होती है, पुनर्जन्मसे मुक्ति

के सम्बन्धमें अगाध है, [illegible] पृथक् नहीं करते हैं, ये मानो प्रत्यक्ष भी हैं । [illegible] संयम रखनेवाला, [illegible] ही उत्तम पुरुष, [illegible] कहा जाता है ।

> [illegible]
> [illegible] ॥
> [illegible] ।
> [illegible] ॥ ([illegible])

इस प्रकार [illegible] आदि [illegible] और [illegible] है । इन [illegible] आचार-शुद्धिकी प्रधान पृष्ठभूमि तैयार करती है।

बौद्ध-सदाचार

(लेखक—डॉ० श्रीमहेश्वरीसिंहजी महेश, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

भारतीय बौद्धधर्म पूर्वोत्तर एशियामें अपनी शाश्वतता, चिरन्तनता, अमरता, व्यावहारिकता तथा आदर्शवादिताके लिये अब भी विख्यात है । इसमें शील एवं सदाचारका बड़ा ही महत्त्व है । पञ्चशील, अष्टशील एवं प्रव्रज्याशील सदाचारके ही विविध भेद हैं । गृहस्थोंके लिये पञ्चशील एवं अष्टशील पालनीय हैं एवं भिक्षुओंका इन युगल शीलोंके अतिरिक्त प्रव्रज्याशील भी कर्तव्य है । बौद्धधर्म ग्रहण करनेवाले किसी गृहस्थके लिये यह आवश्यक है कि वह किसी भिक्षुसे त्रिशरणके साथ पञ्चशील ग्रहण करे और तभी वह बौद्ध हो जायगा । बौद्ध-धर्मसे त्रिशरणसहित पञ्चशील ग्रहण करनेकी विधि निम्नाङ्कित है—

नमस्कार—

नमो तस्स भगवतो अरहंतो सम्मासम्बुद्धस्स ।
उन भगवान् अर्हत् सम्यक् सम्बुद्धको नमस्कार है ।

त्रिशरण

बुद्धं सरणं गच्छामि—मैं बुद्धकी शरण जाता हूँ ।
धम्मं सरणं गच्छामि—मैं धर्मकी शरण जाता हूँ ।
संघं सरणं गच्छामि—मैं संघकी शरण जाता हूँ ।

नमस्कार और त्रिशरणको तीन-तीन बार कहना चाहिये ।

पञ्चशील

त्रिशरणके बाद पञ्चशीलका विधान है, जो इस प्रकार है—(१) **पाणातिपाता वेरमणी सिक्खापदं समादियामि**—मैं प्राणि-हिंसासे विरत रहनेकी शिक्षा ग्रहण करता हूँ । (२) **अदिन्नादाना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि**—मैं चोरीसे विरत रहनेकी शिक्षा ग्रहण करता हूँ । (३) **कामेसु मिच्छाचारा वेरमणी सिक्खापदं समादियामि**—मैं व्यभिचारसे विरत रहनेकी शिक्षा ग्रहण करता हूँ । (४) **मुसावादा वेरमणी सिक्खापदं समादियामि**—मैं झूठ बोलनेसे विरत रहनेकी शिक्षा ग्रहण करता हूँ । (५) **सुरा मेरय मज्ज पमादट्ठाना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि**—मैं सुरा, मैरेय, मद्य और नशीली चीजोंके सेवनसे विरत रहनेकी शिक्षा ग्रहण करता हूँ ।

अष्टशील

प्रत्येक मासकी अष्टमी, पूर्णिमा और अमावास्या ये चार तिथियाँ उपोसथ व्रत रहनेकी हैं । इन तिथियोंमें

'धम्मपद'में प्रतिपादित सदाचार-पद्धति

(लेखक—डॉ० श्रीनाथूलालजी पाठक)

'धम्मपद' बौद्धधर्मका सबसे अधिक लोकप्रिय ग्रन्थ है। बौद्ध सिद्धान्तों और साधनामार्गका ज्ञान करानेवाला ऐसा सरल ग्रन्थ दूसरा नहीं है। सिंहली-परम्पराके अनुसार तो धम्मपदके पारायणके बिना किसी भिक्षुकी 'उपसम्पदा' ही नहीं होती। बर्मा, स्याम, कम्बोडिया और लाओसमें प्रत्येक भिक्षुके लिये इसे कण्ठस्थ करना परमावश्यक है। भगवान् बुद्धके उपदेशोंके इस सुन्दर संग्रहमें नैतिक दृष्टिकी पर्याप्त गम्भीरता विद्यमान है। हिंदुओंमें श्रीमद्भगवद्गीताको जिस सम्मानपूर्ण दृष्टिसे देखा जाता है, उसी उत्कृष्ट भावना और सम्मानसे बौद्धमतावलम्बी 'धम्मपद'को देखते हैं। इसे बौद्धोंकी गीता कहना युक्तिसंगत जान पड़ता है। इसकी शिक्षाएँ सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक हैं। इसमें चार आर्यसत्य, अष्टाङ्गिक मार्ग और विविध प्रकारके सदाचारोंका उल्लेख हुआ है। इसमें वर्णित सदाचारके पालनसे असंख्य दुःख-संतप्त मानवोंका उद्धार हुआ है। इसमें जीवनको आदर्शके साँचेमें ढालनेवाले सत्कर्मकी महत्ताका प्रतिपादन किया गया है। वैयक्तिक शान्ति चाहनेवाले तथा गृहस्थाश्रममें रहते हुए शान्तिके इच्छुक दोनों प्रकारके व्यक्तियोंके लिये—क्रमशः भिक्षुधर्म और गृहस्थधर्मकी शिक्षा देनेवाला यह अनुपम ग्रन्थ है।

बौद्धधर्म प्रधानतः आचारप्रधान धर्म है। इस धर्ममें नैतिक आचरणको बड़ा महत्त्व दिया गया है। धम्मपदमें प्रमुखरूपसे उन सभी नैतिक सदाचारके नियमोंका उल्लेख हुआ है, जिनके अनुसार आचरण करनेसे मानवको अपने चरमलक्ष्य—दुःखोंकी निवृत्तिकी प्राप्ति होती है। बौद्धधर्मके मूल आधार चार आर्य सत्य इस प्रकार हैं—(१) संसारमें दुःख है, (२) इस दुःखकी उत्पत्ति होती है, (३) दुःखका विनाश होता है और (४) इस दुःखके विनाशके मार्ग भी हैं। दुःखके विनाशका एकमात्र साधन अष्टाङ्गिक मार्ग है। इस मार्गमें आठ बातें हैं—सम्यक्दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक्वचन, सम्यक्कर्मान्त, सम्यक्आजीव, सम्यक्व्यायाम, सम्यक्स्मृति और सम्यक्समाधि। इस अष्टाङ्गिक मार्गके आधारपर दुःखोंसे छुटकारा पानेके लिये अनेक नैतिक नियमोंका या सदाचरणोंका उल्लेख 'धम्मपद'में किया गया है। ये शीलसम्बन्धी नियम प्रायः सभी धर्मोंमें किसी-न-किसी रूपमें विद्यमान हैं। अतः ये अनुसरणीय हैं।

'धम्मपद'में वाचिक, मानसिक और कायिक संयमपर बड़ा बल दिया गया है। मग्गवग्ग (२०)की एक गाथा (२८१) में कहा गया है—

वाचानुरक्खी मनसा सुसंवुतो
कायेन च अकुसलं न कयिरा
एते तयो कम्मपथे विसोधये
आराधये मग्गमिसिप्प वेदितं

—वाणीकी रक्षा करे, मनसे संयमी बने और शरीरसे कोई बुरा काम न करे। इन तीन कर्मपथोंकी शुद्धि करे और ऋषियोंके बतलाये हुए मार्गका सेवन करे। विशेषरूपसे इसमें मनके संयमको प्राथमिकता दी गयी है। 'धम्मपद'के प्रथम 'यमकवग्ग'की प्रथम गाथा मानसिक संयमका निर्देश करती है। मनुष्यकी सारी प्रवृत्तियोंका प्रारम्भ मनसे होता है। यही धर्मका पूर्वगामी है। यदि मन दुष्ट है तो मनुष्यका आचरण दुष्टतापूर्ण होता है। मनके दुष्ट होनेपर वाणी और कर्म भी कलुषित हो जाते हैं और परिणाममें मनुष्यको दुःख भोगना पड़ता है—

मिलती है, अपशकुन, अप्रिय शब्द, बुरे स्वप्न, बुरे ग्रह सबके रूप नष्ट होते हैं, पृथ्वी और आकाशपर रहनेवाले देव और नाग चिरकालतक रक्षा करते हैं एवं सब प्रकार उपद्रवोंसे मुक्त होकर मोक्ष (निर्वाण) सुख भी प्राप्त हो जाता है।

संस्कार-संस्कार व्यक्तिको सुसंस्कृत और सुसभ्य बनाते हैं। बौद्धोंमें प्रारम्भसे ही अनेक संस्कार आ रहे हैं। जन्मसे मरणतक गब्भमङ्गल, नामकरण, अन्नप्राशन, केसकप्पन, कण्णविज्झन (कर्णवेध), विद्यारम्भ, विवाह, प्रव्रज्या, उपसम्पदा तथा दाहकम्म एवं मतकमत्त (श्राद्ध)के संस्कार मनुष्यको सुखी, सम्पन्न, शीलवान्, सदाचारी और मोक्षाधिकारी बनाते हैं।

व्रत-त्यौहार-व्रत-उपवासके लिये प्रत्येक मासमें दोनों अष्टमियाँ, पूर्णिमा और अमावस्या नियत हैं। इन तिथियोंमें अष्टशील पालनीय हैं। इनके अतिरिक्त कुछ पर्व और महापर्व ये हैं—वैशाखी पूर्णिमा, आषाढ़ी पूर्णिमा, आश्विन पूर्णिमा, माघी पूर्णिमा, नागपञ्चमी, विजयादशमी, दीपावली, वसन्त और होली। व्रत-त्यौहारके दिनोंमें पूजा, वन्दना, दान आदि पुण्यकर्म किये [illegible] हैं। ये पूजा-त्यौहार दैविक, दैहिक एवं [illegible] सम्पदाओंसे मनुष्यको शीलवान्, चरित्रवान्, [illegible] और मुक्ति-निर्वाणाधिकारी बनाते हैं।

तीर्थयात्रा-बौद्धधर्मानुसार लुम्बिनी, बुद्धगया, [illegible] और कुशीनगर इन महातीर्थोंके अतिरिक्त अन्य भारतमें [illegible] हैं—राजगृह, वैशाली, नालन्दा (विहारमें), कौशाम्बी, पावा, सांकाश्य, श्रावस्ती (उत्तरप्रदेशमें), कपिलवस्तु (नेपालकी तराईमें), भरहुत, उज्जैन, बाघ, [illegible] माहिष्मती, साँची, मेलसा, ललितपुर (मध्यप्रदेशमें), कार्ला, भाजा, कन्हेरी (महाराष्ट्रमें), अजन्ता, एलोरा, नागार्जुनी, कोंडा, अमरावती (आन्ध्रप्रदेशमें) [illegible] नागपट्टम्, श्रीमूलवासन् (तमिलनाडमें), जूनागढ़, [illegible] सिद्धसर, तलजा, सनाह, वलभी काम्पिल्य (गुजरातमें) और तक्षशिला एवं पेशावर (पाकिस्तानमें)।

तीर्थ-यात्रासे मनुष्यमें ज्ञान, बुद्धि, विवेक, [illegible] और विचार आते हैं एवं वह स्वस्थ, सुखी, [illegible] और श्रद्धावान् बनता है।

सहनशीलता

भगवान् बुद्ध किसी जन्ममें भैंसेकी योनिमें थे। जंगली भैंसा होनेपर भी बोधिसत्त्व अत्यन्त शान्त थे। उनके सीधेपनका लाभ उठाकर एक बंदर उन्हें बहुत तंग करता था। वह कभी उनकी पीठपर कूदता, कभी उनके सींग पकड़कर हिलाता और कभी पूँछ खींचता था। कभी-कभी तो उनकी आँखमें अँगुली भी डाल देता था। परंतु बोधिसत्त्व सदा शान्त ही रहते थे। यह देखकर देवताओंने कहा—'ओ शान्तमूर्ति! इस दुष्ट बंदरको दण्ड देना चाहिये। इसने तुमको क्या खरीद लिया है या तुम इससे डरते हो?'

बोधिसत्त्व [illegible] बंदरने [illegible] खरीदा है, न मैं इससे डरता हूँ। इसकी दुष्टता भी मैं [illegible] अपने सींगोंसे इसे फाड़ डालनेका बल भी मुझमें है। [illegible] होकर सभी सहन कर [illegible] [illegible] माला)

ार जाति और वर्णका बन्धन स्वीकार नहीं किया। वे सदाचारशील व्यक्तिको ही श्रेष्ठ बतलाते हैं। चारसे ही इहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदयकी ः हो सकती है। पुण्य करनेवाले सदाचारीके लिये ' गया है कि वह यहाँ आनन्दित होता है, परलोकमें आनन्दित होता है अर्थात् दोनों लोकोंमें आनन्दित । है। इसके विपरीत धम्मपदमें दुःशील और पर चित्तवाले व्यक्तिकी स्थितिका स्पष्टीकरण इस र किया है—

च वस्ससतं जीवे दुस्सीलो असमाहितो।
ाहं जीवितं सेय्यो सीलवन्तस्स झायिनो॥
(८।११०)

'दुराचारी, असंयत और असमाहित व्यक्तिके वर्षतक जीवित रहनेकी अपेक्षा शीलवान् और ीका एक दिनका जीवन श्रेष्ठ है।' बौद्ध-आचार-अप्पमाद (अप्रमाद) या श्रमकी बड़ी प्रशंसा की है। 'अप्पमादो अमतपदं' कहकर इसे अमृतका निर्वाणका प्रवेशद्वार बताया गया है। सदाचारके र्गत श्रमकी महिमाका बखान करते हुए कहा गया के—'अप्पमादेन मघवा देवानं सेट्ठतं गतो।' । ३०)—प्रमादसे रहित होनेके कारण इन्द्र में श्रेष्ठ गिने गये।

'धम्मपद'में लोगोंको पापकर्मसे दूर रहनेका उपदेश । गया है। बुद्धने इस स्थितिका सूक्ष्म निरीक्षण किया है इसपर जो विचार व्यक्त किये हैं, वे इस प्रकार हैं—

धु मञ्ञती बालो याव पापं न पचति।
दा च पचति पापं अथ दुक्खं निगच्छति॥
(५।६९)

'जबतक पापकर्मका परिपाक नहीं होता, तबतक मनुष्य उसे (पापको) मधुकी भाँति मीठा समझता किंतु जब पापकर्म फल देने लगता है, तब कर्ता सका अनुभव करने लगता है। पापके फलसे मनुष्य-को मुक्ति नहीं मिल सकती। आकाशमें, समुद्रमें, पर्वतकी गुफाओंमें—कहीं भी ऐसा स्थान विद्यमान नहीं है, जहाँ प्रवेश करनेपर मनुष्य पापकर्मसे मुक्ति पा सके'—

न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे
न पब्बतानं विवरं पविस्स।
न विज्जती सो जगतिप्पदेसो
यत्थट्ठितो मुच्चेय्य पापकम्मा॥
(९।१२७)

'पाप हो जानेपर क्या किया जाय'—इस सम्बन्धमें तथागत मनुष्योंको निराश नहीं करते। उनका कहना है कि 'यदि पाप हो ही गया हो तो उसे अपने सुन्दर कर्मोंसे ढँक देना चाहिये। ऐसा करनेपर वह व्यक्ति इस लोकको इस प्रकार प्रकाशित करता है, जैसा मेघसे मुक्त चन्द्रमा प्रकाशित करता है। कोई व्यक्ति सदाके लिये पापी नहीं हो जाता। शारीरिक, वाचिक और मानसिक दुश्चरितोंका परित्याग कर देनेपर मनुष्य सदाचारी बन सकता है।' इसीके 'दण्डवग्ग'में कहा गया है कि 'मनुष्य-को अहिंसावृत्ति धारण करनी चाहिये। सभी प्राणी दण्डसे डरते हैं, मृत्युसे डरते हैं, सबको जीवन प्रिय है और सभी सुख चाहते हैं। ऐसी दशामें अपने सुखकी इच्छासे किसी दूसरे प्राणीकी हिंसा करना उचित नहीं है। प्राणियोंकी हिंसा करनेवाला आर्य नहीं है। जो सब प्राणियोंके प्रति अहिंसावृत्ति रखता है, वही मनुष्य आर्य कहा जाता है'—

न तेन अरियो होति येन पाणानि हिंसति।
अहिंसा सब्बपाणानं अरियो'ति पवुच्चति॥
(१९।२७०)

'धम्मपद'की आचार-पद्धतिमें प्रारम्भसे अन्ततक सद्भाव-ग्रहणकी ओर विशेष ध्यान दिलाया गया है। सद्भाव-ग्रहणसे भौतिक सुखोंकी प्राप्ति भले न हो, किंतु आत्मिक शान्ति अवश्य मिलती है। इसके प्रथम वग्गमें कहा गया है कि यह विचार ही मन

वी' वाली बातकी तरह है। अतः साधक अथवा मानव वही माना जायगा, जो अनासक्त भावसे संसार-उपभोग करेगा। संसारमें आसक्ति ठीक नहीं—

'...बनिता दि जानि स्वारथरत न करु नेह सबही ते।'
(विनयप० १९८।२)

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' इस (त्रिपुरातापनी उप० ५।३) वचनके अनुसार यह मन ही हमारे बन्धन और मुक्तिका कारण है। यदि इस मनको स्वच्छ बना लिया जाय तथा इसको स्वाभिभूत कर लिया जाय तो मुक्त हुआ जा सकता है। गोस्वामी श्री-तुलसीदासजी विनयपत्रिका (१२४।१)में कहते हैं—

निज मन परिहरै बिकारा।
तौ कत द्वैत-जनित संसृति-दुख, संसय, सोक अपारा॥

यदि 'मैं-मेरा' और 'तू-तेरा'का प्रश्न ही समाप्त हो जाय तो जीवनमें नाना प्रकारके संशय-शोकके अवसर ही न आयें!

मनकी तीन स्थितियाँ हैं—

...शत्रु, मित्र, मध्यस्थ तीनि ये मन कीन्हें बरिआई।
त्यागन, गहन, उपेच्छनीय अहि, हाटक तृनकी नाईं॥
(विनयप० १२४।२)

इन तीनों स्थितियोंके कारण ही संघर्षोंकी नींव पड़ी है, अतः इनको त्यागकर अपने मनको निर्मल बनाना चाहिये, जिससे—'वसुधैव कुटुम्बकम्'की भावना ...न हो सके। संसारमें मनुष्यका मन विषय-वासनाओं-की ओर अधिक जाता है, जिससे राग-द्वेषकी भावनाएँ ...त्र होती हैं। इसीलिये हम निरन्तर जन्म-मरणके ...में फँसे रहते हैं एवं यातनाएँ भुगतते हैं—

...र्शन नहिं निज हृदि प्रकास, अरु बिषय आस मनमाहीं।
...तुलसिदास तबलगि जग-जोनि भ्रमत सपनेहुँ सुख नाहीं॥
(विनयप० १२३।५)

...ते वशमें करना सदाचरणका प्रथम साधन है। यह मन बहुत अकर्मण्य है, निरन्तर विषयोंमें लिप्त रहता है, जिससे अनेक सांसारिक कष्ट भोगने पड़ते हैं—

बिषय-बारि मन-मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।
ताते सहौं बिपति अति दारुन, जनमत जोनि अनेक॥
(विनयप० १०२।३)

विषयोंके साथ इस मनकी ऐसी ममता है कि रात-दिन उसके साथ जुटा रहता है—एक पलके लिये विश्राम नहीं लेता—

कबहूँ मन बिश्राम न मान्यो॥
निसिदिन भ्रमत बिसारि सहज सुख, जहँ तहँ इंद्रिन तान्यो।
(विनयप० ८८।१)

यह मन अपने सहज स्वरूपको भूलकर न जाने कहाँ-कहाँ इन्द्रियपराभूत होता रहता है। परमार्थ-साधनामें यह मन कभी नहीं लगता। इसलिये इस मनपर नियन्त्रण अवश्य करना चाहिये। इसी मनकी कुचालसे तंग आकर तुलसीदास कहते हैं—

कहँ लौं कहौं कुचाल कृपानिधि! जानत हौ गति जनकी।
(विनयप० ९०।४)

विनयपत्रिका सदाचारके क्षेत्रमें मनके बाद वाणी-की महत्ताका प्रतिपादन करती है। वाणीसे अनृत बात निकालना उसकी मलिनताका द्योतक है और सत्य-कथा उसकी पवित्रता है। तुलसीदासजीने विनय-पत्रिकामें वाणीकी सत्यतापर विशेष जोर दिया है। वाणीसे किसीकी निन्दा नहीं करनी चाहिये।

आधि-मगन मन, ब्याधि-बिकल तन, बचन मलीन झुठाई।
(विनयप० १९५।४)

साथ ही जीभकी भी खबर लेते हैं—

'जीह हूँ न जप्यो नाम, बक्यो आउ-बाउ मैं।'
(विनयप० २६१।२)

अभिमान मनुष्यको अवनतिके गर्तमें ले जाता है, जहाँसे फिर यथावत् ऊपर उठना अति दुर्भर हो जाता है। इस तथ्यको सामान्यतः प्रायेण धर्मशास्त्री जानता है। इसीलिये 'विनयपत्रिका' अभिमान-त्यागको अति

[illegible]हो जाता है। उसमें शक्ति और आत्मबल [illegible]—

[illegible]न सबको मत यह सतसंग सुदृढ़ धरिये।
[illegible]मान मोह इरिषा बस तिनहिं न आदरिये॥
(विनयप० १८६।४)

[illegible]समागमसे 'निज' और 'पर' भेद-बुद्धिका [illegible]जाता है। साधु-समागमके प्रभावसे सर्वत्र परमात्म-[illegible] जाती है जो संसारको पावन करती हुई [illegible]तार देती है।

[illegible]दाचारी व्यक्ति कैसा होता है'—इस सम्बन्धमें [illegible]जीने तत्सम्बन्धी कुछ लक्षण गिनाये हैं—वे संत-[illegible]की व्याख्या करते हुए अपनेको संतोंके आचरण-[illegible]कूल रखनेका संकल्प करते हुए कहते हैं—

[illegible]हों यहि रहनि रहौंगो।
[illegible]प-कृपालु-कृपा तें संत-सुभाव गहौंगो॥
[illegible]म संतोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो।
[illegible]-निरत निरंतर, मन क्रम बचन नेम निबहौंगो॥
[illegible]चन अति दुस्सह श्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
[illegible]मान, सम सीतल मन, पर-गुन नहिं दोष कहौंगो॥
[illegible] देह-जनित चिंता, दुख सुख सम-बुद्धि सहौंगो।
(विनयप० १७२।१-४)

[illegible]रोपकार सदाचारका प्राण है। अठारहों पुराणों तथा विश्वके अन्य सभी सम्प्रदायके ग्रन्थोंमें परोपकारको ही सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। इस परोपकारको सर्वश्रेष्ठ बताते हुए गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी भी 'विनय-पत्रिका'-में कहते हैं—

काहु कहा नरतनु धरि सार्यो।
पर-उपकार सार श्रुति को जो, सो धोखेहु न बिचार्यो॥
(विनयप० २०२।१)

इस मानव-शरीरको धारण करनेसे क्या लाभ? यदि यह शरीर किसीके काम न आये।

लाभ कहा मानुष-तनु पाये।
काय-बचन-मन सपनेहुँ कबहुँक घटत न काज पराये॥
(विनयप० २०१।१)

वास्तवमें सब जीवोंका हितैषी सत्यनिष्ठ, प्रेम-नेम और भक्तिमें निरत प्राणी ही धन्य है जो—

सर्बभूत-हित, निर्ब्यलीक चित, भगति-प्रेम दृढ़, नेम, एकरस।'
(विनयप० २०४।१)

इस प्रकार 'विनय-पत्रिका' आचारके आदर्शोंसे पूर्णरूपेण परिपुष्ट है। भक्त तुलसीने इन आचारोंको भक्तिका सोपान माना है। इस प्रकार विनय-पत्रिकामें अभिव्यक्त गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके भाव एवं विचार सदाचारके प्रबल प्रेरक हैं।

सदाचारके आठ शत्रु-मित्र

शिष्टाचरण की ले शरण, आचार दुर्जन त्याग दे।
मन इन्द्रियाँ स्वाधीन कर, तज द्वेष दे, तज राग दे॥
सुख-शान्तिका यह मार्ग है, ऋषि-संत कहते हैं सभी।
दुर्जन-दुराचारी नहीं पाते अमर पद हैं कभी॥

[illegible]से कर मित्रता, श्रद्धा सहेली ले चला।
तितिक्षाको पकड़, प्रिय स्वार्थका कर त्याग आ॥
[illegible] शुभ भावना, भर धैर्यका सम्मान कर।
[illegible] मित्र ये, कल्याणकर भयभीत-हर॥

यह क्रोधसे अति दूर हो, आ इसके तू पास आ।
तज कामसे मद लोभ से, कर गर्वसे [illegible] आ॥
आलस्य मत कर भूल भी, ईर्ष्या न कर मत्सर न कर।
हैं आठ ये वैरी प्रबल, इन वैरियोंसे भाग डर॥

—[illegible]

समर्थ-सम्प्रदायके सदाचार-सिद्धान्त

(लेखक—डॉ० श्रीकेशव विष्णु मुळे)

रु संत श्रीसमर्थ रामदास स्वामी महाराजने
प्रदाय'का प्रवर्तन किया, वह समर्थ-सम्प्रदाय
चि सूत्रोंमें निम्न प्रकारसे निर्दिष्ट है—

सना, विमल ज्ञान, वीतराग, ब्राह्मण्यरक्षण'
कक्षण। ऐसें पंचधा बोलिलें। इतुकें पाहिजे
। म्हणिजे सकळ ही पावलें। म्हणे दासानुदास॥

दायिक विशुद्ध उपासना, विमल ज्ञान, वैराग्य,
ह्मण्यका रक्षण और गुरुपरम्पराका शुद्ध और सत्यमार्गसे
लन करनेसे सम्प्रदायका कार्य पूर्ण होगा।'
रामदास स्वामीजीने समर्थ-सम्प्रदायकी 'सदाचार-
ा' स्वरचित 'दासबोध', 'मनोबोध' आदि विभिन्न
में दी है, जिसके अनुसार इस सम्प्रदायके व्यक्तिमें
लिखित गुण अवश्य होने चाहिये—१-लेखन—
और सुन्दर अक्षरोंसे लेखन करना। २-पठन—
उच्चारणोंमें पढ़ना। ३-अर्थान्तर—जो पढ़ा है,
का सहज और सुलभ अर्थान्तर करना। ४-आशङ्का-
त्ति—श्रोतृवर्गकी शङ्काओंका समाधानकर्ग .
प्रतीति—स्वानुभव एवं
वान करनेके
स्यक है।

४-राजनीति, ५-अव्यग्रता, ६-देशकाल-परिस्थितिका
अचूक अध्ययन, ७-उदासीनता अर्थात् संसारसे
अलिप्तता, ८-समानता अर्थात् छोटे-बड़े सबको समाधान
देना और ९-रामोपासना अर्थात् रामभक्तिद्वारा जन-
मानसका संस्कार और भक्तिके साथ-साथ अध्यात्म-
साधना। इन गुणोंसे युक्त व्यक्ति ही समर्थ-सम्प्रदायका
'उपदेशक' बन सकता है। ऐसे ही शिष्य एवं उपदेशक
देश, काल और परिस्थितिका सम्यक् आकलन करते
हुए अव्यग्रता, समानता तथा जनताजनार्दनको प्रसन्न
करनेके उद्देश्यसे सम्प्रदायका प्रभावी प्रचार कर
सकते हैं एवं अपने गुणों और रामभक्तिके द्वारा
जनमानसमें भक्ति और सदाचारका अमिट संस्कार भी
स्थापित करते हैं—'पंथ स्थापी अनंत भक्तिपंथे।'
सम्प्रदायी व्यक्तिके लिये आचारका अनुशासन भी था।
'आचार राखणें आधी। स्नान संध्या पवित्रता॥'
इनमें निम्न अनुशासन मुख्य हैं—

१-आचार-शुद्धि, २-न्याय और नीतिकी रक्षा,
...के माध्यमसे प्रेमी भगवज्जनोंका शोध, ४-अनास
... होकर अखिल कार्य करना—
...में महत्त्वपूर्ण थे।
...इन पवित्र गुणों के अनुशासनमें
...' और 'मनाचेश्लोक'द्वारा
... जनमानस ... उत्तर-
... था।
... निवारण। तुम्हां ...।
... ...'
(दासबोध)

अचूक रीतिसे करना—यह समर्थ-सम्प्रदायका उद्देश्य रहा है। ऐसे सम्प्रदायीके लिये श्रीसमर्थ रामदासस्वामीजीने 'आचार-संहिता' का विस्तृत उपदेश किया है, जो इस प्रकार है—

साधकको सामान्यजनोंमें कार्य करते समय विभिन्न प्रकृतिके लोग मिलते हैं। इन सभीके अपने मधुर भाषण तथा भगवद्भक्तियुक्त प्रवचनोंद्वारा क्लेश दूर करें और भगवद्भजनद्वारा सारी दुनियामें भक्तिभाव वर्धित करनेका प्रयत्न करें; पर इस कार्यके लिये भी स्वयं निधिसंग्रह न करें। लोगोंके कटु वचन सहनकर भी किसीका दोष नहीं कहना चाहिये, क्योंकि—

'पेरिलें ते उगवते। उसने घावें घ्यावें लागते।'

(दासबोध)

जैसा बोया वैसा पाया जाता है या जैसा दिया जाता है वैसा ही लेना भी पड़ता है। साधकको मितभाषी होकर ही लोगोंका समाधान करना चाहिये। क्रोधमें किसीको कटुवचन कहते हुए उसे व्यथित करना उचित नहीं। जबतक सम्प्रदायी व्यक्ति किसी शास्त्रका पूर्ण अध्ययन न कर ले, तबतक उस विषयपर उसका मत प्रकट करना उचित नहीं है। उसे अपना आचार और विचार वर्णाश्रमधर्मके अनुकूल रखना चाहिये। साधकको एकत्र न रहकर देश-संचार करते रहना चाहिये और देश-काल-परिस्थितिका परीक्षण करते हुए व्यक्ति-व्यक्तिका मूल्याङ्कन करना चाहिये। उसे सभाओंमें प्रवचनका क्षमा, शान्ति, संयम और चतुराईसे संचालन करना चाहिये। साधकको द्वेष, मत्सर इत्यादिसे सदा मुक्त रहना चाहिये और आत्मस्वरूपानुसंधानमें लीन रहते हुए उसे अनीति, क्रोध और अभिवादको त्याग देना चाहिये। अधिकार-लालसाको तुच्छ समझना चाहिये। (दासबोध)

साधकको विवेक और वैराग्यकी साधनाको अ[illegible] निरन्तर बढ़ावा देना तथा इन्द्रियनिग्रही बनना [illegible] माना गया है। उसे उपासना-साधनमार्ग[illegible] करते हुए भक्तिमार्गको प्रशस्त करना चाहिये[illegible] साधनाका निरन्तर अभ्यास करना उचित मा[illegible] निन्दक, दुर्जन आदि लोगोंके लिये प्रवचन,[illegible] भक्तिमार्गका प्रभाव और संस्कार करते हुए उ[illegible] दुष्कर्मोंसे घृणा उत्पन्न करनी चाहिये। [illegible] और भलाईको सदा वर्धिष्णु रक्खे। स्नान, सं[illegible] भजन, कीर्तन इत्यादि—द्वारा हमेशा पु[illegible] दिग्दर्शन करना चाहिये तथा दृढनिश्चयी बनना [illegible] सम्प्रदायीके जीवनका महान् कार्य है—[illegible] सुखसे अपना कार्य करते हुए अपने सम्पर्कसे वि[illegible] उद्धार करना।' सम्प्रदायीको क्रियाभ्रष्टता तथा पर[illegible] का स्पर्श भी न होना चाहिये; क्योंकि उससे [illegible] आती है, अतः उसे अन्तर्निष्ठ बनना ही आवश्य[illegible]

समर्थ रामदास स्वामी साधकके श्रेयके लिये [illegible] रामचन्द्रसे इस प्रकार प्रार्थना करते हैं—

'रघुनाथदासा कल्याण व्हावे। अति सौख्य व्हावे [illegible]
उद्वेग नासो वर शत्रु नासो। नाना विलासे मग [illegible]
कोठे नसो रे कलहो न सोरे। कापट्यकर्मी सहस[illegible]
निर्वाणचिंता निरसी अनंता। शरणागता दे बहु घात[illegible]
भजनो नको रे अयवंत होरे। आपदा नको रे बहुम[illegible]
श्रीमंतकारी अनहीतकारी। पर उपकारी हरिदास[illegible]

(मनो[illegible])

सम्प्रदायी रामोपासकका कल्याण हो। उ[illegible] सौरम्य और आनन्द प्राप्त हो। उसके उद्वेग [illegible] नष्ट हों। वह बहुविध कार्योंमें मग्न हो। उसे [illegible] चरणोंमें आश्रय मिले। वह संकटोंसे मुक्त तथा [illegible] शान्ती हो। हे [illegible]

आर्यसमाजमें सदाचार

(लेखक—कविराज श्रीछाजूरामजी शर्मा शास्त्री, विद्यावाचस्पति)

आर्यसमाज शुद्ध आचरणपर विशेष बल देता है। ...लनमें सदाचारका वही स्थान है, जो मकान बनानेमें ...ी नींवका है। सभ्य समाजमें दुराचारीका कुछ भी नहीं होता, न उसका कोई विश्वास करता है। जगत्-...तने भी महान् व्यक्ति हो गये हैं, उनकी ख्यातिका ...ारण सदाचार ही रहा है। गुणोंकी दृष्टिसे सदाचारी आर्य—ये दोनों शब्द समानार्थक हैं। वेदके—...न्तो विश्वमार्यम्' (ऋक्सं० ९।६३।५) इस वाक्य-...ुष्पको श्रेष्ठ या सदाचारी बननेका ही संदेश है। ...ननेके लिये यजुर्वेदके एक मन्त्रमें ईश्वरसे प्रार्थना की ...—ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। ...द्रं तन्न आ सुव॥ (शुक्लयजु: ३०।३)—'हे सकल ...के उत्पत्तिकर्ता समस्त ऐश्वर्य-सम्पन्न, शुद्ध-बुद्ध सब ...के दाता परमेश्वर! आप कृपाकर हमारे सभी दुर्गुण-...न एवं दु:खोंको दूर कीजिये और जो हितकारी ...र्म स्वभाववाले पदार्थ हैं, वे सब हमें प्राप्त कराइये'—...ा जबतक दुर्गुणोंकी निवृत्ति न होगी, तबतक ...ुणोंकी प्रवृत्ति न होगी; क्योंकि दो विरोधी गुण ...ुण तथा सद्गुण) एक कालमें एक साथ नहीं ठहर ...। किसी नीतिकारने भी ठीक ही कहा है—

सन्तीह यत्र दुर्गुणा अधितिष्ठन्ति न तत्र सद्गुणाः।
...मेव सतैलतो यथा सलिलानि प्रपतन्ति दारुतः॥

'जैसे तेल पड़ी हुई चिकनी लकड़ीपर पानी नहीं ...ता, वैसे ही जहाँ दुर्गुण निवास करते हैं, वहाँ सद्गुण ठहरते।' विचारणीय है कि ये सद्गुण आयें कहाँसे, ...से मनुष्य सदाचारी बन सके? इसका उत्तर है कि ...ससे ही मनुष्यमें सद्गुणोंका प्रादुर्भाव हो सकता ...ड़े-बड़े दुराचारी मनुष्य भी सत्सङ्गसे निःसंदेह सदाचारी ...ये हैं। आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वामी श्रीदयानन्दजीका जीवन ऐसा पवित्र था कि उनके सत्सङ्ग एवं उपदेशोंसे आजतक लाखों व्यक्तियोंके जीवनमें सुधार हुआ है। उनके जीवनकी ऐसी अनेक घटनाएँ हैं, जिनमेंसे एक-दो घटनाएँ यहाँ दी जाती हैं, पाठक उसे देखें—

स्वामीजीके समकालीन पंजाबके एक तहसीलदार अमीचन्दजी बड़े दुराचारी थे। अण्डा, मांस, शराब आदि अभक्ष्य पदार्थोंका सेवन और अन्य अनाचार उनके जीवनके स्वाभाविक अङ्ग बन गये थे, परंतु उनमें एक बड़ा गुण यह भी था कि वे सुरीली व मधुर आवाजसे संगीतका बड़ा सुन्दर गान करते थे। उनके संगीतकी प्रशंसा सुनकर एक बार स्वामी दयानन्दजीने भी अमीचन्दजीसे गीत सुननेकी इच्छा व्यक्त की। उनके भक्तोंने कहा—'महाराज! वह अमीचन्द तो बड़ा कदाचारी और दुर्व्यसनी है।' स्वामीजीने उत्तर दिया—कोई बात नहीं। आप उनको मेरे सामने लाइये तो सही! तहसीलदार अमीचन्दजीको बुलाया गया और उन्हें शिष्टाचारके पश्चात् गीत सुनानेको कहा गया। उन्होंने ऐसा सुमधुर गीत सुनाया कि स्वामीजी गद्गद हो गये। उसके पश्चात् उन्होंने एक ही वाक्य कहा—'अमीचन्दजी! आप हो तो हीरे, परंतु कीचड़में फँस गये हो।' बस, इतना कहना था कि अमीचन्दजी सब कुछ समझ गये। वे तुरंत ही घर गये और वहाँ जाकर मांस, शराबकी सब प्लेटें और बोतलें तोड़कर फेंक दीं और दुराचार छोड़ देनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली। उन्हें अपने पूर्व जीवनसे घृणा हो चली। उसी दिनसे उन्होंने पूर्वकृत अपराधोंपर पश्चात्ताप किया और स्वामी दयानन्दजीके पक्के भक्त बन गये। फिर उन्होंने सैकड़ों ही सुन्दर गीतोंके द्वारा आर्यसमाजके वैदिक सिद्धान्तोंका प्रचार किया। देखिये—स्वामीजीके एक ही वाक्यसे वे काचसे हीरे बन गये। सचमुच संतोंके वचनोंमें बड़ी शक्ति होती है, जो सम्पूर्ण जीवनको ही बदल देती है।

इसी प्रकार पंजाबमें जालन्धर जिलेके तलवन ग्रामके निवासी श्रीमुंशीरामजी भी, जो सब प्रकारसे पतित हो चुके थे—स्वामी दयानन्दजीके सत्सङ्गसे सदाचारी बनकर आर्यसमाजके एक बहुत बड़े तपस्वी नेता स्वामी श्रद्धानन्दके नामसे प्रसिद्ध हो गये। पता नहीं, इस प्रकार उनके द्वारा कितनोंके जीवनका सुधार हुआ। अतः कहना पड़ता है कि मनुष्यको श्रेष्ठ सदाचारी बननेके लिये सत्सङ्गसे बढ़कर कोई अन्य साधन नहीं है। (द्र० आर्यसमाजका इतिहास भाग २) सत्सङ्गसे ज्ञानमें वृद्धि होती है। यदि ज्ञानके अनुसार आचरण न हो तो वह ज्ञान निष्प्राण है। सकल शास्त्रोंका ज्ञान होनेपर भी मनुष्य सदाचारी न बना तो वह मनुष्य कैसा है, इसे एक नीतिकारकी दृष्टिमें देखिये—

अधीत्य चतुरो वेदान् धर्मशास्त्राण्यनेकशः।
आत्मानं नैव जानन्ति दर्वी पाकरसं यथा॥
(मौक्तिकोपनिषद् २।१।६५)

'कुछ लोग चारों वेद और अनेक धर्मशास्त्रोंको पढ़ते हैं। परंतु अपने स्वरूपको जानकर सत्याचरण नहीं करते, तो वे कड़छी या उस चम्मचके समान हैं, जो नित्य अनेक बार दाल-सब्जियोंमें जाती है, परंतु उसका स्वाद नहीं जानती। वस्तुतः मनुष्यके अच्छा या बुरा बननेके तीन कारण हैं—एक पूर्वजन्मके संस्कार, दूसरा बाह्य वातावरण और तीसरा माता-पिता या आचार्यकी शिक्षा। जैसे वातावरणमें

बुरा प्रभाव पड़े। माता-पिता [illegible] को ऐसी शिक्षा दें जिससे वे चोरी, [illegible] मादक द्रव्य-सेवन, मिथ्या भाषण, हिंसा, [illegible] द्वेष आदि दोषोंको त्यागकर सत्याचरण [illegible] तथा दुराचारी मनुष्योंसे पृथक् रहें। वे [illegible] कुसङ्गमें फँसकर किसी प्रकार कुचेष्टा तो [illegible] (सत्यार्थप्र० द्वि० समु०)। उपदेश दे[illegible] है, आचरण करना उतना ही कठिन है। [illegible] तुलसीदासजीने भी कहा है—

पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न[illegible]
(मानस ६।[illegible])

वस्तुतः सच्चा मानव बननेके लिये उसे [illegible] अग्निमें तपना पड़ता है। शुद्ध संस्कारका यही [illegible] है कि मनुष्यके अंदर जो अनिष्ट संस्कार पड़े [illegible] उन्हें दूर करके शुद्ध संस्कार डाले जायँ, उनके [illegible] परिवर्तन लाकर उन्हें श्रेष्ठ सदाचारी बनाया जाय, [illegible] वह समाजके लिये उपयोगी सिद्ध हो सके। [illegible] संस्कार किये मनुष्य लोक-व्यवहारमें खरा नहीं उ[illegible]

लोक-व्यवहारमें सदाचार—लोक-व्यवहारमें [illegible] काल, स्थितिके अनुसार सदाचार और शिष्ट[illegible] भिन्नता हो सकती है। फिर भी सदाचारके मै[illegible] सिद्धान्त समानरूपसे सर्वत्र लागू हैं। हमारी भार[illegible] संस्कृतिका आधार सदाचार है। यदि सदाचा[illegible]

आर्यसभ्यता अनेक विषम परिस्थितियोंसे गुजरती आज भी जीवित है और संसारका यथेष्ट मार्ग-दर्शन कर रही है। आर्योंका सदाचार विश्वको उच्च-से-उच्चके भाव उत्पन्न करता है। लोक-व्यवहारमें स्वामी दयानन्दजीकी सदाचारकी शिक्षाएँ बड़े महत्त्वकी हैं—

जनसाधारणके प्रति—हम दूसरोंकी सेवा इस भावसे न करें कि बदलेमें पारितोषिक मिलेगा; अपितु निष्कामभाव-से सेवा करें। किसीसे भद्दी हँसी-दिल्लगी न करें और न किसीको अपशब्द कहकर जी दुखाएँ। काच, पत्थर, कॉटा, केलेका छिलका आदि पदार्थ जो दूसरोंको कष्ट पहुँचानेवाले हैं, इनमेंसे कोई भी पदार्थ मार्गमें देखें तो उसे स्वयं हटा दें अथवा किसीसे हटवा दें। यदि कोई मार्ग भूल जाय तो अपनी हानिकी परवा न कर उसे सही मार्ग बता दें। किसी भी मत अथवा धर्मके नेताका नाम आदरसे लें। उनपर आक्षेप न करके धार्मिक एवं राजनैतिक वाद-विवादोंमें नम्रता, प्रेम और शान्तिसे काम लें, अपमान किसीका न करें। किसीकी खोयी हुई वस्तु मिल जाय तो उसका पता लगाकर वहाँ पहुँचा दें अथवा ऐसे स्थानपर जमा कर दें, जहाँसे वस्तुके स्वामीको वह मिल जाय। पारस्परिक झगड़ोंको धर्मानुसार स्वयं तय करें और यदि दो व्यक्ति लड़ते हों तो उन्हें भड़काएँ नहीं, अपितु उनमें मेल करानेका यत्न करें। पापसे घृणा करें, पापीसे नहीं। दुःखियोंके साथ प्रेम व सहानुभूति दरसायें। पड़ोसी, मित्र अथवा अपने सम्बन्धीके यहाँ मृत्यु हो जाय तो उसके शोकमें सम्मिलित होकर यथासम्भव उसे धैर्य प्रदान कराइये। जहाँ दोसे अधिक व्यक्ति बातें करते हों, वहाँ मत जाइये; हो सकता है, वे गुप्त मन्त्रणा करते हों और आपका वहाँ आना वे पसंद न करें। किसीके पीछे निन्दा न करें। प्रत्येक व्यक्तिमें कोई-न-कोई गुण अवश्य होता है, उस व्यक्तिके गुणोंकी ही चर्चा करनी चाहिये। हाँ, यदि अपना मित्र अथवा आत्मीय जन हो तो उसके दोषोंको प्रेमपूर्वक दूर करनेका यत्न करें। जहाँतक हो सके, अपनेसे बड़ोंकी ओर पीठ करके न बैठें और न चलें। दूसरे व्यक्तिकी बात जबतक समाप्त न हो, बीचमें न बोलें। यदि भूलसे बोल जायँ तो उससे क्षमा माँग लें। बातचीतका सिलसिला लम्बा न बढ़ाकर सुननेवालेको भी बात करनेका अवसर देना चाहिये; अन्यथा सुननेवाला आपकी बातसे ऊब जायगा। कथा-व्याख्यानमें बीचमें न उठें। यदि उठना आवश्यक हो तो प्रसङ्गकी समाप्तिपर उठें, अन्यथा कथा-वाचकका अपमान समझा जाता है। बिना आवश्यकताके किसीसे उसका वेतन, आय या जाति न पूछें।

स्त्री सम्बन्धी सदाचारकी बातें—परायी स्त्रीसे यदि कोई बात करनी हो तो नीचेकी ओर दृष्टि करके बात करें। स्त्रियोंको छूना, उनसे हँस-हँस-कर बातें करना, दिल्लगी करना असभ्यता है और सदाचारके विरुद्ध आचरण है। किसी स्त्रीको माला पहनानी हो तो उसके हाथमें दे दीजिये, वह स्वयं पहन लेगी। यही बातें स्त्रियोंको भी पुरुषोंके प्रति ध्यानमें रखनी चाहिये। किसी भी असहाय स्त्रीपर कोई संकट आ जाय या उसे कोई असुविधा हो तो निःस्वार्थ-भावसे उसकी सहायता करें। आयु, विद्या एवं योग्यताके अनुसार स्त्रियोंमें माता, पुत्री और बहिनका भाव जाग्रत् करो और उनका सम्मान कीजिये। किसीके घर जहाँ स्त्रियाँ रहती हों, वहाँ बिना सूचना दिये कभी न जाइये और जहाँ स्त्रियाँ नहाती हों, वहाँ भी मत जाइये। घर अपना हो या पराया, जिस कमरेमें कोई स्त्री अकेली बैठी, सोयी या वस्त्र पहनती हो, परदेकी शक्लमें हो तो उस कमरेमें सहसा प्रवेश न करें। आवाज देकर या खाँसकर अपने आनेकी सूचना दें।

इस प्रकार लोक-व्यवहारमें मर्यादा और शिष्टाचारकी रक्षा करना—आर्यसमाजके सदाचार-सिद्धान्तोंमें परिगृहीत है।

ध लोभ मोह मिटाये, छुटके दुरमति अपनी धारी ॥
मानी सेव कमावहि त होवहि प्रीतम मन पिआरी ॥

खधर्ममें निजी जीवनको सुधारनेपर काफी बल गया है। सदाचारी सिखके लिये पाठ करना संगतमें जाना दोनों आवश्यक है। संगत और ध्यान रखना सदाचारी जीवनके लिये अत्यन्त री है। जुल्मके विरुद्ध लड़ना भी सदाचारका ङ्ग है। गुरु गोविन्दसिंहने स्पष्टरूपसे कहा है व शान्तिके सारे साधन असफल हो जायँ तो पकड़ना जायज है—

चूँकार अज हमा हीं लते दर गुजश्त।
हलाल अस्त बुरदन ब समशीर दस्त॥
(दशम ग्रन्थ)

गुरु अर्जुनदेवने तो सदाचारके लिये समानताको अत्यन्त आवश्यक माना है। इसीलिये तो वे गुरु-ग्रन्थ साहिबमें कहते हैं—'एक पिता एकस के हम वारिक'

सिखधर्ममें संसारको झूठा समझकर उसको तिलाञ्जलि देनेकी बात नहीं है, बल्कि इस असार संसारमें रहते हुए सदाचारके सिपाहीके रूपमें जीवन व्यतीत करनेका संदेश है। इतना ही नहीं, सिखमतमें धर्म और सदाचार एक दूसरेके पूरक हैं। धर्मके बिना सदाचार असम्भव है तथा सदाचारके बिना धर्म निर्जीव है। सिख-धर्ममें सदाचारकी यही सबसे विलक्षणता है कि सभी सिख गुरु स्वयं जीवन-भर सदाचारी बने रहे तथा उन्होंने दूसरोंको भी सदाचारी बननेकी प्रेरणा दी। इस प्रकार सिखधर्ममें सदाचारका स्थान सर्वोपरि माना गया है।

पारसीधर्ममें सदाचार

(लेखिका—श्रीमती खुरशेदबानू जाल)

म्बर अपना ऊँचा-से-ऊँचा आदर्श छोड़कर हमारे-ज्ञानियोंको धर्मका प्रकाश प्रदान करते हैं और कार्य पूर्ण होनेपर भगवान्‌के धाममें चले जाते सके पश्चात् जो कुछ भी कर्तव्य करना शेष रह है, उसका पूर्ण उत्तरदायित्व हमारे ऊपर होता नके उपदेशोंका पालन करना और आचरणमें हमारा कर्तव्य है। धर्म चाहे जितना उत्तम हो, ह केवल शास्त्र एवं पुस्तकोंमें ही लिखा रहे और दैनिक-व्यवहारसे अलग ही रहे तो उससे हमारा नहीं हो सकता—चाहे उसका सिद्धान्त-पक्ष भी उत्तम एवं पवित्र हो। सदाचारयुक्त जीवनमें र्म या अच्छे प्रकारके धर्म या दीनकी परीक्षा होती है। किंतु हम बहुत धर्मी या सत्कर्मी हैं—ऐसा दिखानेके लिये ही यदि हम विशेष प्रकारके वस्त्र पहनते हैं अथवा माला जपते हैं तो इस बाहरी आचरणमात्रसे हम भगवान्‌को धोखा नहीं दे सकते। सच्चे धार्मिक व्यक्ति तो नित्यप्रति धर्मके सिद्धान्तानुसार अपने निष्कपट आचरणसे ही भगवान्‌को अपने वशमें करते हैं।

जरथोस्ती (पारसी*) धर्मके अनुसार अपने विचार, वाणी एवं क्रियामें धर्मका प्रभाव प्रत्येक क्षण प्रकट होता रहना चाहिये। इस जीवनकी सफलता सदाचारमें ही है। शास्त्र हमें बहुत कुछ सिखाना चाहते हैं, परंतु यदि हम उनके अनुसार नहीं चलते तो असदाचारी या अधर्मी ही कहे जायँगे। इस कारण हमारे ध्येय

---

* पारसीधर्मके इस लेखमें 'खुदा,' 'अशोई,' हुमत आदि अनेक फारसी भाषाके कई शब्द आते हैं, जिन्हें उचित नहीं समझा गया क्योंकि वे सांस्कृतिक शब्द हैं।

ह आदि भी उसी प्रकार पवित्र रक्खे जायँ। ...र अन्तःकरणके गुण (प्रेम-दया) भी जागृत रहें ...नके विचार भी ठीक रखे जायँ। इससे ...रणकी शुद्धि होती है। अशोईमें इसके अनुकूल निहित हैं। परवरदिगार स्वयं अशोईके संसारको अच्छे मार्गपर चलाकर निभाते हैं। जहाँ हमें गंदगी, ठगाई, दुराचारकी अधिकता वहाँ समझिये कि हमारे धर्मका आवश्यक ...न टूट रहा है।

(६) हम जरथोस्ती (पारसी) अहुरमज्द ...(मेश्वर)की ओरसे प्राप्त हुई प्रत्येक परिस्थिति-...लिये उनका आभार मानते हैं और इसी मान्यताके ...ण उस मालिकके नामका जन-कल्याणके लिये प्रचलित ...ना अपना कर्तव्य मानते हैं। बंदगीका सच्चा अर्थ ...मत (सेवा) है। उस दयालु जगत्पितासे ...की सहायता करना हम सीख लें तो हम सच्चे सेवक ...हो जा सकते हैं। भगवान् सबका निर्वाह करते हैं। ...जीवोंकी भूल और दोषकी ओर विशेष ध्यान नहीं देते और ... हमें करनी चाहिये। परमेश्वरपर विश्वास रखिये, वे जो कुछ करते हैं, उसीमें हमारी भलाई है, ऐसा विश्वासकर भगवान् हमें जैसे रखें, वैसे ही रहें। किसी परिस्थितिमें भी हमें परमेश्वरके फरमानको दुःखरूप नहीं समझना चाहिये। कभी-कभी दुःख पड़नेपर भी हमें बहुत कुछ सीखनेको मिलता है। कटु अनुभवके पश्चात् ही बुद्धिमानी प्रकट होती है। संकटके सामने लड़नेसे मनोबल बढ़ता है।

पैगम्बर जरथुस्त्रको अपना पथप्रदर्शक मानकर उनकी आज्ञाका पालन करना प्रत्येक पारसीका कर्तव्य है। उनके संदेशको सत्य मानकर उनके बताये हुए मार्गपर चलें तो हमारा कल्याण होगा। जो कोई धर्मके फरमान पर नहीं चलता, वह भाग्यहीन है। कारण कि वह स्वयंके जीवनको व्यर्थ नष्ट करता है और ईश्वरके ... वह गुणहीन और नालायक सिद्ध होता है। ... आत्मोन्नति रुकती है।

महात्मा ईसा और उनकी सदाचार-शिक्षा

एशियाके पश्चिमी भागमें फिलिस्तीन (Palestine) नामका देश है। महात्मा ईसामसीहका जन्म इसी देशमें हुआ था, यहीं उन्होंने अपना जीवन बिताया और यहीं अपना भौतिक शरीर छोड़ा। इनका जन्म विक्रमसं० ५७में हुआ था। ईस्वी सन्‌का प्रारम्भ इन्हींके जन्मके समयसे माना जाता है*। इनकी माता कुमारी मरियम (Virgin Mary) थीं। मरियमका अर्थ है—'महान्'। इनकी सगाई जोजेफ (Joseph) नामके बढ़ईसे हुई थी, जो राजा डेविडके वंशमें थे। जब ईसा बारह वर्षके हुए तो इनके माता-पिता इन्हें जेरूसेलेम (Jerusalem) ले गये। वहाँसे लौटते समय ये रास्तेमें गायब हो गये। इनके माता-पिता इनकी खोजमें जेरूसेलेम वापस चले आये और बहुत खोज करनेपर ये वहाँके मन्दिरमें (धर्म-) कानूनके बड़े-बड़े पण्डितोंसे वाद-विवाद करते हुए मिले, जिससे लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। फिर ये अपने माता-पिताके साथ वापस नजारेथ चले आये। इनके बाल्यकालका और कोई वृत्तान्त इतिहासमें नहीं मिलता।

इनकी प्रारम्भसे ही भगवान्‌में बड़ी भक्ति थी और ये अपने प्रत्येक कार्यमें उन्हींकी इच्छाका अनुसरण करनेकी चेष्टा करते थे। इन्हें अपने शुद्ध अन्तःकरणमें भगवान्‌की इच्छाका स्पष्ट अनुभव होता था। कहा जाता है कि प्रकृतिके प्रत्येक खेलमें, जीवनके प्रत्येक कार्यमें और प्रत्येक विचारमें भगवान्‌की वाणी इन्हें स्पष्ट सुनायी देती थी। ये अपने अन्तस्तलमें, सूर्यकी रश्मियों और नक्षत्रोंके प्रकाशमें—सर्वत्र अपने परमपिता परमात्माकी झाँकी लेते रहते थे। जन-समुदायमें अथवा एकान्तमें, हर समय ये भगवान्‌का ही चिन्तन किया करते थे। ईश्वरमें उनकी तल्लीनता अद्वितीय थी।

तीस वर्षकी अवस्थासे तैंतीस वर्षकी उम्र अपनी मृत्युकी अवधितक, इन्होंने धर्मप्रचार किया। इनके प्रधान उपदेश—'The Sermon on the Mount.'—पहाड़ीपर उपदेशके नामसे प्रसिद्ध हैं। उनके उपदेशोंमें सदाचारके मुख्य तत्त्व भरे हैं। संक्षेपमें उनमेंसे कुछ नीचे दिये जा रहे हैं—

(१) जिनके अन्दर दैन्यभाव उत्पन्न हो गया है, वे धन्य हैं; क्योंकि भगवान्‌का साम्राज्य उन्हें प्राप्त होगा। (२) जो आर्तभावसे रोते हैं, वे धन्य हैं; क्योंकि उन्हें भगवान्‌की ओरसे आश्वासन मिलेगा। (३) विनयी पुरुष धन्य हैं; क्योंकि वे पृथ्वीपर विजय प्राप्त कर लेंगे। (४) जिन्हें धर्माचरणकी तीव्र अभिलाषा है, वे धन्य हैं; क्योंकि उन्हें पूर्णताकी प्राप्ति होगी। (५) दयालु पुरुष धन्य हैं; क्योंकि वे ही भगवान्‌की दयाको प्राप्त कर सकेंगे। (६) जिनका अन्तःकरण शुद्ध है, वे धन्य हैं; क्योंकि ईश्वरका साक्षात्कार उन्हींको होगा। (७) शान्तिका प्रचार करनेवाले धन्य हैं; क्योंकि वे ही भगवान्‌के पुत्र कहे जायँगे। (८) धर्मपर दृढ़ रहनेके कारण जिन्हें कष्ट मिलता है, वे धन्य हैं; क्योंकि भगवान्‌का साम्राज्य उन्हींको प्राप्त होता है।

ईसाके जीवनमें कई चमत्कार भी दिखलायी पड़े, किंतु वे उनकी आध्यात्मिक शक्तिके सामने कुछ भी न थे। उन्होंने कई अन्धों, लँगड़ों, बहरों, कोढ़ियों तथा लकवेसे पीड़ित रोगियोंका कष्ट दूर किया, मुर्दोंको जिलाया, अन्धड़-तूफानोंको शान्त किया, कुछ ही पत्तोंसे हजारों मनुष्योंको भोजन कराया और इसी प्रकारके और भी कई आश्चर्यजनक कर्म

* A. [illegible] Domini) in the year of our Lord.

पर सबसे बड़ी चमत्कृति उनकी धार्मिकता एवं नैतिकता थी।'

ईसामसीहने विनय, क्षमा, दया, त्याग आदि गुणोंका प्रचार किया। वे कहा करते थे कि यदि तुम्हारे दाहिने गालपर थप्पड़ मारे तो तुम अपना बायाँ भी उसके सामने कर दो। यदि कोई तुम्हें किसी प्रकारका अभियोग लगाकर तुम्हारा कोट छीन ले तो अपना लबादा भी दे दो। अपने शत्रुओंसे प्रेम करो, अपनेसे घृणा करनेवालेका उपकार करो और अपनेको सतानेवालोंके कल्याणके लिये भगवान्से प्रार्थना करो। दूसरोंकी आलोचना न करो, जिससे कि तुम भी आलोचनासे बच सको। दूसरोंके अपराधोंको क्षमा कर दो, भगवान् भी तुम्हारे अपराधोंको क्षमा कर देंगे। अपने दयालु पिताकी भाँति तुम भी दयालु बन जाओ। किसीसे कुछ लेनेकी अपेक्षा देना अधिक कल्याणकारक है। अभिमानीका पतन होता है और अपनेको छोटा माननेवालेकी उन्नति होती है। किसीको कटु शब्द न कहो। अपकारीसे बदला लेना उचित नहीं। ब्याज कमाना अत्यन्त निन्दनीय कर्म है। अपने पिता परमात्माके समान समदर्शी बनो। भगवान् साधु और असाधु दोनोंको ही समानरूपसे सूर्यकी गर्मी पहुँचाते हैं। यदि तुम प्रेम करनेवालेसे ही प्रेम करते हो तो इसमें तुम्हारी क्या बड़ाई है? बुरा विचार मनमें लाना भी पाप है। बाहरकी सफाईकी अपेक्षा भीतरकी सफाई कहीं अधिक मूल्यवान् है। प्रार्थनामें आडम्बर बिल्कुल नहीं होना चाहिये। गरीबोंके थोड़े-से दानका बड़े आदमियोंके बड़े दानकी अपेक्षा अधिक महत्त्व होता है।

महात्मा ईसाका चरित्र आदर्श था। उनके चेहरेपर कभी किसीने बल पड़ते नहीं देखा। उन्होंने अपनी वाणीसे कभी किसीके प्रति घृणा प्रकट नहीं की। वे दूसरोंके दुःख नहीं देख सकते थे। दूसरोंका हित करना ही उनके जीवनका एकमात्र व्रत था। उन्हें दीन अति प्यारे थे। उनका जीवन त्यागमय था। वे आत्माके सामने जगत्‌को तुच्छ समझते थे। वे विधि (कार्य)की अपेक्षा हृदयके भावको प्रधानता देते थे। वे कहते थे कि ईश्वर हमसे बहुत दूर सातवें आसमानमें नहीं रहते, वे तो हमारे अति समीप, हमारे हृदयमें स्थित हैं। गीताने भी यही कहा है—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।'

इनके उपदेशोंसे यहूदीलोग बड़े नाराज हुए। इनपर कई अभियोग लगाये गये और फिलिस्तीनके गवर्नरसे कहकर इन्हें सूलीपर चढ़वाया गया। सूलीपर चढ़ते समय उन्होंने भगवान्से प्रार्थना की—'प्रभो! इन लोगोंको क्षमा करें, ये बेचारे नहीं जानते कि हम क्या कर रहे हैं' और अन्तमें 'हे पिता! यह आत्मा तुम्हारे अर्पण है'—यह कहकर उन्होंने अपने प्राण त्याग दिये। ईसाईधर्मके अनुसार वे पुनः जीवित हुए माने जाते हैं। उनका पाञ्चभौतिक शरीर नहीं रहा, पर उनका आध्यात्मिक सदाचार सदैव ज्योति विकीर्ण करता रहेगा।

सेवा और परोपकार

जो निराधार और नीचसे नीच मनुष्यकी सेवा करता है, वह प्रभुकी ही सेवा करता है। जो किसीको दुःखमें देखकर उसपर दया नहीं करता, वह मालिकके कोपका पात्र होता है।

जो पासमें धन रहनेपर भी अपने भाइयोंकी दीन अवस्थापर तरस नहीं खाता और उनकी सहायता नहीं करता, उसके हृदयमें ईश्वरीय प्रेमका प्रकाश कैसे हो सकता है। —महात्मा ईसा

विधिपूर्वक की गयी इज्या ही विश्वको धारण करनेमें समर्थ है और मेरे उस नित्यकर्मका ही यहाँ लोप होना चाहता है । तू तो मुझे कोई ऐसा सरल उपाय बता, जिससे मैं शीघ्र अपने घर पहुँच जाऊँ ।' इसपर वरूथिनी और गिड़गिड़ाने लगी । उसने कहा—'ब्राह्मण ! जो आठ आत्मगुण बतलाये गये हैं, उनमें दया ही प्रधान है । आश्चर्य है, तुम धर्मपालक बनकर भी उसकी अवहेलना कैसे कर रहे हो ? कुलनन्दन ! मेरी तो तुमपर कुछ ऐसी प्रीति उत्पन्न हो गयी है कि सच मानो, अब तुमसे अलग होकर जी न सकूँगी । अब तुम कृपाकर मुझपर प्रसन्न हो जाओ ।'

ब्राह्मणने कहा—'यदि सचमुच तुम्हारी मुझमें प्रीति हो तो मुझे शीघ्र कोई ऐसा उपाय बतलाओ, जिससे मैं तत्काल घर पहुँच जाऊँ ।' पर अप्सराने एक न सुनी और नाना प्रकारके अनुनय-विनय तथा विलासादिसे वह उसे अनुकूल करनेकी चेष्टा करती गयी । ब्राह्मणने अन्तमें कहा—'वरूथिनि ! मेरे गुरुजनोंने उपदेश दिया है कि परायी स्त्रीकी अभिलाषा कदापि न करे । इसलिये तू चाहे विलख या सूखकर दुबली हो जा, मैं तो तेरा स्पर्श नहीं कर सकता, न तेरी ओर दृष्टिपात ही कर सकता हूँ ।'

यों कहकर उस महाभागने जल [illegible] आचमन किया और गार्हपत्य अग्निसे कहा—'भगवन् ! आप ही [illegible] हैं । आपकी ही तृप्तिसे देवता वृष्टि करते [illegible] वृद्धिमें कारण बनते हैं । अन्नसे सम्पूर्ण जग[illegible] धारण करता है, और किसीसे नहीं । इस [illegible] ही जगत्‌की रक्षा होती है । यदि यह सत्य है [illegible] सूर्यास्तके पूर्व ही घरपर पहुँच जाऊँ । [illegible] भी वैदिक कर्मानुष्ठानमें कालका परित्याग न कि[illegible] आज घर पहुँचकर डूबनेके पहले ही सूर्यके [illegible] यदि मेरे मनमें पराये धन तथा परायी स्त्रीकी अभि[illegible] कभी भी न हुई हो तो मेरा यह मनोरथ सिद्ध हो [illegible]

ब्राह्मणके ऐसा कहते ही उनके शरीरमें [illegible] अग्निने प्रवेश किया । फिर तो वह ज्वालाओंके बीच प्रकट हुए मूर्तिमान् अग्निदेवकी भाँति उस प्रदे[illegible] प्रकाशित करने लगा और उस अप्सराके देखते-देखते वह वहाँसे गगनमार्गसे चलता हुआ एक ही क्षणमें [illegible] पहुँच गया । घर पहुँचकर उन ब्राह्मणदेवने [illegible] यथाशास्त्र सब कर्मोंका अनुष्ठान किया और बड़ी [illegible] एवं धर्म-प्रीतिसे जीवन व्यतीत किया ।

(मार्कण्डेयपुराण, अध्याय [illegible])

संतोंका सदाचरण

उदासीन जग सों रहै, तजा मान अपमान ।
नारायन ते संत जन, निगुन भावना ध्यान ॥
मगन रहैं निज भजन में, चलत न चाल कुचाल ।
नारायन ते [illegible], यह जगत के लाल ॥
परहित प्रीति उदार चित, विनय [illegible] सब संग ।
नारायन दुःख [illegible], जिन [illegible] [illegible] ॥
संत [illegible] [illegible] [illegible], मैं तेरो [illegible] त्याग ।
नारायन [illegible] [illegible], [illegible] [illegible] अनुराग ॥

नारायन हरि भगतकी, प्रथम यही पहचान ।
आप अमानी ह्वै रहै, देत और को मान ॥
कपट गाँठि मनमें नहीं, सब सों सरल सुभाव ।
नारायन ता भगतकी, लगी किनारे नाव ॥
तजि पर औगुन नीर को, छीर गुनन सों प्रीति ।
हंस संतकी सर्वदा, नारायन यह रीति ॥
निरभै मन हरि पद कमल, निसि दिन भ्रमर समान ।
नारायन तिन सों मिलै, कहूँ न [illegible] [illegible] ॥

सदाचार ही जीवन है

(लेखक—श्रीरामदासजी महाराज शास्त्री, महामण्डलेश्वर)

[मा]नव-जीवनकी सार्थकता सदाचारपूर्ण वृत्तिमें है। [जन्मसे] मृत्युतक जीवनके कुछ ऐसे सदाचारयुक्त नियम हैं, [जिन]के आचरणके बिना मनुष्य और पशुमें अन्तर नहीं [रह जा]ता, वे ही सत्पुरुषोंद्वारा आचरित आचरण सदाचार [और] कुत्सित पुरुषोंके कर्म कदाचार कहे जाते हैं। [शास्त्रस]म्मत, आर्यानुमोदित, लोक-परिपाटीके अनुसार [कि]या आचरण सदाचारी जीवनका लक्षण है; किंतु [य]दि शुद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयं नाचरणीयम्'—के अनुसार लोकानुसारी आचरणोंको ही प्राथमिकता [देनी] पड़ती है। सदाचार—सामान्य और विशेष, [शारी]रिक एवं व्यावहारिकरूपसे जाना जाता है। [श]रीरको कुछ आवश्यक कर्तव्य ग्रहण करने होते [हैं और] कुछ वर्जित कर्म छोड़ने भी पड़ते हैं। सदाचार-में आहारशुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। यदि आहार-[शुद्धि] नहीं रही तो अन्तःकरण मलिन होगा। मलिन [अन्तः]करणमें—'सत्त्वशुद्धि' एवं 'ध्रुवाऽनुस्मृति' भी न [रहेगी]। आहार-व्यवहार, खान-पान और रहन-सहनका [प्रभाव] मन एवं इन्द्रियोंपर विशेष पड़ता है। कहावत 'जैसा खाये अन्न, वैसा होवे मन्न'। अशुद्ध [आहार]का दुष्प्रभाव मनको विकृत कर देता है, विकृत मन [इन्द्रियों]के साथ मिलकर पतनकी ओर अग्रसर होता है। [विषयों]के साथ विचरण करती हुई इन्द्रियोंमेंसे मन जिस [इन्द्रिय]के साथ रहता है, वह एक इन्द्रिय भी इस पुरुषको [पथभ्र]ष्ट कर देती है, जैसे जलमें चलनेवाली नावको [वायु]का एक झोंका ही डुबो देता है।

सदाचार अपने-आपमें बड़ा व्यापक है। कोई भी [जाति] कोई भी जाति बिना सदाचरणके नहीं टिक सकती। [अने]करूपमें सदाचार सर्वत्र विद्यमान है। जगली [जाति]योंमें भी उनके अपने कुछ विशेष आचार होते ही हैं। आचार, सदाचार, शास्त्राचार, लोकाचार, शिष्टाचार, बाह्याचार, आभ्यन्तरिक आचार, सभ्यता-संस्कृति—प्रायः ये सभी एक सूत्रके निश्चित सिद्धान्तमें बँधे हैं। यदि देहधारी जीवके मन, वाणी, शरीर शुद्ध रहेंगे तो स्वभावतः सदाचार भी सुरक्षित रहेगा। अतः आन्तरिक एवं बाह्यशुद्धि रखना प्रथम अनुष्ठान है। शास्त्र कहते हैं कि शरीरधारीकी शुद्धिके लिये ज्ञान, तप, अग्नि, आहार, मिट्टी, मन, जल, अनुलेपन, वायु, कर्म, सूर्य और समयका शुद्ध होना आवश्यक है—

ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनो वार्युपाञ्जनम्।
वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तॄणि देहिनाम्॥
(मनु० ५। १०५)

इसी प्रकार शरीरस्थ बारह मलस्थानोंको भी यथासम्भव शुद्ध रखना सदाचारमें सहायक है। शरीरसे प्रतिक्षण मलका निःसरण होता रहता है। मलोंके निष्क्रमणसे ही शरीर अशुद्ध होता है। स्मृतिकारोंने मनुष्य-शरीरस्थ बारह मल बताये हैं। ये हैं—चर्बी, वीर्य, रक्त, मज्जा, मल, मूत्र, नाक-कानकी मैल, नेत्रोंकी मैल और पसीना (मनु० ५। १३५)। इन मलोंके बाहर निकलते समय शरीरके ऊपरी आवरणसे स्पर्श होता है, तभी अशुद्धि या अस्वच्छताकी बीमारी एवं गंदगियाँ फैलती हैं। सदाचारको सुरक्षित रखनेमें उक्त मलोंकी सफाई, स्वच्छता एवं पवित्रता आवश्यक है। इस बाह्य शुद्धिके बिना आचारका अनुष्ठान नहीं हो सकता। शरीर, मन, बुद्धि और जीवात्माकी शुद्धि होनेपर ही जीवनमें सदाचार उतरता है। शरीरकी शुद्धि जलसे, मनकी शुद्धि सत्यसे, आत्माकी शुद्धि विद्या और तपसे तथा बुद्धिकी शुद्धि ज्ञानसे होती है (मनु० ५। १०९)।

सदाचार—यत्र, तत्र और सर्वत्र

(लेखक—श्रीदुर्गाशंकर प्राणशंकरजी बधेका)

त्र लोग धर्मके अन्तस्तत्त्व हार्द और रहस्यको
उसके बाह्य कलेवरको ही विशेष महत्त्व देने
धर्मकी आत्मा नष्टप्राय हो जाती है। पहला
र्ण प्रश्न तो यही है कि धर्म है क्या?
गवतमें स्वयं भगवानने कहा है कि तप, शौच,
और सत्य नामके चार पैरोंवाला वृषका रूप
करनेवाला धर्म मैं हूँ—'धर्मोऽहं वृषरूपधृक्'
१० ११ । १७ । ११)। और इसीलिये हमें
दया, तप और शौचके चार पैरोंवाला सदाचार-
धर्मका ही पालन करना चाहिये। दुराचारी
भक्त नहीं कहला सकता और भक्त कभी दुराचारी
हो सकता। धर्मकी उत्पत्ति सत्यसे होती है। दया
दानसे वह बढ़ता है, क्षमामें वह निवास करता
क्रोधसे उसका नाश होता है—सत्याज्जायते,
दानेन च वर्धते, क्षमायां तिष्ठति, क्रोधान्नश्यति।
क्तिरूपी पक्षीके दो पंख होते हैं। इन पंखोंके
—ज्ञान और वैराग्य। ज्ञान और वैराग्यसे रहित
सच्ची भक्ति नहीं है, सिर्फ उसका बाह्य रूप
है। भगवान्को कैसा भक्त प्रिय है? तुलसीदासके
ब्दोंमें—

> ोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥
> (मानस ७। ४२। २½)

भगवान्की आज्ञाका पालन करनेवाला ही सच्चा
मी भक्त है। जैनधर्मकी परिभाषामें कहा जाय तो
आणाए धम्मो आणाए तवो।' यह उनका शास्त्रवचन
। भक्ति मुख्यतया आज्ञाके आराधनकी अपेक्षा करती है।
आज्ञाका आराधन ही धर्म है, वही तप है। जैनधर्मके
आचार्यश्री 'हरिभद्राचार्य'जीने स्वरचित 'अष्टक'में लिखा है
कि भगवान्की आराधनाका श्रेष्ठ मार्ग उनकी आज्ञाका
य आराधन ही है। वे कहते हैं कि अहिंसा, सत्य,
अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असङ्गता, तप, सद्गुरु-भक्ति और ज्ञान-
रूप सत्पुरुषोंसे ही मुमुक्षु भगवान्की आराधना कर
सकता है। वैदिक धर्मकी सामान्य आज्ञा यही है कि
'प्रशस्तानि सदा कुर्यात् अप्रशस्तानि वर्जयेत्।'
जैनधर्म भी कहता है—'पाप कम्म नैव कुज्जा न
कारवेज्जा।'—पाप कर्म करना नहीं और दूसरोंसे
करवाना नहीं। सदाचारके विषयमें बौद्धधर्मका भी
कहना है—

> सब्ब पापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।
> सचित्त परियोदपनं एतं बुद्धान सासनं।

'किसी प्रकार पाप कर्म करना नहीं, पुण्य कर्मोंका
सम्पादन करना, चित्तको परिशुद्ध रखना यही बुद्धका
आदेश है।'

हमारा शत्रु कोई बाहर नहीं है। स्वेच्छाविहारिणी
इन्द्रियाँ, न जीता हुआ मन और विपरीत निर्णय करने-
वाली बुद्धि ही साधककी वैरी है। निगृहीत और विशुद्ध
चित्त ही साधकका परम हितकारी है। भोगोंमें भटकने-
वाला अपावन चित्त ही सबसे बड़ा वैरी है। शास्त्र
कभी स्वच्छन्द प्रवृत्तिका समर्थन नहीं करता।
शास्त्रीय मर्यादासे सीमित, संयत भोगके द्वारा
विषय-वासनाको मर्यादित और कुण्ठित करना विहित है,
न कि अपरिमित भोगोंद्वारा उसे उत्तेजित करना।
अर्थ और कामयुक्त व्यवहारोंको धर्मके अङ्कुशमें रखना और
वृत्तियोंको निष्पक्षपरायण, विशुद्ध और प्रभुसम्मुख
रखना चाहिये। शास्त्रविहित क्रियाओंमें भी कामना कम
करना जिसे विहित भोग सङ्कोच कहते हैं। भक्तश्रेष्ठ
नारदने भी मुनिके धर्मसे च्युत होकर और मनोवृत्तियोंपर
नियमन करके अम्बरीषपुत्री जयन्तीका हाथ देखा, तब भी
वे मर्कट-मुख प्राप्त करके जगत्‌में निन्दाके भाजन हुए।

ङ्गी जा सकता । ममता और अहंकाररहित, ान, इन्द्रियविजयी, ध्यानयोगमें सदा लगे हुए ुरुष ही वहाँ जाते हैं ।

राणोंमें कहा गया है कि जिस व्यक्तिने अपनी की वासनाओंको वशमें कर लिया है, वह जहाँ निवास करता है, वहीं उसके लिये कुरुक्षेत्र, ारण्य और पुष्करादि तीर्थ हो जाते हैं । दुष्ट सौ र्थस्नानसे भी शुद्ध नहीं होता, जैसे मदिराका पात्र तपानेसे भी शुद्ध नहीं होता । महाभारत र्वमें भी कहा है कि सब तीर्थोंमें स्नान और सभी ोंके साथ कोमलताका व्यवहार—ये दोनों एक हो सकते हैं । स्कन्दपुराणमें कहा है कि प्राणी तीर्थके जलमें जन्म लेते हैं और मर हैं; लेकिन वे स्वर्ग या मोक्ष नहीं पाते । आगे गया है कि सत्य, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह, सर्वभूतदया, , दान, दम, संतोष, ब्रह्मचर्य, प्रियवादिता, ज्ञान, तप और चित्त-शुद्धि ही सच्चा तीर्थ है । महाभारतमें भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डुपुत्रोंको बताते हैं कि तीर्थस्नानसे पाप-शुद्धि नहीं होती । तब कौनसे तीर्थमें स्नान करे—इसे दिखाते हुए वे कहते हैं—'आत्मा नदी है, संयम जल है, शील किनारा है, दया उसमें ऊर्मियाँ हैं,हे पाण्डुपुत्र ! वहाँ स्नान करो'—'न वारिणा शुद्धयति चान्तरात्मा ।' (हितोपदेश० ४ । ८७, वामनपुराण ४३ । २५, प्रपन्नगीता १०३, वसिष्ठ १३)।

भगवान् महावीर यज्ञकी परिभाषा करते हुए भी इसी बातपर जोर देते हैं । जिस यज्ञमें तप ही यज्ञ है, जीवात्मा अग्निका स्थान है, मन-वचन-कायाका योगरूप स्रुवा (चमचा) है, शरीररूप यज्ञ-वेदिका है । कर्मरूप लकड़ी और संयमरूप शान्ति मन्त्र है । ऐसे प्रशस्त चारित्ररूप भावयज्ञको महर्षियोंने उत्तम माना है । शास्त्रोंने नाम-स्मरणकी अत्यधिक महत्ता गायी है और यह विधान अक्षरशः सत्य है । नामस्मरणकी फलश्रुतियाँ तनिक भी गलत नहीं हैं । मन्त्र लेने योग्य शिष्यके अधिकारके विषयमें भद्रगुप्ताचार्य कहते हैं कि जो चतुर, बुद्धिमान्, शान्त, अक्रोधी, सत्यवादी, निर्लोभी, सुख-दुःख और अहंकारसे रहित, दयायुक्त, परस्त्रीत्यागी, जितेन्द्रिय और गुरुका भक्त हो, वही मन्त्र लेने योग्य हो सकता है । इस तरह प्रायः सर्वत्र ही सदाचारकी महत्ता गायी गयी है ।

संतकी सरलता

संत जाफर सादिकका नाम प्रसिद्ध है । एक बार एक आदमीके रुपयोंकी थैली चोरी चली गयी भ्रमवश उसने इन्हें पकड़ लिया ।

आपने पूछा—'थैलीमें कुल कितने रुपये थे ?'

'एक हजार' उसने बताया ।

आपने अपनी ओरसे एक हजार रुपये उसे दे दिये ।

कुछ समय बाद असली चोर पकड़ा गया, रुपयेका स्वामी घबराया और एक हजार रुपये लाकर उनके चरणोंपर रखकर क्षमाके लिये उसने क्षमा-याचना की ।

आपने बड़ी नम्रतासे उत्तर दिया—'दी हुई वस्तु मैं वापस नहीं लेता ।'

संतके साधुतापूर्ण उज्ज्वल व्यक्तित्वपर वह मुग्ध हो गया और अपने पूर्वकृत्यपर पश्चात्ताप करने लगा ।

में विलुप्त हो जाते हैं। श्रद्धा, विश्वास और भावनाके अभावमें भगवान्‌का प्राकट्य भी लमें पूर्ववत् नहीं होता है। विषय-भोगेच्छा-से विचारहीन प्रवृत्ति बहुत बढ़ जाती है। के अभावमें आचारहीन प्रवृत्तिको रोकना कठिन ा है। आचार, व्यवहारकी अशुद्धतासे आधि-। आधिक्य हो जाता है और शारीरिक दौर्बल्य ता है। अतः इस घोर कलिकालमें सदाचारकी धिक आवश्यकता है।

से प्रकार भयंकर रोग हो जानेपर बहुत बड़ी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार सांसारिक विविध रोगोंसे पीड़ित मनुष्यके लिये आज सदाचारकी अधिक आवश्यकता है। आहार-व्यवहारके सदाचारोंसे जो आज शारीरिक और मानसिक कष्ट हो रहे हैं, वे किसी विवेकी व्यक्तिसे अप्रत्यक्ष नहीं हैं। दुराचारसे इहलोक तथा परलोक दोनों बिगड़ते हैं। आज मनुष्य यदि केवल अपने जीविका-कार्यमें सदाचारका पालन करे तो बहुत बड़ी अव्यवस्था दूर हो जायगी और समाजका बहुत बड़ा कल्याण होगा। इसी प्रकार आहारमें सदाचार बरतनेसे अनेक रोगोंसे मुक्त होकर मनुष्य दीर्घजीवी होगा। अतः वैयक्तिक अभ्युदयके साथ सामाजिक कल्याणके लिये आज सदाचरण मानव-जीवनके लिये परमावश्यक है।

चमत्कार नहीं, सदाचार चाहिये

गौतम बुद्धके समयमें एक पुरुषने एक बहुमूल्य चन्दनका एक रत्नजटित शराव (बड़ा प्याला) खम्भेपर टाँग दिया और उसके नीचे यह लिख दिया कि 'जो कोई साधक, सिद्ध या योगी इस शरावको किसी सीढ़ी या अङ्कुश आदिके, एकमात्र चमत्कारमय मन्त्र या यौगिक शक्तिसे उतार लेगा, मैं सारी इच्छा पूर्ण करूँगा।' फिर उसने इसकी देख-रेखके लिये वहाँ कड़ा पहरा भी नियुक्त कर दिया।

कुछ ही समयके बाद कश्यप नामके एक बौद्ध भिक्षु वहाँ पहुँचे और केवल उधर हाथ बढ़ाकर रावको उन्होंने उतार लिया। पहरेके लोग आश्चर्यचकित नेत्रोंसे देखते ही रह गये और कश्यप उस को लेकर बौद्धविहारमें चले गये।

बात-की-बातमें एक भीड़ एकत्रित हो गयी। वह भीड़ भगवान् बुद्धके पास पहुँची। सबने प्रार्थना की— न्! आप निःसंदेह महान् हैं; क्योंकि कश्यपने, जो आपके अनुयायियोंमेंसे एक हैं, एक शरावको, ऊँचे खम्भेपर टँगा था, केवल ऊपर हाथ उठाकर उतार लिया और उसे लेकर विहारमें चले गये।' नका इतना सुनना था कि वे वहाँसे उठ पड़े। वे सीधे चले और पहुँचे उस विहारमें सीधे कश्यपके। उन्होंने झट उस रत्नजटित शरावको पटककर तोड़ डाला और अपने शिष्योंको सम्बोधित करते हा—'सावधान! मैं तुमलोगोंको इन चमत्कारोंका प्रदर्शन तथा अभ्यासके लिये बार-बार मना करता है तुम्हें इन मोहन, वशीकरण, आकर्षण और अन्यान्य मन्त्र-यन्त्रोंके चमत्कारोंसे लोक (प्रतिष्ठा) का प्रलोभन ट है तो मैं सुस्पष्ट शब्दोंमें कह देना चाहता हूँ कि अबतक तुम लोगोंने धर्मके सम्बन्धमें कोई …नकारी नहीं प्राप्त की है। यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो इन चमत्कारोंसे बचकर केवल सदाचार-अभ्यास करो।'

(Carus' Gospel of Buddha p. 99 101)

प्रजा-पालनका सदाचार

प्राचीन समयकी बात है। कुरुवंशके देवापि और शांतनुमें एक-दूसरेके प्रति स्वार्थ-त्याग
पम भावना थी, यह भारतीय इतिहासकी एक विशेष समृद्धि है।

देवापि बड़े और शांतनु छोटे थे। पिताके स्वर्गगमनके बाद राज्याभिषेकका प्रश्न उठनेपर
तत हो उठे। वे चर्मरोगी थे, उनके शरीरमें छोटे-छोटे श्वेत दाग थे। उनकी बड़ी इच्छा थी
राज्य शान्तनुको मिले। इसीमें वे प्रजाका कल्याण समझते थे।

* * * *

'महाराज ! आपके निश्चयने हमारे कार्यक्रमपर वज्रपात कर दिया है। बड़े भाई
छोटेका राज्याभिषेक हो, यह बात समीचीन नहीं है,' प्रधान मन्त्रीके स्वरमें स्वर मिलाकर प्र
करबद्ध निवेदन किया।

'आपलोग ठीक कहते हैं, पर आपको विश्वास होना चाहिये कि मैं आपके कल्याणकी
कुछ भी कमी न रक्खूँगा। राजाका कार्य ही है कि वह सदा प्रजाका हितचिन्तन करता र
देवापिने छिपे तरीकेसे शांतनुका पक्ष लिया।

'महाराजकी जय !' प्रजा नतमस्तक हो गयी। शांतनुके राज्याभिषेकके बाद ही देवापिने
करनेके लिये वनकी ओर प्रस्थान किया। शंतनु राज्यका काम सम्हालने लगे।

* * * *

'प्रजा भूखों मर रही है। चारों ओर अकालका नंगा नाच हो रहा है। महाराज देवापि
वनगमनके बाद बारह सालसे इन्द्रने तो मौन ही धारण कर लिया है।' महाराज शंतनुने प्रधान
मन्त्रीका ध्यान अपनी ओर खींचा।

'पर यह तो भाग्यका फेर है, महाराज ! अनावृष्टिका दोष आपपर नहीं है और न इसके लिये प्रजा
ही उत्तरदायी है।'...... प्रधान मन्त्री कुछ और कहना चाहते थे कि महाराजने बीचमें ही रोक दिया।

'हम प्रजासहित महाराज देवापिको मनाने जायँगे। राजा होनेके वास्तविक अधिकारी तो
ही हैं।' प्रधान मन्त्रीने सहमति प्रकट की। महाराज शान्तनुकी चिन्ता दूर हो गयी।

* * * *

वास्तवमें जंगलमें मङ्गल हो रहा था। वनप्राप्त नागरिकोंकी उपस्थितिसे प्राणवान् था।
'भैया ! अपराध क्षमा हो। हमारे दोषोंकी ओर ध्यान न दीजिये। औचित्यका व्यतिक्रम करके मैं
राज्याभिषेक स्वीकार करनेपर और आपके वनमें आनेपर सारा-का-सारा राज्य भयंकर अनावृष्टिका शिकार
हो चला है। आप हमारी रक्षा कीजिये।' देवापिके कुटीसे बाहर निकलनेपर शांतनुने उनके चरण पकड़ लिये।

'भाई ! मैं तो चर्मरोगी हूँ, मेरी त्वचा दूषित है। मुझमें रोगके कारण राजकार्यकी शक्ति नहीं
थी, इसलिये प्रजाके कल्याणकी दृष्टिसे मैंने वनका रास्ता लिया था—यह सत्य बात है। पर इस समय
अनावृष्टिके निवारणके लिये तथा बृहस्पतिकी प्रसन्नताके लिये मैं आपके वृष्टिकाम-यज्ञका पुरोहित
बनूँगा।' देवापिने महाराज शंतनुको गले लगा लिया। प्रजा उनकी जय बोलने लगी।

* * * *

तपस्वी देवापि राजधानीमें लौट आये। उनके आगमनसे चारों ओर आनन्द छा गया। दोनों
भाइयोंके सद्भाव और औचित्य-पालनसे अनावृष्टि समाप्त हो गयी। यज्ञकी काली-काली धूमरेखाओंने
गगनको आच्छादित कर लिया। बृहस्पति प्रसन्न हो उठे। पर्जन्यकी कृपा-वृष्टिसे नदी-तालाब, वृक्ष
और खेतोंके प्राण लौट आये। देवापिने अपने आचरणसे प्रजाकी कल्याण-साधना की।

(बृहद्देवता अ० ७। १५५-५७, अ० ८। १-६।)

सत्-तत्त्व और सदाचार

(लेखक—पं० श्रीवैद्यनाथजी अग्निहोत्री)

सदाचार मानव-जीवनका अविच्छेद्य अङ्ग है। सदाचार-
[illegible]न जीवन सुखमय होता है। सदाचार साधन भी
और साध्य भी। सिद्धावस्थामें भी सदाचार या
[illegible]संग्रहका सर्वश्रेष्ठ स्थान है। सदाचारीकी संसारमें
[illegible]ष्ठा होती है और संसारातीत सत्तत्त्वकी प्राप्ति।
[illegible]त्व प्राप्त होनेपर जीवन सदाचारसे ओत-प्रोत हो
[illegible]ता है। सदाचारमें दो पद हैं—'सत्' और 'आचार'।
[illegible]का अर्थ है—त्रिकालाबाधित अखण्ड चेतन सत्ता
[illegible]वा दिक्-देश-कालादिकी अधिष्ठानभूत परम चेतन
[illegible]। 'उपनिषदें' कहती हैं—सदेव सोम्येदमग्र
[illegible]सीत्। तन्नित्यमुक्तमविक्रियं सत्यज्ञानानन्दं
[illegible]पूर्णं सनातनमेकमेवाद्वितीयं ब्रह्म। (पैङ्गलोप० १।१)
प्रियदर्शन! इस सृष्टिसे पूर्व सत् ही था।
नित्य, मुक्त, अविकारी, सत्य, ज्ञान, आनन्द,
[illegible]पूर्ण, सनातन एक ही अद्वितीय ब्रह्म था।'—
[illegible]व सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। (छान्दो०
[illegible]२।१) 'सोम्य! इस सृष्टिसे पूर्व सजातीय-
[illegible]तीयस्वगतभेदशून्य एक ही अद्वितीय सत् था।'
[illegible]यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म (तैत्ति० २।१) 'सत्य, ज्ञान
[illegible] अनन्तस्वरूप ब्रह्म है।'

यह सत् ही सत्य कहा गया है। वही ज्ञान,
[illegible]न्द, अनन्त, ब्रह्म, आत्मा, शिव, विष्णु, नारायण आदि
[illegible]से भी कहा जाता है। यह अखण्ड सत्तत्त्व ही
[illegible] [illegible]ष्ठान है और समस्त जडचेतनात्मक

परमानन्द प्राप्त करनेका साधन है—'आचार'। आचारको सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता, यह असीम है। जिस आचरण, व्यवहार, क्रिया, भक्ति, योग, उपासना, ज्ञानादिद्वारा परमेश्वरकी ओर अग्रसर होना है, वही आचार 'सदाचार' कहा जाता है। इससे विपरीत आचार 'दुराचार'संज्ञक होता है। फलाकाङ्क्षारहित परोपकार, दान, सत्सङ्ग, स्ववर्गा-श्रमानुकूल आचरण, भक्ति तथा ज्ञानादि अर्थात् शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक समस्त क्रियाएँ सदाचार हैं। ज्ञानोत्तरकालीन सत्तत्त्वमें रमण, क्रीडन आदि समस्त क्रियाएँ भी सदाचार ही हैं। इस प्रकार सदाचार साध्य, साधन और इनसे अतीत भी है।

प्रत्येक पुरुष मोक्षाकाङ्क्षी है। अमर जीवन, अखण्ड ज्ञान और अनन्त आनन्द कौन नहीं चाहता? वही ब्रह्मस्वरूप है और वही मोक्ष। मोक्ष ही मानवकी वास्तविक अभिलषित वस्तु है। तत्त्वतः मानव मुक्त होते हुए मोक्ष चाहता है; क्योंकि उसे बन्धनकी प्रतीति होती है। भ्रान्ति-निवारण कैसे हो आदिका साधनरूपसे वर्णन उपनिषदोंमें अतीव मार्मिक ढंगसे किया गया है। 'त्रिपाद्विभूतिमहा-नारायणोपनिषद्'में गुरु-शिष्य-संवादमें कहा गया है—

'कथं बन्धः कथं मोक्ष इति विचाराभावाच्च। तत्कथमिति अज्ञानप्राबल्यात्। कस्मादज्ञानप्राबल्य-मिति। भक्तिज्ञानवैराग्यवासनाभावाच्च। [illegible]

प्रश्न—बन्धन कैसे हुआ और मोक्ष कैसे होगा ? उत्तर—विचार न होनेसे बन्धन होता है । प्रश्न—यह विचार क्यों नहीं होता ? उत्तर—अज्ञानकी प्रबलतासे नहीं होता । प्र०—अज्ञानकी प्रबलताका कारण क्या है ? उ०—भगवद्भक्ति, ब्रह्मज्ञान तथा विषयोंमें वैराग्य-वासनाका न होना अज्ञानका कारण है । प्र०—उनका अभाव क्यों है ? उ०—अन्तःकरण अत्यन्त विशेषरूपसे मलिन होनेके कारण । प्र०—संसार-सागरसे पार जानेका क्या उपाय है ? उ०—उस उपायका कथन सद्गुरु करते हैं—समस्त वेद तथा शास्त्रोंका सिद्धान्त और रहस्य है कि अनेक जन्मोंके अभ्यास और अत्यन्त उत्कृष्ट शुभकर्मोंके परिपाकके फलस्वरूप सज्जन पुरुषोंका सङ्ग होता है । उनके द्वारा वर्णाश्रमविहित तथा निषिद्ध कर्मोंका विवेक उत्पन्न होता है । तब वर्णाश्रमविहित कर्म अर्थात् सदाचारमें प्रवृत्ति होती है । सदाचारसे समस्त पापोंका विनाश होता है । उससे अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल हो जाता है । यही मूल है मोक्षका, मुक्तिका और स्वस्वरूप-प्राप्तिका । अस्तु ।

अन्तःकरण निर्मल होनेपर सद्गुरु-कृपाकी आकाङ्क्षा होती है । जब सद्गुरुकी कृपादृष्टि होती है, तब भगवत्कथाश्रवण तथा ध्यानादिमें श्रद्धा उत्पन्न होती है । इससे हृदयमें स्थित अनादिकालीन दुर्वासना-ग्रन्थिका विनाश होता है और हृदयमें स्थित समस्त कामनाएँ प्रक्षीण हो जाती हैं । फिर हृदयकमलकी कर्णिकामें परमात्माका आविर्भाव होता (आभास मिलने लगता) है । इसके अनन्तर परमात्मामें सुदृढ़ वैष्णवी भक्ति उत्पन्न होती है । भक्तिसे वैराग्योदय होता है और वैराग्यसे बुद्धिमें विज्ञानका आविर्भाव होता है । ज्ञानाभ्यास करनेपर क्रमशः ज्ञान परिपक्व हो जाता है । परिपक्व विज्ञानसे मानव जीवन्मुक्त होता है । समस्त शुभाशुभ कर्म और जन्म-जन्मान्तर तथा कल्प-कल्पान्तरकी वासनाएँ नष्ट हो ... फिर इसके बाद शुद्ध सात्त्विक वासनासे अतिशय भक्ति होती है । निरतिशय भक्तिसे उत्पन्न ... सर्वमय नारायण प्रकाशित होने लग जाते हैं । ... संसार नारायणमय ही दिखायी पड़ता है ... तत्त्वतः नारायणके अतिरिक्त और कुछ नहीं है—

भक्त्यतिशयेन नारायणः सर्वमयः सर्व... विभाति । सर्वाणि जगन्ति नारायण... प्रविभान्ति । नारायणव्यतिरिक्तं न किञ्चि...

(त्रिपाद्वि० अ० ...)

जीव किस प्रकार परमात्मस्वरूप होता है, ... दृष्टान्त-वर्णन इस उपनिषद्में इस प्रकार है—

'अहं ब्रह्मेति भावनया यथा परमतेजोमहा... प्रवाहपरमतेजःपारावारे प्रविशति । ... परमतेजःपारावारतरंगाः परमतेजःपारा... प्रविशन्ति, तथैव सच्चिदानन्दात्मकोपासकः ... परिपूर्णाद्वैतपरमानन्दलक्षणे परब्रह्मणि नारा... मयि सच्चिदानन्दात्मकोऽहमजोऽहं परिपूर्णोऽ... स्मीति प्रविवेश । तत उपासको निस्तरंगाद्वैताप... निरतिशयसच्चिदानन्दसमुद्रो बभूव । यस्त्व... मार्गेण सम्यगाचरति स नारायणो भवत्यसंशयमे...

(त्रिपाद्विभू० महोप० अ० ...)

'जैसे अतीव वेगवती महानदीका प्रवाह महा... प्रवेशकर महार्णवस्वरूप हो जाता है अथवा ... परम तेज सागरकी तरंगें परम तेज सागरमें प्र... करती हैं, वैसे ही मैं ब्रह्म हूँ—इस भाव... सच्चिदानन्द आत्माका उपासक सर्वपरिपूर्ण, अद्वै... परमानन्दस्वरूप, मुझ परब्रह्म नारायणमें, ... सच्चिदानन्दात्मक हूँ, अजन्मा हूँ तथा मैं परिपूर्ण हूँ—इस रूपसे प्रवेश करता है । वह उपासक तरंगरहित अद्वैत, अपार, निरतिशय, सच्चिदानन्दसमुद्र हो ... है । जो इस मार्गसे भलीभाँति आचरण करता है वह नारायण ही होता है, इसमें संदेह नहीं ।

स प्रकार जन्म-मरणशील प्राणी सदाचारद्वारा बुद्ध, मुक्तस्वरूप परब्रह्म परमेश्वर ही हो जाता सर्वात्मभावापन्न प्राणी अकर्ता, अभोक्ता होता भी कर्ता, भोक्ता प्रतीत होता है। वह कर्तव्या-से अतीत होता है, जीवन्मुक्त होता है और स्वरूप होता है। श्रुतिका कथन है—

ःसंत्यक्तसर्वाशो वीतरागो विवासनः।
ःसर्वसमाचारो लोके विहर विज्वरः॥
(महोप० ६।६७)

अन्तःकरणद्वारा समस्त आशाओंका भलीभाँति र, वीतराग तथा वासनाशून्य होकर बाहरसे समाचार—सदाचार करते हुए, संसारमें संतप्त-होकर विचरण करो।' ब्रह्मज्ञानीमें ही वास्तविक शम, शान्ति, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान आदि र निवास करते हैं। उसमें अपने-परायेका भेद होता। वह समस्त संसारको स्वस्वरूप समझता कहा भी है—

अयं बन्धुरयं नेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥
(महो० ६।७१)

'यह बन्धु है, यह बन्धु नहीं है—इस प्रकारकी भावना क्षुद्रचित्तवालोंकी होती है। उदार चरित्रवालों सदाचारियोंका कुटुम्ब तो संसार ही है।'

आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः
(मुण्ड० ३।४)

'आत्मक्रीड तथा आत्मरति क्रियावान् ऐसा ब्रह्मवित् वरिष्ठ होता है।' आत्मामें रमण करना, आत्मामें क्रीडन करना तथा आत्मामें ही संतुष्ट रहना—यही सर्वश्रेष्ठ सदाचार है। सत्तत्त्व प्राप्त कर लेनेपर जीवन सदाचारमय हो जाता है। सदाचारसम्पन्न व्यक्तिके सम्पर्कमें जो भी आता है, वह सदाचार-सम्पन्न हो जाता है। अतः साध्य, साधन तथा सिद्धावस्थामें भी ब्रह्मवेत्ता सत् आचारसे ओत-प्रोत रहता है, यही तत्त्वतः सत्तत्त्वका सदाचार है।

आचार-धर्म

(लेखक—पं० श्रीगदाधरजी पाठक)

अपना हित तथा ... मी ... कि ... ॥ ... ॥ ... ८१२)

स्वाभाविक सदाचारमें स्थित रहता हो, वही आर्य है।'

अब प्रश्न यह है कि कर्तव्य क्या है और अकर्तव्य क्या है तथा आर्योंका, हिंदुओंका प्रकृतिसिद्ध आचरण क्या है, इस प्रश्नका उत्तर मनु महाराज देते हैं—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥
(२।६)

आर्यजनोंके धर्मका, कर्तव्यका ज्ञापक सम्पूर्ण वेद है। इसके अतिरिक्त वेदके जाननेवाले ऋषि-मुनि लोग जो स्मृति आदि ... उनमें भी धर्मका वर्णन ... है, वह भी हमको ... इसके सिवा अन्य साधु-

पुरुषोंका जो आचार देखते हैं वह भी धर्मयुक्त है। इन सबके साथ ही कर्तव्याकर्तव्यकी परीक्षा करनेके लिये मनुजीने एक बहुत ही उत्तम उपाय बताया है और वह है—'आत्मतुष्टि'। जिस कर्तव्यसे हमारी आत्मा संतुष्ट हो, मन प्रसन्न हो, वही धर्म है; अर्थात् जिस कार्यके करनेमें हमारे आत्मामें भय, शङ्का, लज्जा, ग्लानि इत्यादिके भाव उत्पन्न न हों, उन्हीं कर्मोंका सेवन करना उचित है। देखिये, जब कोई मनुष्य मिथ्या-भाषण, चोरी, व्यभिचार इत्यादि अकर्तव्य-कार्योंकी इच्छा करता है, तभी उसकी आत्मामें भय, शङ्का, लज्जा, ग्लानि इत्यादिके भाव उठते हैं और मनुष्यकी आत्मा स्वयं उसको ऐसे कार्योंके करनेसे रोकती है। इसलिये सज्जन पुरुषोंको जब कभी कर्तव्यके विषयमें संदेह उत्पन्न होता है, तब वे अपने आत्माकी प्रवृत्तिको देखते हैं। वे सोचते हैं कि किस कार्यके करनेसे हमारे आत्माको धर्मके विषयमें भय न होगा; और ऐसा ही कार्य वे करते भी हैं। महाकवि कालिदासने भी कहा है—

सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।
(अभिज्ञानशाकुन्तल १)

संदेह उपस्थित होनेपर सत्पुरुष लोग अपने अन्तःकरणकी शुद्ध प्रवृत्तियोंको ही प्रमाण मानते हैं। अन्तःकरणकी स्वाभाविक शुद्ध प्रवृत्ति सदाचार है और सदाचारसे ही चित्त प्रसन्न होता है। भगवान् पतञ्जलि इस चित्तप्रसन्नतारूप सदाचारका वर्णन इस प्रकार करते हैं—**मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्॥** (योगदर्शन)

अर्थात् मैत्री—संसारमें चार प्रकारके [मनुष्य होते] हैं—सुखी, दुःखी, धर्मात्मा और पापी। इन चार प्रकारके लोगोंसे यथायोग्य व्यवहार करनेसे [चित्त] प्रसन्न होता है—मनको शान्ति मिलती है। जो लोग सुखी हैं उनसे मैत्री या प्रेमका बर्ताव [करना] चाहिये, जो लोग दीन-हीन, दुःखी, पीड़ित हैं [उनपर] करुणा या दया करनी चाहिये। जो [पुण्यात्मा] पवित्र आचरणवाले हैं, उनको देखकर [हमें] हर्षित होना चाहिये और जो दुष्ट दुराचारी [हैं] उनसे उदासीन रहना चाहिये, अर्थात् उनसे न [प्रेम] करे और न वैर। इस प्रकारके व्यवहार करनेसे [हम] अपने-आपको उन्नत कर सकते हैं, सद्भावनाओंकी [वृद्धि] और असद्भावनाओंका त्याग करनेके लिये यही सदाचार[का] मार्ग ऋषियोंने बताया है। जिन सज्जनोंने ऐसा [आचरण] धारण किया है, उन्हींको लक्ष्य करके राजर्षि भर्तृहरि [उन्हें] प्रणाम करते हुए कहते हैं—

वाञ्छा सज्जनसङ्गमे परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद् भयम्।
भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खले-
ष्वेते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नमः॥
(नीतिशतक ६१)

'सज्जनोंके सत्सङ्गकी इच्छा, दूसरोंके सद्गुणोंमें प्रीति, गुरुजनोंके प्रति नम्रता, विद्यामें अभिरुचि, अपनी स्त्रीमें रति, लोकनिन्दासे भय, ईश्वरमें भक्ति, आत्मदमनकी शक्ति, दुष्टोंके संसर्गसे मुक्ति (बुरी संगतिसे बचना)—ये निर्मल गुण जिसके मनमें बसते हैं, उस सदाचारी पुरुषको हमारा नमस्कार है।'

ईश्वरीय पथका सदाचार

संसारमें मनुष्य अहंभावके कारण अनेक कष्ट सहता है, लक्ष्मी चञ्चला और क्षणस्थायि[नी है], लाभके साथ हानि छायाकी भाँति रहती है। जीवात्माको परमात्माका अंश समझकर मृगतृष्णाको छोड़ो। [...] प्राप्त करो और ईश्वरके मार्गमें प्रविष्ट हो।

—आचार्य

सदाचारका आधार सद्विचार

(लेखक—श्रीशिवानन्दजी)

पशुजगत्‌की तुलनामें मनुष्यकी विशेषता—उसके ार और आचार हैं । विचार और आचार एक के पूरक हैं तथा परस्परसम्बद्ध भी । इन दोनोंमें र प्रमुख है तथा आचार गौण । यदि किसी ारके पीछे उसे सबल एवं स्थैर्य देनेवाला कोई सम्प्रेरक र नहीं है तो वह उत्तम होकर भी प्रभावहीन ही ा है । विचारकी उत्कृष्टता अथवा निकृष्टताका प्रभाव ारपर अवश्य ही पड़ता है । आचारकी उत्तमता ा अधमताका निर्णय केवल उसके बाह्य स्वरूपसे नहीं, प्रत्युत उसके पृष्ठगत विचारसे भी होता है ।

मनुष्यमें ऊँचा उठनेकी स्पृहा बहुत गहरी होती है उसकी आत्यन्तिक तृप्ति इसकी पूर्तिपर आधृत होती । स्वप्नमें ऊपर उठकर आकाशमें उड़ना कदाचित् का द्योतक है । मनुष्यको वायुयानद्वारा ऊँचे र स्वयं गगनविहार करना तथा पक्षियोंको ऊँचे र विशाल व्योममें मँडराते हुए देखना उल्लास न करता है । पक्षिगण ऊँचे—बहुत ऊँचे उड़कर अद्भुत आनन्दका अनुभव करते हैं । मनुष्यने व दीपार्चिसे, जो ऊर्ध्वगमनमें सचेष्ट रहकर प्रकाश- करती रहती है, प्रेरणा प्राप्त की है । ऊर्ध्वगामी के ही दूसरोंको प्रकाश दे सकता है । क्षुद्र स्वार्थकी के लिये भोगैश्वर्य-सामग्रीका संचय एवं पद, ा और ख्यातिकी प्राप्तिसे भौतिक उन्नति अथवा ति तो हो सकती है; किंतु उनसे मनुष्यकी न तो तृप्ति होती है और न उसका कल्याण ही । तुच्छ स्वार्थसे हटकर वैचारिक स्तरपर ऊँचा उठनेमें ही मानवका कल्याण होता है ।

इस संसारमें जो कुछ भी मानव-जगत्‌की हलचल है, उसके पृष्ठमें एक सूक्ष्म विचार-जगत् है । कुटुम्ब, राष्ट्र एवं संसारमें समस्त क्रिया-कलापका सूत्र विचार ही है । व्यक्ति और समाजके कर्मका बीज विचारमें ही निहित होता है, विचारकी महिमा अकथ्य है । व्यक्ति, कुटुम्ब, राष्ट्र एवं संसारके अभ्युदय, सुखशान्ति और कल्याणके लिये विचारका परिष्कार एवं परिमार्जन होना परम आवश्यक है । सद्विचारसे बुद्धिको संस्कृत या चमत्कृत किया जा सकता है । सद्विचारसे मनुष्य बन्धनमुक्त हो जाता है । वैचारिक मोक्ष ही मनुष्यका मोक्ष है । अतः विचार सदाचारका उपेय पाथेय है । देखना यह है कि विचारका स्वरूप क्या है ।

मनके क्षेत्रमें चेतनास्तरपर विचारका आविर्भाव होता है, जैसे अगाध जलमें तरंगका उद्भव होता है । विचार सूक्ष्म एवं निराकार होता है । विचारकी शक्ति निःसीम और उसका प्रभाव अपरिमेय होता है । शब्दके रूपमें प्रवाहित एवं प्रसारित होनेपर विचार स्थूलता ग्रहण कर लेता है । विचार शब्दातीत होता है तथा शब्द उसकी अभिव्यक्तिका एक स्थूल माध्यम है । विचार ही शब्दकी आत्मा है, जिसके बिना वह निर्जीव एवं निष्प्रभाव हो जाता है । सद्विचार सदाचारका उपजीव्य होता है । सादा जीवन उच्च विचार उसीकी परिणति है ।

महात्माका मौन विद्वान्‌की मुखरतासे अधिक प्रभाव-शाली होता है । सत्पुरुषके पवित्र मनकी अव्यक्त विचार-तरंग जनमानसको अलक्षित रूपमें आकृष्ट कर लेता है तथा उसके सरल शब्द मनको मुग्ध कर लेते हैं । ऋषिगण, बुद्ध, महावीर, कबीर, नानक, सुकरात, कन्फ्यूशस, ईसा और मोहम्मदकी सहज वाणी उद्बोधक एवं कालजयी है । महात्मा तुलसीके उदात्त मानससे समुद्भूत विचारोंकी सहजाभिव्यक्ति अमर है । आन्तरिक

स्पष्टता एवं निर्मलता विचारको पुष्टिमान् बना देती है। वाग शौचको भी वैचारिक शुद्धता ही चरितार्थ करती है।

चिन्तन, मनन, अनुभव और अनुभूतिसे सम्पुष्ट विचार आचरणद्वारा अभिव्यक्त होनेपर प्रभावोत्पादक हो जाता है। पवित्र मनमें गहरे स्तरपर साक्षात्कृत विचार ही 'दर्शन' हो जाता है। स्वच्छ विचारके आदान-प्रदानसे मनका मैल धुलता है। ज्ञान, अनुभव और अनुभूतिका आधार लेकर सहज भावसे सीधा सोचना, सीधा बोलना तथा आचरण करना अपना और दूसरोंका हित-सम्पादन करना किया जा सकता है। विचार, वचन और आचरणमें एकरूपताका होना व्यक्तिके सम्बल एवं प्रभावको दृढ़ कर देता है।

विचार ज्ञान-विज्ञानकी आत्मा है, विचार ही प्रकाश है, विचार ही समस्त प्रगतिका मूलाधार है। विचार ही कर्म-प्रेरक होता है तथा वैचारिक प्रेरणासे कर्म महान् हो जाता है। विचार मानवमात्रकी सम्पदा है, उसपर किसीका एकाधिकार नहीं होता। विचार-स्वातन्त्र्य सम्मानका गौरव होता है। पर उसे संत हैं ... विचार और उसकी अभिव्यक्ति ... आत्मा जीवनमें स्वातन्त्र्य चेतनाके ... देती है। विचारका वरवस लादना विचार ... हिंसा है। विचारका विकास, प्रचार एवं प्रसार ... एवं संस्कृतिकी उन्नतिका प्रतीक है।

धर्मके दो प्रमुख अङ्ग हैं—(१) विचार और (२) आचार। रामका उदात्त चरित्र सद्विचार और सदा... समन्वित उत्कृष्ट उदाहरण है। अतएव 'रामो विग्रह... धर्मः।'—राम स्वयं धर्मकी साक्षात् मूर्ति हैं। ... अपने सद्विचार और सदाचारद्वारा उपनिषद्के ... उपदेश 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' (त्यागपूर्वक भोग) ... चरितार्थ करके मानवमात्रके समक्ष सदाचारका ... आदर्श प्रस्तुत कर दिया है। निदान, सदाचा... प्रतिष्ठाके लिये वैचारिक मर्यादाका पालन और ... नितान्त आवश्यक है। वस्तुतः विचार ही सदाचा... आधार है।

आर्य-नारीका सदाचार-विचार

अपनी पुत्रीके दृढ़ धर्मनिश्चयको देखकर धर्मात्मा नरेशने अधिक आग्रह करना उचित नहीं मा... अचिर वैधव्यकी सूचना देनेवाले देवर्षि नारदजीने भी सावित्रीके निश्चयकी प्रशंसा की। राजा अश्वप... कन्यादानकी सब सामग्री लेकर वनमें राजा द्युमत्सेनकी कुटियापर गये और वहाँ उन्होंने विधिपूर्वक अ... पुत्रीका विवाह सत्यवान्‌के साथ कर दिया। विवाहकार्य समाप्त होनेपर राजा अश्वपति ... राजधानी लौट आये।

पिताके लौट जानेपर सावित्रीने रत्नजटित सब गहने और बहुमूल्य रंग-बिरंगे वस्त्र उतार दिये... जब सावित्रीने बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण उतारे और पहननेके लिये साससे नम्रतापूर्वक वल्क... वस्त्र माँगे, तब सासने विषण्ण होकर उससे कहा—'बेटी! तुम राजकन्या हो। अपने पिताके दिये ... वस्त्राभूषणोंको पहनो।'

सावित्रीने सविनय उत्तर दिया—'मैं आपके पुत्रकी सेविका हूँ। आप तथा मेरे पूज्य श्वशुर एवं मे... स्वामी जैसे रहते हैं, वैसे ही मैं भी रहूँगी। उससे अधिक सुख मेरे लिये सर्वथा त्याज्य है। मैं आप... अपेक्षा उत्तम वस्त्र एवं आभूषण कैसे पहन सकती हूँ? मेरे लिये सच्चा आभूषण तो आप गुरुजनोंकी सेवा ही है।'

वह वल्कल वस्त्र पहनकर मुनि-पत्नियोंकी भाँति रहने लगी। सावित्री अपने शील, सेवा, इन्द्रिय संयम, मधुर वाणी तथा सदाचारपरायणताके कारण सबका प्रेम-भाजन ह... तथा पतिकी सेवामें वह निरन्तर तत्पर रहती थी। उसकी सदाचारिताने उसके प... विल...

... यमराजपर विजयी ...

सदाचारका प्रशस्त व्रत

(लेखिका—साध्वी श्रीकनकप्रभाजी)

रीकाके प्रसिद्ध विचारक हेनेरी थोरोने किसी
ते सस्ते मूल्यपर कुछ भूमि खरीदी। किसानने घर
भूमि-विक्रयकी बात अपनी पत्नीसे बतायी।
वह बात उचित न लगी; क्योंकि किसानने
भावसे बहुत कम मूल्यमें अपनी जमीन बेच
। पत्नीके परामर्शसे वह पुनः हेनेरीके पास
और जमीनका सौदा रद्द करनेके लिये अनुनय-
रने लगा। हेनेरीने इसका कारण पूछा तो वह
—मेरी पत्नी इस सौदेसे संतुष्ट नहीं है। उनकी
के लिये मैं सौदा वापस करनेकी प्रार्थना कर रहा
तना कहनेपर हेनेरी सहमत नहीं हुआ तो
अपनी जेबसे दस डालर निकालकर उसके हाथमें
पे। हेनेरीने पूछा—यह क्यों? किसानने उत्तर
—'इसे आप हर्जानेके रूपमें स्वीकार करें।' हेनेरीकी
र आँखें किसानके चेहरेपर टिक गयीं, वह
होकर बोला—'हर्जाना किस बातका?' इस बार
थोड़ा मुस्कराया और कहने लगा—मेरी
ता।

नेरीने दो क्षण चिन्तन किया और किसानका
पने हाथमें लेकर कहा—'भैया! तुम्हारी दृष्टिमें
र्जाना है और मेरी दृष्टिमें चोरी। मैं तुम्हारा
हूँ; क्योंकि तुमने मुझे अपने अपराधका बोध करा
। मुझे यह पता भी चल जाता कि मैंने सस्ते
भी मैं तुम्हारे पास नहीं
माँगते तो भी मैं नहीं
अपने
ता
द रहे
। ये

दस डालर भी अपने पास रखो और सौदा भी वापस कर
लो। आज तुमने मुझे एक अपराधसे बचा लिया,
इसलिये मैं तुम्हें अपना पथदर्शक मानता हूँ।' हेनेरीका
भीतरी सदाचार बोल रहा था।

यह एक छोटी-सी घटना है, पर इसके भीतरसे
बहती हुई सदाचारकी सरिता किस समझदार व्यक्तिके
तन-मनको न भिगो देगी। सदाचार मनुष्यका शृङ्गार है।
सदाचारी व्यक्ति स्वयं सुखी रहता है तथा अपने
सम्पर्कमें रहनेवाले लोगोंको सुख-शान्तिकी ओर अग्रसर
करता है। सदाचारके द्वारा व्यक्ति यश और वैभव ही
प्राप्त नहीं करता, श्रेयस् और मोक्षके पथपर अग्रसर भी
होता है। असद् आचार व्यक्तिके गुणोंको वैसे ही
समाप्त कर देता है जैसे शीतदाहमें उगते हुए पौधे
झुलस जाते हैं।

आचार्य सोमप्रभसूरिने सदाचारकी गरिमा गाते हुए
लिखा है—

> वरं विभववन्ध्यता सुजनभावभाजां नृणा-
> मसाधुचरितार्जिता न पुनरूर्जिताः सम्पदः।
> कृशत्वमपि शोभते सहजमायतौ सुन्दरं
> विपाकविरसा न तु श्वयथुसम्भवा स्थूलता॥'
>
> (सूक्तिमुक्ता०)

'सदाचारी व्यक्ति यदि दरिद्र भी है तो वह सब
लोगोंके लिये आदर्श अनुकरणीय है और प्रशस्य है;
किंतु दुर्जनतासे प्राप्त विशाल सम्पदामें भी कोई सार
नहीं है। शरीरकी स्वाभाविक कृशता भी व्यक्तिको
सौन्दर्य प्रदान करती है, पर शोथजन्य स्थूलता नहीं।'

व्यक्तिके हाथमें जब रत्न-माणिक्यादि आ जाते
हैं तो कंकड़-पत्थर स्वयं छूट जाते हैं।

उनका व्यामोह कौन रखता है । इसी प्रकार जब जीवनमें सदाचार आ जाता है तो दुराचार स्वयं छूट जाता है । दुराचारको अपने पाँव जमानेके लिये स्थान वहीं मिलता है, जहाँ सदाचारका पहरा नहीं रहता । प्रहरी सजग होता है तो घरमें चोर नहीं घुस सकते; क्योंकि सजग व्यक्तियोंके सामने जानेमें वे स्वयं घबड़ाते हैं । सदाचार इतना जागरूक प्रहरी है कि इसको जो व्यक्ति अपना लेता है, उसके जीवनमें दुर्गुणरूप चोरोंका प्रवेश हो ही नहीं सकता।

सदाचारी व्यक्तिमें आत्म-ख्यापन और परदोष-दर्शनकी वृत्ति नहीं होती । वह दूसरे लोगोंके सामान्य गुणोंका भी निरन्तर गान करता रहता है । वह दूसरोंकी प्रतिष्ठा और समृद्धि देखकर ईर्ष्या नहीं करता, अपितु प्रसन्न ही होता है । उन्हें विपत्तिमें पर वह व्यथित हो जाता है । वह किसी भी न्यायनीतिसे विमुख नहीं होता, औचित्य नहीं करता और अपना अप्रिय करनेवालोंके प्रति भी दुर्भावना नहीं रखता । सद्भावना सब मूल है । ऐसे सदाचारी व्यक्ति जिस किसी समाज या राष्ट्रमें होते हैं, वह परिवार, समाज गौरवशाली होता है । ऐसे व्यक्तियोंसे ही राष्ट्र जाग्रत् होती रहती है । भारत-जैसे अध्यात्मप्रवण जन-जीवन सदाचारसे अनुप्राणित रहे, यह सबसे बड़ी अपेक्षा है । हमारा यह देश धर्मप्राण है, और धर्मका एक मुख्यरूप सदाचार है, अतः सदाचार-निष्ठाकी आज सर्वाधिक आवश्यकता है।

वन्य तीर्थस्थलीमें सदाचारकी एक झलक

(लेखक—पं० श्रीकामेश्वरजी उपाध्याय, शास्त्री)

स्नेहमयी प्रकृति माताकी पावन गोदमें—जो छल-छद्मसे सर्वथा अछूता था—हम चार साथी श्रमोत्पन्न क्लान्तिको मिटा रहे थे । वृक्षोंकी डालियों एवं फूलोंके बीचसे बहकर आता हुआ पवन श्रमसीकरमें लगकर एक दिव्य आनन्दकी अनुभूति प्रदान कर रहा था । यहाँके शान्त पत्थरोंमें भी एक शुद्ध सदाचार झलक रहा था । उस दिन भोजन करनेके लिये हमलोग घरका ही बनाया हुआ भोजन पर्याप्त मात्रामें लाये थे । थोड़ा-सा जलपान कर पुनः विश्राम करने लगे । फाल्गुन मासकी वासन्ती वायु एवं स्वर्णिम वनप्रान्त हृदयको रोमाञ्चित कर देता था ।

मैं यह बताना भूल रहा था कि हमलोग यहाँ गये थे । वेदविश्रुत भगवान् शिवके दर्शनकी उत्कण्ठाने हमलोगोंको गुप्तधाम* जानेके लिये प्रेरित किया । कथा-प्रसङ्ग शिवपुराणका है तात्पर्य इस गुप्तधामकी प्रसिद्धि आख्यायिका शिवपुराणसे सम्बद्ध है । तपस्यानि भस्मासुरको आशुतोषकी अतुल एवं अगाध कृपा विश्वविजयी बननेका महत्त्वाकाङ्क्षी बना दिया था मन्मथारिकी सद्यःसम्भूता दयासे राक्षसोंने सर्वत्र अन उल्लू सीधा किया है । परंतु विश्वेश्वर यदि ऐसा न करते तो भक्तोंकी भी दशा दयनीय हो जाती । दुष्कर्म कारियोंको दुष्कृतका फल भोगना पड़ता । प्रभुके त पूत अन्तःकरणमें बुरे भावोंका प्राकट्य ही नहीं होता । देवोंके सिरपर चढ़नेवाला सुमन संयोगवश शवपर भी चढ़ जाता है, परंतु इससे उसकी अलौकिक विशेषतामें कोई कमी नहीं आती । दानी क्षणभरमें अपना सर्वस्व लुटा सकता है । उसे तो केवल माँगनेवालोंकी आवश्यकता होती है । यदि एक

ग मनुष्य ऐसा कर सकता है तो जगल्लीलामें प्रभु जिनका एकमात्र उद्देश्य भक्त-मनोरञ्जन भक्तोंकी इष्टसिद्धिके लिये क्या नहीं कर सकते। योनियों (races)—मनुष्य अथवा राक्षससे कोई नहीं। उनके प्रशस्त पुण्यपथमें वर्गकी भी बाधक नहीं हो सकती। भक्तोंका हृदय क्रीडा-स्थल होता है। जिसकी प्रवृत्ति राक्षसी है, वह प्रभुके अनुग्रहका लाभ गलत ढंगसे है। गोमाताके स्तनमें भी लिपटकर जोंक पयका पान न कर तृणादिसे निर्मित शोणित ही। कविने ठीक ही कहा है—

नर मांस व्याघ्र जब पाता है,

कुछ और क्रूर हो जाता है।'

स्थिति उस राक्षसाधमकी हुई। आशुतोष भगवान्ने र देनेको कह दिया। उस पिशाचने भयंकर प्रस्तावनाको उमापतिके समक्ष उपस्थापित "प्रभो! आपकी कृपासे मेरा हाथ जिसके फिर जाय, उसका सर्वनाश हो जाय।' प्रभु थे। अतः असुरकी अभिलाषाने यहाँ विजय प्रभुके विद्रुमसदृश होठ विस्फारित हुए और मुखसे निकल पड़ा—'एवमस्तु।' पर उस इच्छा अब प्रभुके वरद हाथकी नहीं, अपने भयंकर री हाथकी शक्तिको देखनेकी हुई। संनिकटमें स्वयं ही थे, जो आकाशमें काँप रहे थे। तो अपनी भूल समझमें आ गयी थी, पर विवशता थी। मुखोद्गमित वरदानको लौटाया सकता था। तबतक उस दुराचारीकी दृष्टि गिरी अनुपम एवं लावण्यपूर्ण सौन्दर्यपर नकी पदरेणुको भक्त श्रद्धापूर्वक स्वमस्तकपर ... उन्हीं माँकी श्रीको कुत्सित करनेकी प्रबल इच्छा उस पशुको उत्पन्न हुई। जिन माँकी भ्रूभङ्गिमासे सृष्टिमें प्रलयका ताण्डवनृत्य होने लगता है, जिनके हुंकारादिसे विश्वजयी अजरामर महिषासुर, शुम्भ, निशुम्भ इत्यादि दैत्य भस्मसात् हो गये, उन्हीं माँके सौन्दर्यको दुष्टने बलात् पानेकी इच्छा की।

कहते हैं, जब मौत सिरपर छाती है तो प्रायः भले लोगोंकी भी बुद्धि मारी जाती है—'**धियोऽपि पुंसां मलिनी-भवन्ति**' फिर उस अधमके विषयमें तो कहना ही क्या, अतः मोहग्रस्त उस दैत्यने स्वमार्गमें महादेवजीको बाधक समझकर उनका ही अस्त्र उन्हींपर चलानेकी ठानी।

समयकी कुटिल गतिने मृत्युंजयको परेशान कर दिया। प्रभु भाग चले। आगे-आगे महादेवजी भागे और पीछेसे भस्मासुर। विनाशकारी हाथ! त्रैलोक्यका चक्कर लगानेके बाद भी भस्मासुर उनके पीछे ही दौड़ पड़ रहा था। विन्ध्या-चल पर्वत तब गहन कानन एवं उच्चतामें सूर्यके प्रकाश तथा गतिके अवरोधकके रूपमें ख्याति प्राप्त कर चुका था।* उसका निर्दिष्ट भाग इस समय कैमूर पहाड़ी अथवा विन्ध्यपर्वतके नामसे प्रख्यात है। मामाराम (बिहार)से लगभग चौदह मील दूर दक्षिण दिशामें स्थित उक्त पर्वतमें एक रम्य गुफा है। महादेव भागते-भागते यहीं पहुँचे। वे प्रायः थक चुके थे। वह राक्षस **अब** भी उनके पीछे दौड़ रहा था। प्रभु विवश होकर स्वयंको छिपानेके लिये इस गुफामें प्रविष्ट हो गये। दुष्ट दैत्य यह सब देख रहा था। परंतु वह अवश्यम्भावी भवितव्यताको कैसे मिटा सकता था।

इधर अपने आराध्य देव शिवको प्रत्यक्ष प्रपन्न देख श्रीविष्णुभगवान्के विशाल बाहुद्वय फड़क उठे। उन्हें साधुरक्षाकी अपनी '**परित्राणाय साधूनां**' प्रतिज्ञा याद हो आयी। फिर क्या था? तत्काल अन्तरिक्षको व्याप्त करते हुए वहाँ एक दिव्य आलोकका प्रादुर्भाव हुआ। पार्वतीजीका रूप धारणकर उस दुष्टको मोहनेके लिये वासुदेवने स्वमायाका विस्तार किया। वे मधुर वाणीमें

* शास्त्रोंकारके अनुसार यह अभी गुरु महाराजके चरणोंमें पड़ा हुआ है। इसने पूर्व यह आकाशतक बढ़कर अपनी ऊँचाईसे सूर्यकी गतिको रोके हुआ था।

पर निर्भरशील और उन्मुख हो रहे हैं। अपनी और संस्कृतिको लोग केवल हास्यके रूपमें देख पाश्चात्य देशके मनीषी जिन नियमाचारोंको समाप्त जा रहे हैं, भारतीय उन्हीं नियमाचारोंको अपना रहे की स्थिति तो अब—'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः' की जाती दीखती है। आज सद्वृत्तियों और सदाचार-होता चला जा रहा है। अहर्निश उत्पीडन और की वृद्धि हो रही है। आज हम अपने वास्तविक ज्ञानको खोकर ऐसे भ्रष्ट पथका सहारा ले रहे हैं, जो सदाचार और सद्वृत्तियोंसे हीन है। वस्तुतः यदि हम अपने अध्यात्मज्ञान और लोकज्ञानका यथार्थ प्रयोग करें तो हम जगद्गुरु बन सकते हैं और हमारा देश जगद्गुरु बन सकता है। अतः हमें अपनी सभ्यता और संस्कृतिको जीवित रखनेके लिये अपने पूर्वजोंके अपनाये गये प्रशस्त पथपर ही चलना पड़ेगा। हमारी ये प्राचीन आध्यात्मिक शिक्षाएँ भी जीवन-यापन-विधियोंकी निर्देशिका हैं।

महापुरुषोंके अपमानसे पतन

वृत्रासुरका वध करनेपर देवराज इन्द्रको ब्रह्महत्या लगी। इस पापके भयसे वे जाकर एक सरोवरमें छिप गये। देवताओंके ढूँढ़नेपर भी जब देवराजका कहीं पता नहीं लगा, तब वे बड़े चिन्तित हुए। स्वर्गका राजसिंहासन सूना रहे तो त्रिलोकीमें सुव्यवस्था कैसे रह सकती है? अन्तमें देवताओंने देवगुरु बृहस्पतिकी सलाहसे राजा नहुषको इन्द्रके सिंहासनपर तबतकके लिये बैठाया, जबतक इन्द्रका पता न लग जाय। नहुष स्थानापन्न इन्द्र हो गये।

इन्द्रत्व पाकर राजा नहुष प्रभुताके मदसे मदान्ध हो गये—'*प्रभुता पाइ काह मद नाहीं।*' उन्होंने इन्द्रपत्नी शचीदेवीको अपनी पत्नी बनाना चाहा। उन्होंने शचीके पास दूतके द्वारा संदेश भेजा—'अब इन्द्र हो चुका हूँ, तब आपको मुझे स्वीकार करना चाहिये।'

पतिव्रता शचीदेवी बड़े संकटमें पड़ीं। अपने पतिकी अनुपस्थितिमें पतिके राज्यमें अव्यवस्था हो, यह भी उन्हें स्वीकार नहीं था और अपना पातिव्रत्य भी उन्हें परम प्रिय था। वे भी देवगुरुकी शरणमें गयीं। बृहस्पतिजीने उन्हें आश्वासन देकर युक्ति बता दी। देवगुरुके आदेशानुसार शचीने उस दूतके द्वारा नहुषको कहला दिया—'यदि राजेन्द्र नहुष ऐसी पालकीपर बैठकर मेरे पास आवें जिसे ऋषि ढो रहे हों तो मैं उनकी सेवामें उपस्थित हो सकती हूँ।'

काम एवं अधिकारके मदसे मतवाले नहुषने महर्षियोंको पालकी ले चलनेकी आज्ञा दी। राग-द्वेष और मानापमानसे रहित सप्तर्षियोंने नहुषकी पालकी उठा ली। लेकिन वे ऋषिगण इस भयसे कि पैरके नीचे कोई चींटी या क्षुद्र जीव दब न जायँ, भूमिको देख-देखकर, धीरे-धीरे पैर रखते चलते थे। उधर कामातुर नहुषको इन्द्राणीके पास शीघ्र पहुँचनेकी आतुरता थी। वे बार-बार ऋषियोंको शीघ्र चलनेको कह रहे थे, लेकिन ऋषि अपने इच्छानुसार ही चलते रहे।

'सर्प! सर्प!! (शीघ्र चलो! शीघ्र चलो!!)' कहकर नहुषने झुँझलाकर पैर पटका। संयोगवश उनका पैर पालकी ढोने महर्षि अगस्त्यको लग गया। महर्षिके नेत्र लाल हो उठे। उन्होंने पालकी पटक दी और हाथमें जल लेकर शाप देते हुए बोले—'दुष्ट! तू अपनेसे बड़ोंके द्वारा पालकी ढोवाता है और मदान्ध होकर पूजनीय लोगोंको पैरसे ठुकराकर 'सर्प, सर्प' कहता है, अतः सर्प होकर यहाँसे गिर।'

महर्षि अगस्त्यके शाप देते ही नहुषका तेज नष्ट हो गया। भयके मारे वे काँपने लगे और शीघ्र ही एक भारी अजगर होकर स्वर्गसे पृथ्वीपर गिर पड़े। (यह है बड़ोंके अपमानका परिणाम।)

(महाभारत, उद्योग० १७)

ज्वरका-सा आभास होने लगा । अगले दिन एक रोकशनके मीटिंगका सभापतित्व था—किसी तरह उस उत्तरदायित्वका भी निर्वाह किया । पर जब लौटा, तब काफी ज्वर था, हाथ-पैर शक्तिहीन प्रतीत हुए, सारे शरीरमें वेदना और भयंकर बेचैनी थी । कुछ ही देरमें टेलीफोनकी घंटी बजी और समाचार मिला कि कोई कुमारी कीयोको नाकामुरा मुझसे मिलना चाहती हैं । मैंने सूचित किया कि लाउँजमें तो आ नहीं सकता, तबीयत बहुत खराब है, यदि वे मेरे कमरेमें आनेकी कृपा करें तो लेटे-लेटे कुछ बातें कर सकूँगा । थोड़ी देर बाद ही दरवाजेपर दस्तक (खटखटानेका शब्द) सुनायी दिया । किसी प्रकार कपड़े ठीक किये और दरवाजा खोला । एक महिला मेरे सामने खड़ी थीं । सौभाग्यसे वे अंग्रेजी जानती थीं । वैसे भी जापानमें सभी शिक्षित व्यक्ति अंग्रेजीका अभ्यास रखते हैं । उन्होने मुझे लेट जानेको कहा और कम्बलको ठीक तरह ओढ़ा दिया । अपनी कुछ भी बातें न करके उन्होने मेरी तबीयतके बारेमें पूरी जानकारी की और वहींसे डाक्टरको टेलीफोन किया, मुझे दम-दिलासा दिलाया और इधर-उधरकी सामान्य बातें कीं । मैंने उनसे आनेका मन्तव्य पूछा तो उत्तर केवल यही मिला—'आप ठीक हो जायँगे तो बताऊँगी ।' डाक्टर आये, कुछ दवा आदिकी व्यवस्था हुई और थोड़ी देर बाद 'सुनकम्' (गुडनाइट) कहकर वे चली गयीं ।

अगले दिन प्रातः वे महिला पुनः आयीं—दवा, जलपान आदिकी सारी व्यवस्था कर चली गयीं । तीसरे पहर उनके पुनः दर्शन हुए—अब मैं अपेक्षाकृत ठीक था । वे कुछ देर बैठीं और कहा—'आप किम्मी कायानोको तो जानते ही होंगे, मैं उनकी चचेरी बहन हूँ । उन्होंने मुझे लिखा था कि आप यहाँ आ रहे हैं, मैं आपकी देखभाल करूँ । मैंने कई होटलोंमें पता लगाया है । मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई कि मैं किम्मीके [illegible] आपकी कुछ सेवा कर सकी ।' [illegible] यात्रामें मेरा किम्मीसे परिचय हुआ था, अब वे अमेरिकामें हैं । जब मैंने उनको किम्मीके [illegible] बारेमें लिखा तो उन्होंने अपनी बहनको [illegible] लिखा । दोनों बहनोंका यह सद्व्यवहार [illegible] भुलाया जा सकता है ! अतिथि-सत्कारका [illegible] सदाचार यहाँ स्वतः मुखरित है ।

६—जर्मनी—म्यून्स्टर नामक नगर । एक [illegible] सम्मेलनमें गया था । भारतीय विद्या-सेमिनारके एक [illegible] परिचय हो गया । वे भारतीय थे और उन्होंने मेरी बड़ी सेवा की, जिसमें दोपहरको मेरे लिये मेरी [illegible] अनुसार प्रतिदिन भोजन बनाना प्रमुख था । अभिन्नता हो जानेपर मैंने अपनी इच्छा व्यक्त की [illegible] द्रव्यके अभावमें भी मैं हालैण्ड डेनमार्क तथा स्वीडेनके [illegible] स्थान देखना चाहता हूँ । वे गम्भीर हो गये, पर थोड़े [illegible] बाद बोले—'हालैंडका प्रबन्ध तो हो जायगा, डेनमार्क और स्वीडेनके लिये हवाई टिकट रिरूट (पथ-परिवर्तन) करा लेंगे ।' मैं सन्तुष्ट नहीं हुआ, पुनः पूछा—कैसे? उन्होंने कहा 'मेरी परिचित एक जर्मन महिला [illegible] यदि मैं उनसे प्रार्थना करूँगा कि आपको हालैण्ड [illegible] कुछ स्थान दिखा दें तो मैं समझता हूँ, वे अस्वीकार नहीं करेंगी । टिकटको 'रि-रूट' करानेमें कुछ अधिक [illegible] लगेंगे सो मेरे पास तो व्यवस्था है नहीं, मैं अपने [illegible] मित्रसे कहकर आपका प्रबन्ध करा दूँगा और कुछ दिन बाद उनका पैसा चुका दूँगा तथा यह रुपया अपने आपके सुविधानुसार ले लूँगा । आप चिन्ता न करें ।' और हुआ भी यही । तीसरे ही दिन एक जर्मन महिला अपनी मोटरकारसे हालैण्डके नगर दिखा रही थीं—यूट्रेख्त, ऑमस्टरडम, रॉटरडम तथा डनहाग । उस [illegible]

...से उपकृत होकर मैंने अत्यन्त मनोरमता अनुभव ...ा और उन भारतीय सज्जन तथा जर्मन महिलाका ...ारा उपकार सदाचारका मानस भाव बनकर मेरे हृदय-...टलपर सर्वदाके लिये अङ्कित हो गया।

वैसे तो सदाचारका अर्थ प्रायः सभी समझते हैं, सदाचारकी वैज्ञानिक व्याख्या इतनी दुर्गम्य है, ...तना पाप-पुण्यका निर्णय करना; क्योंकि देश-काल ...र परिस्थितियोंसे भी सदाचारका घनिष्ठ सम्बन्ध है। ... व्यवहार किसी देश, काल या परिस्थितिविशेषमें ...ाचार होता है, वह अन्यमें अन्यथा भी हो सकता ...। भारतीय सदाचारका विश्लेषण तो और भी कठिन ... क्योंकि वह 'अच्छे व्यवहार'से ऊपर उठकर कुछ ...र विशिष्टता रखता है। वस्तुतः सदाचारका आधार-...भ एक स्वस्थ (साधु) मनोवृत्ति है और उसीके अनुरूप ...ाचारके दर्शन होते हैं। कभी किसी स्थितिमें किसी ...ाचारीको पुलिसके हवाले कर देना सदाचार है ... कभी किसी अबोध-निरीह व्यक्तिको कानूनकी ...ंचसे बाहर निकालना भी सदाचार हो सकता है। ...किविशेषके प्रसङ्गमें भी हमारा एक ही प्रकारका ...वहार कभी सदाचारकी कोटिमें होता है और कभी ...ाचारकी; और, कभी-कभी तो ऐसी जटिल समस्या ...पस्थित हो जाती है कि सदाचारका निर्णय करना ...ठिन हो जाता है। पर, साधारणतः जिस व्यवहारसे, ...पनी किंचित् हानि होकर भी दूसरोंका हित होता ... और समाजकी व्यवस्था सुदृढ़ होनेमें सहायता ...रती हो, वैसा व्यवहार सदाचारकी श्रेणीमें ही ...गणित होगा। सदाचार किन्हीं सीमाओंसे परिवृत्त ...हीं है—प्रत्येक देश, काल, धर्म, वर्ग, स्थितिमें ...दाचरण करनेवाले हो सकते हैं और इसके विपरीत ...। इसी बातको ध्यानमें रखकर ऊपर विभिन्न स्तरोंके ...दाहरण दिये गये हैं।

हमारे विचारसे शुद्ध 'सदाचार'के मूलमें त्याग तथा उपकार आदिकी पवित्र भावनाएँ निहित होती हैं और हमें देश-विदेशकी लम्बी यात्राओं एवं प्रवासमें इस प्रकारके अनेक अनुभव हुए हैं। दिल्लीके हलवाईमें जहाँ लोभ-लिप्साका अभाव है, वहाँ एक स्वस्थ, सामाजिक व्यवस्था भी परिलक्षित होती है। जयपुरका ड्राइवर अनाचार-की कल्पनासे ही आतङ्कित है और किसी पर-द्रव्यको अपने उपयोगमें लेना पाप समझता है। रूसकी महिलामें उपकारकी भावना और एक विदेशीके प्रति उदारता एवं कर्तव्यनिष्ठाका पता लगता है। मास्कोका पुलिसमैन अपने कर्तव्य-पालनमें तो रत था ही, एक विदेशीकी सहायता करना उसकी सदाशयता भी है और कार-ड्राइवर अपने समय और परेशानीका ख्याल न कर त्याग और उपकारका उदाहरण प्रस्तुत करता है।

टोकियोकी महिलामें जहाँ एक कोमल सदय नारी-हृदय है, वहाँ उसकी बहनके शब्दोंमें श्रद्धा एवं स्नेह तथा एक विदेशी (बन्धु)के प्रति सेवाकी भावना है। उनकी निःस्वार्थ भावसे उपयुक्त परिचर्याद्वारा मुझे स्वास्थ्यलाभ कराना परोपकार एवं सेवाका उत्कृष्ट उदाहरण है। इसी प्रकार म्यूनिखके भारतीय सज्जन बिना किसी निजी लाभके एक अपने भाई (स्वदेशी बन्धु)का उपकार करने तथा उसकी इच्छापूर्तिके लिये दूसरोंकी मदद लेते हैं तथा जर्मन महिला, अनायास ही एक विदेशीकी देश-दर्शन-इच्छाको पूरा करनेमें अपनी अपार उदारताका परिचय देती हैं। दोनों ही सदाचारसे प्रेरित होकर कार्यारूढ़ होते हैं और उपकृत व्यक्तिके हृदयस्थलपर अमिट छाप छोड़ते हैं। मेरा अनुमान है कि वसुंधरामें त्यागी-उपकारी मनोवृत्तिवाले सदाचारी सर्वत्र विद्यमान रहते हैं और उन्हींके आचरण तथा उदाहरणोंपर सामाजिक व्यवस्था सुसम्पादित होती है। सदाचारकी उपयोगिता सबके लिये सर्वत्र—देश-विदेशमें और सदैव है।

ऋषियोंका अन्यतम सदाचार—अपरिग्रह

(लेखक—श्रीबालगोविन्दशास्त्री [illegible])

'विष्णुपुराणमें कहा है कि सदाचारके वक्ता और निर्देशक हमारे ऋषि ही हैं। ऋषि कौन थे? इसे जाननेके लिये हमें प्रथम ऋषि शब्दकी व्याख्या देखनी होगी। धातु—'ऋषी' (तुदादि ७) धातुसे ऋषि शब्द बनता है। जो ध्यान द्वारा ईश्वरके पास गया या ईश्वर साक्षात्कार करनेवाले ऋषिके पास गया, इसलिये वह 'ऋषति' इति 'ऋषिः'से ऋषि कहलाया। 'अजान् ह वै पृश्नींस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् त ऋषयोऽभवन् (तैत्तिरीय आ० २ । ९)।' 'ऋषिर्दर्शनात्'—(निरुक्त) जो अतिन्द्रिय तत्त्व थे, वे भी ईश्वरकृपासे प्रथम ऋषि लोगोंके दृष्टिपथमें आ गये, इसलिये वे ऋषि कहलाते हैं—

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयम्भुवा॥
(वायुपुराण, अ० २)

यास्क भी ऐसा ही कहते हैं—'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः' ऋषि लोग मन्त्रद्रष्टा थे। पुराणोंके अनुसार—

ऋषीत्येव गतौ धातुः श्रुतौ सत्ये तपस्यथ।
एतत् संनियतं यस्मिन् ब्रह्मणा स ऋषिः स्मृतः॥
गत्यर्थादृषतेर्धातोर्नामनिर्वृत्तिरादितः।
यस्मादेष स्वयम्भूतस्तस्माच्च ऋषिता स्मृता॥
(वायुपुराण २)

'ऋष् (६ । ७) धातु—गति, गमन-ज्ञान, श्रवण, सत्य और तप—अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त होता है। ये सब बातें जिसके अंदर एक साथ निश्चितरूपसे हों, ब्रह्माने उसे ही 'ऋषि' कहा है। गत्यर्थक 'ऋष्'-धातुसे ही ऋषि शब्दकी निष्पत्ति हुई है और आदि-कालमें चूँकि यह ऋषिवर्ग स्वयं उत्पन्न हुआ है, इसलिये इसकी ऋषि संज्ञा है। कहते हैं, ऋग्वेदके अनुसार ऐसे [illegible]

प्रकार है—अथ ऋषयः सप्तर्षिः, कश्यप [illegible] विश्वामित्रो, जमदग्निर्भरद्वाजो, [illegible] [illegible] वामदेवः, [illegible] [illegible] अर्थात् सप्तर्षि, कश्यप, गृत्समद, विश्वामित्र, अत्रि, भरद्वाज, वसिष्ठ, प्रगाथ—ये सूक्त ऋषि हैं। गोत्रोंके तथा अन्य वामदेव, [illegible] और [illegible] —ये ऋषियोंके आचरणपर ऋग्वेदके सूक्त मन्त्र भी हैं। महाभारतमें मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ—इन प्रजापतियोंको प्रथम सप्तर्षि कहा गया है। प्रायः ये सभी ब्रह्मज्ञानी और तपस्वी थे। काम-क्रोधादि षड्रिपुओंपर विजय पानेसे इन ऋषियोंका अन्तःकरण अत्यन्त [illegible] था और वे पूर्ण साधु थे। विष्णुपुराण (३ । ११) आदिमें इनके आचरणोंको सदाचार बतलाया गया है।

पद्मपुराणमें इनकी त्यागपूर्ण सदाचारसम्बन्धी एक कथा आती है, जिसमें कहा गया है कि एकबार ये सभी तीर्थस्थानोंका दर्शन करते हुए इस पृथ्वीपर विचर रहे थे। इसी बीच एक बड़ा भारी दुर्भिक्ष पड़ा, जिसके कारण भूखसे पीड़ित होकर सम्पूर्ण जगत्के लोग बड़े कष्टमें पड़ गये। उसी समय उन ऋषियोंको भी कष्ट उठाते देख तत्कालीन राजाने, जो प्रजाकी देख-भालके लिये भ्रमण कर रहे थे, दुःखी होकर कहा—'मुनिवरो! ब्राह्मणोंके लिये प्रतिग्रह उत्तम वृत्ति है। अतः आपलोग मुझसे दान ग्रहण करें—अच्छे-अच्छे गाँव, धान, जौ आदि अन्न, घृत, दुग्धादि रस, तरह-तरहके रत्न, सुवर्ण तथा दूध देनेवाली गौएँ ले लें।' तब ऋषियोंने कहा—'राजन्! प्रतिग्रह बड़ा भयंकर है। [illegible]

रहे हो ! राजाका प्रतिग्रह अत्यन्त घोर है । जो
ा लोभसे मोहित होकर राजाका प्रतिग्रह स्वीकार करता
ह तामिस्र आदि घोर नरकोंमें पकाया जाता है ।
महाराज ! तुम अपने धनके साथ ही यहाँसे
, तुम्हारा कल्याण हो । यह दान दूसरोंको देना ।
कहकर सप्तर्षि वनमें चले गये ।

ादमें राजाकी आज्ञासे उसके मन्त्रियोंने गूलरके फलोंमें
भरकर उन्हें पृथ्वीपर बिखेर दिया । सप्तर्षि अन्नके
बीनते हुए वहाँ पहुँचे, तो उन फलोंको भी उन्होंने
उठाया । उन्हें भारी जानकर सप्तर्षियोंने देखा तो
भीतर सोना भरा हुआ था । इसे देखकर वे बोले—'इस
धन-संचयकी अपेक्षा तपस्याका संचय ही श्रेष्ठ है ।
व प्रकारके लौकिक संग्रहोंका परित्याग कर देता है,
सारे उपद्रव शान्त हो जाते हैं । संग्रह करने-
कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है, जो सुखी रह
एक ओर अकिंचनता और दूसरी ओर राज्यको
र रखकर तौला गया तो राज्यकी अपेक्षा
नताका ही पलड़ा भारी रहा, इसलिये जितात्मा
 लिये कुछ भी संग्रह न करना ही श्रेष्ठ है ।'
कहकर दृढ़तापूर्वक नियमोंका पालन करनेवाले
ो महर्षि उन सुवर्णयुक्त फलोंको छोड़ अन्यत्र
गये । यह था, इन महर्षियोंका अपरिग्रह-
पूर्ण जीवन ।

षिप्रणीत सदाचार—उन ऋषियोंद्वारा निर्दिष्ट
र बहुत ही विस्तृत है । अतः यहाँ हम विस्तारभयसे
पयोगी ऋषिप्रणीत सदाचारके कुछ अंशोंको
उद्धृत कर इस लेखका उपसंहार करते हैं । (१) गृहस्थ
पुरुषको नित्यप्रति देवता, गौ, ब्राह्मण, वयोवृद्ध,
सिद्धगण तथा आचार्यकी पूजा करनी चाहिये और
दोनों समय संध्या-वंदन तथा अग्नि-होत्रादि कर्म करने
चाहिये । (२) किसीका थोड़ा-सा भी धन हरण न
करे और थोड़ा-सा भी अप्रिय भाषण न करे । जो
मिथ्या हो, ऐसा प्रिय वचन भी कभी न बोले और
न कभी दूसरोंके दोषोंको ही कहे । (—महर्षि और्व ।)
(३) गृहस्थको चाहिये कि प्रारब्धसे प्राप्त और पञ्च-
यज्ञ आदिसे बचे हुए अन्नसे ही अपना जीवन-निर्वाह
करे । (—देवर्षि नारद ।) (४) सत्य वचनका लोप
नहीं करना चाहिये । स्वर्ग, मोक्ष तथा धर्म—सब
सत्यमें ही प्रतिष्ठित है । जो अपने वचनका लोप
करता है, उसने मानो सबका लोप कर दिया ।
(—महर्षि पुलस्त्य ।) (५) इन्द्रियोंको लोभग्रस्त नहीं
बनाना चाहिये । इन्द्रियोंके लोभग्रस्त होनेसे सभी
मनुष्य संकटमें पड़ जाते हैं । जिसके चित्तमें संतोष
है, उसके लिये सर्वत्र धन-सम्पत्ति भरी हुई है ।
जिसके पैर जूतेमें हैं, उसके लिये सारी पृथ्वी मानो
चमड़ेसे मढ़ी है; अतः सुख चाहनेवाले पुरुषको सदा
संतुष्ट रहना चाहिये । (—महर्षि गौतम ।)
(६) आचारसे धर्म प्रकट होता है और धर्मके स्वामी
भगवान् विष्णु हैं । अतः जो अपने आश्रमके आचारमें
संलग्न है, उसके द्वारा भगवान् श्रीहरि सर्वदा पूजित
होते हैं । (—सनक मुनि ।) (७) भगवान्की
भक्तिमें तत्पर तथा भगवान् विष्णुके ध्यानमें लीन होकर
भी जो अपने वर्णाश्रमोचित आचारसे भ्रष्ट हो, उसे
पतित कहा जाता है । (—सनत्कुमार ।)

तों कुमारोंकी गति सभी लोकोंमें अबाध है । वे वर्षीय दिगम्बर कुमार इच्छानुसार विचरण करते । पातालमें भगवान् शेषके और कैलासपर शङ्करजीके मुखसे भगवान्के गुण एवं चरित हनेमें उनकी तृप्ति कभी होती ही नहीं और में किसीको अपनोंमेंसे भी वक्ता बनाकर वे रते रहते हैं । कभी-कभी किसी परम अधिकारी पर कृपा करनेके लिये वे पृथ्वीपर भी पधारते हाराज पृथुको उन्होंने ही तत्त्वज्ञानका उपदेश था । देवर्षि नारदजीने भी इन्हीं कुमारोंसे भागवतका श्रवण किया था । अन्य अनेक भाग भी कुमारोंके दर्शनसे एवं उनके उपदेशामृतसे र्थ हुए हैं । भगवान् विष्णुके द्वार-रक्षक जय-विजय रोंका अपमान करनेके कारण वैकुण्ठसे भी च्युत और तीन जन्मोंतक उन्हें आसुरी योनि मिलती रही ।

सनकादि चारों कुमार भक्तिमार्गके मुख्याचार्य हैं । पहके वे मुख्य आराधक हैं; क्योंकि—

संगति मुद मंगल मूला । सोइ फल सिधि सब साधन फूला ॥

श्रवणमें उनकी प्रगाढ़ निष्ठा है । ज्ञान, वैराग्य, भजन एवं भगवच्चरित्र सुननेकी अबाध उत्कण्ठाका सदा ही उनका स्वरूप है । उनके उपदेश श्रेयः-प्रदायक एवं सदाचारके प्रतिपादक हैं ।

उपदेश—

निवृत्तिः कर्मणः पापात् सततं पुण्यशीलता ।
सद्वृत्तिः समुदाचारः श्रेय एतदनुत्तमम् ॥
मानुष्यमसुखं प्राप्य यः सज्जति स मुह्यति ।
नालं स दुःखमोक्षाय सङ्गो वै दुःखलक्षणः ॥
(नारद० पूर्व० ६० । ४४-४५)

'पाप-कर्मसे दूर रहना, सदा पुण्यका संचय करते रहना, साधु पुरुषोंके बर्तावको अपनाना और उत्तम सदाचारका पालन करना—यह सर्वोत्तम श्रेयका साधन है । जहाँ सुखका नाम भी नहीं है, ऐसे मानव-शरीरको पाकर जो विषयोंमें आसक्त होता है, वह मोहमें डूब जाता है । विषयोंका संयोग दुःखरूप है, वह दुःखसे छुटकारा नहीं दिला सकता ।'

इसलिये—

नित्यं क्रोधात्तपो रक्षेच्छ्रियं रक्षेच्च मत्सरात् ।
विद्यां मानापमानाभ्यामात्मानं तु प्रमादतः ॥
आनृशंस्यं परो धर्मः क्षमा च परमं बलम् ।
आत्मज्ञानं परं ज्ञानं सत्यं हि परमं हितम् ॥
(ना० पूर्व० ६० । ४८-४९)

'मनुष्यको चाहिये कि तपको क्रोधसे, सम्पत्तिको डाहसे, विद्याको मान-अपमानसे और अपनेको प्रमादसे बचावे । क्रूर स्वभावका परित्याग सबसे बड़ा धर्म है । क्षमा सबसे महान् बल है । आत्मज्ञान सर्वोत्तम ज्ञान है और सत्य ही सबसे बढ़कर हितका साधन है ।'

इस प्रकार सनत्कुमारोंके उपदेशमें हमें सदाचारकी अनेक अमूल्य शिक्षाएँ और दिशाएँ मिलती हैं ।

(२)

महर्षि वसिष्ठका क्षमा-प्रसङ्ग

कुशिकवंशमें उत्पन्न राजर्षि विश्वामित्र सेनाके साथ आखेट करने निकले थे । वे अपने [illegible] नहीं [illegible] आश्रमके समीप पहुँच गये । [illegible] एक ब्रह्मचारीके द्वारा [illegible] भेजा—[illegible] आश्रमके समीप आ गये हैं, [illegible] करें ।'

[illegible]

गयी और यह भी ब्रह्मशक्तिसे नहीं, वसिष्ठकी होमधेनु नन्दिनीके प्रभावसे।

'आप यह गौ मुझे दे दें। बदलेमें जो चाहें मुझसे माँग लें।' विश्वामित्र उस गौके लिये लालायित हो गये। चलते समय उन्होंने अपनी यह इच्छा प्रकट की।

'ब्राह्मण गो-विक्रय नहीं करता। मैं इस गौको नहीं दे सकता।' ऋषिने अस्वीकार कर दिया। उपस्वभाव विश्वामित्र उत्तेजित हो उठे। झट उन्होंने बलपूर्वक गौको ले चलनेकी आज्ञा सैनिकोंको दे दी। लेकिन नन्दिनी साधारण गौ तो थी नहीं। उसकी हुंकारसे शत-शत योद्धा उत्पन्न हो गये। उन्होंने विश्वामित्रके सैनिकोंको मार भगाया।

विश्वामित्रने वसिष्ठपर आक्रमण किया। कुशका ब्रह्मदण्ड लिये वसिष्ठ स्थिर, शान्त बैठे रहे। विश्वामित्रके साधारण तथा दिव्य अस्त्र सब उस ब्रह्मदण्डसे टकराकर नष्ट हो गये। विश्वामित्रने कठोर तपसे लब्ध दिव्यास्त्र चलाये, किंतु वसिष्ठके ब्रह्मदण्डसे लगकर वे भी सब-के-सब नष्ट हो गये।

'ब्रह्मबल ही श्रेष्ठ है। क्षत्रिय-शक्ति तपस्वी ब्राह्मणका कुछ नहीं बिगाड़ सकती। अतः मैं इसी जन्ममें ब्राह्मणत्व प्राप्त करूँगा।' विश्वामित्रने यह निश्चय किया और वे अत्यन्त कठोर तपमें लग गये।

सैकड़ों वर्षोंकी कठिन तपश्चर्याके पश्चात् ब्रह्माजी प्रसन्न हुए और प्रकट हुए। उन्होंने वरदान दिया—'वसिष्ठके स्वीकार करते ही तुम ब्रह्मर्षि हो जाओगे।'

महर्षि वसिष्ठसे प्रार्थना करना विश्वामित्रके लिये बहुत अपमानजनक था। संयोगवश जब महर्षि वसिष्ठ मिलते तो इन्हें 'राजर्षि' ही कहते। अतः विश्वामित्र वसिष्ठके घोर शत्रु हो गये थे। एक राक्षसको प्रेरित करके उन्होंने वसिष्ठके सौ पुत्रोंको मरवा दिया। स्वयं वसिष्ठको अपमानित करने, नीचा दिखानेका अवसर ढूँढ़ने लगे। उनका हृदय वैर तथा हिंसा-भावनासे पूर्ण था। यह भी 'राजर्षि' कहे जानेपर कठोर नृशंसता! यह प्रशंसा नहीं है।

कौशिकने अपनी ओरसे कुछ उठा नहीं रखा। बड़ा दृढ़ निश्चय, प्रचण्ड संकल्प था उनका, दुष्टिनक करनेमें लग गये। अनेक प्राणियोंकी सृजन कर दिये। विभिन्न अन्नादि बना ब्रह्माजीने ही रोका उन्हें। अन्तमें खिन्न होकर सुनसान रात्रिमें छिपकर वसिष्ठको मारने निकल पड़े। दिनमें प्रत्यक्ष आक्रमण करके अनेक बार पराजित हो चुके थे।

चाँदनी रात्रि थी। कुटियाके बाहर वेदीपर एकान्तमें पत्नीके साथ महर्षि बैठे थे। अरुन्धतीने कहा—'कैसी निर्मल ज्योत्स्ना है!'

वसिष्ठजी बोले—'ऐसा ही निर्मल तेज आजकल विश्वामित्रके तपका है।' वसिष्ठका निर्मल मन अहिंसा तथा क्षमासे पूर्ण था।

विश्वामित्र छिपे खड़े थे। उन्होंने सुना और उनका हृदय उन्हें धिक्कार उठा—'एकान्तमें पत्नीके साथ बैठा जो अपने सौ पुत्रोंके हत्यारेकी प्रशंसा करता है, उस महापुरुषको मारने आया है तू!' शस्त्र नोच फेंके विश्वामित्रने। दौड़कर महर्षिके चरणोंपर गिर पड़े। योगाचार्य पतञ्जलिने कहा है कि—

'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः।'

विश्वामित्रके ब्राह्मण होनेमें उनका दर्प, उनका द्वेष, उनकी असहिष्णुता ही तो बाधक थी। वह आज दूर हुई। महर्षि वसिष्ठने उन्हें हृदयसे लगाकर उठाते हुए कहा—'उठिये ब्रह्मर्षि!' विश्वामित्र अब ब्राह्मणत्वसे संयुक्त थे। महर्षि वसिष्ठके उपदेश योगवासिष्ठ, इतिहास-पुराण, धर्मशास्त्रोंमें भरे पड़े हैं।

(३)
महर्षि गौतम

स्तुत महर्षि गौतम* वैवस्वत मन्वन्तरके सप्तर्षियोंमें ऋषि हैं। पुराणोंमें कथा आती है कि दीर्घतमा बृहस्पतिके शापसे जन्मसे अन्धे नतर स्वर्गकी कामधेनु प्रसन्न हो गयी और ोंने इनका तम हर लिया। ये देखने लगे। गौतम इन्हींके पुत्र थे। (महाभा० १। १०४। । पुराणोंमें ऐसी कथा आती है कि सर्वप्रथम की इच्छा एक स्त्री बनानेकी हुई। उन्होंने गहसे सौन्दर्य इकट्ठा करके एक अभूतपूर्व स्त्री । उसके नखसे शिखतक सर्वत्र सौन्दर्य-ही-न्दर्य भरा था। हल कहते हैं पापको, हल्यका अभाव हल्य है और जिसमें पाप न हो, उसका नाम अहल्या है, तः उस निष्पापका नाम भगवान् ब्रह्माने अहल्या खा। यह पृथ्वीपर सर्वप्रथम इतनी सुन्दर मानुषी स्त्री ई कि सब ऋषि, देवता उसकी इच्छा करने लगे। न्द्रने तो उसके लिये भगवान् ब्रह्मासे याचना भी की, किंतु ब्रह्माजीने उनकी प्रार्थना स्वीकार नहीं की। ऐसी त्रैलोक्यसुन्दरी ललनाको भला कौन न चाहेगा! उन दिनों भगवान् गौतम बड़ी घोर तपस्या कर रहे थे। ब्रह्माजी उनके पास गये और जाकर बोले—'यह अहल्या तुम्हें हम धरोहरके रूपमें दिये जाते हैं, जब हमारी इच्छा होगी ले लेंगे।' ब्रह्माजीकी आज्ञा ऋषिने शिरोधार्य की। अहल्या ऋषिके आश्रममें रहने लगी। वह हर तरहसे ऋषिकी सेवामें तत्पर रहती और ऋषि भी उसका धरोहरकी वस्तुकी भाँति ध्यान रखते। किंतु उनके मनमें कभी किसी प्रकारका बुरा भाव नहीं आया।

हजारों वर्षोंके बाद ऋषि स्वयं ही अहल्याको लेकर ब्रह्माजीके यहाँ गये और बोले—'ब्रह्मन्! आप अपनी यह धरोहर ले लें।' ब्रह्माजी इनके इस प्रकारके संयम और पवित्रभावको देखकर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने अहल्याका विवाह इन्हींके साथ कर दिया। ऋषि सुखपूर्वक इनके साथ रहने लगे। इनके एक पुत्र भी हुए, जो महर्षि शतानन्दके नामसे विख्यात हैं, जो महाराज जनकके राजपुरोहित थे। महर्षि गौतमकी तपस्यासे सम्बद्ध अनेकों आश्रम भारतमें प्रसिद्ध है। (द्रष्टव्य—तीर्थाङ्क तथा 'कल्याण' वर्ष ४० अङ्क ६। पृ० ९९२-९३)

महर्षि गौतमका चरित्र अलौकिक है। इनके-ऐसा त्याग, वैराग्य और तप कहाँ देखनेको मिलेगा। इनके द्वारा रचित गौतम-स्मृति, वृद्ध-गौतम-स्मृति (वैष्णवधर्म शास्त्र) तथा गौतम-धर्मसूत्र आदि अनेकों श्रेष्ठ आध्यात्मिक शास्त्र हैं। इनके उपदेशोंमेंसे सारभूत उपदेश कुछ इस प्रकार हैं—

सर्वस्त्विन्द्रियलोभेन संकटान्यवगाहते ॥
सर्वत्र सम्पदस्तस्य संतुष्टं यस्य मानसम्।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतेव भूः ॥
संतोषामृततृप्तानां यत् सुखं शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद् धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥
असंतोषः परं दुःखं संतोषः परमं सुखम्।
सुखार्थी पुरुषस्तस्मात् संतुष्टः सततं भवेत् ॥
(पद्म० सृष्टि० १९। २५८-२६१)

'इन्द्रियोंके लोभग्रस्त होनेसे सभी मनुष्य संकटमें पड़ जाते हैं। जिसके चित्तमें संतोष है, उसके लिये

* वेद-पुराणोंमें गोतम और गौतम दो व्यक्ति हैं। शतपथ ब्राह्मण १। ४। १। १०, शाङ्खायन आरण्यक १। १, गोपथब्राह्मण १। ३। ११ बृहद्देवता २। ४६, २। १२९ आदिमें गोतम रहूगण ऋषि तथा भविष्यपुराण प्रतिसर्ग ४। २१ में कश्यपकुलोत्पन्न गोतमकी कथा है। महाभारतमें शरद्वान् गौतम (१। १२९। २), चिरकारी गौतम (१२। २६६। ४) आदि अनेक गौतमोंकी भी कथाएँ आयी हैं। इसके अतिरिक्त गौतम, आरुणि, गौतम अग्निवेश्य, गौतम हारिद्रुमत् गौतम और गौतम कौशेय आदि भी हुए हैं। बृहद्देवता १। ५९; ४। १२७, ४। १३३ आदिमें भी महर्षि गोतम और गौतमकी कथाएँ हैं।

[illegible] फँसा हुआ है, [illegible] दोनोंने लोगोंको बहुत दुःख होता है, [illegible] भी बुरी [illegible] करता है [illegible] और [illegible] है । [illegible] अपनी [illegible] [illegible] हैं, अतः तुम [illegible] जो तुम प्राप्त हो, वह [illegible] देना चाहिये ।'

(४)

महर्षि वाल्मीकि और सदाचार

(लेखक—[illegible])

'कौन हो तुम लोग ?' रत्नाकरने पूछा । 'हम भी तो यही पूछ रहे हैं । तुम कौन हो ?' सप्तर्षियोंने जवाब दिया । रत्नाकर सहसा अवाक् रह गये । फिर भी अपनी आन्तरिक भावनाओंको दबाते हुए रत्नाकरने गर्जना की और बोले—'साधुओ ! भूलो मत ! तुम्हें अपनी जान प्यारी हो तो जो कुछ भी तुम्हारे पास हो, उसे नीचे पटककर भागो ।'

सप्तर्षियोंने उन्हें समझाते हुए कहा कि 'देखो बेटा ! हमारे पास जो है, उसे तुम्हें देनेके ही लिये हम यहाँ आये हैं । यदि हमारे उपदेशके सामने तुम सिर न झुकाओगे तो तुम्हें नरकमें पड़ना होगा और अपने मानवत्वसे हाथ धोना पड़ेगा । तुम यह लूट-मार क्यों कर रहे हो ? और तुम अपने पेट भरनेके लिये प्रत्येक दिन इतने प्राणियोंकी जो हिंसा कर रहे हो, क्या यह पाप नहीं है ? इससे तुम कैसे सुखी बन सकते हो ? यदि तुम कहो कि मैं इस दुनियामें सुख पा ही रहा हूँ, तो यह बुद्धिमत्ताकी बात नहीं है । ऐसा एक भी आदमी नहीं, जो पेट भरनेके लिये या अन्य प्रलोभनोंमें फँसकर पाप करके अपनेको सुखी समझता हो । विशेष बात यह है कि ऐसे प्राणीके द्वारा जितने प्राणियोंकी हिंसा होती है, वे सब प्राणी मिलकर उसे नरकमें पीड़ा पहुँचाते हैं । कहो तो सही कि तुम्हें इसकी चिन्ता नहीं है ?'

'महात्माओ ! मैं स्वर्ग-नरक कुछ भी नहीं जानता । यदि ऐसा न करूँ तो जीऊँ कैसे ? मेरा व्यापार-व्यासङ्ग भी कुछ नहीं । मैं अकेले पेट नहीं, घरमें पत्नी है और [illegible] हैं । यदि इन लोगोंके लिये प्रबन्ध न करूँ तो यह भी पाप होगा ! जो कर सकता, वह कर रहा हूँ ।'

'बेटा ! गृहस्थ मनुष्योंको हे अपने [illegible] लिये उचित व्यवस्था करनी ही चाहिये, [illegible] सकता है, यह बात सत्य है ! परंतु बुरी प्रवृत्ति[illegible] पेट भरनेकी विधि कहीं भी नहीं बतायी गयी । [illegible] पड़े तो भी सदाचारको नहीं छोड़ना चाहिये । शास्त्रमें जिस मनुष्यको जिस तरह जिस धर्मका पालन करना चाहिये, हमें पहले इसकी शिक्षा लेनी चाहिये । हम कहते हैं कि पेट भरनेके लिये हम किसीकी [illegible] सेवा कर सकते हैं । यदि भाव धर्मकी ओर हो तो भगवान्‌की ही सेवा होगी, इसमें बिल्कुल पाप न लगेगा । इसके प्रतिकूल यदि बुरे काम करोगे तो उसका बुरा फल केवल तुम्हींको प्राप्त होगा ।'

'ऐसा नहीं होना चाहिये महाराज ! एक पेटके लिये तो मैं इतना नहीं कर सकता था । मेरे दस पेट हैं और निःसीम कामनाएँ हैं । इन सबके मारे मैं यह लूट कर रहा हूँ । यदि ये न होते और मैं केवल अकेला होता तो किसी तरह बुरे कर्मोंसे बच सकता । लेकिन इन सबके कारण इतने गहरे दुःखमें आ फँसा हूँ । इसलिये अब जो कुछ पाप-पुण्य सुख-दुःख मिला है, उसके लिये मेरे वे सब घरके लोग भी हिस्सेदार हैं । इसी भावनाने मुझे आगे बढ़ाकर, इन हाथोंसे

पेट भरा दिये हैं। इसमें मेरा कसूर ही क्या बताइये।

अरे मन्द! ये सब घरके लोग, जो कहनेको हैं, वे तुम्हारे पापमें कभी भाग न लेंगे। ये सब मके कर्मोंके वशीभूत होकर तुम्हारे कर्मोंके कारण धन लेनेके लिये आ गये हैं। जिन्हें तुम अपने :खोंके हिस्सेदार समझ रहे हो। यदि इसके बारेमें संशय हो तो जाओ और भार्या-पुत्रोंसे पूछ , तभी तुम्हें ज्ञात होगा।'

त्नाकरकी समझमें भी यह प्रश्न निराला था। हुँचते-ही-पहुँचते उसने आवाज लगायी—'अरे लड़को! ओ पत्नि!! जरा जवाब दो। यह की जटिल समस्या है। जैसे तुम लोग मेरे सुखोंसे ले रहे हो वैसे ही यदि पाप भोगनेका अवसर, या दुःख आ जायँ तो उनमेंसे हिस्से लोगे या ?'

ब लोगोंने जोरसे कहा—'तुम्हारे पापोंके ार हम नहीं होंगे। नहीं होंगे!! नहीं !!'

कर तो ठीकसे सुन भी न पाया, उसके हृदयमें वेदना- न्तर्लहरें उठीं। हाय! इतने कृतघ्नोंको, मित्र वाले शत्रुओंको इतने दिनोंतक मैंने अपना समझ धिक्कार है मेरे जीवनको! इन तन, धन एवं को जिनमें लगाना चाहिये था, उनमें नहीं सका। कोई बात नहीं। अब वही होगा। र उन्हें कर्तव्यताकी झलक हुई। झरीकी तरह ह उठी, उनकी अन्तरात्मा वहाँ जाकर रुकी, जहाँ सर्षियोंका पादरूपी किनारा था। जो सच्चे मुमुक्षु , उनके लिये कहाँ संसार-बन्धन!

वृत्त्यर्थं नातिचेष्टेत सा हि धात्रैव निर्मिता।
गर्भादुत्पतिते जन्तौ मातुः प्रस्रवितः स्तनौ॥
(हितोपदेश १।१८२)

'हे अज्ञमानव! पेट भरनेके लिये किसी व्यवसायार्थ ज्यादा कोशिश मत करो। क्योंकि वह विधाताद्वारा पहले ही बना दिया गया है। देखो, केवल मनुष्योंमें ही नहीं, पशुओंमें भी नवजात शिशुओंके लिये स्तनोंसे अखण्ड क्षीरधारा निकल रही है। बताओ कि उसका प्रबन्धकर्ता कौन है?'

'रत्नाकरके उद्धारके लिये क्या करना चाहिये?' सप्तर्षि सोचने लगे। इसके उद्धारका सर्वोत्कृष्ट मार्ग यही होगा कि यह सदाचारोंको अपनाये। कर्म किये बिना बन्धन नहीं छूटता और मालिन्य नहीं मिटता। बात यह है कि मनुष्यसे कर्म किये बिना एक क्षण भी चुपचाप नहीं बैठा जाता। मनुष्यका स्वभाव है कि वह कर्मोंमें ही लगा रहता है। जबतक मन एवं इन्द्रियोंका लगाव या झुकाव प्रकृतिकी ओर है तबतक वह प्राकृत कर्म करता रहता है, जिनसे बारंबार प्रकृतिमें आना पड़ता है। प्राकृत बुद्धिके लिये प्राकृत कर्म ही चाहिये और मनुष्यकी उन्नतिके लिये उन्हींमें थोड़ी-थोड़ी अप्राकृतकी स्फूर्ति चाहिये। इसलिये वेदोंने नाना प्रकारके धर्मोंके आचरणकी विधि बतायी है, महापुरुष कुछ धर्मोंका उद्घाटन करते हैं और वंशपरम्परागत कुछ धर्म चले आते हैं, जो सब-के-सब अनुकरणीय हैं। उन्हींके नाम सदाचार हैं।'

रत्नाकरके हृदयमें अब असह्य वेदना थी। उस वेदनाके लिये ऐसे सदाचार या धर्मकी आवश्यकता थी, जिसकी मुहर मनपर तुरंत लग जाय। एक बात और यह कि रत्नाकर अब कर्मोंके पीछे पड़ने लायक नहीं थे, उतनी चरम सीमातक उनके दुराचारोंकी पहुँच हुई। यदि वे धर्म-कर्मोंको आचरणमें उतारें तो भी वे उनको उतना शीघ्र कृतकृत्य नहीं बना सकते। इसीसे जो धर्म-कर्मोंमें लगकर सिद्ध

...हर रामनामामृतको सदाके लिये डालकर, अपनी ...कड़े चलते बने।

...रत्नाकरने मानो रामनामके प्रभावको सिद्ध करनेके ...ये इतने पाप किये थे। वास्तवमें वे पाप भी ...। भगवान्‌की इच्छासे बनी हुई पावन लीलाएँ थीं। तभी तो हम आजतक उन्हें पढ़ रहे हैं। रत्नाकर बड़े चावसे रामनामामृतको चाटने लगे। फलतः उनका पुराना जीवन समाप्त हो गया और पाञ्चभौतिक शरीर बिल्कुल नष्ट हो गया। नामामृतके नये शरीरसे वे वल्मीकसे लोगोंके सम्मुख प्रकट हुए। तबसे उनका नाम हुआ महर्षि वाल्मीकि।

(५)

भगवान् वेदव्यास

...वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
...हैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सम्प्रसीदति॥
(श्रीमद्भा० १।२।६)

'इन्द्रियातीत परम पुरुष भगवान्‌में वह निष्काम एवं ...भ भक्ति हो, जिसके द्वारा वे आत्मस्वरूप सर्वेश्वर ...न होते हैं—यही पुरुषका परम धर्म है।'

कलियुगमें अल्प सत्त्व, थोड़ी आयु तथा बहुत क्षीण ...द्धिके लोग होंगे। वे सम्पूर्ण वेदोंको स्मरण नहीं रख ...केंगे। वैदिक अनुष्ठानों एवं यज्ञोंके द्वारा आत्म-कल्याण ...र लेना कलियुगमें असम्भवप्राय हो जायगा—यह ...त सर्वज्ञ दयामय भगवान्‌से छिपी न थी। जीवोंके ...ल्याणके लिये ये द्वापरके अन्तमें महर्षि वसिष्ठके प्रपौत्र, ...क्तिऋषिके पौत्र और श्रीपराशरमुनिके अंशसे सत्यवतीमें ...कट हुए। व्यासजीका जन्म द्वीपमें हुआ, इससे ...नका नाम द्वैपायन हुआ, उनके शरीरका वर्ण श्याम ..., अतः वे कृष्णद्वैपायन हैं और वेदोंका विभाग करनेसे ...दव्यास भी कहे जाते हैं। महर्षि कृष्णद्वैपायनके ...रूपमें भगवान्‌का यह अवतार कलियुगके प्राणियोंको ...लौकिक ज्ञान सुलभ करानेके लिये हुआ था।

भगवान् व्यास प्रकट होते ही माताकी आज्ञा लेकर तप ...रने चले गये। उन्होंने हिमालयकी गोदमें भगवान् नर-...नारायणकी तपोभूमि बदरीवनके शम्याप्रासमें अपना आश्रम ...नाया। यज्ञकी संपूर्तिके लिये उन्होंने वेदोंको चार भागोंमें विभक्त किया। अध्वर्यु, होता, उद्गाता एवं ब्रह्मा—यज्ञके इन चार ऋत्विक्-कर्म करानेवालोंके लिये उनके उपयोगमें आनेवाले मन्त्रोंका पृथक्-पृथक् वर्गीकरण कर दिया। इस प्रकार वेद चार भागोंमें विभक्त हो गया।

भगवान् व्यासने देखा कि वेदोंके पठन-पाठनका अधिकार तो केवल कुछ ही श्रेष्ठ लोगोंतक—द्विजातिके पुरुषोंको ही है। किंतु स्त्रियों तथा अन्य लोगोंका भी उद्धार होना चाहिये—उन्हें भी धर्मका ज्ञान होना चाहिये। इसलिये उन्होंने महाभारतकी रचना की। व्यासजीने वेदोंके सारभूत इतिहासके नाना आख्यानोंद्वारा धर्मके सभी अङ्गोंका इसमें बड़े सरल ढंगसे वर्णन किया है। सदाचारका तो यह मानो विश्वकोश ही है। अनुशासन और शान्तिपर्वमें सदाचारका विशिष्ट विवेचन किया गया है।

भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यासजीकी महिमा अगाध है। सारे संसारका ज्ञान उन्हींके ज्ञानसे प्रकाशित है। सब व्यासदेवकी जूँठन है। वेदव्यासजी ज्ञानके असीम और अनन्त समुद्र हैं, भक्तिके परम आदरणीय आचार्य हैं। विद्वत्ताकी पराकाष्ठा हैं, कवित्वकी सीमा हैं। संसारके समस्त पदार्थ मानो व्यासजीकी कल्पनाके ही मूर्तरूप हैं। जो कुछ तीनों लोकोंमें देखने-सुननेको और समझनेको मिलता है, वह सब व्यासजीके हृदयमें था। इससे परे जो कुछ है, वह भी व्यासजीके अन्तस्तलमें था। व्यासजीके हृदय और वाणीका विकास ही समस्त

नी प्रशंसा न करे तथा दूसरेकी निन्दाका त्याग । वेदनिन्दा और देवनिन्दाका यत्नपूर्वक त्याग ह सदाचारीके लिये आवश्यक कर्तव्य है ।

माता-पिताकी सेवा

चौप पत्युश्च साम्यं सर्वजनेषु च ।
तेहो विष्णुभक्तिरेते पञ्च महामखाः ॥
पित्रोरर्चया विप्रा यद्धर्मं साधयेन्नरः ।
क्रतुशतैरेव तीर्थयात्रादिभिर्भुवि ॥
धर्मः पिता स्वर्गः पिता हि परमं तपः ।
: प्रीतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्वदेवताः ॥
। यस्य तुष्यन्ति सेवया च गुणेन च ।
भागीरथीस्नानमहन्यहनि वर्तते ॥
र्थमयी माता सर्वदेवमयः पिता ।
: पितरं तस्मात् सर्वयत्नेन पूजयेद् ॥
(पद्म० सृष्टि० ४७ । ७-११)

'माता-पिताकी पूजा, पतिकी सेवा, सबके प्रति समान भाव, मित्रोंसे द्रोह न करना और भगवान् श्रीविष्णुका भजन करना—ये पाँच महायज्ञ हैं। ब्राह्मणो ! पहले माता-पिताकी पूजा करके मनुष्य जिस धर्मका साधन करता है, वह इस पृथ्वीपर सैकड़ों यज्ञों तथा तीर्थयात्रा आदिके द्वारा भी दुर्लभ है। पिता धर्म है, पिता स्वर्ग है और पिता ही सर्वोत्कृष्ट तपस्या है। पिताके प्रसन्न हो जानेपर सम्पूर्ण देवता प्रसन्न हो जाते हैं। जिसकी सेवा और सद्गुणोंसे पिता-माता संतुष्ट रहते हैं, उस पुत्रको प्रतिदिन गङ्गास्नानका फल मिलता है। माता सर्वतीर्थमयी है और पिता सम्पूर्ण देवताओंका स्वरूप है, इसलिये सब प्रकारसे यत्नपूर्वक माता-पिताका पूजन करना चाहिये।' माता-पिताकी सेवा सदाचारीकी दिनचर्या होती है।

(६)

महात्मा विदुर और उनका सदाचारोपदेश

(लेखक—स्वामी श्रीहीरानन्दजी)

गीरथीके पावन तटपर हस्तिनापुर महाराज की राजधानी थी। उसीके सामने • दसरे विदुर-कुटी' है, जहाँ मय जी. । विदुर

सदा कर्तव्यकी परिधिसे परिवेष्टित रहे। उनकी नीतिके तत्त्वोंमें व्यक्तिके प्रारम्भिक जीवनसे अन्तिम ... रिक वर्तव्य-ज्ञान निरूपण किया ... धृतराष्ट्रको महात्मा विदुरने ...

ग्रामका परित्याग कर दे और आत्मकल्याणके लिये सारे भूमण्डलको त्याग दे, किंतु पुत्रमोहके कारण धृतराष्ट्रने उनकी सलाह नहीं मानी।

महात्मा विदुरने जब जूआ खेलनेकी बात सुनी तो उन्होंने धृतराष्ट्रको स्पष्टरूपमें भली प्रकार समझा दिया और कहा कि मैं इस कार्यका घोर विरोध करता हूँ। इससे समस्त कुलके विनाशका भय है। युधिष्ठिरके पूछनेपर भी विदुरजीने स्पष्ट ही कह दिया था कि जूआ अनर्थकी जड़ है। उन्होंने उसे रोकनेका प्रयत्न भी किया। पर वह तो होनी थी और होकर रही।

जब शकुनिके द्वारा युधिष्ठिरके प्रत्येक दाँवपर हार होती रही तो धृतराष्ट्रको विदुरजीने कठोर शब्दोंमें चेतावनी दी कि जैसे मरणासन्न रोगीको ओषधि भली नहीं लगती, उसी प्रकार उनकी शास्त्र-सम्मत बात उन्हें कटु लगती है। अनेक उदाहरण देते हुए उन्होंने फिर उसी नीतिको दुहराया जिसे कि दुर्योधनके जन्मपर कहा था। विदुरजीसे रुष्ट होकर दुर्योधनने उन्हें कठोर बातें कहीं; किंतु विदुरजीने उसे चेतावनी देते हुए बतलाया कि जो धर्ममें तत्पर रहकर स्वामीके ...

सहायक नहीं हुआ, तब द्रौपदीने ... सभासदोंके सामने रखा, जो विदुरजीने ... दिया था। इसका उत्तर जब किसीने ... विदुरजीने सभासदोंको सचाईके साथ ... ललकारा और चेतावनी दी कि जो धर्म... आकर वहाँ उपस्थित हुए प्रश्नका उत्तर न... झूठ बोलनेके आधे फलका भागी होता ... दैत्यराज प्रह्लाद तथा विरोचनकी कथा ... निर्णयके लिये उन्हें उत्तेजित किया। ज... भगवान् श्रीकृष्णको बंदी बनानेकी मन्त्रणा... विदुरजीने धृतराष्ट्रको भगवान् कृष्णके ... वैभवके विषयमें समझाया और सचेत करते... कि श्रीकृष्णका तिरस्कार करनेपर कौरवगण उ... नष्ट हो जाँयगे, जैसे आगमें गिरनेवाले पतं... कौरवोंने विदुरजीकी बात नहीं मानी ... लोगोंने श्रीकृष्णको बंदी बनानेका प्रयास कि... श्रीकृष्णने जब अपना वैभव दर्शाया तो सभी ... स्तब्ध रह गये।

राणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां
नैवाङ्घ्रिपाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन्।
द्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्नान्
कस्माद् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्॥
वं स्वचित्ते स्वत एव सिद्ध
आत्मा प्रियोऽर्थो भगवाननन्तः।
निर्वृतो नियतार्थो भजेत
संसारहेतूपरमश्च यत्र॥
(श्रीमद्भा० २।२।४—६)

'जब जमीनपर सोनेसे काम चल सकता है, तब
के लिये प्रयत्नशील होनेका क्या प्रयोजन। जब
एँ अपनेको भगवान्‌की कृपासे स्वयं ही मिली हुई
तब तकियेकी क्या आवश्यकता। जब अञ्जलिसे
चल सकता है, तब बहुत-से बर्तन क्यों बटोरें।
की छाल पहनकर या वस्त्रहीन रहकर भी यदि जीवन
ण किया जा सकता है तो वस्त्रोंकी क्या आवश्यकता! पहननेको क्या रास्तोंमें चिथड़े नहीं हैं? भूख लगनेपर दूसरोंके लिये ही शरीर धारण करनेवाले वृक्ष क्या फल-फूलकी भिक्षा नहीं देते? जल चाहनेवालोंके लिये नदियाँ क्या बिल्कुल सूख गयी हैं? रहनेके लिये क्या पहाड़ोंकी गुफाएँ बंद कर दी गयी हैं? अरे भाई! सब न सही, क्या भगवान् भी अपने शरणागतोंकी रक्षा नहीं करते? ऐसी स्थितिमें बुद्धिमान् लोग भी धनके नशेमें चूर घमंडी धनियोंकी चापलूसी क्यों करते हैं? इस प्रकार उससे तो समुदाचारका उल्लङ्घन होता है। अतः विरक्त हो जानेपर अपने हृदयमें नित्य विराजमान, स्वतःसिद्ध, आत्मस्वरूप, परम प्रियतम, परम सत्य जो अनन्त भगवान् हैं, उन्हींका बड़े प्रेम और आनन्दसे दृढ़ निश्चय-पूर्वक भजन करे, क्योंकि उनके भजनसे जन्म-मृत्युके चक्करमें डालनेवाले अज्ञानका नाश हो जाता है। यही सदाचारका महान् फल है।'

(८)

महर्षि पतञ्जलि

महर्षि पतञ्जलि योगके आचार्य थे। वे महर्षि अङ्गिराके
राज और संहिताकार महर्षि प्राचीनयोगके पुत्र थे। इन्होंने
पने पिताके गुरु कौथुमसे ही वेदाध्ययन किया था।
नकी एक संहिता भी थी, जो अब नहीं मिलती। मत्स्य,
यु, लिङ्ग एवं स्कन्दपुराणोंमें इनकी चर्चा तथा योगसूत्रोंकी
याख्या मिलती है। उनके योगसूत्रोंपर अनेक टीकाएँ हैं।

सांसारिक जीवनसे उनका बहुत कम सम्बन्ध रहा
गा, ऐसा अनुमान होता है। यही कारण है कि
नके जीवनकी कोई विशेष घटना प्रसिद्ध नहीं है।
रंतु केवल एकान्तमें रहनेके कारण ही वे विश्व-
ल्याणके कामसे अलग रहे हों, ऐसी बात नहीं।
नके बनाये हुए ग्रन्थोंसे सारे संसारका जो हितसाधन हुआ है और हो रहा है, उसके लिये सभी उनके ऋणी हैं और आगे भी रहेंगे।

चरकसंहिताका* प्रणयन करके उन्होंने हमारे स्थूल शरीरके दोषोंका निवारण किया और उसमें सांख्योक्त प्रक्रियाका वर्णन करके हमें योगकी ओर आकर्षित किया। व्याकरणके सूत्रोंके विशद विवेचनके द्वारा हमें पद-पदार्थका ज्ञान कराकर उन्होंने हमारी वाणीको शुद्ध और परिमार्जित किया तथा योगके द्वारा सम्पूर्ण चित्त-मलोंको धोकर अपना स्वरूप पहचाननेके योग्य बनानेका साधन बतलाया। अन्तमें परमार्थसार† के द्वारा हमें अद्वैत तत्त्व-ज्ञानका उपदेश दिया, जो सम्पूर्ण जीवों और उनकी साधनाओंका लक्ष्य है। उनकी कृतज्ञतामें हम उनका स्तवन निम्नाङ्कित श्लोकसे करते हैं—

* शोधकर्ता विद्वानोंके अनुसार पतञ्जलि भी कई हुए हैं। (Catalogus Catalogorum) History of Indian Medicine
दिके अनुसार चरक-संहिताकारसे व्याकरण-भाष्यकार पतञ्जलि और योगसूत्रकर्ता भिन्न हैं।

† परमार्थसार ग्रन्थमें उसके रचयिताको आदिशेष कहा गया है। 'पतञ्जलि चरित' आदिमें उन्हें शेषका अवतार कहा
या है। इस प्रकार इसकी संगति सम्भव है।

भाव मत रखना । घमंड मत करना । उनकी आज्ञाका पालन करना ।'

पिताकी आज्ञा शिरोधार्य करके शुकदेवजी महाराज अनेक प्रकारके कष्ट सहन करते हुए मिथिलामें पहुँचे । द्वारपालोंने उन्हें अंदर जानेसे रोक दिया । परंतु उनकी जाज्वल्यमान ज्योतिको देखकर और तिरस्कारकी दशामें भी पूर्ववत् प्रसन्न देखकर एकने उनके पास आकर बड़ी अभ्यर्थना की । वह उन्हें बड़े सत्कारसे अंदर ले गया । मन्त्रीने उन्हें एक ऐसे स्थानपर ठहराया, जहाँ भोगकी अनेक वस्तुएँ थीं । उनकी सेवामें बहुत-सी सुन्दर स्त्रियोंको लगा दिया गया । परंतु वे अविचल रहे । सुख-दुःख, शीत-उष्णमें एक समान रहनेवाले शुकदेवजीको उन्हें देखकर कुछ भी हर्ष-शोक नहीं हुआ । ब्रह्मचिन्तनमें संलग्न रहकर उन्होंने वह दिन और रात्रि बिता दी । दूसरे दिन प्रातःकाल जनकने उनकी विधिवत् पूजा-अर्चा की । कुशल-मङ्गलके पश्चात् शुकदेवजीने अपने आनेका प्रयोजन बतलाया और प्रश्न किया । जनकने उनके अधिकारकी प्रशंसा करके कहा—

'बिना ज्ञानके मोक्ष नहीं होता और बिना गुरु-सम्बन्धके ज्ञान नहीं होता । इस भवसागरसे पार करनेके लिये गुरु ही कर्णधार है । ज्ञानसे ही कृतकृत्यता प्राप्त होती है । ज्ञान सभी साधनोंका आधार और फल है । जिसे किसीका भय नहीं है, वह किसीको भय नहीं पहुँचाता, जिसे न राग है और न द्वेष, वही ब्रह्मसम्पन्न होता है । जब प्राणी (मानव) मन, वाणी और कर्मसे किसीका अनिष्ट नहीं करता, काम, क्रोध, ईर्ष्या, असूया आदि मनके मलोंको त्याग देता है, दुःख-सुख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, शीत-उष्ण, निन्दा-स्तुति आदि द्वन्द्वोंमें समान दृष्टि रखने लगता है, तब वह ब्रह्मसम्पन्न हो जाता है । शुकदेव ! ये सभी बातें तथा अन्यान्य समस्त सद्गुण तुममें प्रत्यक्ष दीख रहे हैं । मैं [illegible] कि तुम्हें समस्त ज्ञातव्य वस्तुोंका ज्ञान है । तुम [illegible] चुके हो । तुम्हें विज्ञान प्राप्त है । तुम्हारी [illegible] है । तुम मनसे स्थिर हो, तुम स्वयं [illegible] क्या कहूँ !' इस प्रकार जनकके उपदेश[illegible] शुकदेवको बड़ा आनन्द हुआ । उन्हो[illegible] ने पुनः हिमालयपर (मतान्तरसे सुमेरुगिरि) [illegible] पिता व्यासजीके आश्रमपर लौट आये ।

इन भागवतवक्ता, परमभागवत शुकदेवके [illegible] बड़े-बड़े ऋषि आया करते थे । नारदीयपुराणमें [illegible] के और महाभारतमें नारदके आनेकी चर्चा [illegible] उनके आनेपर शुकदेवजी बड़े प्रेमसे उनकी [illegible] और उनसे प्रश्न करके तत्त्वकी बातें सुनते थे ।

शुकदेवजीके इस प्रकारके सत्संगप्रसंग बहुध[illegible] ही रहते थे । श्रीव्याससनन्दनके मार्मिक उपदेश [illegible] प्रकार हैं—

> देहापत्यकलत्रादिष्वात्मसैन्येष्वसत्स्वपि
> तेषां प्रमत्तो निधनं पश्यन्नपि न पश्यति
> तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः
> श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्
>
> (श्रीमद्भा० २ । १ ।

'संसारमें जिन्हें अपना अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्धी [illegible] जाता है, वे शरीर, पुत्र, स्त्री आदि कुछ नहीं हैं, [illegible] हैं, परंतु जीव उनके मोहमें ऐसा पागल-सा हो [illegible] है कि रात-दिन उनको मृत्युका ग्रास होते देखकर [illegible] चेतता नहीं है । इसलिये परीक्षित् ! जो अभय पदको [illegible] करना चाहता है, उसे तो सर्वात्मा, सर्वशक्तिमान् भग[illegible] श्रीकृष्णकी ही लीलाओंका श्रवण, कीर्तन और स्म[illegible] करना चाहिये ।'

> सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासै-
> र्बाहौ स्वसिद्धे ह्युपबर्हणैः किम् ।
> सत्यञ्जलौ [illegible]
> [illegible] दुकूलैः ॥

सदाचार—अतुल महिमान्वित

(लेखक—श्रीअश्विनीकुमारजी श्रीवास्तव 'अनल')

भगवान् वेदव्यासप्रणीत श्रीमन्महाभारतकी 'विदुर-*में सदाचारका अनुपम महत्त्व बतलाते हुए जी कहते हैं—

न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं
नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः।
दत्त्वा न पश्चात् कुरुतेऽनुतापं
स कथ्यते सत्पुरुषार्यशीलः॥
(२। ३९)

जो अपने सुखमें प्रसन्न नहीं होता, दूसरेके दुःखमें नहीं मानता और दान देकर पश्चात्ताप नहीं करता सज्जनोंमें सदाचारी कहलाता है।'

कुलं वृत्तहीनस्य प्रमाणमिति मे मतिः।
अन्त्येष्वपि हि जातानां वृत्तमेव विशिष्यते॥
(२। ४१)

मेरा ऐसा विचार है कि सदाचारसे हीन मनुष्यका ऊँचा कुल नहीं मान्य हो सकता; क्योंकि नीचे उत्पन्न मनुष्योंका भी सदाचार श्रेष्ठ ही माना है।' विदुरजीका कथन है कि 'सदाचारसे रक्षा होती है (२। ३९३)।' इस विषयमें वे अध्यायमें स्पष्ट कहते हैं कि 'गौओं, मनुष्यों तथा पूर्ण होकर भी जो कुल सदाचारसे हीन हैं, वे कुलोंकी गणनामें नहीं आ सकते। अल्प धनवाले भी यदि सदाचारसे सम्पन्न हैं तो वे अच्छे कुलोंकी गणनामें आते तथा महान् यश प्राप्त करते हैं। सदाचारकी रक्षा यत्नपूर्वक करनी चाहिये, धन तो आता और जाता ही रहता है। धन क्षीण हो जानेपर भी सदाचारी मानव क्षीण नहीं माना जाता, किंतु जो सदाचारसे भ्रष्ट हो गया हो उसे तो नष्ट ही समझना चाहिये—'वृत्ततस्तु हतो हतः।' 'जो कुल सदाचारसे हीन हैं वे गौओं, घोड़ों, पशुओं तथा हरी-भरी खेतीसे सम्पन्न होनेपर भी उन्नति नहीं कर पाते' (अध्याय ४, श्लोक २८, २९, ३० तथा ३१वाँ)।

महर्षि पराशरका मत है कि 'आचार चारों ही वर्णों एवं आश्रमोंके धर्मोंका पालन करानेवाला है, क्योंकि आचारके बिना धर्मका पालन नहीं हो सकता। जो मनुष्य आचारभ्रष्ट हैं तथा जिन्होंने धर्माचरण त्याग दिया है, धर्म उनसे विमुख हो जाता है' (१। ३७)। अपने इसी कथनका उदाहरण वे ग्रन्थके १२वें अध्यायमें यों देते हैं—

अग्निकार्यात्परिभ्रष्टाः संध्योपासनवर्जिताः।
वेदं चैवानधीयानाः सर्वे ते वृषलाः स्मृताः॥
(१२। २९)

'दैनिक अग्निहोत्रसे भ्रष्ट, संध्योपासनादिसे रहित तथा वेदाध्ययनसे विमुख सभी ब्राह्मण शूद्रप्राय हैं।' पुण्यश्लोक राजर्षि मनु भी कहते हैं कि 'वेदज्ञाता पुरुष भी आचारभ्रष्ट होनेपर वेदके सम्यक् फलको प्राप्त नहीं करता। जो आचारसे युक्त है, वही वेदके सम्यक् फलको प्राप्त करता है।' तात्पर्य यह कि वेदाध्ययनके बाद भी सदाचारशून्य द्विज वास्तविक द्विज नहीं है।

मनु महाराजद्वारा कथित धर्मके चार साक्षात् लक्षणोंमेंसे सदाचार भी एक है (मनु० २। १२), जिसका पालनकर मनुष्य आत्मकल्याण कर सकते हैं (मनु० २। ९)। महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास-प्रणीत पुराणोंमें भी प्रचुरतासे सदाचारकी महिमा वर्णित है। श्रीमद्भागवतमहापुराणके ७वें स्कन्धके ११ से १५वें अध्यायतक, अध्यात्मरामायणमें अरण्यकाण्डमें (एवं दूसरी रामायणोंमें भी) श्रीराम-लक्ष्मण-संवादान्तर्गत, किष्किन्धाकाण्डमें क्रियायोगान्तर्गत तथा उत्तरकाण्डमें 'रामगीता'के अन्तर्गत सदाचारका किंचित्

* महाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्वर्ती तृतीय 'प्रजागर-पर्व'के ३३ से ४० तकके ८ अध्यायोंको 'विदुर-नीति' कहते हैं।

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां
मलं शरीरस्य तु वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां
पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥
(शिव नित्यनाथ संगत्यदि १। १)

आचार्य पतञ्जलिने निःश्रेयसकी सिद्धिकी जो साधना प्रस्तुत की, वह योगदर्शनके रूपमें हमें उपलब्ध है। योगके विविध अङ्गोंमें 'यम' और 'नियम' सदाचारके मूलाधार हैं—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरीका अभाव), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (संग्रहका अभाव)—ये पाँच यम हैं। और—

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-शरणागति—ये पाँच नियम हैं। इनमें अहिंसा सदाचारकी पहली सीढ़ी है। जिसकी प्रतिष्ठासे निर्वैरताकी सिद्धि मिलती है।

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः

अहिंसाकी दृढ़ स्थिति हो जानेपर उसके निकट सब प्राणी वैरका त्याग कर देते हैं। यह सदाचारका प्रत्यक्ष प्रमाण प्रस्तुत करती है।

इसी प्रकार शौचका पालन करनेसे साधक अपने शरीरको सदा अशुद्धि और ... है; और जब तपके प्रभावसे अशुद्धिका नाश होता है, तब शरीर और इन्द्रियोंकी सिद्धि हो जाती है।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः

ऐसी स्थितिमें सदाचार नैसर्गिक हो जाता है। संतोष-लाभ हो जाता है। संतोष ... उससे अनुत्तम सुखका लाभ होता है। पतञ्जलि कहते हैं—'संतोषादनुत्तमसुखलाभः।' अर्थात् संतोषसे ऐसे सर्वोत्तम सुखका लाभ ... जिससे उत्तम दूसरा कोई सुख नहीं है।*

शुभाचार

अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवावतारय।
प्रयत्नाच्चित्तमित्येष सर्वशास्त्रार्थसंग्रहः॥
यच्छ्रेयो यदतुच्छं च यदपायविवर्जितम्।
तत्तदाचर यत्नेन पुत्रेति गुरवः स्थिताः॥
(योगवासिष्ठ मु० प्र० ७। १२-१३)

'अशुभ कर्मोंमें लगे हुए मनको वहाँसे (अशुभकर्मसे) हटाकर प्रयत्नपूर्वक शुभ कर्मोंमें लगाना चाहिये, यही सब शास्त्रोंके सारका संग्रह है। जो वस्तु कल्याणकारी है, जो तुच्छ नहीं है (यही सबसे श्रेष्ठ है) तथा जिसका कभी नाश नहीं होता, उसीका यत्न-पूर्वक आचरण करना चाहिये—यही 'गुरुजनोंद्वारा उपदिष्ट सदाचार है।'

* योगसूत्रोंको समझनेके लिये योगभाष्य, योगवार्तिक एवं उसकी २० अन्य प्रमुख टीकाओंको दृष्टि भी अवश्य सम... चाहिये। उसके अनुसार योगका प्रथम पाद उत्कृष्ट समाहित चित्तके साधकोंके लिये तथा साधनपाद व्युत्थितचित्तवाले स... साधकोंके लिये है—'उद्दिष्टः समाहितचित्तस्य योगः। कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तः स्यादित्येतदारभ्यते। (पात० २। १ की योगभाष्यभूमिका) योगका यहाँ वास्तविक अर्थ असम्प्रज्ञातयोग या निर्बीज समाधि है, युज—समाधौ (दिव... ४। ६९) समाधिश्चित्तनिरोधः (माध० धातुवृ०) और योगीके लिये वही मुख्य साध्य वस्तु है। सिद्धावस्थामें ये यमा... बदि ... करते हैं।

रे, निरर्थक वार्तोको छोड़ दे, विवेकी पुरुष दूसरेका तिरस्कार, अपनी बड़ाई, अपने शास्त्रज्ञान, जाति था तपका गर्व न करे ('कल्याण' भाग ४८ अं० १२)।

बौद्धधर्मके पञ्चशीलका सिद्धान्त भी सदाचारपर ही आधृत है। इसके अतिरिक्त अन्य सम्प्रदाय जैसे सिख, राधास्वामी, आर्यसमाजी, लिङ्गायत, आदिमें भी सदाचारकी अपरिहार्यतापर प्रकाश डाला गया है। हिंदू-धर्मके अतिरिक्त विश्वके अन्य पंथों जैसे यवन, पारसी, ईसाई इत्यादि भी सदाचार-पालनपर जोर देते हैं। इनका उदाहरण विस्तारभयसे दिया जाना शक्य नहीं है। इनके अतिरिक्त अन्य सामाजिक संगठन जैसे श्रीरामकृष्ण-मिशन, थियोसोफिकल सोसाइटी, रामतीर्थ-मिशन, अरविन्द सोसाइटी, राष्ट्रिय स्वयंसेवक-संघ इत्यादि भी सदाचार-पालनको आवश्यक मानते हैं।

यह है हमारा नानापुराणनिगमागमसर्वग्रन्थसम्मत सदाचार। जिसपर चलनेसे सृष्टिसे आजतक यह दिव्य देश आर्यावर्त विश्वका स्तम्भ बना रहा। हमारा देश भारत बड़ा ही पवित्र क्षेत्र है। किम्पुरुषवर्ष, इलावृतवर्ष, भद्राश्ववर्षादि समस्त पुण्यमय प्रदेशोंसे आवृत, भगवान् शेषशायीके चौबीस पवित्र अवतारोंकी पावन लीलास्थली, सृष्टिका प्रारम्भ क्रीडाङ्गण, सर्व-शास्त्रप्रशंसित यह देश सदैवसे विश्वका प्रत्येक विषयोंका प्रत्येक क्षेत्रोंमें नेतृत्व करते हुए महर्षि मनुके इस आज्ञाका पालन कर रहा है कि—'इस देशमें उत्पन्न ब्राह्मणोंसे पृथ्वीके सभी मानव अपने-अपने चरित्रकी शिक्षा ग्रहण करें (मनु० २। २०)। अतः हमें मनुष्यताके पूर्ण आदर्श बनने, आत्मोद्धार करने, भगवत्कृपा प्राप्त करने, आत्मिक-पारिवारिक-सामाजिक, राष्ट्रीय तथा विश्वका कल्याण करने और कल्याणमार्गका पथिक बनने—'ॐ स्वस्ति पन्थामनु चरेम' (ऋक् ५। ५१। १५)के पालनके लिये मनुप्रोक्त आचरणसे धर्मपालन करते हुए अपना जीवन-निर्वाह करना चाहिये, तभी हम अपने पूर्वजोंका नाम उज्ज्वल कर सकेंगे।

सदाचारसे परम लक्ष्यकी प्राप्ति

(लेखक—श्रीव्योमकेश भट्टाचार्य, साहित्यभूषण)

रीलीजन(Religion)शब्द 'धर्म'का वास्तविक अर्थ-बोधक नहीं है। लैटिनमें री(Re)का अर्थ है—पुनः या बार् और ligare लीजरका अर्थ है—ले जाना। अर्थात् जो परिदृश्यमान जगत्के पीछे सृष्टिकर्ता परमेश्वरकी ओर हमको ले जाय, वह रीलीजन(Religion) है। इधर 'धृ' धातुमें 'मन्' प्रत्ययके योगसे धर्म होता है। 'धृ' अर्थात् धारण करना—जो धारण करे या किया जाय, वही धर्म है। 'धर्मो धराधारकः'—धर्म ही पृथ्वीका धारक है। वैशेषिकसूत्रके अनुसार—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः।' जिससे अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धि होती है, वह धर्म है। अभ्युदयके लिये प्रवृत्ति-मार्ग और निःश्रेयसके लिये निवृत्तिमार्ग है। तात्पर्य यह कि जिस ज्ञान-धर्मकी सहायतासे प्रवृत्तिमार्गका पथिक इस लोक और परलोकमें सुखभोग और निवृत्तिमार्गी संसार-मुक्तिको प्राप्त करे, वही धर्म है। इस धर्मकी प्रतिष्ठाके लिये एकमात्र अवलम्बन सदाचार है। धर्म भी दो प्रकारका है—सामान्य तथा विशेष। मानव-मात्रके लिये नैतिकरूपसे आचरणीय धर्म सामान्य धर्म है और विशेष कालमें विशिष्ट व्यक्तिके लिये आचरणीय धर्म विशेष धर्म है। धर्मों धर्मका अर्थ धर्माचरण है।

वर्णन है। नृसिंहपुराणके ५७वें अध्यायमें मार्कण्डेयजीद्वारा कथित भक्तोंके लक्षणके व्याजसे सदाचार-की शिक्षा है। इसी प्रकार कूर्म, अग्नि, पद्म, वाराह, ब्रह्म, शिव, स्कन्द, वायु, गरुड इत्यादि पुराणोंमें भी इसकी चर्चा आयी है। उपनिषदोंमें भी किसी-न-किसी रीतिसे सदाचारका गुणगान हुआ है। इसी विषयमें कठोपनिषद्‌का कथन है कि पापकर्मोंमें प्रवृत्त, अशान्तेन्द्रिय तथा असमाहित चित्तवाला आत्मज्ञान नहीं पा सकता (१। २। २४)। छान्दोग्योपनिषद्‌का कथन है कि जो कर्म विद्या, श्रद्धा तथा योगसे युक्त होकर किया जाता है, वही प्रबलतर होता है (१। १। १०)।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'श्रेय [illegible]

सद्व्यवहार करता है, जो न तो [illegible] करता है और न प्राप्तका त्याग ही करता है, 'शान्त' कहलाता है (योगवा० मुमुक्षु० [illegible] १३)। यही लक्षण सदाचारी मनुष्यका भी है। महाभारतमें भी सदाचारकी महत्ताका [illegible] है। कहा गया है कि 'यदि शूद्रमें सत्यादि ब्राह्मणोचित [illegible] हों तथा ब्राह्मणमें न हों तो वह शूद्र शूद्र नहीं और [illegible] विप्र विप्र नहीं। (वनपर्व, सर्प-युधिष्ठिर-संवाद [illegible] १८०। २५-२६)

सदाचारका वर्णन हमारे महान् नीतिशास्त्रों—[illegible] तन्त्र'में, 'चाणक्य-नीति'में, 'शुक्रनीति'में, [illegible] 'वसिष्ठस्मृति' और अन्य धर्म एवं नीतिके [illegible] आता है। 'वाल्मीकीयरामायण'के अतिरिक्त अन्य [illegible] और 'नारायणीयम्' तथा 'धारवाम्बुरवर' [illegible]

नहीं लिया गया। घर पहुँचकर उसकी का देखी तो शिशुकी अवस्था टिकटकी योग्यतासे न अधिक हो रही थी। फिर क्या था! तत्क्षण रद्वारा रेलवेको भाड़ा भेज दिया। परमभागवत धागोविन्दनाथकी सत्यनिष्ठाकी बात भी इसी तरह लिजसे निकलनेके बाद उन्हें कुछ दिनोंतक तनमें ही रहना पड़ा था। किराया देनेकी इच्छा करनेपर कालेज-कमेटीने उसे लेनेमें असहमति ी, किंतु उन्होंने—'मैं किराया दिये बिना तो ैं भी यहाँ न रहूँगा'—कहकर सभीको भाड़ा वेवश किया और वे किराया देकर ही रहे।

ानिष्ठा सदाचारका श्रेष्ठ सोपान है। पर वह कहाँ है। छोटा शिशु रोता है तो हम त करनेके लिये बंदरका मिथ्या भय दिखाते बंदर उस क्षेत्रमें कभी आता भी न हो। ते चुप करानेके लिये मिठाई और खिलौनेके देते हैं। इन सबके मूलमें मिथ्या ही तो है। रणके हर क्षेत्रमें हम असत्यकी ही छवि त्रमें अङ्कित करते हैं। व्यवसायी व्यवसाय पूर्व ही वजन कम करनेका चिन्तन करते हैं। के सम्मिश्रणसे अधिक लाभ कमानेकी हमारी वृत्ति है। महाभागवत श्रीविजयकृष्ण गोस्वामी कि बारह वर्ष नहीं, मात्र तीन दिनतक भी पूर्ण हो सकनेपर साधन-सिद्धि अवश्यम्भावी है। वेकानन्दने भी कहा था—'अर्थ नष्ट होनेसे कुछ नि नहीं होती। स्वास्थ्य नष्ट होनेसे किंचित् ती है। किंतु चरित्र भ्रष्ट होनेसे सर्वस्व नष्ट हो ।' चरित्रगठनके मूलमें सत्यनिष्ठा है और ारा आत्मोत्थानका पथ चरित्र-गठन ही है।

—सभी प्राणियोंमें भगवान् अधिष्ठित हैं। देह की मलिनता दूर करनेका नाम शौच या ाधन है। शौच भी दो प्रकारका है—बाह्य और आन्तरिक। देहकी शुद्धि बाह्य और मनकी शुद्धि आन्तरिक शौच है। योगियाज्ञवल्क्य कहते हैं—

शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्याभ्यन्तरतस्तथा।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं मनःशुद्धिस्तथान्तरम्॥

बाह्य शौचके लिये मिट्टी और जल आवश्यक है और मनकी शुद्धिके लिये सद्गुण प्रयोज्य है। सदाचारद्वारा चित्तशुद्धि होती है। चित्तशुद्धिद्वारा आत्मोत्थान या दिव्य जीवन-लाभ हो सकता है। छान्दोग्योपनिषद् '**अन्नमयं हि सौम्य मनः**' के अनुसार आहारके सूक्ष्मांशसे मन गठित होता है। सत्त्वगुणी आहार सदाचारकी ओर ले जायँगे, यह ध्रुव सत्य है। इस प्रकार सदाचारके द्वारा आत्मोत्थानके लिये बाह्य और मनःशौच दोनों ही प्रयोजनीय हैं।

संयम दो प्रकारका कहा गया है—बाह्य-इन्द्रिय-संयम तथा मनःसंयम। पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और पञ्च कर्मेन्द्रिय हमें हमेशा बहिर्मुखी बनाती हैं। पुनः मन अन्तरिन्द्रिय है। मन स्वकीय संकल्पद्वारा बहिरिन्द्रियको संयत कर सकता है। संयमका अर्थ इन्द्रियपीड़न नहीं, नियन्त्रण करना है। बाह्य और मनःसंयमका एकमात्र उपाय भगवदुपासना है। भगवन्मुखी मन होनेपर कामादि षड्रिपु अनायास ही वशीभूत होकर अन्तर्मुखी होनेके लिये बाध्य होते हैं। तभी भागवत चैतन्यका उदय होता है। हर व्यापारका मूल भगवदाराधन है। इस साधन-पथका ईंधन सदाचार है।

'आचरणसे शिक्षा दो' श्रीमन्महाप्रभुकी यह वाणी अमृतमयी है। महात्मा गाँधीने भी यही कहा है। 'हमारा जीवन ही हमारी वाणी है।' शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्' (हितोपदेश० १। १७१)के अनुसार कुछ लोग शास्त्राध्ययन करके भी मूर्ख ही रहते हैं। जो उसे क्रियामें लाते हैं, वे ही वास्तविक विद्वान् हैं। हमारे उपदेश कार्यकारी नहीं होते; क्योंकि हम—

अस्तु, पृथ्वीपर प्रचलित सारे धर्मोंने ही सदाचारको अङ्गीकृत किया है । दिव्य जीवनयापनके पथपर अग्रसर होनेके लिये सदाचारपालन आवश्यक है । लक्ष्यहीन निकृष्ट जीवन पशुतुल्य है । मनु एवं वसिष्ठने आचारको परमधर्म कहा है । भगवान् बुद्धने भी कहा है कि महान् अष्टमार्गमें मिथ्या कटूक्ति-वर्जन-पूर्वक, सत्य, शिष्ट तथा प्रियकर वाक्यकथनका पालन और प्राणि-हत्या, चौर्य, लोभ, द्वेष-प्रभृतिका वर्जन आवश्यक है । जैन और सिख-धर्ममें भी सदाचारकी बातें विशेषरूपसे उल्लिखित हैं । यहूदी धर्ममें ईश्वरके दश आदेशोंमें अहिंसा, सत्य आदि सदाचार-पालनकी बात है । पारसी धर्ममें शौच, साधन, जीवदया, अतिथि-सत्कार आदि सदाचरणका विधान है । इस्लामधर्ममें जीवदया, सत्यकथा, दान-प्रभृति सदाचारकी बात विशेष-रूपसे कही गयी है ।

सदाचार-पालनके लिये उल्लिखित वृत्ति-समूहोंमें ऋषियोंने अहिंसा, सत्य, शौच, संयम—इन चारोंका विशेष रूपसे वर्णन किया है । अब यहाँ इनका कुछ परिचय दिया जा रहा है ।

अहिंसा—'हिंसि' धातुमें निषेधार्थक नञ् ('अ') समासके द्वारा अहिंसा शब्द बनता है । इसका अर्थ केवल प्राणि-वध ही नहीं, (साधारणतः हमलोग प्राणिवध नहीं करनेको ही अहिंसा कहते हैं,) बल्कि सभी प्रकारका पर-पीड़न भी है । परपीड़न न करना ही अहिंसा है । हिंसा तीन प्रकारकी होती है—कायिक, मानसिक, वाचिक । हाथसे प्रहार करना कायिक हिंसा है । मन-ही-मन किसीके प्रति हिंसाभाव रखना मानसिक और वाग्-बाणद्वारा दूसरेके मनमें आघात पहुँचाना वाचिक हिंसा होती है । शास्त्र कहते हैं—मनोवाक्का[य से किसी] की हिंसा मत करो । सर्वभूतात्मवाद ही [अहिंसाका] चरम और परम तत्त्व है । 'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।' एक ही आत्मा सब प्राणियोंमें [स्थित] है । इसलिये पीड़क और पीड़ितमें अन्तर [नहीं]। अहिंसा महाव्रत इसी अनुभूतिपर प्रतिष्ठित है। पतञ्जलि कहते हैं—'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ।' (योगसूत्र २ । ३५) । अहिंसा प्रतिष्ठित होनेपर सर्प, व्याघ्रादि प्राणी स्वाभाविक रूपसे हिंसात्याग करते हैं । यही भागवत-प्रेम है ।

सत्य—श्रीमद्भागवतके प्रारम्भमें आता है—'सत्यं परं धीमहि' (१ । १ । १) 'हम सत्यस्वरूप उसी परमात्मा का ध्यान करते हैं । महात्मा गाँधीने कहा है—"Truth is God !' सत्य ही भगवान् है । 'परहितार्थं वाङ्मनसोः यथार्थत्वं सत्यम् ।' परहितमें वाक् और मनका यथार्थ भाव ही सत्य है । सत्य-भाषण, सत्योपासना सदाचार प्रधान उपकरण हैं । योगसूत्रके अनुसार 'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्' (योगसूत्र २ । ३६) । सत्य प्रतिष्ठित व्यक्तिको वाक्-सिद्धि प्राप्त होती है । इसके प्रमाण इस युगके चटगाँवके साधु बाबा ताराचरण हैं । वाराणसीमें साधु बाबाके आविर्भावके उत्सवके समय उनके शिष्यके श्रीमुखकी वाणी है कि साधु बाबा जो कहते थे, वही यथार्थ होता था । किसी भी व्यक्तिके अतीत, वर्तमान और भविष्यत्‌का चित्रपट उनके सम्मुख यथार्थरूपसे प्रतिभासित होता था । इसका कारण पूछनेपर बाबाने कहा था—'जो कोई व्यक्ति बारह वर्षोंतक सत्यवादी रह [illegible]

ाध्यम है । मनुष्यके जीवनका लक्ष्य
पलब्धि, धर्म, अर्थ काम और मोक्ष
ाप्ति है । इनमेंसे प्रथम तीन पुरुषार्थ
ानके अभ्युदय (इह लौकिक उन्नति)
अन्तिम पुरुषार्थ (मोक्ष) आत्मोत्थान-
ारलौकिक विकास)का परिचायक है ।

ल्लिखित दस साधनोंमें ब्रह्मचर्य (सदाचार)
दित करते हुए श्रीमद्भागवतके रचयिता
। हैं कि मौन, ब्रह्मचर्य, शास्त्र-श्रवण,
वधर्म-पालन, शास्त्र-विवेचन, एकान्तवास
—ये दस मोक्षके साधन हैं । (७ ।
ब्रह्मचर्य (सदाचार)का विधिवत् पालन
एवं मुक्ति प्राप्त हो जाती है; क्योंकि
शुक्रका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतः
ह्मचर्यद्वारा शुक्र)का निरोध हो जानेपर
का अपने-आप निरोध हो जाता है ।
र्यका निरोध, प्रकारान्तरसे मनोनिरोधका
है । यही निरुद्ध (संयत) मन मोक्षका
ुजीने इन्द्रिय-निग्रहको ब्रह्मचर्यपालनका
यहा है । इन्द्रियोंके संसर्गसे जीव
तथा इन्द्रियोंद्वारा विषय-परित्यागसे जीव
ता है । विदुरजी भी कहते हैं कि
नेक जीवनमें सदाचारका महत्त्व अक्षुण्ण
रमें जाति-भाई तारते हैं और डुबाते भी
सदाचारी हैं, वे तो प्रश्रयाभिभूत अपने
रते हैं। उन्हें सत्पथगामी बनाते हैं;
जो दुराचारी हैं, वे उन्हें डुबा देते हैं अर्थात्
[illegible] कर देते हैं । सदाचार कुलक्षणोंका
[illegible] मनको शुभभावयुक्त सत्पथ-अनुगामी बनाता
[illegible] है । 'विनय—नम्रभाव अनर्थको नष्ट
है, पराक्रम अनर्थको दूर करता है, क्षमा सदा

ही क्रोधका नाश करती है और सदाचार कुलक्षणका
अन्त करता है ।'

आयुर्वेदके प्रचारक चरक एवं सुश्रुतने सदाचारको
सुकृतियोंके पुण्य लोक (स्वर्णपद)का साधक बतलाते
हुए कहा है कि 'जो इस आयुर्वेदोक्त सद्वृत्त
अथवा शुद्धाचरणका सम्यक् पालन करता है, वह सौ
वर्षतक जीवित रहता है । धर्म अर्थ और कामविषयक
इहलौकिक सिद्धिको प्राप्त करनेके पश्चात् सार्वभौम-
पक्षमें समस्त प्राणियोंकी बन्धुताको भी उपलब्ध
करता है और अन्तमें पुण्यात्मा—मुमुक्षु पुरुषोंके
प्राप्तव्य स्वर्गीय लोकोंमें सद् प्रयाण करता है ।
'गीता'का भी सिद्धान्त यही है कि मन और
इन्द्रियोंको संयत करके निष्काम बुद्धिसे कर्तव्य कर्मका
पालन करना चाहिये, इसी प्रक्रियाद्वारा साम्यबुद्धि
(स्थिरबुद्धि) उत्पन्न होती है । इन्द्रियनिग्रह (साधन)
और स्थिरबुद्धिकी प्राप्ति (साध्य) से निरन्तरता स्थापित
करनेवाला तत्त्व ही सदाचार कहलाता है ।

सदाचार अथवा ब्रह्मचर्यका महत्त्व बताते हुए
महाभारतके शान्तिपर्वमें भीष्म पितामहजी युधिष्ठिरजीसे
कहते हैं—'यह जो ब्रह्मचर्य नामक गुण है, इसे
शास्त्रोंमें ब्रह्मका स्वरूप ही बताया गया है । यह सब धर्मोंमें
श्रेष्ठ है । ब्रह्मचर्यके पालनसे मनुष्य परम पदको प्राप्त
कर लेते हैं । सदाचारका मुख्य तत्त्व दम—इन्द्रियों और
मनका संयम है । धर्मके सिद्धान्तको भलीभाँति जाननेवाले
श्रेष्ठ पुरुष दमको निःश्रेयस् (परम कल्याण)का साधन
बताते हैं । विशेषतः ब्राह्मणके लिये तो दम ही सनातन
धर्म है—

दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं च दमः परम् ।
विपाप्मा तेजसा युक्तः पुरुषो विन्दते महत् ॥

भीष्मपितामहजी धर्मराज युधिष्ठिरसे कहते हैं कि
दम तेजकी वृद्धि करता है, दम परम पवित्र उत्तम

'मुखमें राम, बगलमें छुरी' को चरितार्थ करते हैं। सभी लोग मरते हैं, किंतु एककी मृत्युपर लोग आँसू बहाते हैं और दूसरेकी मृत्युको भूल जाते हैं। कौन-सी मृत्यु श्रेयस्कर है, यह हमें अपने विचारसे स्थिर करना है। स्वामी विवेकानन्दजीने कहा था कि 'संसारमें पैदा हुए

हो तो एक चिह्न छोड़ जाओ।' [illegible] ही दिव्य-जीवनयापन है। इसके [illegible] सदाचारसे आत्मोत्थान और [illegible] आत्मोपलब्धि किं वा मुक्ति—[illegible] परम लक्ष्य है।

ह प्रक्रिया लगातार अनेक दिन करनेपर धीरे-शः सफलता दिखायी देने लगेगी । दुष्प्रवृत्तियाँ नजरमें आयें, उन्हें एक-एक करके ऐसे फेंकें, जैसे अनाजमेंसे कंकड़ोंको बीन-बीनकर दिया जाता है ; और सत्प्रवृत्तियोंको ऐसे करते रहें, जैसे उद्यानमेंसे माली पुष्पोंको कर इकट्ठा करता है । यह दोष-निर्मूलनका ण-ग्रहणताका कार्य सरल-सा लगता है, फिर कठिन है, क्योंकि विकारोंका आवेग इतना और सहज होता है कि हम अनजाने ही इनके फँस जाते हैं और पवित्र भावोंकी रक्षाके लिये ल रहनेपर भी कई कठिनाइयाँ आ खड़ी । इसलिये बड़ी सजगतासे पूर्ण सचेत रहकर, पूर्वक इस कार्यको करना चाहिये । जरासे थोड़ी-सी तन्द्रामें और आलस्यमें रहे तो फिसले और गिरे । इसके लिये धैर्य, लगन रुषार्थ नितान्त आवश्यक है ।

रा मार्ग है साधनाका, जो अतिप्रभावी और निश्चित है । यह है—मनको एकाग्र करना, उसको रना और उसे विशुद्ध बनाना । यह कार्य ध्यानके ाप्य हो सकता है । किसी भी विचार अथवा का उद्गम-स्थान अचेतन मन है । संकल्पका प्रारम्भ होता है और फिर यह अर्धचेतन और चेतन मन-हुँचता है । तब हमें ज्ञात होता है कि अमुक या अमुक विकार हमारे मनमें उठा । उसके यह कृतिमें रूपान्तरित होता है । मनकी मौलिक पहुँचनेकी शक्ति ध्यानद्वारा ही प्राप्त ती है । ध्यानके माध्यमसे हम शनैः-शनैः एकाग्र करके उसको अपने वशमें कर सकते जैसे-जैसे हमारा ध्यान परिपुष्ट होता जाता है, े यह अन्तस्तलतक अर्थात् अचेतन मनतक ेमें सक्षम होता चला जाता है । कृतिमें उतरनेसे पूर्व ही यदि हमें विकारके उठनेका पता चल जाय, पहलेसे ही यदि हमें उसका आभास मिल जाय और उसे यदि हम देखनेमें, उसका निरीक्षण करनेमें सफल हो जायँ तो उठता हुआ विकार तुरंत दुर्बल हो जायगा । उसके आवेगमें शिथिलता आ जायगी और वह नष्टप्राय हो जायगा । इस प्रकार विकारोंपर नियन्त्रण पानेका सामर्थ्य हमें प्राप्त हो जाता है और हमारे दैनिक व्यवहारमें धीरे-धीरे सुधार होता चला जाता है । ध्यानकी विधि-को किसी अनुभवी मार्गदर्शकद्वारा ही सीखना श्रेयस्कर होता है ।

बौद्धिक सदाचार और अनुभूतिका स्तर— सदाचार, सद्गुण-सत्प्रवृत्तियों तथा दुराचार, दुर्गुण और असत्प्रवृत्तियोंके भले-बुरे परिणामोंको सभी लोग जानते हैं । शास्त्र-सत्सङ्ग-प्रवचन आदिमें जहाँ-कहीं इस विषयकी चर्चा चलती है, हम उससे प्रभावित हो जाते हैं । यह प्रभाव तात्कालिक स्वरूपका होता है और ऊपरी स्तरोंपर ही रहता है । इसका परिणाम स्थायी रूपसे नहीं रहता और यही कारण है कि हमारे जीवनमें इससे कोई विशेष अन्तर या परिवर्तन नहीं आ पाता । ऐसा परिवर्तन तो तभी सम्भव है, जब हम इसे प्रत्यक्ष कार्यान्वित करें—जीवनमें उतारें । केवल पढ़ने-सुनने-मात्रसे अथवा बुद्धिद्वारा समझ लेनेमात्रसे यह असम्भव है । इसे अनुभूतिके स्तरपर ही सोचना, परखना और समझना होगा । तभी जीवनमें क्रान्ति घटित होगी और यही क्रान्ति फिर क्रियारूपमें परिणत होगी और तब फिर जीवनमें भी परिवर्तन आना शुरू हो जाता है, सुधारका प्रारम्भ दिखायी देने लगता है । सदाचार बाह्य एवं आन्तरिक जगत् दोनोंकी प्रगतिका प्रवेशद्वार है । इसीलिये इसकी अपार महिमा यत्र-तत्र गायी गयी है । फिर क्यों न हम सत्कर्म करते-करते

है। इससे पापरहित हुआ तेजस्वी पुरुष परम पदको प्राप्त कर लेता है।

भारतीय संस्कृतिके इतिहासमें 'आचार'की विशेष गरिमा है। 'वर्णाश्रमानुकूल आचार-विचार ही हिन्दू-संस्कृतिका प्रत्यक्ष रूप है। देहेन्द्रियकी समस्त चेष्टाएँ 'आचार'के अन्तर्गत तथा मन-बुद्धि-चित्ताहंकारकी चेष्टाएँ विचारकी परिधिमें आती हैं; अतएव मनुष्यके लौकिक-पारलौकिक सर्वाभ्युदयके अनुकूल आचार-विचार ही संस्कृति हैं। सदाचारका सम्यक् पालन करनेवाला मनुष्य इस संसारमें दीर्घ आयु तथा ऐश्वर्य (इहलौकिक अभ्युदय) प्राप्त करता है, एवं परलोकमें अक्षय कीर्ति अथवा निःश्रेयस्-सिद्धि प्राप्त करता है। हृ...

सदाचार निकष (कसौटी) पर मानव ही उसकी आदर्शोन्मुखता है। 'चाणक्यनी...' दृष्टान्तद्वारा इस बातको स्पष्ट किया गया है—

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते
निघर्षणच्छेदनतापताडनैः।
तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते
श्रुतेन शीलेन कुलेन कर्म...

अनाचार मनुष्यके जीवनको कष्टकारी बना... और सदाचारके फलस्वरूप मनुष्य ईश्वर... बन जाता है।

सदाचार अर्थात् जीवनका धर्ममें प्रवेश

(लेखक—श्रीरामसुखजी मन्त्री)

धर्मका एक लक्षण अर्थ या स्वभाव या प्रकृति भी है। जैसे अग्निका धर्म या स्वभाव है—उष्णता और जलका धर्म है—आर्द्रता, गीलापन। इसी प्रकार मनुष्यका धर्म क्या हो सकता है? मनुष्यका स्वभाव क्या है? मनुष्य चाहता है—ऐहिक और पारलौकिक सुख तथा शान्ति। उसकी स्वाभाविक इच्छा है—सुखसे जीना, शान्तिके साथ जीना। सुख और शान्तिके साथ जीवन जीनेके जो नियम हैं, वही धर्म है। पर इसका मार्ग क्या है? वेदोंमें एक शब्द आता है—'ऋत'। इसका अर्थ है—'विधान (The Law)। लाओत्सेने भी इसका नाम रखा है—ताओ। 'ताओ'का मतलब होता है—नियम, तो धर्मका मतलब है—ऐसे नियम जिनका पालन हम करेंगे तो सुख और शान्तिको उपलब्ध कर पायेंगे और धर्मका मतलब है—उन नियमोंके प्रतिकूल हम चलेंगे तो दुःख और अशान्तिमें गिर जायेंगे।

सद्संकल्प और साधना—ये दो मार्ग सदाचारको ग्रहण करने तथा दुराचारसे बचनेके हैं। एक स्थूल या बाह्य तथा दूसरा है, सूक्ष्म या आन्त... स्थूल या बाह्य मार्ग है—सद्-संकल्प और ... या आन्तरिक मार्ग है—साधना। संकल्पको अपनानेके लिये प्रातःकाल और रातको दोनों स... चित्त शान्त करके एकान्तमें बैठना चाहिये और देखे... चाहिये कि मुझमें कौन-कौनसे दुर्गुण हैं, उनका... कैसे करूँ? और कौन-कौनसे दोष हैं, उनका निर्... कैसे करूँ? इसके पश्चात् आप विचारपूर्वक यह ... संकल्प करें कि 'मुझमें जो-जो गुण विद्यमान हैं, उन... संवर्धन मैं निश्चित ही करूँगा। वैसे ही मुझे... जो-जो दूषित विकार हैं, उनका निश्चित ही ह... करूँगा। फिर प्रतिदिन प्रातःकाल उठते ही ... संकल्पको दोहराइये और रातको सोते समय दिनभ... कार्यका लेखा-जोखा कीजिये कि संकल्पके अनुरू... आपने आचरण किया या नहीं? अपने गुण-दोषोंका निरीक्षण लगन एवं निष्ठा बनकर करें। आत्म-निरीक्षण एवं चिन्तन धार्मिक विचारोंमें ...

धार्मिकता सदाचारद्वारा प्रकट होती है

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

धर्मका सबसे महत्त्वपूर्ण और उपयोगी तत्त्व उसका चरण है। जब हमारे शुभ संकल्प हमारे दैनिक कार्यों और व्यवहारमें प्रकट होते हैं तो वह सदाचार कहलाता है। सदाचारका अर्थ है—उत्तम या उपयोगी आचरण (कार्य)। जिस शुभ विचारको कर्मद्वारा प्रकट न किया जाय, उससे क्या लाभ! कोरे विचारमात्रसे व्यक्ति या समाजको कोई स्थायी लाभ नहीं होता। लाभदायक तत्त्व तो 'सत्कर्म' ही है। 'चाणक्यनीति' में कहा गया है—

आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च।
पञ्चैतान्यपि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः॥
(चाणक्यनीति ४। १, १३। ४, हितोपदेश, प्रस्ता० २८,)

'जीव जब गर्भमें ही रहता है, तभी उसके लिये आयु, कर्म, धन, विद्या और मरण—ये पाँचों रचे जाते हैं।' चाणक्यके अनुसार पुरुषकी परीक्षा उसके आचारसे ही होती है—

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते
निघर्षणच्छेदनतापताडनैः।
तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते
श्रुतेन शीलेन कुलेन कर्मणा॥
(चाणक्यनी० ५। २)

'सोनेकी परख जैसे कसौटीपर घिसकर, काटकर, तपाकर और पीटकर की जाती है, वैसे ही पुरुषकी परख उसके ज्ञान, त्याग, कुल और शीलसे की जाती है।' संसारमें कर्म ही प्रधान है। कर्मके अनुसार ही कोई जन्म-मृत्युके फंदेमें पड़ा रहता है। एक अपने कर्मोंका शुभाशुभ फल भोगता है, एक नरकमें पड़ता है, तो दूसरा परमगतिको प्राप्त होता है।

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते॥
(सुभाषि० भा० ४। १६२। २९०)

'जीव स्वयं कर्म करता है और उसके शुभाशुभ फलको भी वह स्वयं ही भोगता है। कर्मके कारण ही वह संसारमें चक्कर खाता और उत्तम कर्मोंके फलस्वरूप वह स्वयं ही मोक्ष भी प्राप्त करता है।'

मनुष्यका जीवन गुण-दोषोंसे परिपूर्ण है। जितने अंशोंमें दोष होते हैं, उतने ही अंशोंमें हमें अपने चरित्रमें दानवत्व या राक्षसत्व मानना चाहिये। दोष-दुर्गुण निन्द्य विकार हैं। ज्यों-ज्यों मानवताका विकास होता है, त्यों-त्यों गुणोंकी अभिवृद्धि होती है। सही दिशाओंमें बढ़नेका अर्थ ही है—विकारोंसे मुक्ति और गुणोंका कार्योंके माध्यमसे प्रकटीकरण। अच्छे कर्मोंसे ही यह पहचाना जा सकता है कि आदमी देवत्वके कितना निकट पहुँच गया है; क्योंकि देवत्व ही सर्वगुण-सम्पन्न हो सकता है। गुणोंका कार्योंद्वारा स्पष्ट होना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। सच्चरित्रताका अर्थ है—विषय-विकारोंसे मुक्ति, दुष्कर्मोंसे सुरक्षा, वासनाओंकी रोकथाम, चरित्रमें सत्य, न्याय, प्रेम, दया, उदारता, विनम्रता, सुशीलता और सहानुभूतिका विकास। किंतु ये सद्गुण सिर्फ कहने-सुननेकी बात नहीं हैं। प्रत्येक गुण या देवत्वकी विशेषताका पता तब लगता है, जब वह प्रत्यक्ष कर्मोंद्वारा प्रकट होता है। सच्चरित्रता हमारे उत्तम कार्यों और सद्व्यवहारसे ही प्रकट होती है। हम 'सत्य'को धारण कर रहे हैं अथवा नहीं, यह तब प्रकट होता है, जब हमारे उत्तम कार्य देखे जायँगे। आप जो कहते हैं, वही करते भी हैं या नहीं—यह सचाई आपके दैनिक व्यवहारसे प्रकट होगी। 'उदारता' कहा जानेवाला गुण उन कार्योंसे स्पष्ट होता है, जिन्हें आप समाजके दूसरे सदस्योंके प्रति दिखलाते हैं।

जीवनको पवित्र बनानेमें और अनन्त शान्ति प्राप्त करनेमें प्रयत्नशील बने रहें, जिससे एक ओर ऐहिक जीवन तथा दूसरी ओर पारलौकिक जीवन दोनों ही उन्नत बन सकें। हमारे शास्त्रोंने एवं ऋषि-मुनियोंने तीर्थ-व्रत, उपवास, जप-तप, मन्दिर-उपासना, पूजा-अर्चा, सत्सङ्ग-स्वाध्याय-ध्यान-धारणा आदि जो भी साधन बतलाये हैं, इन्हें सामान्य-से-सामान्य मनुष्य भी अपनी पात्रताके अनुसार ग्रहण कर सकता है। इन सभी साधनोंका मूल उद्देश्य यही है कि अपनी अन्तरात्माका परिशोधन करते हुए आन्तरिक जीवनको परिमार्जित करें, परिशुद्ध बनायें। इस पवित्र बनानेके मूल उद्देश्यको सामने रखते हुए हमें अपने जीवनका सम्पूर्ण दैनंदिन व्यवहार पवित्र रखते हुए करना चाहिये। केवल बाह्य शुचिता पर्याप्त नहीं है, वह तो गौण है। अन्तरकी शुचिता विशेष महत्त्वकी है। यही प्रमुख और प्रधान भी है। जीवनको विशाल, महान् और मूल्यवान् बनानेके लिये आन्तर शुद्धि आवश्यक है। और जिसने अन्तरकी मूल पवित्रताको स्थायी रूपसे धारण कर लिया है, वही सच्चे अर्थमें धार्मिक है और जिसकी अन्तरात्मा परिशुद्ध नहीं है, मलिन है, वह कभी धार्मिक नहीं हो सकता। उसकी धार्मिकता भ्रान्तिमात्र है। वस्तुतः वह अधार्मिक ही है।

हम इन सत्पथोंको अपनाते हुए भी इनमें कोई परिवर्तन नहीं करते। हम कोरे-के-कोरे वैसे ही रह जाते हैं। हमारा जीवन स्वार्थ, द्वन्द्व, दुःख और कष्टसे भरा हुआ जीवन बना है। हम और निराशा लिये हुए कल्पित अन्धकारमें भटकते हुए निरन्तर भटकते ही रहते हैं।

सत्यकी उपलब्धि—जब हमारे भावके और सारे बन्धन, सारे कषाय नष्ट हो जाते हैं, हो जाते हैं तो शेष जो अवस्था बच रहती है, वह है परिशुद्ध अवस्था। इस परिपूर्ण निर्मल अवस्थामें उस अमूल्य सम्पदाके द्वार खुल जाते हैं, जो हमारे भीतर छिपी पड़ी है और फिर जीवनमें कोई अभाव नहीं रह जाता। उस अनन्त सत्-चित्का साक्षात्कार हो जाता है, जो हमारी आँखोंसे ओझल है और हमारे जीवनसे अतृप्ति सदाके लिये विदा हो जाती है। हमारे उस परम आनन्दका झरना फूट पड़ता है, जो हमारे जीवनको सराबोर कर देता है। उस परम शान्तिका उदय हो जाता है, जिससे सारी लालसाओंका अन्त हो जाता है और अस्थिरता सदाके लिये तिरोहित हो जाती है। अन्ततः हमें उस परम सत्यकी उपलब्धि हो जाती है, जिसका जीवनसे ... भाँति अटूट सम्बन्ध है।

चारोंके दृष्टिकोणको शुद्ध, सात्त्विक, प्रेमिल और
य तो बनाती ही है, उसके सम्पूर्ण जीवनको अपने
द सौरभ एवं माधुर्यसे 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' बना
है।

सदाचार वह स्नेहयुक्त दीपक है, जो मानवको अन्धकारसे निकाल, असभ्यताके पङ्कसे खींचकर, ताकी सीमाका अतिक्रमण कराकर, संतोंकी कोटिमें ला ा है। यह मनुष्यको ऊँचा उठाता है, नरसे नारायण ा है। यदि आप इतने उच्च स्थानपर पहुँच जायँ दुश्चिन्ताकी गुंजाइश नहीं, दुष्कर्मके लिये स्थान और दुर्भावका भी अभाव है तो आप ब्रह्म हैं और की और ईश्वरकी सत्तामें कोई अन्तर नहीं है। प्राणी मन, वचन और शरीरसे जैसा कर्म करता है, स्वयं वैसा ही फल भोगता है। आत्मा ही सुख और को उत्पन्न करनेवाला है। आत्मा ही कर्ता-धर्ता सदाचारसे आत्मा मित्र है और दुराचारसे अमित्र। ार ही स्वर्ग है और अनाचार ही नरक'।

मनुष्यके जैसे विचार होते हैं, वैसे ही उसके आचरण होते हैं। कड़वे-विषैले विचारोंसे जीवात्मा दूषित ाता है। बुरे विचार बुरे कामोंसे भी भयंकर हैं। ारोंके अभावमें सदाचार, सत्कर्म असम्भव है। विचार रखना पावन जीवनके लिये अनिवार्य है। चारोंका जन्म होता रहे और असत् विचारोंका स्पर्श होने पाये तो मनुष्य अपनी असीम आत्म-शक्तिका वीकरण कर सकता है। ऐसे ही व्यक्तियोंमें दृढ़ ल्पकी शक्ति होती है और उसकी सुप्त शक्तियाँ जाग ी हैं। विचारोंका कोई मूर्त रूप नहीं, उसका कोई ार नहीं; फिर भी संसारमें कोई ऐसा बुद्धिमान् नहीं, विचारोंकी शक्तिमें विश्वास न करता हो। यह विचारों-शक्ति जब सङ्कल्पके रूपमें परिवर्तित हो जाती है, मानव-जीवनमें आत्म-विश्वास और आत्म-निर्भरता न होती है। सदाचारका सीधा सम्बन्ध विचारसे है। पहले विचार, तब आचार—इस प्रकार 'असतो मा सद्गमय'—असद्विचारोंसे निकालकर हम सद्विचारोंकी ओर चलते हैं।

स्वामी विवेकानन्दजी सदा ईश्वरसे ही प्रार्थना करते थे कि उनके हृदयमें सदा सद्विचारोंका ही जन्म हो। उनके विचारोंपर असत्‌की छाया भी न पड़ने पाये। वे यह जानते थे कि जबतक मनुष्य अपने सद्विचारोंके अनुरूप संसारमें अच्छे कार्य नहीं करेगा, तबतक उसके साथ कौन सद्व्यवहार करेगा!

सदाचारका मूल विनय है। जो उद्धत न हो, नम्र हो, चपल न हो, स्थिर हो, शिष्ट हो; वही सदाचारी है। सदाचारीमें सहृदयता, सज्जनता, उदारता, श्रद्धालुता और सहिष्णुता अपना स्फुटरूप लिये प्रत्यक्ष होती है। सदाचारीको अपने प्रति पूर्ण विश्वास होता है। उसमें आत्म-गौरव होता है। वह दीन-दुःखियोंकी दीनतापर अपनेको अर्पण करता है। वह सहृदय और उदार होता है। वह सभ्य और शीलवान् होता है। वास्तवमें, जिसका चित्त शान्त है, जो सबके प्रति कोमल भाव रखता है, जो अपना अपमान होनेपर भी क्रोध नहीं करता, जो मन, वाणी और क्रियाद्वारा कभी दूसरोंसे द्रोह करनेकी इच्छा नहीं रखता, जिसका चित्त दयासे द्रवित हो जाता है, द्वेष और हिंसासे सदा ही जो मुँह मोड़े रहता है—जिसमें क्षमाकी क्षमता है, उसका जीवन सदा उज्ज्वल, निष्कलङ्क बना रहता है। वह अपने आचारद्वारा, अपने व्यवहारद्वारा दूसरोंको प्रसन्न रखनेकी कला जानता है। जो कुछ वह अपने प्रति चाहता है, वैसा ही दूसरोंके प्रति भी करना वह अपना धर्म मानता है—

'यद्यदात्मनि चेच्छेत तत् परस्यापि चिन्तयेत्॥'

आचारहीन व्यक्तिको वेद या ज्ञान पवित्र नहीं करता, उसे ऊँचा नहीं उठा सकता। जब ज्ञान

आपकी बातचीतसे विनम्रता, शिष्टाचारसे आपकी भावभङ्गिमा मालूम होगी। व्यक्तिकी सुशीलता सज्जनोचित व्यवहारपर निर्भर है। 'दया' नामक गुण अपनेसे दीन-हीन असहायके प्रति सहायता-सहयोगके कामोंसे स्पष्ट होगा। मनुष्यकी शूरता, वीरता, धैर्य और कष्टसहिष्णुता आदि कहनेमात्रकी बातें न होकर प्रत्यक्ष करनेकी हैं। आपका जीवन किस कोटिका है, यह आपके सदाचारसे ही स्पष्ट होता है। सच्चा सदाचारी वही है, जिसकी चारित्रिक विशेषताएँ उसके दैनिक कार्योंसे प्रकट होती रहती हैं। सदाचार वह सही नैतिक मार्ग है, जिसे अपनानेसे स्वास्थ्य, सुख, शान्ति और दीर्घजीवन प्राप्त होता है। सदाचार बुद्धि और विवेकको परिष्कृत करता है, चरित्रको दृढ़ बनाता है और मनमें अदम्य नैतिक साहस विकसित करता है।

शुद्ध आचार सब सफलताओंका मूल है। नैतिक आधार स्थायी जड़ है, जहाँसे सदाचारकी उत्पत्ति होती है। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम, त्यागी भर[illegible] सेवाके प्रतीक लक्ष्मण, हिंदुत्वके रक्षक शिवाजी, [illegible] महाराणा प्रताप, भारतकी स्वतन्त्रताका उद्घोष करने[illegible] लोकमान्य तिलक, सुभाषचन्द्र बोस, महात्मा गाँधी [illegible] सदाचारके कारण ही पूजे जाते हैं। ईसाने श[illegible] प्रति प्रेमभाव रखनेके लिये कहकर उनसे एकात्मता [illegible] था कि मनकी शान्ति कैसे प्राप्त की जाती है। [illegible] बार-बार क्षमा कर दो—यह कहकर ईसा[illegible] बताया था कि इस प्रकारके आचरणसे हम र[illegible] हृदयरोग, उदरव्रण आदि अन्य व्याधियोंसे दूर रह [illegible] हैं। जिस मनुष्यमें सदाचार नहीं है, वह जड़ [illegible] तरह है। मानव-जीवन सदाचरणके लिये ही है। [illegible] सदाचारका पालन करते रहें और अपने जीवनको [illegible] बनाते रहें।

जीवनका अमृत—सदाचार

(लेखक—कलाकार श्रीकमलाशंकर सिंहजी)

इस संसारमें सदाचारी-दुराचारी, संयमी-व्यभिचारी, सज्जन-दुर्जन, निर्मल-मलिन, धनी-निर्धन, पण्डित-मूर्ख सभी प्रकारके लोग भरे पड़े हैं। उनमें हम किसी व्यक्ति-विशेषके प्रति जो आकर्षित होते हैं, उसमें उस व्यक्तिकी सुन्दरता, वेशभूषाकी विशेषता, वाणीकी मधुरता और विद्वत्ता अथवा [illegible] आदि बातें ही हमारे आकर्षणका कारण होती हैं। पर इन सबसे परे किसीमें एक अन्तर्निहित तत्त्व भी होता है, जो जनसमूहको अपनी ओर [illegible] आकृष्ट करता है। यह अन्तर्निहित तत्त्व होता है, उस व्यक्तिका आचार और उसके विचारोंकी पवित्रता, उसकी [illegible] देश और समाजकी सेवामें संलग्न मन, वचन और कर्मकी एकरूपता—जिसे हम सदाचार कहते हैं। सदाचारी व्यक्ति भले ही कुरूप हो, उसकी वेश-भूषा आकर्षक न हो, उसकी वाणी [illegible] हीन हो अथवा उसमें बुद्धि-चापल्य और बुद्धि[illegible] दार्शनिकता भी न हो तो भी वह अपने सद्गुणोंके कारण एक दैवी प्रतिमा, एक दैवी गुणसे सम्पन्न होनेके नाते सबके स्थायी आकर्षणका केन्द्र होगा।

सदाचारकी भावना इतनी पवित्र है कि वह जीवन्त समाजमें, भीतर-बाहर सब जगह पवित्रता वितरित करती और उसे ही प्रतिष्ठित करना चाहती है और हमारी सद्वृत्तियोंको भी जाग्रत् करती है। सदाचारीका सम्पूर्ण जीवन पवित्र रहता है। जिस प्रकार [illegible] उसके समग्र दृष्टिकोणको सत्यमय बना देती है उसकी मात्र चित्तवृत्ति ही नहीं, उसकी समस्त दृष्टि, उसकी वाणी, व्यवहार, उसके चलने-फिरने, उठने-बैठने, हँसने-बोलने आदि सभी क्रियाओंको प्रभावित एवं सत्यमय बना देती है, उसी प्रकार सदाचार [illegible]

जाता है, धनका भी दुरुपयोग हो जाता है, सुन्दरी-
ो ढल जाती है, किंतु फूलका सम्मान कभी नहीं
। जो भी आँखें उसे देख लेती हैं, स्वयं खिल
हैं। जो भी दिल उसकी गन्ध छू लेता है, खुद
न जाता है। फूलकी सौरभसे देवता भी स्वर्गसे
र आकर वरदान बिखेरने लगते हैं। वरदान ही
दाचारका साध्य ।

दाचार सहज साधना है । यदि हम ईश्वरकी
एकताका चिन्तन प्रत्येक श्वासमें करते रहें—
श्वाससे विरत न हों, तो हमारा जीवन सहज ही
य हो जाय ।

आदमी मन्दिरमें पूजा तथा आरती करके और
भिक्षुकोंको भिक्षा देकर मानने लगा है कि वह सदाचारी
तथा निर्वाण-अधिकारी हो गया है, किंतु दफ्तरमें
सीपर और दुकानमें बैठकर उसे झूठ बोलना है,
ोरी करनी है, घूस लेना है और हर सम्भव उपायसे,
नैतिक-अनैतिक ढंगसे अपने लिये अर्थोपार्जन करना है,
छलसे काम-तृप्ति करना है। पर 'सहज साधना'के लिये
सारे जीवनको एक मानकर चलना होगा। जीवनका
कोई खास क्षण या समय आराधनाके लिये निश्चित नहीं
किया जा सकता, बल्कि जीवनके प्रत्येक क्षणको
आराधनामय बनाना होगा । जीवनकी कोई खास
क्रिया नहीं, बल्कि सारी क्रियाएँ पूजा होंगी—

'जहँ-जहँ जाऊँ सोइ परिकरमा, जोइ-जोइ करूँ सो पूजा।
सहज समाधि सदा उर राखूँ, भाव मिटा दूँ दूजा ॥'

उसीका जीवन महत्त्वपूर्ण बनता है, जिसके जन्म
तथा मृत्युने सदाचारका मार्ग प्रशस्त करनेमें सहयोग
दिया है।

सदाचार आत्मगुण है—इसके द्वारा हृदय-मन्थनसे
जो सत्य प्रकट होता है, वह है जीवनका अमृत और
असत्य है विष। धन्य हैं सदाचारी वे, जो विषका शमन
और अमृतकी निरन्तर वर्षा करते रहते हैं।

किसीके कष्टकी उपेक्षा उचित नहीं

कलकत्तेके एक कालेजके कुछ विद्यार्थी वहाँका 'फोर्ट विलियम' दुर्ग देखने गये। सहसा उनके
क साथीके शरीरमें पीड़ा होने लगी। उसने अपने मित्रोंसे अपनी पीड़ा बतायी और वह सीढ़ियोंपर
ठ गया, लेकिन उसके साथियोंने उसकी बातपर विश्वास नहीं किया; बल्कि उपेक्षा की और उसकी हँसी
ड़ाते हुए वे सब ऊपर चले गये।

ऊपर पहुँचकर एक विद्यार्थीके मनमें संदेह हुआ—'कहीं सचमुच ही तो उसे पीड़ा नहीं है ?'
ह लौट पड़ा। नीचे आकर वह देखता क्या है कि वह विद्यार्थी मूर्च्छित पड़ा है। ज्वरसे उसका शरीर
ल रहा है। दूसरे विद्यार्थीने दौड़कर एक गाड़ी मँगायी और उसे गाड़ीमें चढ़ाकर घर ले गया।
सके अन्य साथियोंको जब पता लगा, तब उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ।

उस विद्यार्थीका नाम तो ज्ञात नहीं, जो बीमार था; किंतु जो उसे गाड़ीमें रखकर ले आया था, वह
ा नरेन्द्र। आगे चलकर संसारमें वही स्वामी श्रीविवेकानन्दके नामसे विख्यात हुआ।

क्रियाशीलतामें परिणत होता है और आचरणकी शानपर चढ़ता है, तब वास्तविक चरित्रका निर्माण होता है। मनुष्य चाहे परम ज्ञानी हो, पर सदाचारी न हो तो उसके ज्ञानका कोई मूल्य नहीं। सदाचारके अभावमें ज्ञान विषके समान भयंकर हो सकता है। रावण विद्वान् था, ज्ञानवान् था, चारों वेद और छः शास्त्रोंका महान् पण्डित था, परंतु वह सदाचारी न था; चरित्रहीन था। अतः उसके दस सिरके ऊपर भी गदहेका सिर था। इसके विपरीत भगवान् राम केवल सदाचारके बलपर ही विजयी एवं पूज्य हुए। सदाचारसे ही मानव-जीवन सन्मार्गपर अग्रसर होता है, कोरे ज्ञानका कोई महत्त्व नहीं। मनुष्य अपने जीवनमें अपने आचरणद्वारा ही चरित्रकी शक्ति अर्जित करता है। चरित्रकी शक्ति असीम है। चरित्रवान् व्यक्ति कठिन-से-कठिन परिस्थितिमें भी अपने चरित्र और अपने शीलगुणका त्याग नहीं करता। संसार अपने पथसे भले ही विचलित हो जाय, परंतु वह अपने सत्याचरणका पथ कभी न छोड़ेगा। सत्यकी रक्षाके लिये वह अपने प्राणोंकी बाजी लगा देगा। सत्यकी रक्षा की थी—भीष्मपितामहने शर-शय्यापर; ईसाने सूलीपर चढ़कर और मीराने विष-पान कर।

सच्चे उद्देश्यको लेकर हजारों आदमी शूलीपर चढ़ते रहे हैं। यदि विचार विमल हो, जीवन निर्दोष हो, उद्देश्य उच्च हो और कष्टका पहाड़ सिरपर गिर पड़े तो कष्ट नहीं होता, ग्लानि नहीं होती, वरन् सत्पुरुष अपने प्राण लेनेवालोंपर दया ही करते हैं; आशीष ही देते हैं और ईश्वरसे उन्हें क्षमा कर देनेकी प्रार्थना भी करते हैं। सत्पुरुषोंकी यही महत्ता है। इनके ही लिये स्वामी विवेकानन्दजीने कहा है—'सारी दुनियाँ ही क्यों, स्वयं अपने द्वारा भी तिरस्कृत कपूतके होंठ जब सूखने लगते हैं तो माँके स्तनोंसे वात्सल्य फूट पड़ता है, वैसे ही पतित-से-पतितके लिये भी सत्पुरुष हिमाचल अपने वक्षमें करुणारूपी गङ्गा छिपाये रहता है।' (Complete works of Swami Vivekananda)

भला करनेवालेका भला तो प्रायः सभी करते हैं। परंतु जो बुरा करनेवालेका भी भला करता है—वह शिवत्वको प्राप्त करता है, जो सदाचारसे ही सम्भव है—

उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई।

जीवनमें सदाचारकी प्रेरणा सुरुचिसे ही मिलती है—यही भावस्रोत है। बहुत दिनों पहलेकी बात है। मिस्रमें 'नकिबेन' नामके एक सदाचारी राजा राज्य करते थे। उनके सत्याचरणसे देवता बड़े प्रसन्न हुए। प्रकट होकर नील देवताने राजाको एक तलवार दी और कहा—'राजन्! यह तलवार ले, इसे लेकर तू विश्व-विजयी होगा।' इसपर राजा बोला—'प्रभो! मुझे तलवार नहीं चाहिये। विश्व-विजय करके मैं क्या पाऊँगा?' 'अच्छा तो ले यह पारस-पत्थर! तू देवताओंसे भी अधिक धन एकत्र करेगा।' 'प्रभो! अपरिमित धन पाकर अन्ततः मैं क्या करूँगा?' 'तो ले, यह स्वर्गकी सबसे सुन्दर अप्सरा।' 'मगर प्रभो! अप्सरा पाकर मैं जीवनकी कौन-सी सिद्धि पा जाऊँगा?' 'तो ले, यह फूलका पौधा, यह जहाँ उगेगा, वहाँ जड़-चेतन, शत्रु-मित्र सभी सुगन्धसे आपूरित हो जायँगे।' देवताने कहा।

इसपर राजाने बड़ी कृतज्ञताके साथ वह पौधा उनसे ले लिया। देवदूत स्वर्गकी समस्त नियामतें राजा नकिबेनके इस चतुर प्रवीण निश्चयपर न्यौछावर करते हुए चला गया। राजाके इस चयनपर दुनियाँ आज भी मुग्ध है। क्यों? इसलिये कि उसने ऐसी दैवी सम्पदा चुनी, जिसे व्यक्ति सम्पूर्णतः भोगकर भी अकेला नहीं भोगता है। ऐसी सम्पदा, जो व्यक्तिसे कुछ लेती नहीं, जो व्यक्ति-व्यक्तिको बिलगाती नहीं, प्रत्युत मिलाती है तथा जिसका मूल्य कभी घटता नहीं। तलवारका पानी

कर्णकी दानशीलता

क बार इन्द्रप्रस्थमें पाण्डवोंकी सभामें ही भगवान् कर्णकी दानशीलताकी प्रशंसा करने लगे। े यह सब अच्छा न लगा। उन्होंने कहा—ा! धर्मराजकी दानशीलतामें कहाँ त्रुटि है, जो उपस्थितिमें आप कर्णकी प्रशंसा कर रहे हैं?' 'इस तुम स्वयं समयपर समझ लोगे।' यह कहकर य श्रीकृष्णने बातको टाल दिया।

ुछ समय पश्चात् अर्जुनको साथ लेकर श्यामसुन्दर ब्राह्मणके वेशमें पाण्डवोंके राजसदनमें आये और बोले—'राजन्! मैं अपने हाथसे बना भोजन करता हूँ। भोजन मैं केवल चन्दनकी लकड़ीसे बनाता हूँ और वह काष्ठ तनिक भी भीगा नहीं होना चाहिये।'

उस समय खूब वर्षा हो रही थी। युधिष्ठिरने राजभवनमें पता लगा लिया, किंतु सूखा चन्दन-काष्ठ कहीं मिला नहीं। सेवक नगरमें गये, किंतु संयोग ऐसा कि जिसके पास भी चन्दन मिला, सब भीगा हुआ मिला। धर्मराजको बड़ा दुःख हुआ। किंतु उपाय कुछ भी न था।

उसी वेशमें वहाँसे सीधे श्रीकृष्ण और अर्जुन कर्णकी राजधानी पहुँचे और वही बात कर्णसे भी कही। कर्णके राजसदनमें भी सूखा चन्दन नहीं था और नगरमें भी न मिला। कर्णने सेवकोंसे नगरमें चन्दन न मिलनेकी बात सुनते ही धनुष चढ़ाया। राजसदनके बहुमूल्यवान् कलाङ्कित द्वार चन्दनके पायेके बने थे। और दूसरे उपकरण भी चन्दनके बने थे। क्षणभरमें बाणोंसे कर्णने उन सबको चीरकर एकत्र करवा दिया और बोले—'भगवन्! आप भोजन बनायें।'

वह आतिथ्य प्रेमके भूखे गोपाल कैसे छोड़ देते। वहाँसे तृप्त होकर जब बाहर आ गये, तब अर्जुनसे बोले—'पार्थ! तुम्हारे राजसदनमें भी द्वारादि चन्दनके ही हैं। उन्हें देनेमें पाण्डव कृपण भी नहीं हैं, किंतु दानधर्ममें जिसके प्राण बसते हैं, उसीको समयपर स्मरण आता है कि पदार्थ कहाँसे कैसे लेकर दे दिया जाय।'

× × ×

'आज दानशीलताका सूर्य अस्त हो रहा है।' जिस दिन कर्ण युद्धभूमिमें गिरे, सायंकाल शिविरमें लौटकर श्रीकृष्ण खिन्नमुख बैठ गये। 'अच्युत! आप उदास हों, क्या इतनी महानता कर्णमें है?' अर्जुनने पूछा।

'चलो! उस महाप्राणके अन्तिम दर्शन कर आयें। तुम दूरसे ही देखते रहना।' श्रीकृष्ण उठे। उन्होंने वृद्ध ब्राह्मणका रूप बनाया। रक्तसे कीचड़ बनी, शवसे पटी, छिन्न-भिन्न अस्त्र-शस्त्रोंसे पूर्ण युद्धभूमिमें रात्रिकालमें शृगालादि घूम रहे थे। ऐसी भूमिमें मरणासन्न कर्ण पड़े थे।

'महादानी कर्ण!' पुकारा वृद्ध ब्राह्मणने।

'मैं यहाँ हूँ, प्रभु!' किसी प्रकार पीड़ासे कराहते हुए कर्णने कहा।

'तुम्हारा सुयश सुनकर बहुत अल्प द्रव्यकी आशासे आया था!' ब्राह्मणने कहा। 'आप मेरे घर पधारें!' कर्ण और क्या कहते?

'मुझे जाने दो! इधर-उधर भटकनेकी शक्ति मुझमें नहीं!' ब्राह्मण रुष्ट हुए। 'मेरे दाँतोंमें स्वर्ण लगा है। आप इन्हें तोड़कर ले लें!' कर्णने सोचकर कहा।

'छिः! ब्राह्मण अब यह क्रूर कर्म करेगा!' ब्राह्मण-रूप कृष्ण और रुष्ट-से हुए।

किसी प्रकार कर्ण खिसके। उन्होंने पास पड़े एक शवपर मुख पटक दिया। शवसे टूटे दाँतोंका

सदाचार मानव-मनकी महानुभावता है

(लेखक—पं० श्रीभगवतीरामजी पाण्डेय, बी० ए०, बी० एड०)

विद्या-वैभव, कला, साहित्य एवं राज-ऐश्वर्य—इन सबसे अधिक सदाचार समृद्ध तथा प्रभावपूर्ण है। एक सदाचारी व्यक्ति भौतिक रूपसे गरीब होकर भी धनी-मानी श्रीमन्तोंके हृदयोंपर अपना प्रभाव डाल सकता है। ममता, दया, प्रेम, सहानुभूति, उदारता, त्याग—जीवनके प्रायः सभी आदर्शभाव सदाचारमें ओतप्रोत हैं। सदाचार मानव-मनका उज्ज्वल पक्ष है। यह दानवके मनको भी अपनी मधुर स्निग्ध सुगन्धसे अभिभूत कर सकता है। सदाचार आचरणकी पवित्रता है, मृदु वचनोंकी मिठास है और है—विचारका व्यावहारिक धन्वन्तरि-कल्प। एक गरीब किसानकी सादगी और सचाईमें भी सदाचारका पौधा पनप सकता है, एक भूखे कंगालकी तंग-बस्तीमें भी इसका बिरवा लहलहा सकता है। इसपर किसी एक वर्गका विशेषाधिकार नहीं, यह सम्पूर्ण मानव-मनकी सच्ची मानवता है।

राजा दिलीप अपनी आश्रिता गौको सिंहद्वारा आक्रान्त देखकर उसके रक्षार्थ अपना शरीर सिंहको समर्पित करनेके लिये उद्यत हो गये। यह सदाचारकी अद्भुत झाँकी है। महाभारतमें वर्णित सक्तुप्रस्थीय ब्राह्मण-कथामें आता है कि किस प्रकार एक भूखे कंगाल परिवारके सदस्य बहुत दिनोंसे क्षुधातुर होकर भी कठिनाईसे प्राप्त सत्तू एक अतिथिको खिलाकर स्वयं मर मिटे। यह सदाचारकी अलन्त झाँकी है। तभी तो उस उच्छिष्ट सत्तूके स्पर्शमात्रसे उस नेवलेका आधा शरीर सुनहला हो गया। आजके युगमें भी बहुतसे गरीब मजदूर आदि प्राप्त रुपया-पैसा या अन्य सामग्री सूचना मिलनेपर मालिकको लौटा देते हैं। ऐसे कई उदाहरण हमलोगोंके जीवनमें मिलते हैं।

महात्मा बुद्धने जिस प्रकार अपने जीवनकी परवा किये बिना अङ्गुलिमाल डाकूके [illegible] किया—यह सर्वविदित है। सदाचार निर्मल अन्तःकरणका पवित्र सलिल है। छत्रपति शिवाजीके सैनिकोंने एक जनपदपर अधिकार करते समय एक सुन्दर कामिनीको पकड़ लाये और उसे शिवाजीके सम्मुख पेश किया। शिवाजीने सैनिकोंको कड़ी फटकार बतायी और उस रमणीको सम्बोधित करते हुए कहा—'मेरी माँ इतनी सुन्दर होती तो मैं इतना कुरूप न हुआ होता' और उसे सम्मानके साथ उसके घर पहुँचवा दिया। यह है—सदाचारका अनुपम उदाहरण!

इस प्रकार हम देखते हैं कि सदाचार जीवनका एक अनमोल रत्न है। यह सद् आचरण एक ऐसा भव्य एवं भद्र व्यवहार है, जो आचरणकर्ताके मनको तो तृप्ति प्रदान करता ही है, दूसरेको भी आनन्द-परिपूरित करता है। अतः यह सर्वथा सबके लिये अनुकरणीय है। सदाचारसे जीवनमें आनन्दकी कौन कहे, परमानन्दकी प्राप्ति होती है।

संतका धन्यवाद !

उसमान हैरी नामके एक संत थे। वे एक बार एक गलीसे जा रहे थे। इसी समय किसीने अचानक उनपर ऊपरसे एक थाल राख डाल दी। संत अपने वस्त्र झाड़कर प्रभुका धन्यवाद करने लगे। लोगोंने पूछा कि 'इस समय धन्यवादका क्या प्रसङ्ग था?' वे बोले, 'मैं तो अग्निमें जलाये जाने योग्य था, किंतु प्रभुने दया करके राखसे ही निर्वाह कर दिया। इसीसे मैं उनका धन्यवाद करता हूँ।'

—पारसमणि

...हुते दिये निरूपण और आचरणको ग्रहण करना इसमें क्या प्रमाण है?—

गिरयोऽपि यदा वेदी शास्त्रं मरणं तदा।
वेदोक्तधर्मादिकं दुष्प्राप्यं तत्र का प्रथा॥
(श्रीभगवदाचार्यकृत रा० दि० १६५)

सदाचारके विरोधी लोग सदाचारके पुरुष वेदोंका खण्डन करते हुए कह रहे थे कि यदि वेदोंके क्रमरहित एवं विरुद्ध बतलाने वाक्य प्रामाणिक हों तो उन्मत्तोंके कहने आपको क्यों दोष दीख पड़ता है? यदि 'जर्फरी' 'तुर्फरी' आदि वेदोंके असम्बद्ध वाक्योंको भी स्वतः प्रमाण मानते हो तो किसी अन्यके वाक्योंका अप्रमाण क्यों नहीं स्वीकार करते?—

असम्बद्धं विरुद्धं वाक्यं मुनीनां चेत्प्रमा भवेत्।
तदोन्मत्तप्रलापेषु द्वेषभागी कथं भवान्॥
जर्फरीतुर्फरीत्यादि वचसां चेत् प्रमाणता।
उन्मत्तस्य वाक्येषु कोऽपराधो निरीक्ष्यते॥
(रामानन्ददि० १।६९, ६८)

सदाचारविरोधी इन सभी भ्रान्त धारणाओंका निराकरण करते हुए आचार्यचरणने लोगोंका समाधान किया कि परम्परासे ब्रह्मपरम्पराद्वारा यह श्रुति जीवोंके कल्याणके लिये प्राप्त हुई है। इसी श्रौतमार्गका अनुगमन करके मनुष्य पापादि कर्मोंका अपक्षय कर सकते हैं।

उन्होंने सदाचारका उद्घोष करते हुए सभीको सदाचारका पाठ पढ़ाया कि आचार और सद्विचार—ये दोनों ही वेदप्रतिपादित धर्म हैं। आचार—स्नान, शौच आदिसे बाह्य इन्द्रियाँ शुद्ध होती हैं और सद्विचारसे अन्तःकरण मन शुद्ध होता है। आभ्यन्तर और बाह्य दोनों शौच होना चाहिये। बाह्य पवित्रता प्रथम सोपान है और आन्तरिक पवित्रता उसके आगेका सोपान है। मनुष्योंकी वाणी सत्यसे शुद्ध होती है, धन भगवत्सेवा-अर्पणसे, पग तीर्थाटनसे, हाथ दानसे और मन दम्भादिके त्यागसे शुद्ध होता है।

उन्होंने शिकार खेलना, चोरी करना, चोरीकी वस्तु लेना, धन-क्रीडा (पासा खेलना या जूआ खेलना), मदिरा-मांस-भङ्गादिका सेवन करना, गाँजा-तमाकू-चरस आदिका पीना इत्यादि सब प्रकारके व्यसनोंको छोड़नेका उपदेश दिया। साथ ही उन्होंने सबको दुराचारका त्याग और सदाचारका पालन करनेका पाठ पढ़ाया—

वाच्यान्यवक्तुरवचांसि कदापि नैव
त्याज्यानि दम्भपरनिन्दनदुष्कृतानि।
भद्राय रामचरणाम्बुरुहानुरक्तः
सत्यमतं प्रतिदिनं परिपालनीयम्॥
(भगवदाचार्यविरचित रा० दि० १२।१६)

परलोकगमनकालमें भी उन्होंने अपने शिष्योंको सदाचारपालन करनेका ही उपदेश दिया।

स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराजने सम्पूर्ण भारतका भ्रमण कर सर्वत्र दुराचारका उच्छेद किया एवं सदाचारके बीज वपन किये। उन्होंने अपने विस्तृत शिष्य-समुदायको परम्परारूपसे इस सदाचारवृक्षका सिंचन करते रहनेका उपदेश दिया—

भक्तिकल्पलता येयं महायासेन रोपिता।
श्रद्धाजलप्रदानेन रक्षणीया मुहुर्मुहुः॥
(रा० दि० २०)

इस प्रकार उनके द्वारा स्थापित व्यवस्थासे अद्यावधि सदाचारका रक्षण और पोषण होता आ रहा है, जो स्तुत्य है। परमादरणीय आचार्यचरण निःसंदेह सदाचारके अमर प्रहरी हैं और—'वाचं ते शुन्धामि··· चरित्रांस्ते शुन्धामि॥ (शुक्ल यजुः० ६।१४)' इस वेद-वचनके अनुपालक भी।

छोड़ते समय शंकर मातासे कह गये कि 'माँ ! तुम्हारी मृत्युके समय मैं घरपर तुम्हारे समक्ष उपस्थित रहूँगा।' माताकी यही अन्तिम इच्छा थी। × × ×

शंकरकी महोत्कण्ठा और विश्वजनीन धर्म तथा सदाचारकी प्रतिष्ठाके लिये विश्व-व्यवस्थाकी ईश्वरेच्छा पूर्ण होकर रही। एक घटना घटी और सदाचार-मर्यादाके साथ 'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्' की श्रुति चरितार्थ हो गयी। शंकर संन्यासी होने चल पड़े।

घरसे चलकर शंकर नर्मदा-तटपर गये, जहाँ उन्होंने स्वामी गोविन्द भगवत्पादसे दीक्षा ली। गुरुने इनका नाम भगवत्पूज्यपादाचार्य रक्खा। इन्होंने गुरूपदिष्ट मार्गसे साधना आरम्भ कर दी और अल्प-कालमें ही बहुत बड़े योगसिद्ध महात्मा हो गये। इनकी सिद्धिसे प्रसन्न होकर गुरुने इन्हें काशी जाकर रहने और फिर वेदान्त-सूत्रोंके ऊपर भाष्य लिखनेकी आज्ञा दी। तदनुसार ये काशी चले आये। काशी आनेपर इनकी ख्याति बढ़ने लगी और लोग आकर्षित होकर इनका शिष्यत्व भी ग्रहण करने लगे। इसके बाद इन्होंने काशी, कुरुक्षेत्र, बदरिकाश्रम आदिकी यात्रा की और विभिन्न मतवादियोंको परास्त किया तथा अनेक ग्रन्थ लिखे। प्रयाग आकर कुमारिलभट्टसे उनके अन्तिम समयमें भेंट की और उनकी सलाहसे माहिष्मतीमें मण्डनमिश्रके पास जाकर शास्त्रार्थ किया। शास्त्रार्थमें मध्यस्था मण्डनमिश्रकी पत्नी भारती थीं। अन्तमें मण्डनने शंकराचार्यका शिष्यत्व ग्रहण किया। उनका नाम सुरेश्वराचार्य पड़ा। तत्पश्चात् आचार्यने धर्मप्रतिष्ठा तथा सदाचारके प्रचार-हेतु विभिन्न मठोंकी स्थापना की। द्वारा औपनिषद सिद्धान्तोंकी शिक्षा-दीक्षा करने आचार्यने और भी अनेक मठ-मन्दिर बनवाये। सन्मार्गमें लगाया और असदाचारका खण्डन करके के वास्तविक स्वरूपको विवेचित किया। इन्होंने योगादि सभी मतोंकी उपयोगिता यथास्थान स्वीकार और सभी श्रेष्ठ साधनोंसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, माना है। अन्तःकरण शुद्ध होनेपर ही वास्तविक बोध होता है। अशुद्ध बुद्धि और मनके संकल्प भ्रमात्मक ही होते हैं। अतः इनके सिद्धा अनुसार सच्चा ज्ञान प्राप्त करना ही परम है और उसके लिये अपने धर्मानुसार सदाचारपूर्वक योग, भक्ति अथवा और भी किसी मार्गसे अन्तःकरण शुद्ध बनाते हुए लक्ष्यतक पहुँचना चाहिये। आच पाद अद्वैतवेदान्त (विशुद्ध ज्ञानमार्ग)के प्रवर्तक प्रबल पोषक होते हुए भी भक्ति, वैराग्य आचरणकी पवित्रतापर भी विशेष बल देते हैं।

उनकी प्रार्थनाका एक श्लोक देखिये—

अविनयमपनय विष्णो दमय मनः शमय विषयमृग तृष्णाम्। भूतदयां विस्तारय तारय संसारसागरतः।

अर्थात् हे विष्णो ! आप हमारे अविनय (उच्छृङ्खल उद्दण्डता) को दूर करें, मनको नियन्त्रित और विषयोंकी मृगतृष्णाको शमित करें। प्राणियोंके प्रति दया विस्तार करें—हम सब प्राणियोंपर दया करें और इस प्रकारके सदाचारमय जीवनसे संसार-सागरको सुगमतया पार कर जायँ।

(२)

स्वामी श्रीरामानन्दाचार्य

(लेखक—श्रीब्रजकिशोरप्रसादजी शास्त्री)

श्रीरामानन्दाचार्यजीका अवतार उस कालमें हुआ, जिस समय सदाचारके अनेक विद्वेषी उत्पन्न हो चुके थे—

धर्माधर्मसदाचारद्वेषलोलुपबुद्धयः ।
बहवः किंनरा जाता यथा प्रावृषि दर्दुराः ॥

(श्री॰ श्रीभगवदाचार्यकृत ग॰ ... ११)

लोग संध्या, स्नान, पिण्डदान आदि सदाचारोंका उपहास करते हुए कहते थे—'संध्या तो स्वयं हो गयी, उसे तुम क्या करोगे?' यदि तीर्थजलमें स्नान करनेसे कोई पाप और शापसे छूटता है, तो उन नदियोंमें सदा निवास करनेवाली पानीमें रहनेवाली मछली आदि क्यों नहीं मुक्त हो जाती हैं? (वही १२) 'जब प्राणी मर जाता है, तो

आदर्श सदाचार के उद्बोधक-संत तुलसीदासजी

(१)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी

व्यक्ति, समाज या देश जब चारों ओरसे निराश होकर, सर्वथा निरीह और निराश्रित होकर सच्चे हृदयसे परमात्माको पुकारता है तो हृदयसे निकली हुई वह चीख, वह टेर, वह पुकार प्रभुतक अवश्य पहुँचती है और उस पुकारपर करुणावरुणालय दया-परवश हरिको या तो स्वयं इस धराधामपर उतर आना पड़ता है या उनके संदेशका प्रसाद लेकर कोई महापुरुष हमारे बीच आ जाता है, जिसके कारण नैराश्यजनित खिन्नता तो मिटती ही है, साथ ही जीवनमें एक अद्भुत प्रफुल्लता और अपूर्व शक्तिका संचार हो जाता है। जब-जब भी हमने एक स्वरसे, सच्चे और आतुर हृदयसे प्रभुको पुकारा है, इतिहास साक्षी है, स्वयं प्रभु हमारे बीच आये हैं अथवा उन्होंने किसी महापुरुषको भेजा है, जिसने हमारे भीतर प्रभुकी शक्ति और ज्योतिका संचार कर हमारे जीवनको सदाके लिये प्रभुचरणोंसे युक्त कर दिया है।

गोस्वामीजीका आविर्भाव जिस समय हुआ, वह समय हिंदूजातिके लिये घोर निराशाका ही था। हम चारों ओरसे अन्धकारसे घिरे हुए थे। कोई मार्ग सूझ नहीं रहा था। हिंदीके राजाश्रित कवि अपना तथा अपने आश्रयदाता नरेशका जीवनवृत्तान्त लिखा करते थे, परंतु गोस्वामीजीने स्वतन्त्र होनेके कारण ऐसा करनेकी कोई आवश्यकता नहीं समझी। उन्होंने भगवान्‌का लोकमङ्गल रूप दिखाकर हिंदूजातिको मिटनेसे तो बचाया ही, साथ ही व्यक्तिके जीवनमें भी आशाका उदय हुआ। हमने भगवान् रामचन्द्रकी भक्तिका आश्रय लिया और उसकी शक्तिसे हमारी रक्षा हुई। गोस्वामीजीने ठेठ पूर्वी अवधी भाषामें हमें समझाया कि भगवान् हमसे दूर नहीं हैं। वे सर्वथा हमारे जीवनसे सटे हुए हैं। उनके प्र[illegible] जीवनके सम्बन्धमें कुछ भी पता नहीं च[illegible] उनकी भक्तिजन्य दीनताकी झलक अवश्य [illegible] है। गोस्वामीजी वाल्मीकिके अवतार माने [illegible] आपका आविर्भाव वि० सं० १५५४की श्राव[illegible] सप्तमीको बाँदा जिलेके राजापुर गाँवमें एक सर[illegible] ब्राह्मणके घर हुआ था—

> पंद्रह सै चउवन विषै, कालिंदीके तीर।
> श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी धरेउ शरीर।

आपके पिताका नाम आत्माराम दुबे और म[illegible] नाम हुलसी था। जन्मके समय आप तनिक भी [illegible] नहीं और आपके बत्तीसों दाँत उगे हुए थे। अभुक्त मूलमें पैदा हुए थे, जिसके कारण बालकके या माता-पिताके अनिष्टकी आशङ्का [illegible] बचपनमें आपका नाम तुलाराम था। कहते हैं—[illegible] स्त्रीके प्रति इनकी विशेष आसक्ति थी। एक दिन [illegible]ने पीहर चली गयीं, आप उनके घर रातको छि[illegible] पहुँचे। उन्हें बड़ा संकोच हुआ और कहते हैं, उ[illegible] समय उन्होंने यह दोहा कहा—

> हाड़ मांसको देह मम, ता पर जैसी प्रीति।
> तिसु आधो जो राम प्रति, तौ न होत भवभीति॥

यह बात आपको बहुत लगी और बिना विरमे ही आप वहाँसे चल दिये। वहाँसे आप सीधे प्रयाग आये और विरक्त हो गये तथा जगन्नाथ, रामेश्वर एवं द्वारका एवं बदरीनारायण पैदल गये और तीर्थाटनके द्वारा अपने वैराग्य और तितिक्षाको बढ़ाया। तीर्थाटनमें आपके चौदह वर्ष लगे। श्रीनरहरिदासको आपने गुरुरूपमें वरण किया।

घर छोड़नेके पीछे स्त्रीने एक बार यह दोहा गोस्वामीजीको लिख भेजा—

देखो खीनी कनक-सी, रहति सखिन सँग सोइ ।
हि फटेको डरु नहीं, अनत कटे डर होइ ॥

सके उत्तरमें श्रीगोस्वामीजीने लिखा—

कटे एक रघुनाथ सँग, बाँधि जटा सिर केस ।
हम तो चाखा प्रेमरस, पत्नीके उपदेश ॥

बहुत दिन पीछे वृद्धावस्थामें आप एक बार टसे लौटते समय अनजानमें अपने ससुरके घर हुँचे । इनकी स्त्री भी बूढ़ी हो गयी थीं । बड़ी बाद इन्होंने उन्हें पहचाना । उनकी इच्छा हुई के साथ रहतीं तो रामभजन और पतिकी सेवा—साथ-साथ करके जन्म सुधारतीं । उन्होंने सबेरे को गोस्वामीजीके सामने प्रकट किया और अपनी रह सुनायी । पर गोस्वामीजी तुरंत वहाँसे चलते बने ।

गोस्वामीजी शौचके लिये नित्य गङ्गापार जाया थे और लौटते समय लोटेका बचा हुआ जल पेड़की जड़में डाल देते थे । उस पेड़पर एक रहता था । जलसे तृप्त होकर वह एक दिन मीजीके सामने प्रकट हुआ और उसने कहा कि कुछ वर माँगो । गोस्वामीजीने श्रीरामचन्द्रजीके की लालसा प्रकट की । प्रेतने बतलाया कि मन्दिरमें नित्य सायंकाल रामायणकी कथा होती हाँ कोढ़ीके वेशमें नित्य हनुमान्‌जी कथा सुनने हैं । सबसे पहले आते हैं और सबसे अन्तमें हैं । उन्हें ही दृढ़तापूर्वक पकड़ो । गोसाईंजीने ही किया । श्रीहनुमान्‌जीके चरण पकड़कर जोर-जोरसे रोने लगे । अन्तमें हनुमान्‌जीने आज्ञा कि जाओ चित्रकूटमें दर्शन होंगे । आदेशानुसार आप चित्रकूट आये । एक दिन वनमें घूम रहे थे कि दो सुन्दर राजकुमार—एक श्याम और एक गौर—एक हिरनके पीछे धनुष-बाण लिये, घोड़ा दौड़ाते दिखलायी दिये । रूप देखकर आप सर्वथा मोहित हो गये । इतनेमें हनुमान्‌जीने आकर पूछा 'कुछ देखा ?' गोस्वामीजी बोले—हाँ, दो सुन्दर राजकुमार इसी राहसे घोड़ेपर गये हैं । हनुमान्‌जीने कहा—'वे ही राम-लक्ष्मण थे ।'

वि० सं० १६०७को मौनी अमावस्या थी । दिन था बुधवार । चित्रकूटके घाटपर बैठकर तुलसीदासजी चन्दन घिस रहे थे । इतनेमें भगवान् सामने आ गये और आपसे चन्दन माँगा । दृष्टि ऊपर उठी तो उस अपरूप छविको देखकर आँखें मुग्ध हो गयीं—टकटकी बँध गयी । शरीरकी सभी सुध-बुध जाती रही ।

सवत् १६३१की रामनवमी, मङ्गलवारको श्रीहनुमान्‌जीकी आज्ञा और प्रेरणासे आपने रामचरितमानसका प्रणयन प्रारम्भ किया । दो वर्ष, सात महीने, छब्बीस दिनमें आपने उसे पूरा किया । पूरा हो चुकनेपर श्रीहनुमान्‌जी पुनः प्रकट हुए और पूरी रामायण सुनी और आशीर्वाद दिया कि यह कृति तुम्हारी कीर्तिको अमर कर देगी ।

एक दिन कुछ चोर तुलसीदासजीके यहाँ चोरी करने गये तो देखा कि दो सुन्दर बालक धनुष-बाण लिये पहरा दे रहे हैं । चोर लौट गये । दूसरे दिन भी वे आये तो उसी पहरेदारको देखा । सबेरे उन्होंने गोस्वामीजीसे पूछा कि आपके यहाँ कौन श्याम-सुन्दर बालक पहरा देता है । गोस्वामीजी समझ गये कि मेरे कारण प्रभुको कष्ट उठाना पड़ता है । अतएव आपके पास जो कुछ भी था, वह सब इन्होंने लुटा दिया ।

आपके आशीर्वादसे एक विधवाका पति पुनः जीवित हो गया । यह खबर बादशाहतक पहुँची । उसने इन्हें बुला भेजा और यह कहा कि कुछ करामात दिखाओ । आपने कहा कि 'रामनाम'के अतिरिक्त मैं कुछ भी करामात नहीं जानता । बादशाहने इन्हें कैद कर लिया और कहा कि जबतक करामात नहीं दिखाओगे, छूटने नहीं पाओगे । तुलसीदासजीने

ोगा ! ये उनके चिन्तन और मननके विषय थे। ...तः उन्होंने समाजके सर्वस्तरीय लोगोंके लिये ...रका उपदेश अपने दासबोध, मनोबोध, स्फुट अभंग आदि ग्रन्थोंमें विस्तारपूर्वक किया है। ...यह कहनेमें भी कोई अतिशयोक्ति न होगी कि ...ी रामदास स्वामीजीका सम्पूर्ण साहित्य ही ...रका उपदेश करता है।

...नताके दुर्गुण तथा दुराचारोंका विवरण तथा ...ग दासबोधमें मूर्ख, पढ़तमूर्ख, कुविद्या, तमोगुण, ...ी, बद्ध, कण्ठ लक्षण, जनस्वभाव, श्रोता-...ण, दोषप्रसिद्ध आदि 'समासों'में अर्थात् अध्यायोंमें ...के साथ किया है। इन दुराचारोंको नष्ट करने-...समर्थजी कहते हैं—

...वण्य अभ्यासता न ये। सहज गुणासी न चले उपाये।
...ही तरी धरावी सोये। आगांतुक गणाची।
...त्तम लक्षणें घ्यावी। मूर्ख लक्षणें त्यागावी।

...प और सौन्दर्य अभ्यास करनेसे बदल नहीं सकते, नैसर्गिक गुण नहीं बदल सकते हैं; किंतु दुष्ट ...ूर्ख लक्षणोंका त्यागकर आगन्तुक ऐसे उत्तम ...की प्राप्ति मनुष्यमात्रको सहज साध्य है। इन ...। गुणोंका वर्णन 'दासबोध'ग्रन्थके उत्तम गुण, ...ुण, सद्विद्या-निरूपण, विरक्त, नवविधा भक्ति, ...क-लक्षण, सिकवण, महंत, निस्पृह-सिकवण, ...ी-लक्षण, उत्तम पुरुष, शिक्षा-लेखन, कण्टपरीक्षा, ...ण, सदैव, लक्षण, बुद्धिवाद, यत्न, उपाधि, ...राजकारण, विवेक आदि समासों या अध्यायोंमें ...रके साथ किया है। मानव-जीवनकी भिन्न ...थामें किये जानेवाले दुराचार तथा उन्हें छोड़कर ...र करने योग्य सदाचारोंका वर्णन तथा विस्तृत ...दर्शन श्रीसमर्थ रामदास स्वामीजीने इन समासोंमें ...क भागमें किया है।

...मार्थके पथिकोंके लिये सदाचारका विवरण तो ...ी सम्पूर्ण वाङ्मयमें ही व्याप्त है। उसका विस्तार इतना है कि उसे मूल ग्रन्थोंमें ही देखना उचित होगा। उनके प्रमुख ग्रन्थका शीर्षक 'दासबोध' स्वयं ही संकेत करता है कि परमात्माका 'दास' बननेके हेतु मनुष्यको जिन आचार-विचारों तथा उपासनाओंका अनुसरण करना चाहिये, उसका 'बोध' देनेवाला ग्रन्थ। अतः यह स्पष्ट और स्वाभाविक है कि इस ग्रन्थमें 'दासभक्ति'का सम्पूर्ण विवरण प्राप्त होता है। यह ग्रन्थ ही समर्थ-सम्प्रदायका प्रमुख मार्गदर्शक ग्रन्थ माना जाता है। अतः उसपर कुछ अधिक टिप्पणी करना अनावश्यक है। इस ग्रन्थके अन्तमें श्रीसमर्थ रामदास स्वामीजी कहते हैं—

भक्ताचेनि साभिमानें। कृपा केली दाशरथीनें।
श्रीसमर्थकृपेची वचनें। तो हा दासबोध॥

'प्रभु श्रीरामचन्द्रने भक्तोंके साभिमानसे कृपालु बनकर उनके लिये जो कृपा-वचन कहे, वे ही इस 'दासबोध'में संगृहीत हैं। इस ग्रन्थमें बीस दशक हैं जिनका श्रवण और मनन करनेसे परमार्थ-प्राप्ति सुलभ होती है। इन बीस दशकोंमें अन्तर्भूत दो सौ समास अर्थात् अध्याय हैं। जिनका साधकद्वारा अत्यन्त विचारपूर्वक तथा विवेकसे श्रवण और मनन होना आवश्यक माना गया है। इस ग्रन्थका श्रवण, मनन और निदिध्यासन बार-बार करनेसे ही यह ग्रन्थ समझमें आ सकता है, अन्यथा नहीं। इस ग्रन्थकी फलश्रुति बताते समय श्रीसमर्थजी आश्वासन देते हैं कि इस ग्रन्थके श्रवण-मननसे मानवका आचार बदल जाता है और संशयका मूल नष्ट हो जाता है। सन्मार्गकी प्राप्ति होती है और किसी भी प्रकारकी कठोर साधनाके अभाव-में भी सायुज्य-मुक्तिका मार्ग प्रशस्त हो जाता है।'

श्रीसमर्थ रामदास स्वामीजीके 'मनोबोध' अर्थात् 'मनको सदाचारका उपदेश'में दो सौ पाँच श्लोक हैं। इन श्लोकोंमें वेदान्त, श्रुति, स्मृति, गीता इत्यादि महान् ग्रन्थोंका महानुभावोंद्वारा अनुभवित गर्भितार्थ, अत्यन्त

श्रीहनुमान्‌जीकी स्तुति की । हनुमान्‌जीने बंदरोंकी सेनासे कोटका विध्वंस कराना आरम्भ किया । बादशाहने आपके पैरोंमें गिरकर क्षमा माँगी ।

गोस्वामीजी एक बार वृन्दावन आये । वहाँ एक मन्दिरमें दर्शनको गये । श्रीकृष्णमूर्तिका दर्शन करके आपने यह दोहा कहा—

> का बरनउँ छबि आजकी, भले बने हो नाथ ।
> तुलसी मस्तक तब नवै जब धनुष-बान लेउ हाथ ॥

भगवान्‌ने आपको श्रीरामचन्द्रजीके स्वरूपमें दर्शन दिये ।

दोहावली, कवित्तरामायण, गीतावली, रामचरितमानस, रामलला नहछू, पार्वतीमङ्गल, जानकीमङ्गल, बरवै रामायण, रामाज्ञा, विनयपत्रिका, वैराग्यसंदीपनी और कृष्णगीतावली—ये बारह ग्रन्थ आपके विशेष प्रसिद्ध हैं । पर इनके अतिरिक्त तुलसी-सतसई, संकटमोचन, हनुमानबाहुक, रामशलाका, छप्पयरामायण, कुण्डलिया रामायण, ज्ञानदीपिका, जानकीविजय, तुलसी ... आदि ग्रन्थ भी आपके नामसे प्रख्यात हैं* ।

गोस्वामी तुलसीदासजीकी रामायण (रामचरितमानस) भारतके घर-घरमें बड़े आदर और भक्तिके साथ पढ़ी पूजी जाती है । मानसने कितने विद्रोहीको ... कितने मुमुक्षुओंको मोक्षकी प्राप्ति करायी है, कि... भगवत्-प्रेमियोंको भगवान्‌से मिलाया है, इसकी गणना नहीं है । यह तरन-तारन ग्रन्थ है । ... भी हिंदू इससे अपरिचित नहीं है ।

१२६ वर्षकी अवस्थामें संवत् १६८०की श्रावण कृष्ण तृतीया, शनिवारको आपने अपनी ... शरीर छोड़कर साकेतलोकको प्रयाण किया—

> संवत सोलह से असी, असी गंगके तीर ।
> श्रावण कृष्णा तीज शनि, तुलसी तज्यौ शरीर ॥

(४)

राष्ट्रगुरु श्रीसमर्थ स्वामी रामदासजी

(लेखक—डॉ० श्रीकेशवविष्णुजी मुले)

अपने समयके महान् सदाचारवादीके नाते श्रीसमर्थ रामदास स्वामीजीका नाम बड़े आदरके साथ लिया जाता है । दुर्भाग्यसे उस समयकी भारतवर्षकी सामाजिक, धार्मिक और नैतिक अवस्था अत्यन्त निकृष्टावस्थामें पहुँच गयी थी । स्वयं श्रीसमर्थ रामदास स्वामीजीने उस समयकी परिस्थितिका वर्णन इस प्रकार किया है—

'असहनीय महँगाईके कारण लोग अपने गाँव और देश छोड़कर दूर चले जा रहे हैं । काफी लोग भुखमरीके शिकार हो रहे हैं । कई गाँव उजड़ चुके हैं । यवनसेनाके हमले बार-बार होते रहते हैं और दोनों दलोंकी सेना इधर-उधर जाते-आते धन-धान्य और फसलको नष्ट करती है । साथ-साथ कहीं अवर्षाके कारण तो कहीं अतिवर्षाके कारण निसर्ग भी कुपित होकर फसलका नाश करता है । देशकी यह सारी स्थिति श्रीसमर्थ रामदास स्वामीजीने अपने लगातार बारह वर्षके भारत-भ्रमणमें स्वयं अपनी आँखोंसे देखी-परखी थी । इसीने उन्हें अन्तर्मुख बनाया था । जनताका कल्याण कैसे होगा ? धर्मस्थापना कैसे होगी ? और राष्ट्र फिरसे स्वतन्त्र

* श्रीविक्रमपरिषद् काशीने चार खण्डोंमें ... किये हैं । इनकी जीवनी, जन्मस्थान आदिपर भी ... बहुत मतभेद भी हैं । भवानीदास, ... यहाँ जीवनी-सम्बन्धी ...

दुर्जन कीकर-पेड़ समान ।
काँटे ही हैं, जिसकी चान ॥

[ध]ूपमें आये लोगोंको जहाँ छाया नहीं मिलती ।
[र]हने पर भी फूल नहीं मिलता भूख नहीं मिटती ॥
[व]नमें जिसके फूलोंकी सुगन्ध नहीं मिलती ।
[वै]सा-जनोंके संगमें क्या सुख शांति कभी मिलती ?

(पुरंदरदासेर-साहित्य, भाग ५, पद ११, पृ० ८८)

[दु]र्जनके सहवाससे कितना दुःख मिलता है, इसे [बता]नेके लिये पुरंदरदास दुर्जनकी तुलना साँप एवं [बाघ]से करते हैं । वे कहते हैं—

खलकी दृष्टि ही एक साँप है,
अन्य साँपकी खोज क्यों करें ?
खलकी दृष्टि ही एक बाघ है,
अन्य बाघकी खोज क्यों करें ?
खलका कूट ही हलाहल है,
और जहरकी खोज क्यों करें ?

(पुरन्दरदासेर-साहित्य, भाग ६, पद ३६, पृ० २६)

परनिन्दा—'मधु तिष्ठति जिह्वाग्रे हृदि हालाहलं [वि]षम्' (हितो० १।८२) अर्थात् सामने मीठी बातें करते [औ]र पीठ-पीछे निन्दा करना । यह नैतिक पतनका लक्षण [मा]ना जाता है । ऐसे स्वभावको छोड़नेका प्रबोध [क]रते हुए पुरंदरदास कहते हैं—

निंदे माडलु बेड मीचात्मा ।
निनगेंदु दोरकनु परमात्मा ॥

(पुरंदरदासेर-साहित्य, भाग ५, पद १२१, पृ० १२०)

अर्थात्—

निंदा न करो हे जीवात्मा ।
तुमको न मिलेगा परमात्मा ॥

पुरंदरदासने जहाँ परनिन्दा न करनेका उपदेश दिया है, वहीं यह भी कहा है कि यदि कोई निन्दा करे तो उसको सहन करना चाहिये । कारण, इस दुनियामें मनुष्यको प्रशंसाके साथ-साथ निन्दा भी मिलती है और यह निन्दा मनो-अभिवृद्धिका कारण भी बन जाती है । लोग हमारी जितनी निन्दा करते हैं, उतना ही हम अपने दुर्गुणोंको दूर करनेका अवसर पाते हैं । अतः निन्दकोंका स्वागत करना चाहिये । पुरंदरदास कहते हैं—

निंदा करनेवाले रहें ।
शूकरके रहनेपर जैसे गली शुद्ध बन जाती है ।
पूर्व किये पापोंके मलको निंदक ही खा जाते हैं ॥

अभिमान-त्याग—अन्तःकरणके नैर्मल्यके लि[ये] अहंकार व अभिमानका परित्याग आवश्यक है । [ग]र्व मानवको पतनके गर्तमें गिरा देता है, इसलिये पुरंदरदास[ने] लोगोंको बार-बार सावधान किया कि वे व्यर्थका अभिमा[न] छोड़ दें—

उब्बदिरु उब्बदिरु बेले मानवा ।
हेब्बुलियंते यम कोब्बिदुला बारिव ॥

(श्रीकर्नाटक-हरिदासेर-कीर्तन-तरंगिणी भाग १-
पद ४६३, पृ० १०[illegible])

अरे मानव ! फूलकर कुप्पा न बन—तू गर्व [न] कर । बाघ-जैसा यम तुझे ही ताकता घूम रहा [है] । एक अन्य पदमें कवि बताते हैं कि अभिमानसे त[था] हानि होती है—

मानदिंदलि अभिमान पुट्टुदु, मानदिंदलि तनहानि बागु[वुदु]

(श्रीपुरंदरदासेर-साहित्य, भाग २, पद ५५, पृ० [illegible])

अर्थात्—

मानसे अभिमान होता है, मानसे तन नष्ट होता [है]

पर-नारी-मोह—भारतीय संस्कृतिमें जहाँ ना[री] परम पुनीत मातृशक्तिके रूपमें अभ्यर्थनीय बताया [गया] है, वहीं 'कामिनी हेयं कनकं च काम्यं' 'द्वार किमेकं न[रकस्य] नारी' कहकर नारी-मोहसे बचनेका भी आदेश दि[या गया] है । श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि 'दुर्जनम् [illegible] दुष्ट स्त्रियोंका कभी विश्वास नहीं करना चाहिये [illegible] मूर्ख उनका विश्वास करता है, उसे दुःख होता [illegible] उनकी बातें तो अमृतके समान कर्णप्रिय [illegible] करती है, किंतु हृदय छुरेके समान तीक्ष्ण हो[ता है] ।'

(श्रीमद्भागवत [illegible])

सरल और सात्त्विक. मनको अहंकी तथा दुराचारी लोगोंका उद्धार करनेके हेतु बताया गया है अर्थात् इन श्लोकोंका पाठ श्रवण और मनन करनेका फलस्वरूप साधक बनता है तथा उसे परमार्थका मार्ग सुगमतासे प्राप्त होता है। जो बुद्धिहीन हैं, उन्हें भी साधनाके लिये योग्य बनानेकी सामर्थ्य इन श्लोकोंमें है। उन्हें निश्चय ही ज्ञान और वैराग्य प्राप्त होकर अन्तमें मुक्तिका मार्ग भी प्राप्त होता है। इस प्रकार इन श्लोकोंकी फलश्रुति बतायी गयी है।

इन दो ग्रन्थोंके अलावा 'आत्माराम', 'पंच समासी', 'स्फुट श्लोक', 'पुराना दासबोध', 'एकवीस समासी', 'स्फुट ओवी', 'करुणाष्टक' और [illegible] आदि ग्रन्थोंमें पारमार्थिक, सदाचारका निरूपण किया गया है।

[illegible]

अपनी उपासना दृढ़तासे करना। [illegible] सामने सदा मन प्रसन्न रखना। [illegible] सत्कर्मोंमें ही बिताना और [illegible] ही कहना। यही मानवीय जीवनका चरम उत्कर्ष है। यही है श्रीसमर्थ रामदास स्वामीजीके मानवजीवनका आदर्श।

'सर्वे जनाः सुखिनो भवन्तु'

(५)

संत पुरंदरदासके विचार

[सदाचार—जीवन मार्गके कण्टक और निवारण]

(लेखक—डॉ० ए० कमलनाथ 'पंकज' एम० ए०, पी-एच० डी०)

भगवान्‌में उत्कट भक्ति और जीवनमें सदाचारनिष्ठा—इन दोनोंसे मानव इहलोक और परलोकोंपर विजय पा सकता है। सिद्धि प्राप्त करनेके लिये मानवको नामस्मरण करनेकी आवश्यकता तो है, पर केवल नामस्मरणसे मानवता परिपूर्ण नहीं होती, उसके लिये सदाचार-पालनकी आवश्यकता भी है। इसलिये भारतके भक्त कवियोंने नामस्मरणकी महिमाके साथ-साथ मानव-जीवनकी महानता दर्शाकर नैतिक व सदाचारपूर्ण जीवनपर बल दिया।

कन्नड़के दास—श्रेष्ठ कवि पुरंदरदास हिंदीके महाकवि सूरदासके समान कृष्णके अनन्य भक्त थे। परंतु ये एक ही स्थानपर बैठकर पाण्डित्यपूर्ण प्रौढ़-कृतियोंकी रचना करनेवाले कवि नहीं थे। ये एक ग्रामसे दूसरे ग्रामतक संचार करते हुए जनता-जनार्दनकी सेवामें सदा निरत रहा करते थे। देखनेवालोंको तो ऐसा लगता था कि पुरंदरदास भिक्षाटनके लिये कीर्तन करने निकले हैं, पर हर घरके सामने भिक्षा लेते समय वे कीर्तनोंद्वारा अनेक गहन तत्त्वोंको भिक्षाके विनिमयमें दे जाते थे। इन्होंने मानवके लिये सदाचारपूर्ण जीवनकी आवश्यकताको बतानेके लिये, माताके समान मीठी बातोंसे, पिताके समान कठोर वचनोंसे, आचार्यके समान अधिकार-वाणीसे पतन-मार्गपर फिसल रहे लोगोंको सावधान किया। इन्होंने बताया कि नैतिकताके बिना मानव परलोक-सुख पानेका कितना ही प्रयत्न करे, व्यर्थ है। समाजमें नैतिक एवं सदाचार-जीवनकी स्थापनाके लिये उन्होंने मानवको निज बुराइयोंसे दूर रहनेको कहा, जिन्हें इन रूपोंमें रखा जा सकता है—

दुर्जन सङ्ग—दुर्जनोंसे दूर रहकर सत्सङ्गति प्राप्त करना सदाचार-जीवनका प्रथम सोपान है। कारण 'असत् पुरुषोंका अनुगमन करनेवाले पुरुषोंकी वैसी दुर्दशा होती है, जैसे अन्धेके द्वारा चलनेवाले अन्धेकी।'

(श्रीमद्भा० ११।२६।३)

पुरंदरदास अपने एक पदमें बताते हैं कि दुर्जन उस कीकरके पेड़की तरह है, जिससे कोई सुख या लाभ नहीं मिलता—

संकल्पपूर्वक हिंसा न करना । इसका विश्लेषण है—ष्य या पशुओंको रज्जु आदिके दृढ़ बन्धनसे न ना, मनुष्य या पशुपर मारक प्रहार नहीं करना, मनुष्य पशुके अवयवोंको विच्छिन्न नहीं करना और मनुष्य पर अधिक भार न लादना तथा अपने आश्रित के आहार-पानी आदिका विच्छेद न करना ।

उनके सदाचारका दूसरा सूत्र है—सत्य । व्यवहार व्यवसायमें सत्यकी साधना करनेवाला व्यक्ति किसी व्यक्तिपर दोषका आरोपण नहीं करता । किसी केकी गुप्त मन्त्रणाका भेद नहीं देता । किसी व्यक्तिको त्य सम्भाषणके लिये भी प्रेरित नहीं करता । झूठा लेख नहीं करता तथा विवाह-विक्रय आदिके प्रसङ्गमें िर लौटाने तथा साक्षी देनेके सम्बन्धमें असत्यका लेकर किसीको धोखा नहीं देता ।

सदाचारका तीसरा सूत्र चौर्यवृत्तिको निर्मूलित रना है । नीतिकारोंने चोरीको सात दुर्व्यसनोंमें एकरूपमें स्वीकार कर सज्जन नागरिकोंके लिये सर्वथा हेय बताया है । भगवान् महावीरने इस र्गदर्शन देते हुए कहा—तस्करीमें प्राप्त को खरीदना, तस्करीकी प्रेरणा देना, राष्ट्रद्वारा त व्यावसायिक सीमाओंका अतिक्रमण करना, कम-तौल करना, मिलावट करना, असली वस्तु पर नकली देना आदि प्रवृत्तियाँ मनुष्यके आचरणको त करती हैं । अतः सदाचारी व्यक्तिको इन सबसे न बचना चाहिये ।

सदाचारका चौथा सूत्र है—ब्रह्मचर्य । जीवनभर ब्रह्मचर्यकी परिपूर्ण साधना चेतनाके ऊर्ध्वारोहणकी प्रशस्त देता है, पर साधनाका यह क्रम प्रत्येक व्यक्तिके लिये सम्भव नहीं है । इसलिये इस विषयमें उन्मुक्त दौड़-धूपको और कामोत्तेजक प्रवृत्तियोंपर अङ्कुश लगानेके लिये कुछ नियम बना दिये गये, जो इस प्रकार हैं—

विवाहित पति या पत्नीके अतिरिक्त किसी भी स्त्री-पुरुषके प्रति वासनापरक चिन्तन करनेका [illegible] परिहार करना एवं कुछ समयके लिये [illegible] साथ अनैतिक सम्बन्ध न रखना । अविवाहित स्त्री या पुरुषके साथ [illegible] सम्बन्ध नहीं रखना तथा पारिवारिक व्यवस्थाके अतिरिक्त किसी दूसरे व्यक्तिको [illegible] काम-भोगके लिये प्रेरित नहीं करना [illegible] विषयोंमें तीव्र आसक्तिका परिहार करना ।

सदाचारका पाँचवाँ सूत्र है अपरिग्रह [illegible] और परिवारमें अनुबन्धित रहनेवाला [illegible] छोड़ नहीं सकता, पर उसकी [illegible] सकता है । इसलिये इस सदाचारको [illegible] माननेवाला व्यक्ति भूमि, मकान, सोना-चाँदी, पशु-पक्षी, धन-धान्य तथा अन्य घरेलू उपकरणोंकी सीमा करता है और कृतसीमाका अतिक्रमण नहीं करता । इससे [illegible] और शोषणमूलक प्रवृत्तियोंका परिष्कार होनेके साथ विलासिताकी वृत्ति भी नियन्त्रित होती है ।

भगवान् महावीर मानवताके [illegible] महान् मन्त्रदाता थे । उन्होंने इन पाँच [illegible] लिये अन्य अनेक सूत्र [illegible] संक्षेपमें उन सूत्रोंका [illegible] उपलब्ध है । [illegible] सदाचारमें [illegible] नहीं है [illegible] लाभ सदाचारी बननेसे ही [illegible] महावीरने उस समय सदाचारकी [illegible] बतायी, वे आज भी उतनी ही [illegible] है । [illegible] समय [illegible] उतना ही [illegible] है । [illegible] विश्वास और स्थायी [illegible] भी होती है । इसलिये इस सदाचार[illegible] का [illegible] उसके प्रति सजग रहनेकी अपेक्षा है ।

नैतिक सदाचार-जीवनके लिये नारी-मोहसे दूर रहना आवश्यक समझा गया है। पुरंदरदासने अपने अनेक पदोंमें नारीके प्रेम-जालमें न फँसनेका उपदेश दिया है। 'कण्णेति नोटल्लु बेड' नामक पदमें वे कहते हैं—

'आँख उठाकर मत देखो। उसकी महीन मोंगरर मोहित मत बनो। छीपर नजर डालकर कीचकको जान देनी पड़ी। रावणको सिर देना पड़ा। स्त्री-मोह करनेवाला नष्ट हो ही जाता है।

(पुरंदरदासेर-साहित्य भाग ५, पद १०५, १०७)

उपर्युक्त विषयोंके अतिरिक्त पुरंदरदासने अनेक पदोंद्वारा सत्यभाषण, अहिंसा, ब्रह्मचर्य-पालन, अन्य परोपकार, सहनशीलता, सत्सङ्ग आदिकी महिमा बताकर मानवको सदाचारपूर्ण जीवन बितानेका संदेश दिया।

(६)

भगवान् महावीर और सदाचार

(लेखक—आचार्य श्रीतुलसी)

भगवान् महावीर ईसा-पूर्व छठी शताब्दीके महान् क्रान्तचेता धर्म-प्रवर्तक थे। उनके चिन्तनमें किसी प्रकारका पूर्वाग्रह और रूढ़ धारणाएँ न थीं। उन्होंने सत्यसे साक्षात्कार करनेके बाद तत्त्व-प्रतिपादन किया था। अतः तत्कालीन लोक-धारणाके प्रतिगामी मूल्योंको प्रस्थापित करनेमें उन्हें किसी प्रकारकी हिचक न हुई। उन्होंने अपने ज्ञानदर्पणमें मनुष्यकी उन शाश्वत प्रवृत्तियोंके प्रतिबिम्बोंको पकड़ा, जो मानव-जातिको नैतिक पतनकी ओर अग्रसर कर रहे थे। उनके अन्तःकरणमें आध्यात्मिक मूल्योंके उत्कर्षका सुदृढ़ संकल्प था। उसी संकल्पसे प्रेरित होकर उन्होंने एक सार्वभौम और सार्वकालिक आचार-संहिता निर्मित की, जो आज ढाई हजार वर्ष बाद भी अपनी उपयोगिताको भली प्रकार प्रमाणित कर रही है।

भगवान् महावीर किसी भी समस्याके मूल और परिणाम दोनोंको देखते थे और असद् परिणामसे अपनी रक्षा करते हुए उसका मूलोच्छेद करनेका पथ दिखाते थे। उनका निर्देश था—'अग्गं च मूलं च विगिंच।' धीरे-धीरे वह होता है, जो बुराईके मूल और फल दोनों-का पृथक्करण कर देता है। उनकी दृष्टिमें बुराईके संस्कारोंको मिटानेका मूल्य अधिक था; क्योंकि संस्कार मिटनेके बाद व्यक्ति कठिन-से-कठिन परिस्थितिमें भी बुरा काम करनेके लिये उद्यत नहीं होता।

भगवान् महावीरने सदाचारके जो सूत्र दिये, वे सबके लिये सदा उपयोगी रहे, वर्तमानमें हैं और भविष्यमें भी रहेंगे। उनकी समग्र चिन्तन-धारा मुख्यतः पाँच स्रोतोंसे प्रवाहित हुई। वे पाँच स्रोत हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इन पाँचों सूत्रोंकी सर्वांगीण साधनाका पथ भगवान् महावीरको इष्ट था, इसलिये वे स्वयं इसी मार्गपर चले। उन्होंने उक्त पाँच सूत्रोंकी व्याख्या दो प्रकारसे की। जो व्यक्ति मन, वचन और कर्मसे हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रहसे विरत होना चाहते थे, उन्हें विशिष्ट साधनाका पथ दिखाया। जो व्यक्ति एक साथ इतनी बड़ी छलाँग नहीं भर सकते, उन्हें यथाशक्ति सदाचारका पालन करनेकी दिशा उपलब्ध करायी। यथाशक्तिका सीमाङ्कन व्यक्ति अपनी सुविधाके अनुसार मनमाना न करे, इस दृष्टिसे भगवान् महावीरने कुछ व्यावहारिक मानदण्ड भी स्थापित कर दिये, जिनके आधारपर सदाचारकी मूलभूत किंतु प्रारम्भिक जानकारी हो सके।

महावीर-निर्दिष्ट सदाचारका पहला सूत्र है—'अहिंसा'। इसकी परिभाषा है—चलने-फिरनेवाले निरपराध प्राणियों-

ी, हठी, दुराग्रही, अभिमानी, कुतर्की साधुओंसे न रहना चाहिये। प्रातःकाल उठते ही परमेश्वर-ध्यान और दिनभर श्रेष्ठ आचरणका संकल्प अभीष्ट है। ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य, मातुल, , आश्रित, बालक, वृद्ध, पीड़ित, वैद्य, सगोत्र-ी, बान्धव, माता, पिता, बहन, पुत्री, सेवकोंसे यथासम्भव कभी न करे। अशिक्षित तथा से दान न दे। अज्ञानी दाता तथा गृहीता दोनों े प्राप्त होते हैं। स्त्री-पुरुषोंको चाहिये कि शनैः-सदाचार और धर्मका संचय करें। परलोकमें ता-गुरु-स्त्री कोई सहायता नहीं कर सकता, धर्म दायक होता है। दृढनिश्चयी परंतु मृदुस्वभाव, जितेन्द्रिय, शिष्ट, हिंसक तथा क्रूर दुराचारियोंसे दूर रहनेवाला, दुर्बल निरीह प्राणियोंपर दया करनेवाला सदाचारी व्यक्ति अनुकरणीय है।

आर्यसमाजके अन्तिम चार नियमोंमें सदाचारकी व्यापक परिभाषा सूत्ररूपमें निहित है। १—सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य व्यवहार, २—अविद्याका नाश और विद्याकी वृद्धि, ३—अपनी उन्नतिमें संतुष्ट न रहकर सबकी उन्नतिमें अपनी उन्नति समझना और ४—सामाजिक सर्वहितकारी नियमोंके पालनमें परतन्त्रता तथा हितकारी नियममें स्वतन्त्रता ही सदाचारके आधार हैं, जिन्हें किसी भी देशकालमें अपनाया जा सकता है।

सूक्तियोंमें सदाचार

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

सदाचारकी नींव सद्विचार है। सदाचारी बनना है तो हम सदैव सद्विचाररत रहें। किसीका स प्राप्त करनेसे बढ़कर प्राप्तव्य और कुछ नहीं; और यह सदाचारीको सहज प्राप्त होता है।

अनाचारी अपकीर्तिवश जीवित ही मृतकसमान है और सदाचारी सुकीर्तिके फलस्वरूप मरकर ीवित रहता है।

जो मनका सच्चा हो, वाणीका सच्चा हो, हृदयका सच्चा हो, हाथका सच्चा हो, इन्द्रियोंका सच्चा मी) हो—संक्षेपमें, सब प्रकार सच्चा-ही-सच्चा हो, उसे सदाचारी जानो।

आचारवानोंके आचार देश-काल और परिस्थितिकी विभिन्नतासे भिन्न भिन्न प्रतीत भले ही हों, मूलतः उनमें अन्तर नहीं होता।

सदाचारीके परिचयकी आवश्यकता नहीं होती। उसका परिचय तो उस सदाचार-सुगन्धसे लता रहता है, जो उसके चतुर्दिक् सहज फैलती रहती है।

कोई भले ही धनी, सत्ताधीश, गुणी, विद्वान् हो; परंतु सदाचारविहीन है तो वह एक सदाचारी-हीं पा सकता।

अनाचारी सर्वसम्पन्न होते हुए भी विपन्न ही है और आचारवान् सर्वथा विपन्न होते हुए भी म्पन्न है।

सदाचारी संयमी होता है। जो संयमी नहीं, वह सदाचारी कहाँ? आत्मप्रचार और अहंकार चारीके सदाचारताको खा जाता है।

आज जगत्‌में सदाचारी प्रायः दीपक लेकर खोजनेपर ही मिलते हैं, परंतु यह टिका हुआ है पर। सदाचारी न हों तो संसार ही उच्छिन्न हो जाय। सदाचार विश्व-व्यवस्थाका मूलाधार है।

(७)

सदाचारके प्रमुख प्रहरी स्वामी दयानन्द

(लेखक — डॉ० श्री[illegible] एम० ए०, पी-एच० डी०, [illegible])

स्वामी दयानन्द सर्वांग साधक और सदाचारी, सदाचारके आदर्श थे। सदाचारिक जीवनमें सत्याचार, सत्यव्रत, शारीरिक शिक्षा आदि गुणोंमें उनका जीवन अद्वितीय रहा। आधुनिककी उपेक्षा करनेवाले सुधारकोंकी अपेक्षा स्वामी दयानन्दने सदाचारपर विशेष बल दिया है। वास्तविक उपदेशकी भाँति उन्होंने धर्म, सदाचार [illegible] एवं [illegible] निर्भीकतापूर्वक खण्डन किया। अपने जीवनकी बलि भी दे दी। उनके विचारोंसे किन्हींको कहीं मतभेद हो सकता है, परंतु सदाचारके संदर्भमें उनकी विस्मृति सर्वथा कृतघ्नता होगी।

स्वामी श्रीदयानन्दने संक्षेपमें सदाचारकी व्याख्या करते हुए कहा है कि धर्मयुक्त कर्मोंका आचरण, सत्पुरुषोंका सङ्ग और सद्विद्या-ग्रहणमें रुचि, जिसका सेवन राग-द्वेषरहित, सत्य कर्तव्यका बोधक हो, वही माननीय और अनुकरणीय है। वेदोक्त ज्ञान और तदनुसार अनुशीलन, आचरण, यज्ञ, सत्यभाषण, व्रत, नियम और यम—ये सदाचार हैं और आत्मा (मन)में भय, लज्जा, शङ्का उत्पन्न करनेवाले कर्म ही दुराचार हैं। वेदोक्त धर्मका अनुष्ठान करनेवाला लौकिक जीवनमें कीर्ति तथा सर्वोत्तम सुख प्राप्त होता है। इन्द्रियोंकी विषयासक्ति और अधर्मवृत्ति दुराचारकी ओर ले जाती है। प्रशंसासे हर्ष तथा निन्दासे शोक आदि-जैसी क्षणिक अनुभूतियोंसे परे व्यक्ति जितेन्द्रिय कहलाता है।

कभी बिना पूछे अथवा अन्याय एवं छलसे पूछनेवालेको उत्तर न दे। अधिक वर्षोंके बीतने मात्रसे, केश श्वेत होने अथवा धनवान् होनेके कारण कोई व्यक्ति वृद्ध एवं पूज्य नहीं हो जाता; जो आप्तशास्त्र-ज्ञान-विज्ञानरहित है, वह बालक है और जो बालक भी विज्ञानका दाता है वह वृद्ध एवं पूज्य है। विद्वान् पढ़े-लिखेको ही बड़ा मानते हैं, [illegible] सम्पन्न होता है, जैसा कि मनुने कहा है—

यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः।
(मनुस्मृति २।१५६)

विद्वान्के लिये आवश्यक है कि जितेन्द्रिय [illegible] मधुर [illegible] सदाचारका दर्शन करे। स्नान, व्रत, अध्ययन, [illegible] कर्तव्य, [illegible] अपकारी, दुष्ट [illegible] परोपकारी, धर्मात्माओंका सदा ही [illegible]।

स्वामीजीके मतानुसार भोजन सदाचारका प्रमुख अङ्ग है। भक्ष्याभक्ष्यपर विस्तृत विचार व्यक्त करते हुए कहा गया है—जैसा भोजन होता है, वैसी ही मनुष्यकी प्रवृत्ति बनती है और प्रवृत्तिके अनुसार उसका आचरण होता है। अतः बुद्धि नष्ट करनेवाले पदार्थों—सड़े अन्न, मांसका सेवन नहीं करना चाहिये। मल-मूत्रके संसर्गसे उत्पन्न शाक-फल-मूल नहीं खाना चाहिये। गाँजा, भाँग, अफीम, मदिरा, बीड़ी, सिगरेट आदिका सेवन वर्जित है।

अभक्ष्यं च द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च।
(मनुस्मृति ५।५)

बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारी तदुच्यते।
(शार्ङ्गधर, प्रथम खण्ड, अ० ४। २१)

दुराचारकी गणनामें उल्लेखनीय दोष हैं—विषयीजनोंका सङ्ग, वेश्यागमन, वेदशास्त्र-विमुख होना, अतिभोजन, अतिजागरण, पढ़ने-पढ़ानेमें आलस्य, प्रमाद, धूर्तता तथा असत्य-भाषण। इससे भिन्न एवं विपरीत संध्योपासन, योगाभ्यास, विद्वानोंकी सेवा, आदर, माता-पिता और आचार्यकी श्रद्धापूर्वक सेवाद्वारा संतुष्ट रखना, अतिथि-सत्कार आदि कार्य सदाचार हैं। वैडालवृत्तिवाले

सदाचार-विवेचन

(लेखक—पं० श्रीरामाधारजी दुबे)

मनुने कहा है कि मानव-जीवनको परिष्कृत एवं सुख-शान्तिसे समन्वित कर उसे 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की पराकाष्ठातक पहुँचानेका जो निर्दिष्ट कर्तव्यानुष्ठान है, वही सदाचार है । 'सदाचार'के समान 'शिष्टाचार' भी एक बहुचर्चित शब्द है, पर इन दोनोंमें मौलिक अन्तर है । शिष्टाचारसे मनुष्यकी शिक्षा, सुरुचि और सभ्यताका परिचय मिलता है तथा इससे मनुष्यके विनम्र स्वभावकी भी परख हो जाती है, किंतु सदाचारका धर्मसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है और उसकी अवहेलना पाप समझा जाता है । शिष्टाचारको सदाचारका एक अङ्ग कहा जा सकता है, किंतु धर्मसे उसका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं दीखता । शिष्टाचारकी अवहेलना करना उतना गर्हित नहीं माना जाता, जितना सदाचारकी अवहेलना करनेसे होनेवाला पाप । शिष्टाचारकी अवहेलना करनेसे अन्य व्यक्ति ही असंतुष्ट अथवा विरोधी हो सकते हैं, किंतु सदाचारकी अवहेलना करनेसे स्वयं अपना भी अकल्याण होता है । शिष्टाचारका पालन करना आसान काम है, किंतु सदाचारका पालन करना उतना सहज नहीं है । शिष्टाचारी व्यक्ति सदाचारी हो भी सकता है और नहीं भी; किंतु जो सदाचारी होगा, वह तो शिष्टाचारी होगा ही । उदाहरणार्थ मिथ्यावादी और तस्कर भी 'शिष्टाचारी' हो सकते हैं, परंतु जो सदाचारी होगा उसमें मिथ्यावादिता एवं तस्करीकी प्रवृत्ति न होगी । अतः हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि शिष्टाचार सदाचारका एक आंशिक रूप—एक अवयवमात्र होता है, न कि उसका पर्याय अथवा विकल्प । उसी प्रकार सदाचारको भी धर्मका पर्याय अथवा विकल्प न मानकर उसका एक लक्षण—अङ्गमात्र माना गया है । शब्दान्तरसे मनुस्मृति (अध्याय २ के श्लोक १२) तथा याज्ञवल्क्यस्मृति (१ । ७)में यही बात कही गयी है—

> श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
> सम्यक् संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम् ॥

'श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित मार्गका अनुसरण, (सदाचार) प्राणिमात्रमें एक आत्माका बोध और शुद्ध संकल्प-उत्पन्न इच्छा इन सभीको धर्मका मूल समझना चाहिये ।'

वास्तवमें सदाचारको न केवल हिंदू-धर्मका, वरं सम्पूर्ण मानव-धर्मका प्राण कहा जाय तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी । सभ्य मानव-संसारका कोई ऐसा धर्म नहीं, जिसमें सदाचारके नियमोंका पालन करने[का] आदेश न दिया गया हो । इसलिये विश्वके सभी धर्मग्रन्थोंमें सदाचारका निरूपण मिलता है, जो अपनी-अपनी संस्कृतिके अनुरूप विभिन्न ढंग और स्तरपर किया गया है । (द्रष्टव्य Enyclopedea of Religion and Ethics)

बौद्ध-धर्मके अनुसार पंद्रह सदाचार इस प्रकार हैं—(१) शील, (२) इन्द्रिय-संवर, (३) मात्राशिता, (४) जागरणानुयोग, (५) श्रद्धा, (६) ह्री, (७) बहुश्रुतत्व, (८) उद्[ग्रह] अर्थात् पछतावा, (९) पराक्रम, (१०) स्मृति, (११) मति, (१२) प्रथम ध्यान, (१३) द्वितीय ध्यान, (१४) तृतीय ध्यान और (१५) चतुर्थ ध्यान ।

जैन-धर्ममें जीवनके चरम लक्ष्य परमानन्दकी प्राप्तिके तीन मार्ग बताये गये हैं—सद्विश्वास, सद्ज्ञान और सद्आचरण । सद्आचरण (सदाचार)के लिये पाँच आदेश दिये गये हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य । इनमें भी अहिंसापर सर्वाधिक जोर दिया गया है ।

सिक्ख-धर्मके प्रवर्तक श्रीगुरुनानकदेवने भी सिक्खोंके शुद्ध आचरणपर विशेष बल दिया है । श्रीगुरुनानकदेवका जीवन विशुद्ध धार्मिक था, किंतु उनके बाद जो भी अन्य

...यदि हम सदाचारी और दुराचारी मान लें तो ...ोंको क्या आपत्ति होगी ! रामके वनवास और राजा ...रथके स्वर्गगमनसे शोकमग्न अयोध्यामें जब भरतजी ...निहालसे लौटकर आते हैं तो माताओंसे अपना स्पष्टी-...रण देते हुए कहते हैं कि इस अनर्थमें यदि मेरी ...म्मति हो अथवा इसके रहस्यकी मुझे जानकारी ...हो तो—

...अघ मातु पिता सुत मारें। गाइ गोठ महिसुर पुर जारें॥
...अघ तिय बालक बध कीन्हें। मीत महीपति माहुर दीन्हें॥
...पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कबि कहहीं॥

× × × ×

...हिं बेदु धरमु दुहि लेहीं। पिसुन पराय पाप कहि देहीं॥
...टी कुटिल कलहप्रिय क्रोधी। बेद बिदूषक बिस्व बिरोधी॥
...भी लंपट लोलुपचारा। जे ताकहिं परधनु परदारा॥
...नहिं साधुसंग अनुरागे। परमारथ पथ बिमुख अभागे॥
...न भजहिं हरि नरतनु पाई। जिन्हहि न हरि हर सुजसु सोहाई॥
...जि श्रुतिपंथु बाम पथ चलहीं। बंचक बिरचि बेषु जगु छलहीं॥
...न्ह कै गति मोहि संकर देऊ। जननी जौं यहु जानौं भेऊ॥

(मानस २ । १६६ । १-४, १६७-१, ३, ४)

भरतजीकी इन उक्तियोंसे हमें यह स्पष्ट पता चल जाता है कि ये सभी दुराचारके कार्य हैं और दुराचारीकी जो दुर्गति होती है, उसकी भयंकरताकी ओर भी ये पङ्क्तियाँ स्पष्ट प्रकाश डाल देती हैं। रामचरितमानसमें ऐसे भी पात्रोंकी भरमार है, जो आचारहीनताके कारण निन्द्य हैं—जैसे मन्थरा, अजामिल, दण्डक, नहुष, जयन्त, शूर्पणखा, बालि, रावण आदि। उत्तरकाण्डमें वर्णित कलियुगमें मानवोंका धर्मसे विमुख, विषयासक्त, पापकर्ममें लीन आदि होनेके प्रसङ्ग दृष्टिपात करने योग्य हैं।

कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भए सदग्रंथ।
दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु पंथ॥

× × × ×

द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥

× × × ×

जो कह झूँठ मसखरी जाना। कलिजुग सोइ गुनवंत बखाना॥

× × × ×

सब नर काम लोभ रत क्रोधी। देव बिप्र श्रुति संत बिरोधी॥
गुन मंदिर सुंदर पति त्यागी। भजहिं नारि पर पुरुष अभागी॥
सौभागिनीं बिभूषन हीना। बिधवन्ह के सिंगार नबीना॥

× × × ×

सब नर कल्पित करहिं अचारा। जाइ न बरनि अनीति अपारा॥

(मानस ७। ९७ क—९९ ख ६)

इन पङ्क्तियोंसे तत्कालीन सदाचारहीनताकी स्थितिका बोध भी स्पष्ट हो जाता है। क्या इनसे हमें बचना नहीं चाहिये ? इनसे भी हमें सदाचारमें प्रवृत्त होनेकी प्रेरणा मिलती है।

स्वास्थ्यके क्षेत्रमें सदाचार-शिक्षाके साथ ही आयुर्वेदका भोजनके सम्बन्धमें नियम है कि—

मधुरमधुरमादौ मध्यतोऽम्लैकभावः
कटुकटुकमथान्ते तिक्ततिक्तं तथैव।
यदि सुखपरिणामं वाञ्छसि त्वं हि राजन्
त्यज खलजनसङ्गं भोजनं मा कदाचित्॥

'आरम्भमें मीठा, बीचमें खट्टा, अन्तमें कटु एवं तिक्त—हे राजन्, इस प्रकार जो दुष्ट लोगोंका सङ्ग है उसे तो त्याग दें; किंतु इस प्रकारका जो भोजन है, उसे न छोड़े। दीर्घायुके लिये शिक्षा देते हुए कहा गया है—

वामशायी द्विभुञ्जानः षण्मूत्रो द्विपुरीषकः।
स्वल्पमैथुनकारी च शतं वर्षाणि जीवति॥

बायें करवट सोनेवाला, प्रतिदिन दो बार भोजन, छः बार पेशाब और दो बार दीर्घशङ्का (मलत्याग) करनेवाला तथा स्वल्प मैथुन करनेवाला व्यक्ति सौ वर्षोंतक जीवित रहता है।'

आज विभिन्न औद्योगिक संस्थानोंमें उत्पादन तथा अन्य प्रक्रियाओंको समुचित ढंगसे चालू रखनेके लिये कर्मचारियों एवं नियोजकोंके सम्बन्धोंका परस्पर सहयोग पूर्ण होना आवश्यक है। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये औद्योगिक आचार-संहिताका भी प्रणयन किया गया है.

यहीं सदाचारकी उपादेयताका प्रतिपादन करते हुए महर्षि वाल्मीकिका कथन है कि—

यस्तूदारचमत्कारः सदाचारविहारवान्।
स निर्याति जगन्मोहान्मृगेन्द्रः पञ्जरादिव ॥
(योगवा० मुमुक्षुप्रकरण ६ । २८)

'जो पुरुष उदार-स्वभाव तथा सत्कर्म-सम्पादनमें कुशल है, सदाचार ही जिसका विहार है, वह जगत्के मोह-पाशसे वैसे ही निकल जाता है, जैसे पिंजरेसे सिंह ।'

गीतामें भी सदाचारके विषयमें पुराणों, स्मृतियों और उपनिषदोंकी भाँति तालिकाएँ प्रस्तुत नहीं की गयी हैं; किंतु अधिकतर इसी प्रश्नपर विचार किया गया है कि मनुष्यको अपने कर्तव्य (सदाचार) का पालन किस प्रकार करना चाहिये । उसमें कार्यके स्वरूपकी अपेक्षा हमारा कार्य करनेके ढंगको विशेष महत्त्व दिया गया है । केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है कि हमारा कार्य उत्तम हो; बल्कि हमें उसे निर्दिष्ट उचित ढंगसे करना भी चाहिये । इस विषयमें गीताका सिद्धान्त संक्षेपमें यह है कि हमारी किसी भी कार्यमें आसक्ति न होनी चाहिये और दूसरी बात यह है कि हमारे अंदर कर्म-फलकी इच्छा न हो । गीताने इन तथ्योंपर सर्वाधिक प्रकाश डाला है । साथ ही मनुष्यके कर्तव्य (सदाचार) क्या हैं अथवा किसी व्यक्तिको अपने कर्तव्यका निर्णय किस प्रकार करना चाहिये, इस प्रश्नके उत्तरमें कहा गया है कि—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥
(गीता १६ । २४)

'अतः क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, इसका निर्णय करनेके लिये शास्त्र ही प्रमाण है । शास्त्रके विधानको जानकर तुम्हें उसीके अनुसार आचरण करना चाहिये ।'

और यह भी कहा गया है कि 'जो पुरुष शास्त्र-विधिको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न तो सिद्धिको प्राप्त होता है, न परम गतिको और सुखको' (१६ । २३) । इस प्रकार शास्त्र-विहित कर्तव्यको गीतामें मान्यता प्रदान की गयी है और शास्त्र-निर्दिष्ट कर्तव्य वही है, जिनका विस्तृत स्पष्टीकरण श्रुति-स्मृतियों, पुराणों और उपनिषदोंमें किया जा चुका है । इसी स्तरपर श्रुत्युक्त स्मार्त आचारको ही 'धर्म' कहकर प्रतिष्ठित किया गया है ।

गोस्वामी तुलसीदासके रामचरितमानसके मुख्य कथानक एवं प्रासङ्गिक उपाख्यानोंमें वर्णित जितने भी पात्र हैं, उनमें अधिकतर चरित्र मानो सदाचारके आगार हैं । इसके चित्रणमें गोस्वामीजीने उस स्वर्णिम रंगका प्रयोग किया है, जिसकी दिव्यता मानव-जगत्में सदाचारका चिरन्तन आलोक विकीर्ण करती रहेगी । राम तो मर्यादापुरुषोत्तमके रूपमें अद्वितीय हैं ही, साथ ही वे पुत्रके रूपमें, शिष्यके रूपमें, युवराजके रूपमें, बड़े भाईके रूपमें, पतिके रूपमें, तपस्वीके रूपमें, सखाके रूपमें, राजाके रूपमें, आदर्श मानवके रूपमें—प्रत्येक रूपमें सदाचारका उत्कृष्टतम आदर्श उपस्थित करते हैं । उसी प्रकार सीता आदर्श पत्नी एवं आदर्श नारीके रूपमें सदाचारका श्रेष्ठतम दृष्टान्त प्रस्तुत करती हैं । भ्रातृ-भक्त भरत और लक्ष्मणके भी सदाचारकी कोई तुलना नहीं की जा सकती । सेवकके रूपमें हनुमान्‌का सदाचार भी अद्वितीय है । निषादराज गुह, शबरी, जटायु, काकभुशुण्डि, सुग्रीव, जाम्बवन्त, अङ्गद, विभीषण, मन्दोदरी आदि अनेक पात्र हैं, जिनके चरित्रसे हमें सदाचारकी उत्तमोत्तम शिक्षा प्राप्त होती है । इन पात्रोंके चरित्रमें समाहित सदाचारसे पृथक् अन्य स्थलोंपर भी मानसमें सदाचारका वर्णन मिलता है । उदाहरणार्थ बालकाण्ड, अरण्यकाण्ड एवं उत्तरकाण्डमें जिन संत-असंतोंके स्वभाव और लक्षणोंपर प्रकाश डाला गया है,

...ता है, किंतु उसकी जानकारी नहीं प्राप्त कर पाता, ...से जैसा चाहिये, इस ज्ञानसे सर्वथा अनभिज्ञ रह जाता है और इतना ही नहीं, वह वासनाओंका ...करता हुआ नित्य नीचे ही गिरता जाता है। यह पतन उसके अन्तःकरणके प्रसुप्त रहनेका द्योतक ...उसके विवेकके निष्क्रिय होनेका परिचायक है।

हमारे शास्त्रोंमें जिस अधर्म और धर्मकी, जिस पाप पुण्यकी, जिस दुराचार और सदाचारकी विशद ...की गयी है, वह हमारे 'अन्तःकरणके सोये या ...रहनेके परिणामकी चर्चा है। हमारी विवेकहीन ...दुष्कर्मों अथवा विवेकयुक्त बुद्धिके सत्कर्मोंकी है और उसी क्रममें हमें अपने जीवनकी ...की ऊँचाईतक पहुँचानेके मार्गका भी दिग्दर्शन ...गया है। अतः हम कह सकते हैं कि मनुष्य ...में मनुष्यका केवल रूप लेकर पैदा होता है, मनुष्य बनकर नहीं। मनुष्य तो उसे यहाँ आकर अपनेको स्वयं बनाना पड़ता है। वह आत्मविकास- की और साथ-ही-साथ आत्मविनाशकी भी शक्ति लेकर इस संसारमें आता है। यदि वह वासना एवं अविवेकके ही वशीभूत रह गया, उनका परित्याग कर अपनेको मनुष्य नहीं बना सका तो अपनेको पशुसे भी निकृष्ट बना डालता है। जब वह पवित्र कार्योंमें लगा रहता है तो वह अपने जीवनकी ऊँचाईपर देवत्वके सांनिध्यमें होता है, जो सदाचारका लक्ष्य है, किंतु वही जब अपवित्र कार्योंमें संलग्न हो जाता है तो पशुसे भी नीचे गिर जाता है, जो कदाचारका परिणाम है। हमारे महर्षियों, शास्त्रकारों एवं मनीषियोंने सदाचार- की अनुष्ठेयता और कदाचारकी हेयता प्रतिपादित की है। तदनुसार हमें आचारवान् [illegible] कल्याणभागी होना चाहिये।

सदाचार और उसका मनोवैज्ञानिक धरातल

(लेखक—पं० श्रीरामानन्दजी दुबे, साहित्याचार्य)

...सदासे चरित्रप्रधान देश रहा है। उसकी ...इन्द्रियोंको वशमें रखकर—चरित्रकी रक्षामें रही ...केवल शारीरिक सुखोपभोगको उसने अनार्य गुण ...है। पर बाहरी लहरके आनेपर इसमें कुछ अन्तर ...जिसमें सर्वाधिक अवाञ्छनीय अभिव्यक्ति है— '...पीओ और मौज उड़ाओ' (Eat, drink and merry) यह भावना हमारे लिये सर्वथा परकीय ...है। अपने देशकी संस्कृति, सुख और समृद्धिकी ...लिये हमें अपने सदाचारका सहारा लेना चाहिये।

'आचार' शब्दका प्रयोग भारतीय वाङ्मयमें प्रशस्त... ...में चलता है। जिस प्रकार गुणी कहनेसे सद्गुणी- ...का बोध होता है, दुर्गुणीका नहीं; उसी प्रकार ...इससे स्वभावतः सदाचार ही समझा जाता है, अन्य आचार नहीं। हमारे शास्त्रोंमें आचारका पूर्वोक्त व्यापक प्रयोग व्यवहारके अर्थमें होता आया है। अन्य तत्त्वोंकी भाँति आचार-तत्त्वके भी दो पक्ष होते हैं—१-सिद्धान्त और २-व्यवहार। जब हम कहते हैं—'[illegible]' तब आचारसे हमारा अभिप्राय व्यवहारसे ही होता है। तात्पर्य यह कि सिद्धान्त-[illegible] देनेवाले, दूसरेको उपदेश देनेवाले तो बहुत लोग मिलते हैं, पर उसको अपने आचरणमें उतारनेवाले अधिक लोग नहीं मिलते। इसी प्रकार जब हम यह कहते हैं— 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः—' तब यह समझना चाहिये कि [illegible] आचरणसे हीन है—केवल सिद्धान्तद्वारा [illegible] हो [illegible] है और

जो कार्यकर्ता एवं नियोक्ताओंपर समानरूपसे लागू है। यह भी सदाचारका एक अङ्ग होता है।

जो लोग नौकरी पेशा करते हैं, वे चाहे किसी भी सेवामें हों, उनकी सेवाओंके सम्बन्धमें एक नियमावली अवश्य होती है, जिसमें दुराचारके, कर्तव्यके साथ उल्लेख रहता है और दुराचारका कार्य करनेपर दण्ड देनेकी भी व्यवस्था रहती है, जिससे सेवामें नियोजित व्यक्तिके सेवा-सम्बन्धी आचरणपर नियन्त्रण रहता है। उसी प्रकार प्रशासनद्वारा भी समाजमें शान्ति और सुव्यवस्था कायम रखना तभी सम्भव हो सकता है, जब समाजके व्यक्तियोंका आचरण उत्तम हो—जीवन सदाचार-मय हो। अतः इस उद्देश्यसे ही 'दण्ड-प्रक्रिया-संहिता' तथा 'व्यवहार-प्रक्रिया-संहिताएँ' बनायी गयी हैं, जो व्यक्तियोंके सामाजिक आचरणपर नियन्त्रण रखनेमें प्रशासनके लिये सहायक हैं। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि हमारे धर्म-शास्त्रोंके अतिरिक्त जो आचार-संहिताएँ या नियमावलियाँ वर्ग-विशेष, कार्य-विशेष अथवा क्षेत्र-विशेषके लिये बनायी गयी हैं, उनमें कोई भी बात ऐसी नहीं है, जो हमारे उन शास्त्रीय निर्देशोंके प्रतिकूल हों। हाँ, उनमें यथास्थान आवश्यकता-नुसार संशोधन या रूपान्तर अवश्य है। इसे भी सदाचारका सामान्य प्रकरण मानना चाहिये।

हमारे अनेक महर्षियों, शास्त्रकारों तथा मनीषियों-द्वारा सदाचारपर इतना अधिक प्रकाश डालने एवं सदाचारके अनुपालनपर इतना अधिक जोर देनेके बावजूद भी दुर्भाग्यकी बात है कि आज हम भारतवासियोंमें सदाचारके बदले भ्रष्टाचार अधिक व्याप्त हो रहा है। इसके मुख्य कारण हैं—सदियोंतक देशकी पराधीनता, पाश्चात्त्य सभ्यताका अन्धानुकरण तथा स्वतन्त्रताप्राप्तिके बाद भी चारित्रिक अथवा नैतिक उत्थानके प्रति हमारी उपेक्षा या उदासीनताकी भावना। वेदोंसे लेकर रामचरितमानसतक हमारे सभी प्राचीन एवं पथ-प्रदर्शक अनुशासन प्रायः आज भी अपेक्षित है और इनमें पूर्ण अपेक्षित निर्देश सदाचारके लिये अधिक उपयोगी सोचे-समझे हैं, पर उनकी उपयोगिता सिद्ध हो गयी है, जैसे किसी कार्यके उत्तम किया [illegible] 'अनुशासन ही देशको महान् बनाता है'— उसी बातके अन्दर बिना हिचक [illegible] करनेके [illegible] स्वतः [illegible] बदला लेनेके कारण [illegible] दण्ड देनेपर ही उतारू रहते हैं। इससे यही निकलता है कि अनुशासन अथवा सदाचार बाहरसे किसी व्यक्तिके ऊपर प्रचार, विज्ञापन या किसी अन्य माध्यमसे थोपा नहीं जा सकता। उसके लिये तो आन्तरिक लगन अथवा प्रवृत्ति भीतरसे जगनी चाहिये—तदनुकूल विचार उत्पन्न होना चाहिये।

ऊपर कहा जा चुका है कि विचार ही आचार-जनक होते हैं। यदि विचार अच्छे हुए तो आचार भी अच्छा होगा ही। विचार मनमें उत्पन्न होते हैं, मन ही चालक होता है और उसीकी प्रेरणासे इन्द्रियाँ सारा कार्य सम्पादित करती हैं, अतः मनमें शुभ विचार उत्पन्न हों, इसके लिये चाहिये कि मनको अशुभ विचारोंकी ओर जानेसे विषयोन्मुख होनेसे, रोका जाय। तभी इन्द्रियाँ भी शुभ कार्योंकी ओर उन्मुख होंगी। श्रुति, स्मृति, पुराण, उपनिषद्, गीता, योगवासिष्ठ, पातञ्जलयोगदर्शन, रामायण, महाभारत आदि सभी ग्रन्थ हमें इन्द्रियोंके विषयोंसे विमुख रखनेके लिये पर्याप्त प्रेरणा प्रदान करते हैं। शास्त्रोंमें मानव-जीवनके जिन चिरन्तन नैसर्गिक रहस्योंको प्रकट करनेकी चेष्टा की गयी है, उनकी प्रासङ्गिकताको स्पष्ट करते हुए यह तो कहना ही पड़ेगा कि मनुष्य अपनी वासनाओंकी सूक्ष्म जंजीरोंमें जकड़ा हुआ उत्पन्न होता है और यदि वह उन वासनाओंकी जंजीरोंसे अपनेको मुक्त नहीं करता, तो वह इस जगत्‌में जीते हुए भी मानव-जीवनकी सार्थकता एवं कृतार्थतासे दूर ही रह जाता है। वह जीवन तो प्राप्त

स व्यक्तिमें आत्मसम्मानका स्थायीभाव भलीभाँति होकर उच्च आदर्शके साथ सम्बद्ध हो जाता सका व्यक्तित्व ऊँचा हो जाता है। आदर्श जितना , व्यक्तित्व उतना ऊँचा। इसीलिये ऋषियोंने कहा —'दीर्घं पश्यत मा ह्रस्वम्'। (वसिष्ठस्मृति)

मनुष्यकी चित्तवृत्तिके तीन पहलू होते हैं— त्मक, क्रियात्मक और भावात्मक। चरित्रके उद्गम- पर चलते हैं तो ज्ञात होता है कि संवेदनाओं कल्पनाओंसे भाव, प्रबल भावोंसे संवेग और यीभाव बनते हैं। संवेग मनकी क्रियमाण अवस्था है स्थायीभाव अनेक प्रकारकी क्रियाओंका परिणाम। ीभावोंका समुच्चय ही सर्वोच्च स्थायीभाव—आत्म- नके स्थायीभावसे नियन्त्रित होकर चरित्र बनता चरित्र मनुष्यकी क्रियाओंको अनुप्रेरित करता है। में ऐच्छिक तथा अनैच्छिक—सभी क्रियाएँ समाविष्ट इनमें केवल ऐच्छिक क्रियाएँ व्यवसायमें गिनी जाती व्यवसाय(यत्न)का प्रारम्भ ज्ञानसे होता है। ज्ञानके द इच्छा आती है। व्यवसाय तभी होगा, जब किसी के ज्ञानके साथ इच्छा हो और इच्छाके साथ भी यह स हो कि वह वस्तु हमें प्राप्त हो सकती है। त्मक अनुभवके चार सोपान कहे जा सकते हैं। त. पर्यावरणके ज्ञानके साथ पूर्तिकी सम्भावना- से प्रयोजन उत्पन्न हो जाता है। द्वितीयतः एक नन्तर दूसरा प्रयोजन आता है और द्विविध संघर्ष होता है। प्रयोजनोंकी एक समष्टि बन जाती है। आदर्श 'स्व'को केन्द्र बनाकर प्रयत्न विकीर्ण है। जिस प्रयोजनके साथ प्रयत्न सम्बद्ध हो है, वह प्रबल हो जाता है। चतुर्थ सोपानमें प्रबलके प्रयोजनोंका परित्याग हो जाता है और कार्यान्वित होनेके लिये तैयार हो जाता है। व्यक्तिके सम्बन्धमें यह सिद्धान्त स्थिर हो है कि उच्च आत्मबल परिस्थितिसे श्रेष्ठ है और वह जाता है।

मनुष्यके आचरणका सचालन या तो उसकी मूल प्रवृत्तियाँ करती हैं या उसके स्थायीभाव। स्थायीभावका रूप धारण करके ही मनुष्यके विचार उसके आचरणको प्रभावित करते हैं। जिनके आचरण नैसर्गिक रूपसे होते हैं, मूल प्रवृत्तियोंमें बिना परिवर्तन किये होते हैं, उनके लिये सदाचारका प्रश्न ही क्या ! इसीलिये हम पशुके आचरणमें सदाचारका प्रश्न नहीं उठाते। अबोध बालकमें भी न अधिक विचार करनेकी शक्ति होती है, न वह अपनी क्रियाओंको आत्मनियन्त्रित करनेकी चेष्टा कर सकता है और न हम उसके सदाचार दुराचारका विशेष विचार करते हैं। उसका 'अहं' भाव, शरीर और उसके आसपासकी कुछ वस्तुओंतक सीमित रहता है। जैसे-जैसे वह प्रौढ़ होता है, वैसे वैसे उसका 'अहं' भाव विस्तृत होता जाता है और उसमें न केवल वस्तुओंकी संख्या बढ़ती जाती है, वरन् उसमें अनेक प्रकारके सिद्धान्त भी समाविष्ट होते जाते हैं। केवल विचार ऊँचे होनेसे कोई सदाचारी नहीं हो जाता। विचार जबतक स्थायीभावका रूप धारण नहीं करते, तबतक आचरणको प्रभावित नहीं कर पाते। जहाँ कोई आपत्ति आयी कि उसकी बुद्धि विचलित हुई। उसका विवेक उसे करनेको कुछ और कहता है, किंतु वह करने कुछ और लगता है। ऐसी ही स्थितिमें दुर्योधनने कहा था—'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति र्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।' ([illegible])

'मैं जानता हूँ कि धर्म, सदाचार क्या है। किंतु उसमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती और यह भी जानता हूँ कि यह अधर्म—दुराचार है, किंतु उससे निवृत्ति नहीं होती।' इस प्रकार विचार करनेसे ज्ञात होता है कि जिस मनुष्यके सिद्धान्त ऊँचे होते हुए भी स्थायीभावका रूप ग्रहण नहीं करते, वह अपने राग-द्वेषपर नियन्त्रण नहीं कर पाता और अवसर आनेपर वह मनुष्यकी मूल प्रवृत्तियोंसे ही परिचालित हो जाता है। राग-द्वेषके

करता है जिससे वह महाभयंकर रोगोंका बन जाता है।

(८) छल-कपट—कपट करनेवाला व्यक्ति भी रूपसे हिंसा ही करता है। परंतु उसकी हिंसा करनेकी मायामय कपट पूर्ण होनेसे दिखायी नहीं देती। साधारण विष-जैसी होती है। इससे ऐसे मनुष्य ऊपर वर्णित हिंसावाले व्यक्तिके समान ही रोगोंका त्र बन जाते हैं। परंतु उसे जो रोगोंका दण्ड ता है, वह धीरे-धीरे असर करनेवाले विषके समान ही होता है। [अलग-अलग सामान्य तथा महान् रोगोंसे पीडित बहुत-से लोगोंका जीवन मैंने देखा है। उनके पिछले कार्योंका मैंने अनुसंधान किया है, अवलोकन किया है, उनका सारांश और शास्त्रोंमें जो 'पाप और उसका फल' वर्णित है, उसके साथ तुलना करके ये बातें लिखी गयी हैं। इसमें भूल हो तो क्षमा चाहता हूँ। रोगोंसे सम्बन्धित वैज्ञानिक कारण कोई स्पष्ट समझायेगा तो लोक-कल्याणकी दृष्टिसे मेरा श्रम सफल होगा।]

सुख-समृद्धि एवं आरोग्यका मूलाधार—सदाचार

(लेखक—आचार्य श्रीवृजमोहनजी दधीच)

ढ़द स्वास्थ्य, अप्रतिम सौन्दर्य, अक्षत यौवन दीर्घ आयुष्यके लिये सदाचार मानो अमृत है। रतीय आचार सर्वथा वैज्ञानिक है तथा स्वास्थ्यको ढ़ कर दीर्घायु प्रदान करनेवाला है। महर्षि चरकका थन है कि मानव केवल शरीरमें विकार उत्पन्न होनेसे ी रुग्ण नहीं होता; मन, प्राण एवं आत्मामें विकार त्पन्न होनेसे भी वह रोगी हो जाता है। चित्तको निर्मल खने तथा मन-प्राण एवं जीवात्माको रोगोंसे बचानेके लिये 'चरक'-सूत्रस्थानके आठवें अध्यायमें जो प्रतिबन्धात्मक दिये हैं, वे विश्वके सभी धर्मों तथा मानवमात्रके लिये परम कल्याणकारी हैं। इन निर्देशोंपर चलनेवाला सुख-समृद्धि एवं अक्षय आरोग्यको निश्चित प्राप्त करता है।

नानृतं ब्रूयात्—कभी असत्य न बोले। नान्यस्त्रियमभिलषेत्—पर-स्त्रीकी अभिलाषा न करे। नान्यस्वमभिलषेत्—किसी अन्यके धनकी इच्छा न करे। न वैरं रोचयेत—किसीसे भी शत्रुताकी इच्छा न रखे। न कुर्यात् पापम्—कभी पाप-कर्म न करे। नान्यदोषान् ब्रूयात्—दूसरोंके दोष-दुर्गुणोंका बखान न करे। नान्यरहस्यं गायेत—किसीकी भी गुप्त बातको प्रकट न करे। नाधार्मिकः स्यात्—कभी भी अधर्मपथपर न चले। न नरेन्द्रद्विष्टेन सहासीत—राजद्रोहीके साथ न बैठे। नोन्मत्तैर्न पतितैर्न भ्रूणहन्तृभिर्न क्षुद्रैर्न दुष्टैः सहासीत्—उन्मत्त, पतित, भ्रूणहत्यारे, क्षुद्र एवं दुष्टका सङ्ग न करे। न पापवृत्तान् स्त्रीमित्रभृत्यान् भजेत—पापवृत्तिवाले, मित्र, स्त्री एवं भृत्यका ग्रहण न करे। न धार्मिकैर्विरुध्येत्—धार्मिक लोगोंका विरोध न करे। नावरानुपासीत—नीचोंका सङ्ग छोड़ दे। न जिह्मं रोचयेत—जीभसे कटु वचन न कहे। नानार्यमाश्रयेत—अनार्य पुरुषका आश्रय न ले। न संतो न गुरून् परिवदेत्—संतों एवं गुरुजनोंकी निन्दा न करे। न साहसातिस्वप्नप्रजागरस्नानदानाशनान्यासेवेत्—अतिसाहस, निद्रा, जागरण, स्नान, दान, खान-पानसे बचे। नातिसमयं भिन्द्यात्—समय एवं मर्यादाका उल्लङ्घन न करे। न गुह्यं विवृणुयात्—गुप्त बातें प्रकट न करे। नाहम्मानी स्यात्—अभिमानी न बने। न बातिब्रूयात्—ज्यादा बकवाद न करे। नाधीरो नात्युच्छ्रितसत्त्वः स्यात्—अधीर एवं अस्थिर-चित्त न हो।

सब दोषों तथा रोगोंको आकर्षित करके लानेवाला बलवान् लोहेका चुम्बक है। अभिमानी व्यक्ति वायु, पित्त और कफके छोटे-बड़े अनेक रोगोंसे दुःखी रहता है।

(४) ईर्ष्या—ईर्ष्या करनेवाले मनुष्यमें पित्त बढ़ जाता है, जिससे उस मनुष्यकी इन्द्रियोंकी तेजस्विता नष्ट हो जाती है। ऐसे मनुष्यकी बुद्धि और हृदय पित्तके तेजाबमें जल जाते हैं एवं वह किसी काममें प्रगति नहीं कर पाता है। ऐसे मनुष्य पित्त, पथरी, जलन, जीवर-खराबी आदि रोगोंसे दुःखित रहते हैं।

(५) दम्भ—दम्भी लोग कफ*के प्रमाणमें गड़बड़ उत्पन्न करते हैं। उनके दम्भी स्वभावसे उनमें कफके समान भारीपन आ जाता है। उनकी समस्त इन्द्रियाँ तेजस्विता छोड़कर स्थूल होती जाती हैं। शरीरकी बुरी बनावट, भारीपन, गैस और इसी प्रकार कफजन्य अनेक रोग दम्भके कारण ही होते हैं।

(६) क्रोध—बिगड़े हुए मनसे अशक्य-जैसी अनेक कामनाओंके पूर्ण न होनेसे अथवा उनमें विघ्न आनेसे क्रोध उत्पन्न होता है। क्रुद्ध मनुष्य दूसरेकी हानि कर सकेगा या नहीं यह तो दैवाधीन है; परंतु सर्वप्रथम वह स्वयंकी भी हानि करता ही है। क्रोध करनेमें मनुष्यके मस्तिष्कको अपने बहुमूल्य एवं अधिक ओजःशक्तिका उपयोग करना पड़ता है। इस प्रकार अमूल्य ओज नष्ट हो जाता है और परिणामस्वरूप जीवनशक्ति नष्ट होती चली जाती है। तदुपरान्त क्रोधके मस्तिष्कमें आते ही ओजके विशाल एवं विकृत प्रवाहसे मस्तिष्कके ज्ञानतन्तु क्षीण हो जाते हैं। बिजलीका प्रवाह घरमें लगे हुए बल्बको प्रामाणिक मात्रामें आनेपर तो जलाता है, परंतु अधिक मात्रामें आनेपर बल्बको नष्ट कर देता है और कभी-कभी तो घरको भी हानि पहुँचाता है। इससे रक्षा पानेके लिये घरके बाहर फ्यूजकी व्यवस्था की जाती है। [illegible] और विवेक ही हमारे फ्यूज हैं। इन्हें त्याग दें [illegible] ओजका अत्यधिक प्रवाह क्रोधके रूपमें उत्प[illegible] जाता है और मस्तिष्कके कितने ही मार्गोंको [illegible] डाल देता है। विशेषरूपसे क्रुद्ध मस्तिष्क[illegible] अधिक मात्रामें रक्तकी आवश्यकता पड़ती है। [illegible] रक्तराशि मस्तिष्ककी ओर जानेवाले लघु रक्तवाह[illegible] खींच लेता है। क्रोधी मनुष्यके मुख और आँखें कैसी [illegible] हो जाती हैं, यह सबको अनुभव होगा। हँसते सम[illegible] मुँह लाल होता है। यह मुँहकी समग्र पेशियोंके विकसि[त] होनेसे, उनमें हृदयकी ओरसे खून खिंच आनेसे तथा उन्हें विशेष शुद्ध खून मिलनेसे होता है। वैसे ही पेशियाँ पुलकि[त] होनेसे यह लालिमा लाभप्रद है और सौन्दर्यवर्धक भी है। परंतु ठीक इसके विपरीत क्रोधीकी शक्ल बिगड़ जाती है और बुद्धि, बल भी धीरे-धीरे उसके क्षीण होने लगते हैं।

(७) हिंसा—हिंसा क्रोध और अभिमानसे उत्पन्न होती है। इसमें प्रवृत्त रहनेवाले व्यक्तिका रक्त सदा खौलता व गर्म रहता है। हिंसामें मस्तिष्क और हृदय दोनों गंदे होते हैं। अभिमान और क्रोधसे उत्पन्न रोगोंके उपरान्त ऐसे मनुष्यको हृदयसे उत्पन्न रोग भी होते हैं। पराया दुःख देखकर जो हृदय एकदम नरम बनकर द्रवित होने लगता है, वही हृदय अपने दुःखोंके सामने वज्र-जैसा कठोर भी बन जाता है। यह हृदयकी सत्य और वास्तविक स्थितिका गुण है। हिंसावाले मनुष्यके हृदयके यह गुण नष्ट हो जाते हैं। वह लोगोंका दुःख देखकर हँसता है और अपने ऊपर दुःख पड़नेपर निम्नश्रेणीका भीरु बन जाता है। तत्पश्चात् हृदयमें और सम्पूर्ण शरीरमें गर्म रक्त भ्रमण करनेसे शरीरमें वायु, पित्त और कफ इन तीनोंको

* कित्रु अथर्ववेदविधि ...

... है।

नैकः सुखी—अपने ही सुख न चाहो। न मद्यद्यूतवेश्याप्रसङ्गरुचिः—शराब, जुआ, वेश्यागमनमें (तनिक भी) रुचि न ले। नबालवृद्धलुब्धमूर्खक्रूरक्लीबैः सह सख्यं कुर्यात्—बालक, वृद्ध, लोभी, मूर्ख, क्रूर एवं नपुंसकके साथ मैत्री न करे। न सर्वविश्रम्भी—हर एकपर विश्वास न करे। न सर्वाभिशङ्की—हर एकको शङ्काकी दृष्टिसे न देखे। न कार्यकालमतिपातयेत—कामको न टाले। नापरीक्षितमभिनिविशेत्—अपरीक्षित जल-स्थलमें प्रवेश न करे। न चानिदीर्घसूत्री स्यात्—दीर्घसूत्री न बने। न बुद्धीन्द्रियाणामतिभारमादध्यात्—बुद्धि, मन तथा इन्द्रियोंपर अधिक भार न डाले। न वीर्यं जह्यात्—वीर्यशक्ति नष्ट न करे। नापवादमनुस्मरेत—अपनी निन्दा (अपमान)का स्मरण न करे। प्रकृतिमभीक्ष्णं न विस्मरेत—अपने गुण, कर्म, स्वभाव (प्रकृति)को न भूले, उसके विपरीत आचरण न करे। न सिद्धावुत्सेकं गच्छेन्नासिद्धौ दैन्यम्—सफलतामें गर्व तथा असफलतामें दीनता न दिखाये।

महर्षि चरकने अकाल मृत्युसे बचनेके लिये भी सदाचारका अवलम्बन अनिवार्य माना है। उनके निर्देश हैं कि सुख, सौभाग्य, समृद्धि, आरोग्य-प्राप्तिके लिये निम्नलिखित नियमोंका पालन अनिवार्य है— (१) सदैव ब्रह्मचर्यका पालन करो, (२) ज्ञानी, दानी एवं परोपकारी बनो, (३) सबका [illegible] करो, (४) सदा प्रसन्न रहो, (५) [illegible] बचो, (६) मन एवं इन्द्रियोंको वशमें कर [illegible] धारण करो, (७) सायं-प्रातः दोनों समय स्नान [illegible] (८) चरण एवं गुदाङ्ग सदैव स्वच्छ रखो, ([illegible]) पक्षमें केश तथा नखोंको साफ करो, (१०) [illegible] वस्त्र ही पहनो, (११) मनको शान्त बनाये [illegible] (१२) पुष्प, इत्र, सुगन्ध धारणकर सत्कर्म [illegible] फैलाओ, (१३) सज्जनता कभी न त्यागो, ([illegible]) सिर, नाक, कान, पाँवमें नित्य तैलमर्दन करो, ([illegible]) अतिथिका स्वागत करो, (१६) दुःखियोंकी [illegible] करो, (१७) सदैव यज्ञ करो, (१८) [illegible] एवं गुरुका सम्मान करो, (१९) कम बोलो, [illegible] खाओ, पवित्र अन्न खाओ, (२०) मधुर हितकारी [illegible] शब्दोंका प्रयोग करो, (२१) मन, बुद्धि, [illegible] अहंकारको आत्माके वशमें कर [illegible] (२२) धर्मका प्रचार करो, अधर्मसे बचो, (२३) फलासक्तिको त्यागकर पुरुषार्थ करो, (२४) [illegible] रहित रहो, निर्भय, बुद्धिमान्, उत्साही, दक्ष, [illegible] क्षेत्रके पथिक बनो और (२५) राग-द्वेष एवं [illegible] कारणोंसे दूर रहकर मुस्कराते रहो। इस [illegible] ही पूर्णायु प्रदान करता है।

प्रबोध

मन ! तैं जनम पाइ कहा कीनो ?
उदर भरनो कूकर सूकर लौं, प्रभु को नाम न लीनो॥
श्रीभागवत सुनी नहिं श्रवननि, गुरु गोविंद नहिं चीनो।
भाव भक्ति कछु हृदय न उपजी, मन विषया मैं दीनो॥
झूठौ सुख अपनौ करि जान्यौ, परस प्रिया कैं भीनो।
अघ को मेरु बढ़ाइ अधम ! तू, अंत भयो बलहीनो॥
लख चौरासी जोनि भरमि कै फिरि वाही मन दीनो।
सूरदास भगवंत भजन बिनु [illegible]॥

—सूरदास

सदाचार और संस्कार

(लेखिका—श्रीमती मञ्जुश्री एम्० ए०, साहित्यरत्न, रामायण-विशारद)

न् उपसर्गसे परे सुट्के आगमपूर्वक कृ धातुसे घञ् करनेसे 'संस्कार' शब्द बनता है। इसका अनेक अर्थोंमें किया जाता है। मीमांसकगण 'यज्ञाङ्गभूत पुरोडाश आदिकी विधिवत् शुद्धि' करते हैं। संस्कृत-साहित्यमें इसका व्यापक प्रयोग शिक्षा, संस्कृति, सौजन्य, व्याकरण-सम्बन्धी , परिष्करण, शोभा, आभूषण, प्रभाव, स्वरूप, , क्रिया, धार्मिक विधि-विधान, अभिषेक, विचार, , धारणा, कार्यका परिणाम, क्रियाकी विशेषता अर्थोंमें इसका प्रयोग मिलता है। इन अर्थोंमें रके प्रयोगसे उसका सदाचारसे निकटतम सम्बन्ध ज्ञात है और वे अर्थ अधिकांशतः सदाचारके पर्यायसे हैं। साधारणतः व्यावहारिक रूपमें संस्कारका अर्थ —पवित्र धार्मिक क्रियाओंद्वारा व्यक्तिके दैहिक, सिक, बौद्धिक और मुख्यतः आत्मिक परिष्कारके किये जानेवाले अनुष्ठान, जिनसे व्यक्ति अपने जीवनको पूर्ण विकसित करके समाजका अभिन्न सदस्य ते हुए मोक्षकी ओर अग्रसर हो।

विवाहादि संस्कारोंके अङ्गभूत विधान, आचार, संस्कार आदिके नियम प्रायः विश्वके सभी देशोंमें पाये जाते हैं। प्राचीन संस्कृतियोंमें इनका स्थान प्रतिष्ठित है। र सभी आधुनिक धर्मोंमें भी कुछ संस्कारोंका प्रचलन हो गया है, किंतु वेदों तथा गौतम आदि स्मृतियोंके अनुसार हमारे यहाँ संस्कारोंकी संख्या ४८ तक रही है। इन्हींमेंसे विवाहादि कुछ मुख्य संस्कारोंका विस्तृत रूप विदेशोंमें भी गया। यहाँ भारतीय संस्कारोंमें स्वच्छता एवं पवित्रताका विशेष महत्त्व सदासे रहा है।

किसी राष्ट्रमें सुसंस्कृत सदाचरित वातावरण—र अनिवार्य विधि या संविधानद्वारा नहीं लाया जा सकता, जबतक कि वह जनसामान्यके मनको आकर्षित न करे और जनसामान्य भी ये बातें न समझे और उनका आदर न करे। इसके लिये आवश्यक है कि व्यक्ति गर्भसे ही सुसंस्कृत हो। यह कार्य आध्यात्मिक संस्कार ही करता है। देशके अपने मूल्यों और प्रतिमानोंके प्रति आस्था और विश्वास उत्पन्न करनेके लिये प्रयत्न-पूर्वक संस्कार करना पड़ता है, तभी सामाजिक नीतियों और मूल्योंका विकास होता है। संस्कार जीवनके विभिन्न अवसरोंको महत्त्व और पवित्रता प्रदान करते हैं। वे इस विचार-दृष्टिपर बल देते हैं कि जीवनके विकासका प्रत्येक चरण केवल शारीरिक क्रिया नहीं है; किंतु उनका सम्बन्ध मनुष्यकी बौद्धिक, भावनात्मक और आत्मिक अभिव्यक्तिसे है, जिनके प्रति मनुष्यको सदैव जागरूक रहना चाहिये। अतः संस्कार जीवनके संघटनोंको शरीरकी दैनिक आवश्यकताओं और आर्थिक व्यापारके समान अनाकर्षक, चमत्कारहीन और जीवन-के भावुक संगीतसे रहित होनेसे बचाते हैं और इस प्रकार वे सदाचारपूर्ण जीवनमें दीप्ति एवं रोचकता भर देते हैं। संस्कार ही सदाचारकी नींव होते हैं।

प्राचीन समाजशास्त्र-ऋषियोंने मनुष्यको सहजगत्या विकासके लिये छोड़ देनेकी अपेक्षा विचारपूर्वक वैयक्तिक चरित्रको पूर्वनियोजित समाजमें ढालनेकी आवश्यकताका अनुभव किया और इस प्रयोजनकी पूर्ति उन्होंने संस्कारोंद्वारा की। संस्कार जीवनके प्रत्येक भागको व्याप्त कर लेते हैं। इतना ही नहीं, जन्मसे पूर्व तथा मृत्युके बादके भी संस्कार हैं। जीवनके आरम्भसे ही व्यक्ति इनके प्रभावमें आ जाता है और इस प्रकार एक सुदृढ़ व्यक्तित्व तैयार होता है।

कहनेका तात्पर्य यह कि संस्कार सदाचारके पोषक हैं और ये व्यक्ति, समाज, राष्ट्र सभीके लिये अनिवार्य

से हैं। साधारणतः संस्कारोंको निम्नलिखित भागोंमें बाँटा जा सकता है—देह-प्राणजन्य संस्कार, बाल्यावस्थाके संस्कार, जीवनके शैक्षणिक संस्कार, विवाह-संस्कार और अन्त्येष्टि-संस्कार। विभिन्न ग्रन्थोंमें संस्कारोंकी विभिन्न संख्याएँ दी गयी हैं। सम्प्रति विशेष प्रसिद्ध संख्या सोलह है। जनसाधारण भी षोडश संस्कार ही मानते हैं। परवर्ती स्मृतियोंमें षोडश संस्कारोंकी सूची इस प्रकार दी गयी है। (इसमें कुछ भेद भी है।) आश्वलायन-स्मृतिके अनुसार ये संस्कार निम्नलिखित हैं—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्त, जातकर्म, नाम-करण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, वपनक्रिया, कर्णवेध, व्रतादेश, वेदारम्भ, केशान्तस्नान, उद्वाह, विवाहाग्नि-परिग्रह तथा अन्त्येष्टि।

गर्भधारणका निश्चय हो जानेके पश्चात् गर्भस्थ शिशुको पुंसवन नामक संस्कारद्वारा अभिषिक्त किया जाता था। पुंसवनका अभिप्राय उस कर्मसे था, जिसके अनुष्ठानसे पुरुष-संततिका जन्म हो। इस अवसरपर पठित तथा गीत पवित्र ऋचाओंमें दधि, माष, यव, पानका उल्लेख किया गया है। इस समय विधि-विधानरूपमें किये गये कार्य (जैसे वटवृक्ष, सहदेवी, विश्वदेवी आदि ओषधियोंके रसका प्रयोग) गर्भावस्थाके समस्त कष्टोंको भी हटाते थे। सीमन्त या सीमन्तोन्नयन-संस्कारमें गर्भिणी स्त्रीके केशोंको ऊपर उठाया जाता था। इस अवसरपर पठित ऋचाओंसे प्रकट होता है कि इस संस्कारका प्रयोजन माताके ऐश्वर्य तथा अनुत्पन्न शिशुके लिये दीर्घायुकी प्राप्ति था। गर्भिणी स्त्रीको यथासम्भव हर्षित एवं उल्लसित रखनेका प्रयोजन इस बातसे ज्ञात होता है कि स्वयं पति उसके केशोंको सजाने-सँवारनेका कार्य करता था। ये संस्कार केवल प्रथम गर्भमें ही होते थे।

जातकर्मसंस्कारका प्राकृतिक आधार प्रसवजन्य शारीरिक आवश्यकताओं तथा परिस्थितियोंमें निहित था, जो माता और शिशुकी रक्षा तथा शुद्धिके सांस्कृतिक उपायोंसे भी संयुक्त हो गया। विकास-वादके अनुसार सभ्यता, भाषा एवं चेतनाके विकासकी प्रारम्भिक अवस्थामें मनु[illegible] करणकी आवश्यकताका बोध हुआ। किंतु [illegible] अपौरुषेय वेदद्वारा निर्दिष्ट होनेके कारण आरम्भसे ही इसे धार्मिक संस्कारमें परिगणित [illegible] हैं। सामान्यतः नामकरण-संस्कार शिशु-जन्म[illegible] ग्यारहवें दिन सम्पन्न किया जाता है। इस दि[illegible] प्रक्षालित एवं शुद्धकर यज्ञादिद्वारा वातावरण पवि[illegible] जाता है। जन्मके डेढ़-दो मास बाद वह प्रथम [illegible] द्वारा सूर्यदर्शनके लिये गृहसे बाहर लाया जाता [illegible] समय उसकी रक्षाके लिये देवताओंसे प्रार्थना की जा[illegible]

धीरे-धीरे शिशुके शारीरिक विकासके स[illegible] उसके भोजनकी मात्रा भी बढ़ती जाती है। प्राय[illegible] वर्ष बाद शिशुको मातासे दूध पर्याप्त मात्रा[illegible] नहीं होता, अतः माता एवं शिशु दोनोंकी श[illegible] स्वस्थताकी दृष्टिसे उसका अन्नप्राशन-संस्कार [illegible] है। इस समय शिशुकी समस्त इन्द्रियोंकी सं[illegible] लिये प्रार्थना की जाती है, जिससे वह सुखी तथा [illegible] जीवन व्यतीत कर सके। साथ ही वह संतुष्टि एवं तृ[illegible] खोजमें स्वास्थ्य और नैतिकताके नियमोंका सदा [illegible] रखे—इस बातपर भी बल दिया जाता था। आ[illegible] पहननेके लिये कान और नाकके छेदनेकी प्रथा [illegible] अति प्राचीन कालसे है। सुश्रुतने कई रोगों—जैसे अ[illegible] वृद्धि, अन्त्रवृद्धि आदि रोगोंसे रक्षा आदिके लिये क[illegible] वेधको उपयोगी बताया है। इस दिन पहले देवता[illegible] तथा गौओंका पूजन किया जाता था, फिर वैद्य बालक[illegible] कर्णच्छेदन करता था। अन्तमें ब्राह्मणों, ज्योतिषियों [illegible] वैद्यको दान-दक्षिणा दी जाती थी। इसके बाद मि[illegible] और सम्बन्धियोंका सत्कार किया जाता था, जिस[illegible] शुद्ध सामाजिक सम्बन्धोंकी नींव दृढ़ हो।

बालकके अक्षरारम्भ एवं शिक्षाका प्रारम्भ वाद[illegible] होता था। इसके लिये कोई शुभ दिन [illegible] किया जाता

। उस दिन आरम्भमें मातृपूजन, आभ्युदयिक तथा अन्य आवश्यक कृत्य किये जाते थे। तब ... अग्निकी प्रतिष्ठा कर विद्यार्थीको आमन्त्रित ग्निके पश्चिममें बैठाया जाता था। इसके पश्चात् ग आहुतियाँ दी जाती थीं। सभी वेदोंकी अलग-आहुतियाँ होती थीं। इसके अतिरिक्त ब्रह्म, वेदों प्रजापतिके लिये आहुतियाँ दी जाती थीं। अन्तमें ये ब्राह्मण पुरोहितको पूर्णपात्र और दक्षिणा देकर । अध्यापन आरम्भ करते थे। शिक्षाका यह उन बालकके मन एवं आत्मामें शिक्षाके प्रति पूर्ण रुचि न करता था। इस संस्कारमें मनोवैज्ञानिकता थी।

केशान्तसंस्कार भी चार वैदिक व्रतोंमेंसे एक था। ं प्रथम तीन व्रत अपने जीवनके वैदिक स्वाध्याय-निर्भर थे, जब कि केशान्त-अनिवार्यता विद्यार्थीके ना तथा संयमपूर्ण व्यवहारसे सम्बद्ध था। यह कार सोलह वर्षकी आयुमें सम्पन्न होता था। इसमें त्रके दाढ़ी, मूँछ, सिरके बाल और नख जलमें फेंक ये जाते थे। इसके पश्चात् ब्रह्मचारी गुरुको एक गैका दान करता था। संस्कारके अन्तमें उसे मौनव्रतका पालन करना होता था, फिर एक वर्षतक उसे कठोर अनुशासनमें रखा जाता था। स्नान या समावर्तन संस्कार ब्रह्मचर्यके समाप्त होनेपर सम्पन्न किया जाता था। समावर्तनका अभिप्राय है—वेदाध्ययनके बाद गुरुकुलसे गृहकी ओर प्रत्यावर्तन। इसे वेदस्नान भी कहते हैं। यह कार्य अध्ययन सम्पन्नता-सूचक महत्त्वपूर्ण संस्कार था। विद्यार्थी-जीवनके अन्तमें किया जानेवाला सांस्कारिक स्नान विद्यार्थीके द्वारा विद्यासागरको पार करनेका भी प्रतीक था। विद्या एवं गुरुके प्रति निष्ठा तथा संयमका महत्त्व इस संस्कारसे अनायास ही अवगत हो जाता था।

विवाहाग्नि-परिग्रह-संस्कारका हिंदू-संस्कारोंमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। अति प्राचीनकालसे विवाहकी मान्यता है। विवाह स्वयं एक यज्ञ माना जाता था। तैत्तिरीयब्राह्मणमें अपत्नीक पुरुषको अयज्ञीय या यज्ञहीन कहा गया है। स्मृतियाँ आश्रमव्यवस्थाका पूर्ण समर्थन करती हैं तथा गृहस्थाश्रमको अनिवार्य बताती हैं। अनेक कारणोंसे विवाहको अत्यधिक आदरकी दृष्टिसे देखा जाता है। विवाह दाम्पत्य-जीवनको कामोपभोगकी आसक्तिसे दूरकर विवेकपूर्ण मर्यादित मार्गके अनुसरणपर बल देता है। विवाह पति-पत्नीसम्बन्धको वासना-गर्तसे यथासम्भव बचाता है। विवाहित जीवन उत्तरदायित्वोंका जीवन है। दम्पतिपर परिवार, समाज, राष्ट्र—सभीके महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व हैं। इन्हें वे अत्यन्त विवेकपूर्ण, संयमित, सदाचरित जीवन व्यतीत कर ही निभा सकते हैं। विवाह सामाजिक दृष्टिसे तो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ही, आध्यात्मिक दृष्टिसे भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। विशुद्ध प्रेमके स्वरूपका बोध इस संस्कारद्वारा होता है। विवाहके बन्धनमें बँधकर पति-पत्नीका प्रेम अन्धकामुकतासे बहुत दूर समर्पणमय होता है। यह प्रेम परमेश्वर-प्राप्तिका साधन है और इसका ज्ञान विवाहद्वारा ही होता है। विवाह सभी दृष्टियोंसे सम्पूर्णतः गृहस्थधर्मको पावनता, शुचिता प्रदान करता है। जीवन धर्मक्षेत्र है। व्यक्ति विवाहके बाद ही जीवनके कर्मानुष्ठानमें सम्पूर्णतः भाग लेता है।

हिंदू-जीवनका अन्तिम संस्कार अन्त्येष्टि-संस्कार है। व्यक्तिके इस संसारसे प्रस्थान करनेपर उस व्यक्तिके जीवित सम्बन्धी परलोकमें उसके भावी सुख एवं सुगतिके लिये मृत्यु-संस्कार करते हैं। धार्मिक दृष्टिकोणसे यह संस्कार इसलिये महत्त्वपूर्ण है कि हिन्दुओंके लिये इस लोककी अपेक्षा परलोकका मूल्य उच्च है। 'बौधायनपितृमेधसूत्र'में कहा गया है—'यह सुप्रसिद्ध है कि जन्मोत्तर संस्कारोंके द्वारा व्यक्ति इस लोकको जीतता है और मरणोत्तर संस्कारद्वारा उस लोकको। पुनर्जन्मके भावी सुखके लिये पर

[illegible]

सहिष्णुता और सदाचार

(लेखिका—कु० निर्मल गुप्ता, [illegible])

महाकवि कालिदासने कहा है—

'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतांसि त एव धीराः।'
(कुमारसम्भव १ । ५९)

'विकारके कारण उपस्थित होनेपर भी जिन महापुरुषोंका मन विकृत नहीं होता, वे ही धीर पुरुष हैं।' मानव पूर्णशक्ति सत्-चित्-आनन्द परमात्माका अविभक्त अंश है, अतः स्वतः स्वभावतः अपने अनजानेमें ही उस अविरल आनन्दस्रोतकी खोजमें तत्पर रहता है, परंतु इस छोटेसे जीवनमें अनेक विकारोंका पात्र बनकर वह अनजानेमें ही अपने स्रोतको भी भूला रहता है, कभी मार्गसे भटक भी जाता है, फलतः आनन्दसे दूर रहता है। इस प्रकार समय-समयपर अनेक विकारोंका कोप-भाजन बनकर साधारण मानव अपने बहुमूल्य जीवनकी इतिश्री कर बैठता है। क्रोध इन विकारोंमें प्रबलतम विकार है।

मनके प्रतिकूल कुछ भी होनेपर मनमें जो एक प्रकारका उद्वेग अपने-आप दूसरोंके प्रति उभर आता है उसे क्रोध कहते हैं। जीवनमें प्रतिकूलताकी कमी नहीं, अतः क्रोधकी भी अवसर है। पर इसी संसारमें कुछ ऐसे भी महापुरुष होते हैं, जो जीवनमें भगवद्भक्ति एवं अध्यात्मसे सम्पन्न होते हैं। आनन्दके अविभक्त अंश होनेके कारण वे परम शान्त, परम [illegible] रहते हुए सभी प्रकारके विकारोंसे स्वभावतः जन्मसे ही उपरत रहते हैं। पृथ्वीतलपर इन महापुरुषोंका आविर्भाव स्वयं आनन्द-सागरमें निमग्न रहकर कुछ और संस्कारी जीवोंको इस खोजमें तत्पर करना होता है। भक्त कवि जयदेव, महाप्रभु चैतन्यदेव, महामना मालवीयजी प्रभृति इसी कोटिके मुक्तजीव थे। आज भी हमलोगोंके मध्य कुछ इस कोटिके पुरुष हैं, जिन्हें आगामी पीढ़ियाँ आनन्द-स्रोतके रूपमें स्मरण करेंगी। ऐसे मुक्त जीवोंके जीवन-प्रसङ्गमें क्रोध या अन्य किसी विकारका प्रश्न ही नहीं; क्योंकि उनका जीवन किसी भी संसारी स्वार्थका सम्पादन करनेके हेतु होता ही नहीं। उनकी प्रत्येक चेष्टा, प्रत्येक कार्य, प्रतिपल-प्रतिक्षण उन प्रियतम प्रभुकी आराधना है, पूजा

ो, गे ऐसे विकारोंसे परे सुन्दर, स्वच्छ और आनन्दमय
ो, परंतु वे आदर्श जीवन गिने-चुने हैं। इसके लिये
कुछ कठोर है, न विचारणीय। इसके अतिरिक्त ऐसे
ऐसे जीव भी होते हैं, जो आनन्दसागरकी ओर
उन्मुख होना चाहते हैं—सत्संगति या पूर्वसंस्कार
न्हें उस प्रशस्त मार्गपर चलनेके लिये समय-समयपर
ते करते रहते हैं। पर मायाबद्ध जीव होनेके कारण
न्म-जन्मान्तर बेचारे अनेक विकारोंके पात्र बन जाते हैं
र कभी-कभी विवेक-बुद्धिसे सम्पन्न होनेपर विकार-
गरके उस पार जानेके इच्छुक होते हैं।

जिज्ञासु व्यक्ति काम-क्रोधसे दूर रह यदि सौभाग्यसे
सिद्ध हो चुका है, यदि वह प्रभु-प्रेमकी प्राप्तिको
वनके अन्तिम उद्देश्यके रूपमें वरण कर चुका है तब
लक्ष्यकी प्राप्ति उसके लिये सुगम हो है। विचारनेकी
त है कि परमानन्द प्रभु कितने सुन्दर, कोमल, मञ्जुल
र सुकुमार होंगे। उन प्रियतम प्रभुके तनिकसे ध्यान-
दर्शन पानेके लिये भी खिले फूलोंके हास-उल्लासको
ने तन-मन-प्राण, दृष्टि और वाणीमें सँजोनेकी
वश्यकता है। संसारका सारा हासोल्लास भी यदि
नी दृष्टिमें सँजोकर उन प्रियतमकी ओर नेत्र उठायें
भी वे लज्जासे झुक-से जायँगे। ऐसी है उन श्रेष्ठ
तमकी मुस्कानयुक्त चितवन। इस छोटे-से जीवनका
क्षण, प्रतिपल भी मिलनकी इस तैयारीके लिये बहुत
है, अतः साधकको प्रमादसे सर्वथा दूर रहना परमा-
क है। तभी वह शाश्वत मधुर मिलन संभव होगा।

प्रमाद या काम, क्रोधादि असमर्थताके ही द्योतक हैं,
हम स्वरूपमें स्थित नहीं हो पाते तो हममें अज्ञानसे काम,
आदि आते हैं। साधकके जीवनमें असमर्थता-विवशता—
कुछ है ही नहीं। जो कुछ वह नहीं कर पा रहा है,
में अपनी इच्छाके व्याहत होनेपर भी स्पष्टतः ही उसके
—प्रियतमकी इच्छा पूर्ण हो रही है। एक व्यक्ति
एक ही वस्तु पूर्णतः चाहता है। कौन चाहता है कि
वह किसी अन्यको चाहे और अपने अभीष्ट स्नेहीरूप पूर्ण
परमात्माकी चाह न करे। फिर एक बात और भी तो
है—वह इतने प्रेमी क्रोध करना ही चाहें तो उन प्रेष्ठ—
प्रियतमपर ही कर लें, क्योंकि वे तो सर्वसमर्थ हैं न! सभी
प्रकारकी इच्छाएँ पूर्ण कर सकते हैं। यह तो हुई प्रेमी
भक्तोंकी बात। उस व्यक्तिकी बात, जो किसीको अपना
प्रेमास्पद बना चुका है। तन-मन-प्राण जब किसीकी
चाहनासे पूर्णतः भर जाते हैं तो विकारोंको स्थान ही
कहाँ रह सकता है!

ज्ञानी साधकके पास यों ही क्रोधके लिये स्थान
नहीं। वह भलीभाँति जानता है कि संसार एक रङ्ग-
मञ्च है, यहाँ विभिन्न पात्र विभिन्न प्रकारके अभिनयोंका
सम्पादन उस सूत्रधारके इङ्गितपर कर रहे हैं। इस
नाटकमें जिन्हीं व्यक्तियोंको यदि मनके प्रतिकूल
आचरणका अभिनय मिला है तो वही ठीक है। किसीकी
प्रतिकूलतापर हमें अपने मनको क्षुब्ध करनेका कोई
औचित्य नहीं। दूसरे, प्रत्येक व्यक्ति अपने पूर्वकर्म
और संस्कारोंके वशीभूत होकर अपने स्वभावके
अनुसार आचरण करता है। संसारके उस रङ्गमञ्चपर
बस, उसे शान्तभावसे सुचारु रूपसे अपना जीवन-
यापन करना है। ऐसे ज्ञानी व्यक्तिका मन स्वतः ही
उस गम्भीर शान्त सागरकी भाँति होगा, जिसमें हजारों
चन्द्रमा भी इकट्ठे उदित होकर ज्वारभाटा नहीं
ला सकते।

यह तो हुई प्रभु-प्रेमी और लक्ष्यबद्ध जीवोंकी
बात। अब साधारण मानवकी बात सोचनी चाहिये।
सामान्य मानवको यदि वह क्रोधसे आविष्ट है तो कुछ
निम्नाङ्कित बातोंपर उसे विचार करना चाहिये।

साधारण मानवको सुखी जीवन जीनेके लिये अपने
घर-परिवार और समाजमें सम्मान-प्यार पानेके लिये
स्वस्थ तन-मनकी आवश्यकता है। जिसका तन-मन
स्वस्थ है, केवल वही व्यक्ति अपना और दूसरोंका हित-

सम्पादन कर सकता है। क्रोध मनुष्यके स्वास्थ्यको बिगाड़ देता है। हृदयरोग-जैसे भयंकर रोग क्रोधकी उपज हैं। क्रोध चेहरेको विकृत कर देता है। उसके अपने परिवारके सदस्य ऐसे व्यक्तिके पास आने, बैठने, बोलने-चालनेसे कतराते हैं। अतः उसका व्यक्तित्व अभावग्रस्त हो जाता है।

बात-बातपर क्रोध करनेसे परिवारके बच्चोंकी स्वाभाविक उन्नति रुक जाती है, उनकी कोमल भावनाएँ दब जाती हैं, परिणामस्वरूप बच्चे विभिन्न प्रकारकी हीन भावनाओंके शिकार बनकर समाजमें पिछड़ जाते हैं, तब कोई समय आता है जब हम पछताते रह जाते हैं—पर 'अब पछताये होत का, जब चिड़िया चुग गई खेत'। समाजमें हम प्यार और सम्मान नहीं पाते। हर व्यक्ति हमसे कतराता है। कोई अपना दिल खोलकर हमसे बात नहीं करता। लोग हमें देखकर भयभीत-से हो जाते हैं और भाग निकलनेका प्रयास करते हैं। ऐसा व्यक्ति स्वय तो किसीके प्यार और विश्वासका पात्र बनता ही नहीं। जीवनमें कहीं किसीके भी काम नहीं आता। अनेक गुणोंके होनेपर भी स्वयं तो हीनभावना और अकेलेपनका शिकार बनता ही है। अपने आसपासवालोंको भी सभी प्रकारके सुख-सौभाग्यसे वञ्चित कर देता है।

क्रोध प्रायः स्वयं असमर्थताका द्योतक होता है। अनेक बार अपने किसी तन-मनकी दुर्बलतासे पीड़ित या अभिव्यक्तिके क्षीण होनेके कारण व्यक्ति स्वयंको स्पष्ट नहीं कर पाता तो क्रोधका भाजन बनता है और इस ज्वालामें दूसरे निरीह प्राणियोंको भी जलाता है। कई बार अध्यापकवर्ग इसी प्रकारके क्रोधमें विवश अनेकों निरीह प्राणियोंका जीवन बिगाड़ डालता है।

एक बात और भी है। प्रत्येक व्यक्तिकी कार्यक्षमता और कार्य करनेके तरीके भिन्न होते हैं। कई लोग स्वभावसे ही प्रमादी—लापरवाह होते हैं। अब यदि कोई व्यक्ति लापरवाह है और आपके अनुकूल नहीं कर पाता तो आप उसपर क्रोध करते हैं, परंतु बेचारा तो स्वभाव-विवश होकर वैसा कार्य कर रहता है। अतः आप तो भैंसके आगे बीन ही बजा रहे हैं। यदि वह आपकी इच्छाके अनुसार सामर्थ्य होनेपर भी करना ही नहीं चाहता तो आप उसपर क्रोध करके व्यर्थ अपने समय और स्वाभिमानका नाश कर रहे हैं। तीसरी बात यह भी हो सकती है और प्रायः हो भी जाती है कि जिस बातको आप गलत समझकर दूसरेपर क्रोध कर रहे हैं, आप स्वयं ही गलत हों और उसे गलत समझकर वैमनस्यकी दीवार बीचमें खड़ी कर रहे हों। किसी भी अवस्थामें क्रोध लाभप्रद वस्तु तो है ही नहीं। अनुभवी जनोंका स्पष्ट विचार है कि जिस व्यक्तिको अपनी बात समझानेके लिये क्रोध करना पड़ता है, उसमें अपनेमें कोई कमी अवश्य है और अपनी इस कमीसे वह अपने-आप और आस-पासवालोंके जीवनको नरक बना रहा है।

मानवकी तो बात ही क्या, विशुद्ध प्रेमका अंश होनेके कारण पेड़-पौधे, पशु-पक्षीतक भी प्यारकी कामना रखते हैं, प्यारकी भाषा समझते हैं। आप धैर्यसे अनुभव करके देखिये, जिस व्यक्तिको सौ बार क्रोध करके आप अपनी बात नहीं समझा सकते, उसे एक बार सरल निश्छल प्यारसे सहलाकर आसानीसे समझा लेंगे। आपकी विजय हृदय जीतनेमें है, उसका हनन करनेमें नहीं। और, फिर उन प्रेममय प्रभुसे आपको यह अधिकार भी तो नहीं मिला कि आप दूसरोंपर क्रोध करके उनका सुधार करें। उन प्रभुकी सदय दृष्टि आपपर पड़ रही है और आप दूसरोंको भयभीत कर रहे हैं—यह कहाँका न्याय है!

फिर एक प्रश्न यह उठता है—क्या कहीं भी कोई ऐसा स्थल नहीं, जहाँ क्रोधकी अनिवार्य आवश्यकता

…का क्रोध बेचारा प्रभुकी सृष्टिमें सर्वथा ही निरर्थक है? उत्तर स्पष्ट है कि विधाताकी सृष्टिमें सभी सार्थक है। अतः ऐसे भी कुछ निश्चित क्षेत्र हैं जहाँ क्रोधकी अनिवार्य आवश्यकता होती है। कई बार श्रेष्ठताके ऊँचे उठे हुए महापुरुष अपने आश्रितोंपर क्रोध करते दृष्टिगोचर होते हैं। उनका यह क्रोध सार्थक है—स्वागतके योग्य है। इसका एकमात्र … आश्रितजनोंके वृत्ति-व्यवहारको परिमार्जित करके … मार्गको प्रशस्त करना होता है, पर ऐसे क्रोधमें … नहीं होता। अतः उसमें कड़वाहट भी नहीं होती, … मधुर होता है। ऐसे क्रोधका उसपर अनिवार्य प्रभाव … है और क्रोध करनेवालेके मनका उससे दूरका … सम्बन्ध भी नहीं होता। परीक्षाका समय इसे प्रत्यक्ष कर … है।

परिवारोंमें बच्चोंके सुधारके लिये माता-पिता और विद्यालयोंके अध्यापकवर्गद्वारा ऊपरी क्रोध भी इसी प्रकार क्षम्य है; क्योंकि शास्त्रोंमें आता है कि अध्यापकोंके दण्ड देनेवाले कर्तव्य, हाथ तथा हृदय सबमें ही अमृत रहता है। वे कल्याणके लिये ही छोटे बालकोंको ताड़ना देते हैं। उनके हृदयका इस प्रकारके क्रोधसे तनिक भी कोई सम्बन्ध नहीं होता। महाभाष्यकारने कहा है—

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः।
(व्याकरणमहाभाष्य ८।१।८)

तथा 'महाभाष्यप्रदीप'कार कैयट भी कहते हैं—

गुरवो हि हितैषित्वादकुप्यन्तोऽपि भर्त्सनम्।
(८।१।८)

अतः गुरुओंकी बालकोंपर यह ताड़ना सदाचारामृतका ही सृजन करती है।

—:o:—

सदाचार—भक्तिका एक महान् साधन

(लेखक—श्री के॰ वी॰ भातखण्डे, बी॰ ए॰, बी॰ टी॰)

भगवान्‌के प्रति प्रेम ही भक्ति है। इस परम प्रेमका … करनेका जिन्हें निरन्तर अवसर मिला, जिन साधु-… ने निजके जीवनमें ऐसा आचरण किया, उन्होंने अन्य … लोगोंको भक्ति-सम्पादन करनेके लिये इन आचरणोंका उपदेश किया। भगवद्भक्तिके लाभके लिये ये सदाचार … ने अनेक प्रकार बताये हैं। 'सदाचारके लिये सदाचार' यह सदाचारका स्वरूप नहीं है, भक्तिके लिये सदाचार—(Bring us to God) यही सदाचारका स्वरूप है। … सदाचारके लिये सदाचार इस भूमिकासे यदि सदाचारका … किया जाय तो जीवनमें केवल कर्मठता ही पैदा होगी। … कर्मठपनेका साधु-संतोंने अपने अनेक उपदेश-… द्वारा निरस्कार किया है। विभीषण, भरत, … ने भगवद्भक्ति निभानेमें भगवद्विरोधी माता-पिता-भाई आदिका भी विरोध किया और भगवान्‌ने इनकी सहायता ही की—'बलि गुरु तज्यो … भे मुद मंगलकारी' देवर्षि नारदने अपने भक्तिसूत्रमें भक्तिके अन्तरङ्ग साधनोंपर बहुत सुन्दर विचार प्रकट किये हैं। इन अन्तरङ्ग-साधनोंमें हमें भक्तिके सदाचार सर्वत्र आसानीसे देखनेको मिलते हैं। देवर्षि नारदकी भक्ति-साधनाके निदर्शक ये सूत्र देखिये—

'अव्यावृतभजनात्। लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्तनात्। मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद् वा।' (नारदभक्तिसूत्र ३६-३८)

इन सूत्रोंको अच्छी तरहसे विचार करनेपर विषयों-की अनासक्ति, अखण्ड भगवद्भजन और प्रभुकृपासे साधुसङ्गति—ये ही भक्तिके अन्तरङ्ग-साधन दीखते हैं। नारदप्रोक्त साधनोंकी दृष्टिसे सत्कर्मादि विवेक

प्रति एकाएक अनासक्ति कठिन ही है । शास्त्रोंके अनुसार विधिवत् विषयोंका सेवन करनेसे धीरे-धीरे अनासक्ति होती है । 'विधीने सेवन त्यागतें समन'—ऐसा श्रीसंत एकनाथजीका अभिप्राय है । अहंकाररहित भावनाके साथ वेदविहित सत्कर्म करनेसे भक्तिसम्पन्नता प्राप्त होकर मन शुद्ध होता है और इस शुद्धचित्तमें परमात्मा प्रकट होता है, ऐसा संतोंका अनुभव है । इसी प्रकार श्रीआद्यशंकराचार्यका कथन है—'शुद्ध्यति हि नान्तरात्मा कृष्णपदाम्भोजभक्तिमृते' (प्रबोधसुधा० १६७)

अपना वेदविहित कर्तव्य करते हुए भी अखण्ड भगवत्प्रेमके रंगमें रँगना हमारे लिये आवश्यक है— '**तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च**'। भगवान्का कीर्तन एकान्तमें मनमें और जनसमुदायमें मुँहसे बोलकर किया जाय। भगवान्का नाम-संकीर्तन सबसे सरल और श्रेष्ठ भक्तियुक्त सदाचार है । भगवान्का गुण-संकीर्तन या नाम-स्मरण कैसे किया जाय—इसका निर्देशक श्रीगौराङ्ग महाप्रभुका—'**तृणादपि सुनीचेन**' इत्यादि श्लोक प्रसिद्ध है । सत्कर्मकी प्रवृत्ति, भजनकी चाह, दुर्बुद्धिका नाश आदिके लिये संतोंकी संगति भी आवश्यक है—'**सतां संगतिहात्र प्रथमं साधनं स्मृतम्**' । श्रीरामजीने भी शबरीको उपदेश देते हुए बताया था—संत-संगति मिले, भजनमें रुचि पैदा हो, ईश्वरका स्मरण आँखोंमें और चित्तमें बसे और शुद्ध आचरणकी प्रेरणा मिले । इन्हें ही प्राप्त करनेके लिये तुकाराम आदि महाराष्ट्रीय संतोंने पंढरी और आळंदी की वारी आदि नियमपूर्वक करनेका मीठा उपदेश सामान्य जन-समाजको दिया और जगत्का उद्धार किया ।

नारदजीद्वारा प्रणीत भक्तिके आन्तरिक साधनोंको ठीक ढंगसे आचरणमें लानेके लिये दैवीसम्पत्तिके गुण सदाचारकी नितान्त आवश्यकता है । श्रीनारदजीने भी अपने भक्तिसूत्रमें महत्त्वपूर्ण ऐसे दैवी गुणोंके सम्बन्धमें भक्तोंको अमृतमय उपदेश किया है। दैवी गुणोंके म उपदेश करते हुए श्रीनारदजी कहते हैं—'अहिंसा शौचदयाऽऽस्तिक्यादिचारित्र्याणि परिपालनी (सूत्र ७८) ईश्वर सर्वत्र है—यह भावना स्थिर र दूसरेको मन, वचन या कर्मद्वारा किसी प्रकारका ' पहुँचाया जाय, यह अहिंसाका स्वरूप है। प्रिय भा साथ ही सत्यभाषण भी होना बहुत आवश्यक है। प्रिय भाषण हितसाधक न होगा। शौचका त अन्तर्बाह्य-शुचितासे है । दयाका आविष्कार का वाचिक और मानसिक परोपकारके कार्योंमें होता दयाकी बहुत बड़ी पूँजी भगवद्भक्तोंके पास होती भगवान्, गुरु, संत, वेद, विप्र इनका आस्तिक्यार श्रद्धा होना आवश्यक है; यह दैवी गुणोंका प स्वरूप है । इन दैवी गुणोंके सदाचारका अभेद क भगवद्भक्त सदा धारण करते हैं ।

प्रेममय भगवान्को जो भाये वे वही करें, पर कि भगवद्भक्तिकी वृद्धि हो, हम ऐसा वर्ताव करें, ऐसी भक्तकी ही होती है। इस निष्ठाके अनुसार वे अपना जी विपुल सुन्दर सदाचारोंसे सम्पन्न करते हैं ।

नारदजीने ठीक ही कहा है—

> भक्तिशास्त्राणि मननीयानि तदुद्बोधक
> कर्माण्यपि करणीयानि ॥
>
> (भक्तिसूत्र ७६)

अतः साधकगण भागवत, रामायण, ज्ञानेश्वरी आदि भक्तिप्रधान ग्रन्थोंका मनन करें और भक्तिका विरोध करने वाले असदाचारोंका भक्तजन आचरण न करें । सन्तुओंके दिव्य जीवनमें सदाचार उतरे थे और उन सदाचारोंके द्वारा भागवतधर्म वृद्धिगत हुआ और अनेक जनोंको उससे ऐहिकी प्राप्ति हुई । उससे उनके धर्म-कर्म और जीवन सर्वथा मङ्गलमय हुए ।

सदाचारका सर्वोत्तम स्वरूप—भगवद्भजन

(लेखक—श्रीराजेन्द्रकुमारजी धवन)

...भसुभगः सत्यासक्तः स्वर्गापवर्गदः ।
...वान् विजगतूज्यः सदाचार इवाच्युतः ॥
(चारुचर्या १)

...सदाचार भगवान् अच्युतकी भाँति त्रिलोकीमें ... और विजयी हो। यह सदाचार भी विष्णुके ही ...न श्रीलाभयुक्त, सौभाग्यशाली, सत्यासक्त* तथा ...एवं मोक्षको प्रदान करनेवाला है। जो आचरण ...हो वह सदाचार कहलाता है। साधु पुरुषोंके सभी ...रण 'सत्'—भले होनेके कारण सदाचार कहलाते ...'साधूनां च यथावृत्तमेतदाचारलक्षणम्।'
(महाभारत अनु० १०४। ६)

...श्रीभगवान्‌के निमित्त जो कर्म किये जाते हैं, उन्हें ...त् या भगवद्भजन कहते हैं—कर्म चैव तदर्थीयं ...मेवाभिधीयते। (गीता १७। २७)। अतएव ...न्‌रा भजन ही सदाचारका मूल स्वरूप है। बिना ...भजनके कोई पुरुष सदाचारी नहीं बन सकता। ...से कहा गया है कि—

...मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
(गीता ७। १५)

...'मनुष्योंमें नीच एवं मूढ दुराचारी पुरुष मुझको ...भजते।' परंतु इसके विपरीत 'यदि कोई अतिशय ...दुराचारी पुरुष भी भगवान्‌का अनन्यभावसे भजन ...ता है तो वह भगवद्भजनमें दृढ़ निश्चय रखनेवाला ... ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली ...शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

...पि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
...साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
...क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
(गीता ९। ३०-३१)

भजन करनेवालोंमें निम्नलिखित २६ दैवी सम्पदा या सदाचार गुणोंका आविर्भाव होता है। १—भयका सर्वथा अभाव, २—अन्तःकरणकी भलीभाँति शुद्धि, ३—तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति, ४—सात्त्विक दान (गीता १७। २०), ५—इन्द्रियोंका दमन, ६—यथाधिकार अनेक प्रकारके यज्ञ (गीता ४। २४-३३), ७—सत्-शास्त्रोंका अध्ययन एवं भगवन्नामका जप-कीर्तन, ८—स्वधर्म-पालनके लिये कष्ट सहना, ९—शरीर, मन और इन्द्रियोंकी सरलता, १०—मन-वाणी-शरीरसे किसी भी प्राणीको कष्ट न देना, ११—सत्य, प्रिय और हितकर भाषण, १२—क्रोधका सर्वथा अभाव, १३—शरीरादि सांसारिक पदार्थोंमें अहंता-ममताका त्याग, १४—चित्तकी चञ्चलताका नाश, १५—किसीकी निन्दा न करना, १६—सभी प्राणियोंपर हेतुरहित दया, १७—विषयभोगोंमें आसक्तिका न होना, १८—कठोरताका सर्वथा अभाव, १९—ईश्वर और शास्त्रके विरुद्ध कर्म करनेमें लज्जा, २०—मन-वाणी-शरीरसे व्यर्थ चेष्टा न करना, २१—तेजस्विता (ब्रह्मचर्य), २२—क्षमा अर्थात् अपना अपराध करनेवालेको किसी प्रकारके दण्ड देनेकी इच्छा न रखना, २३—धैर्य अर्थात् भारी-से-भारी दुःख आनेपर भी स्वधर्मका त्याग न करना, २४—बाहर-भीतरकी शुद्धि, २५—किसीके भी प्रति शत्रुभावका न होना, २६—अपनेमें किसी भी प्रकारका अभिमान न होना।

ये गुण भगवत्कृपासे ही आ सकते हैं। इन्हें अपना अर्जित मानकर कभी मनमें आसक्ति या अहंकार नहीं करना चाहिये; क्योंकि अहंकार आसुरी सम्पदाका लक्षण है।

* भगवान् कृष्ण सत्य (सत्या)में आसक्त कहे गये हैं और सदाचार सत्य वचनमें। ...सत्या और सत्यभामा दो पट्टमहिषी प्रसिद्ध थीं)

वास्तवमें जिसके भीतर दैवीसम्पदाके गुण होते हैं, उस भगवद्भक्तको वे (गुण) दीखते ही नहीं हैं।

भगवद्भक्त तो गुणोंको भगवान्‌का और दोषोंको अपना समझते हैं—गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा॥

(मानस० २ । १३० । २)

अतएव दैवीसम्पदा भगवान्‌की होनेके कारण उन्हींकी कृपासे प्राप्त हो सकती है। गोस्वामीजी कहते हैं—

यह गुन साधन तें नहिं होई। तुम्हरी कृपाँ पाव कोइ कोई॥

(मानस० ४ । २० । ३)

क्रोध मनोज लोभ मद माया। छूटहिं सकल राम कीं दाया॥

(वही ३ । ३८ । २)

इसलिये दैवी-सम्पदाको प्राप्त करनेका सबसे सुगम उपाय भगवान्‌का भजन ही है—

मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥

(मानस० १ । १९९ । ३)

भगवद्भजनके बिना प्रथम तो दैवीसम्पदाके गुण अपनेमें आते ही नहीं और यदि किसी प्रकार आ भी जायँ तो वे अधिक समयतक टिकते नहीं। यह जीवात्मा परमात्माका ही अंश है—'ममैवांशो जीवलोके' (गीता १५ । ७), इसलिये दैवी भी हमारे भीतर सहजरूपसे विद्यमान है। परंतु अपने वास्तविक स्वरूपको भुला दिया है और बुद्धि, इन्द्रियाँ तथा शरीरादिको ही अपना मानकर अहंता-ममता कर ली है, इसी कारण वे गुण [illegible] गये हैं। अतएव यदि हम इन सबमेंसे अपने हटा दें और भगवान्‌के साथ अपनापन जोड़ें तो ये गुण स्वाभाविकरूपसे हममें आ जायँगे। [illegible] (परमात्मा) के साथ सम्बन्ध होनेपर सद्गुण-सदा[illegible] स्वाभाविक ही हममें आ जायँगे—

जिमि सदगुन सज्जन पहिं आवा।

(मानस ४ । १३ । [illegible])

इसलिये स्वार्थ और अभिमानका सर्वथा त्याग कर निरन्तर भगवद्भजन करना ही सदाचारका सर्वो[illegible] स्वरूप है।

ये कामक्रोधलोभानां वीतरागा न गोचरे।
सदाचारस्थितास्तेषामनुभावैर्धृता मही॥

(विष्णुपुराण ३ । १२ । ४२)

'जो वीतराग महापुरुष कभी काम, क्रोध और लोभादिके वशीभूत नहीं होते तथा सर्वदा सदाचारमें स्थित रहते हैं, उनके प्रभावसे ही पृथ्वी टिकी हुई है।'

असत्-मार्गका त्याग

गृहस्थीमें रहते हुए ही यदि साधक बनना हो, तो सत्-मार्गका ग्रहण और असत् मार्गका त्याग ही करना चाहिये। क्योंकि कुबुद्धि छोड़े बिना सुबुद्धि नहीं आ सकती। अतएव कुबुद्धि और असत् मार्गको छोड़ना ही गृहस्थ या संसारी मनुष्यका त्याग है। प्रपञ्चको बुरा समझकर, मनसे जब विषयोंको त्याग दिया जाता है, तभी आगे चलकर परमार्थका मार्ग मिलता है। नास्तिकता, संशय और अज्ञानका त्याग धीरे-धीरे होता है। उपर्युक्त आन्तरिक त्याग तो सांसारिक और निःस्पृह (वैरागी) दोनों ही व्यक्तियोंमें अच्छी तरहसे होना चाहिये।

—[illegible]

सदाचार और भक्ति

(लेखक—आचार्य डॉ० श्रीमुन्नालालजी उपाध्याय, 'शुक्रत्न', एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्याचार्य, शिक्षा-शास्त्री)

सदाचार मनुष्यजीवनका शतदल कमल है उसका चतुर्दिक् फैलता हुआ सौगन्ध्य मानव-की प्राणशक्ति है। पर वह विद्युत्की तरह क्षणिक कर और चमत्कृतकर लोगोंको अँधेरेमें नहीं डालता। सौन्दर्यकी उज्ज्योति विराट् विश्वको वशीकृत में समर्थ है। वह अँधेरी गलियोंमें भटकते हुए को सार्थकता प्रदान करता हुआ विश्वको कल्याणके मार्गतक पहुँचानेवाला महासेतु है। ज्योतिशिखासे प्रकाशित, प्रज्वलित जीवनके वर्तमान क्षण इतिहासकी धाराको बदलते तथा गति प्रदान करते हैं।

सदाचारका महत्त्व धर्मकी प्रत्येक स्थिति और कर्मों स्वीकार किया गया है; क्योंकि मानसिक द्वन्द्व और वासनाके व्याकुल आवेगोंसे अक्षुब्ध प्रत्येक कार्यसाधनमें आवश्यक है। दुष्कर्मोंसे तोड़े बिना परम सत्यको नहीं पाया जा सकता। उसको अपनी समूची सत्ताको दिव्यतासे मण्डित करनेका प्रयत्न करना पड़ता है, तभी सदाचारमय जीवन होता है; किंतु जिस प्रकार स्वास्थ्यकी उपेक्षा करनेवाला अपने स्वास्थ्यको चौपट कर लेता है, वैसे पवित्र और नैतिक नियमोंकी उपेक्षा करनेवाला अपने उच्चतर और दिव्यजीवनको भी नष्ट कर डालता है। इसलिये सदाचारकी श्लाघा और अनाचारकी निन्दा की गयी है। परंतु भक्तिकी एक दुर्लभ विशेषता है। जब हृदयोत्पन्न प्रभु-भक्तिके अङ्कुर फूटकर फैलने लगते हैं, तब अमल, अखण्ड और प्रतिपल नव-नव आनन्दके रसास्वादनमें डूबे हुए भक्तके जीवनमें असत् प्रवृत्तियोंके अनेक अवसर ही नहीं मिलता। जब वह प्रभुप्रेरित प्रत्येक परिस्थितिको सहर्ष स्वीकार कर लेता है, तब वह उनके हाथका केवल यन्त्र बनकर जीवनको बहाता चलता है। उसमें वासनाओंका निर्माण नहीं होता और अहंकार एवं वासनाओंकी पुकारके न होनेसे उसमें 'अशुभ' और 'बुराई'के अनेक प्रश्न भी नहीं उठते। उसके जीवनमें केवल शुभ और सद्गुणोंके ही फूल खिलते हैं। उसका सारा जीवन उन सुगन्धोंसे सुवासित हो जाता है।

परम प्रभु भक्तके जीवनके केन्द्रबिन्दु बन जाते हैं, इसलिये उससे प्रेम विकीर्ण होता है और सत्कर्म अपने-आप होते चलते हैं। वह अपनी गहराइयोंमें रहता है और जीवन अपने-आप उमड़ता है। जिसके हृदय-मन्दिरमें अखिल गुणसागर प्रभु ही आकर बैठ गये हों, वहाँ दुर्गुणोंके आनेका साहस कैसे होगा!—

> यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचना
> सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
> हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा
> मनोरथेनासति धावतो बहिः॥
> (श्रीमद्भा० ५। १८। १२)

सदाचारकी खोजमें भटकते हुए समाज और राष्ट्रके लिये यह बहुत बड़ी उपलब्धि है। भक्तके मनमें यह विश्वास रहता है कि उसके प्रभु सर्वज्ञ हैं और सभीके भीतर निवास करते हैं। सर्वज्ञ होनेके कारण वे उसके मनके संकल्प और उसके अभिप्रायके विचारतत्त्वको जान लेते हैं; अतः वह किसी कुकर्मका विचार कैसे कर सकता है! श्रीरूपगोस्वामीने भक्तिके लक्षणमें 'अन्याभिलाषिताशून्यम्' भी जोड़ा है। इसका तात्पर्य है कि उसका भक्ति बड़ी है, जिसमें श्रीकृष्ण-सेवा-वासनाको छोड़कर और कोई भी कामना न हो, यहाँतक कि श्रीकृष्णसेवासे उत्पन्न होनेवाले अपने सुखकी कामना भी नहीं न हो।

भक्तकी चित्तवृत्तियोंकी किसी प्रकारकी बहिर्मुखता स्वतः बन्द हो जाती है। वह प्राकृत आँखों और इन्द्रियोंकी पकड़से भी बाहर निकल जाता है। इन्द्रियाँ उसे परमात्मातक पहुँचानेके लिये मानो यन्त्र बन जाती हैं। शक्करका दाना सागरमें घुलकर फिर कभी शक्कर नहीं बनता। श्रीहरिरामजी व्यास लिखते हैं कि 'भक्तिके इस रससिन्धुकी माधुरी अनन्त अगाध है। जिसके तन-मनमें यह रस पैठ जाता है, उसे फिर संसारमें कुछ और नहीं सुहाता। इसके सुखके सामने और सुख हवामें पत्तेके समान उड़ जाते हैं'—'यह सुख देखत व्यास और सुख उड़त पुराने पात' (व्यासवाणी, पृ० ३०, पद ७२)। रसिक भक्त इस सुखके सामने कोटि-कोटि मुक्तियोंको ठोकर लगा देता है—'अलिकुल मैन चखत रस पीवत कोटि मुक्ति पग ठेली' (वही पद ४९)। गीतामें भी अत्यन्त सरस रीतिसे इस भावको व्यक्त किया गया है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
(१०।९)

कामनाएँ—इच्छाएँ अहंकारको तृप्त करती हैं और अहंकार तीव्रतासे घूमती हुई फिल्म-जैसा है, प्रतिपल दीयेकी ज्योति-जैसा होता है। अतः मनुष्यकी कामनाओंका कोई अन्त नहीं है। कामनाएँ घूम-घूमकर अनेक द्वारोंसे हमें पकड़ती हैं। जीवनकी यह जो चारों तरफ दौड़ है, कामनाओंकी इन पर्तोंको छीले या उखाड़े बिना जीवनकी परम सम्पदाको पाने या जीवनकी गहराईमें उतरनेका दूसरा कोई भी उपाय नहीं है। हम जगत्‌में जितने पथोंका निर्माण करते हैं, वे सभी कामनाओंके पथ हैं और कामनाओंसे भरा हुआ चित्त कभी भी जीवनकी अतल गहराईके दरवाजे नहीं खोल सकता। परम रसको पानेके लिये हमें उसे प्रभु-भक्तिकी अनन्त लहरोंसे भरना होगा। यही 'अन्याभिलाषिताशून्यम्' है। यह कृष्णभक्तिकी विशेषता है कि उससे हृदयके स्वतन्त्र मन अनेक कामनाओंके बन्धन अपने-आप छूट जाते हैं—

शुध्यति हि नान्तरात्मा कृष्णपदाम्भोजभक्तिमृते।
वसनमिव क्षारोदैर्भक्त्या प्रक्षाल्यते चेतः॥
(प्रबोधसुधा० १६७)

भक्तिका एक भेद 'शुभदा' भी है। शुभके भी चार भेद बताये गये हैं—

शुभानि प्रीणनं सर्वजगतामनुरक्तता।
सद्गुणाः सुखमित्यादीन्याख्यातानि महर्षिभिः॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु, पूर्व० १।१६)

१—समस्त जगत्‌को संतुष्ट करना, २—जगत्‌के समस्त प्राणियोंका अनुराग प्राप्त करना, ३—सद्गुणोंकी प्राप्ति और ४—सुख। जब मनुष्यके जीवनकी सारी ऊर्जा भक्तिके बिन्दुपर दौड़ने लगे, जब जीवनकी सारी किरणें प्रेम-पर ही ठहर जायँ तो उसके लिये समस्त जगत् प्रेम, मैत्री, करुणा और आनन्दसे भर उठता है। उस समय मनुष्यकी स्वार्थपूर्ण संकीर्ण वृत्ति समाप्त हो जाती है, उसके हृदयकी मलिनता धुल जाती है। आज हम मानव-इतिहासके बहुत ही उत्तेजनापूर्ण युगके द्वारपर खड़े हैं। विज्ञान और टेक्नालोजी—आधुनिक युगके आश्वासन और विनाश दोनोंसे भरे हैं। हम उनके द्वारा एक-दूसरेको प्रकाशित भी कर सकते हैं और नष्ट भी। ऐसी स्थितिमें समस्त जगत्‌को तृप्त करनेका संकल्प लेकर चलनेवाला भक्तिका यह गुण मनुष्य-मनको सद्भाव, सहयोग और मैत्रीकी किरणोंसे भर सकता है, जिससे एक-दूसरेसे लड़ना छोड़कर हम साथ-साथ सुखपूर्वक रह सकते हैं तथा मानवीय चेतनाको बन्दी बनानेवाली कट्टरतासे भी मुक्त हो सकते हैं। मनुष्य-जातिके लिये यह कितना बड़ा आश्वासन है!

तत्त्वतः, मनुष्य-जाति एक ही सूत्रमें गुँथी हुई है। जब भक्ति इस परम सत्यके अनुभवतक ले पहुँचती है,

[सा]म्प्रदायिकताकी परिधियाँ और भेदकी दीवारें लड़खड़ाकर [स्व]तः गिर जाती हैं। भक्त अपने उपास्यके विग्रहोंमें ही [स]म्पूर्ण विश्वको समेट लेता है, फिर वह किससे द्वेष [क]रे, किससे घृणा ! उसके लिये पूरी धरती ही मन्दिर [ब]न जाती है। इसीलिये कहा गया है कि जिसने [भग]वान्‌को संतुष्ट कर लिया, उसने सारे जगत्‌को तृप्त [क]र दिया। उसके प्रति जगत्‌के समस्त प्राणी और [स्था]वर भी अनुरक्त हो जाते हैं—

येनार्चितो हरिस्तेन तर्पितानि जगन्त्यपि।
रज्यन्ति जन्तवस्तत्र जङ्गमाः स्थावरा अपि॥
(पद्मपुराण)

वेदोंसे लेकर सम्पूर्ण भारतीय धर्मशास्त्रके ग्रन्थोंमें [स]दाचारके अतिशय महत्त्वका वर्णन उपलब्ध होता है। [अथ]र्ववेदके 'पृथिवी-सूक्त'में कहा गया है कि 'बृहद् सत्य (विशाल सत्य), उग्र ऋत (कठोर अनुशासन), दीक्षा (दृढ़ संकल्प), तप (मनः-संयम तथा शरीर-श्रम), [ब्र]ह्म (विवेक) और यज्ञ आदि श्रेष्ठ गुण ही पृथ्वीको [धा]रण करते हैं'—सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो [ब्र]ह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति (अथर्व० १२। १। १)

वैदिक वाङ्मयमें ऋतकी बड़ी गहन और व्यापक [च]र्चा मिलती है। वेदका यह ऋत शब्द ही अंग्रेजी-[में] राइट हो गया है। कठोपनिषद्‌का एक सुन्दर मन्त्र है, जिसके अनुसार जिसने बुरे आचरणका त्याग नहीं किया, जो अशान्त है, जिसका चित्त असमाहित है, वह प्रज्ञानसे—केवल बुद्धिवादसे वास्तविक तत्त्वको नहीं पा सकता (१। २। २४)। मनुस्मृति (४। १५५)में भी श्रुति एवं स्मृति-कथित धर्मके मूल सदाचाररूप कर्मों-का आलस्यरहित होकर सेवन करनेका आदेश है— और यह भी कहा गया है कि सदाचारहीन मनुष्यको वेद भी पवित्र नहीं कर सकते, भले ही उसने वेदोंका छहों अङ्गोंके साथ पाठ किया हो। महाभारतके अनुसार केवल विद्या या तपसे कोई पात्र नहीं बनता, किंतु जिस पुरुषमें सदाचार तथा ये दोनों विद्याएँ और तप भी हों, उसीको पात्र कहा गया है—

न विद्यया केवलया तपसा वापि पात्रता।
यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्धि पात्रं प्रकीर्तितम्॥
(महा० शान्तिपर्व २००)

विष्णुधर्मोत्तरमें कहा गया है—जो अहिंसा, सत्य-वादिता, दया और सभी लोगोंपर करुणासे भरा हुआ है, हे राम ! उससे केशव प्रसन्न रहते हैं—

अहिंसा सत्यवचनं दया भूतेष्वनुग्रहः।
यस्यैतानि सदा राम तस्य तुष्यति केशवः॥
(१। ५८)

भक्तिरसामृतसिन्धुमें श्रीरूपगोस्वामीने साधन-भक्तिके जिन ६४ अङ्गोंका वर्णन किया है, उनमें सदाचारके प्रायः सभी श्रेष्ठ नियम अन्तर्भूत हो जाते हैं। इस प्रकार भक्ति और सदाचारका अविच्छिन्न सम्बन्ध है। श्रुति और स्मृति भगवान्‌की आज्ञा हैं, उनमें निर्दिष्ट सदाचारके नियमोंके निरन्तर तथा नियमित पालनसे भक्त शीघ्र ही भगवत्कृपा प्राप्त करनेका अधिकारी बन जाता है। बस, यही सदाचारका फल है। भगवत्कृपा अन्तिम लक्ष्य है। उसके प्राप्त कर लेनेपर—'न किञ्चिदवशिष्यते'—कुछ भी प्राप्तव्य शेष नहीं रह जाता।

भजनमार्गके बाधक

काम-क्रोध बड़े ही क्रूर हैं, इनमें दयाका नाम नहीं, इन्हें काल ही समझो। ये ज्ञाननिधिके नाग, विश्वकन्दराके बाघ और भजनमार्गके घातक हैं। ये जलमें नहीं, बिना जलके ही डुबो देते हैं, बिना आगके ही जला देते हैं और बिना शस्त्रके ही मार डालते हैं।

—संत ज्ञानेश्वर

सदाचारकी प्रेरणा-भूमि—सत्सङ्ग

(ले०—श्रीमती डॉ० धनवतीजी)

मानवका मन, वचन और कर्मद्वारा सत्य और प्रेमयुक्त व्यवहार ही सदाचार है। शिष्ट चरित्रके सभी गुण, विनय, धैर्य, संयम, आत्मविश्वास, निर्भीकता, दानशीलता, उदारता आदि सदाचारमें समाहित हैं। ये सद्गुण स्वभाव तथा सिद्धान्तमें जितने सरल हैं, जीवनके व्यवहारमें उतने ही कठिन हैं। इन गुणोंके आधारपर जहाँतक मानवके आचार-विचारका प्रश्न है, वह इस क्षेत्रमें सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है। पूर्वजन्मके संचित संस्कार, वंश-परम्परा तथा वातावरणका आचार-विचारपर व्यापक प्रभाव रहता है। संचित कर्मके लिये 'जैसा बोया वैसा काटो' कहना ही पर्याप्त है तथा वंश-परम्पराके लिये—'बापपर पूत जातिपर घोड़ा, बहुत नहीं तो थोड़ा-थोड़ा।' कहा जाता है।

इसके पश्चात् आता है—परिवेश या वातावरण। वातावरणके प्रभावका दृष्टान्त है—काजरकी कोठरीमें कैसो हू सयानो जाय, एक लीक काजरकी लागि है पै लागि है।'

यह है—दूषित वातावरणका प्रभाव, जहाँ मनुष्यका सयानापन भी काम नहीं आता। ठीक इसी प्रकार अच्छे वातावरणके प्रभावकी बात कबीरने भी इस दोहेमें कही है—

> कबिरा संगत साधकी, ज्यों गंधीकी बास।
> जो कछु गंधी दे नहीं, तो भी बास सुबास॥

अब आती है, सदाचारकी बात। इसमें संदेह नहीं कि कुछ लोग जन्मसे ही सदाचारी होते हैं, उनके लिये किसी प्रकारकी [illegible] नहीं होती, उनके पूर्वजन्मके संचित पुण्य ही उन्हें सदाचारी बनाते हैं। ऐसे सदाचारी [illegible] भी [illegible] और [illegible] होते हैं। [illegible] सदाचारी नहीं हैं, [illegible]

करें?', यह एक प्रश्न है और इसका उत्तर है [illegible] लिये प्रेरणा-भूमि है—सत्सङ्ग। सत्सङ्ग भी दो [illegible] होता है—(१) साधु, सज्जनों तथा संतोंका सांनिध्य एवं (२) सत्साहित्यका श्रवण, मनन तथा अ[illegible]

जहाँतक साधु-संतोंके सतत सामीप्यका [illegible] सूरदासजीके अनुसार तो—

> जा दिन संत पाहुने आवत।
> तीरथ कोटि सनान करे फल, जैसो दरसन पा[illegible]

और कबीर पहले ही कह चुके हैं—

> कबिरा सोई दिन भला, जा दिन संत मिला[illegible]
> अंक भरे भर भेटिया, पाप सरीरे जा[illegible]

केवल दर्शन और स्पर्शमात्र करोड़ों तीर्थोंके करनेका फल तथा पाप काटनेकी सामर्थ्य रखता [illegible] इसपर कोई शङ्का न कर बैठे, अतएव तुलसीदास उदाहरण देकर बतलाया है—

> धूमउ तजइ सहज करुआई। अगरु प्रसंग सुगंध ब[illegible]

यह है सत्सङ्गतिका प्रभाव—जिसमें [illegible] देव-अर्चनाका साधन बनाता है तथा कठोर धातु [illegible] स्वर्ण। कुछ अन्य उदाहरण देखिये—

> काचः काञ्चनसंसर्गाद्धत्ते मारकतीं द्युतिम्
> तथा सत्संनिधानेन मूर्खो याति प्रवीणताम्।
> कीटोऽपि सुमनःसङ्गादारोहति सतां शिरः
> अश्मापि याति देवत्वं महद्भिः सुप्रतिष्ठितः।
> ([illegible])

एक दोहामें उदाहरण और—[illegible]

[illegible]

ग आदिकवि वाल्मीकिका उदाहरण ही पर्याप्त है। न रूपमें भी सैकड़ों मनुष्य सज्जनोंके सम्पर्कसे जीवन व्यतीत करनेकी शपथ ले चुके हैं। आज- हिन्दीके एक विद्वान्ने लिखा है कि रवीन्द्रनाथके पास र मुझे ऐसा अनुभव होता था, मानो भीतरका देवता र स्वन्द सद्वृत्तियोंको जगा रहा है।

सत्सङ्गका दूसरा साधन है—सद्-साहित्यका श्रवण, न या अध्ययन। सत्यहरिश्चन्द्रका नाटक देखकर गांधी ऐसे प्रभावित हुए कि सत्य उनके जीवनका लक्ष्य गया और इसीके प्रभावसे वे सदाचारी 'महात्मा' हो गये जन-जनकी पूजाके अधिकारी बन गये। सद्-साहित्यके न अध्ययनसे जड-मानसपर भी पत्थरपर रस्सी रनेजैसा कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ता ही है। व्यावहारिक जिनमें अच्छे गुणोंका प्रादुर्भाव हो, इसके लिये धर्म- ग्रन्थोंका नियमित पाठ तथा नैतिक शिक्षाकी आवश्यकता बार-बार दोहरायी जाती है। प्रायः देखा जाता है कि सद्-साहित्यके अध्ययनसे लोगोंका जीवन-दर्शन ही बदल जाता है, दुर्गुणोंको छोड़ वे प्रसन्नतापूर्वक सद्गुणोंको अपना लेते हैं। यही है—सत्सङ्गकी प्रेरणा, जो मनुष्यको सदाचारकी ओर प्रेरित करती है।

भक्त तुलसीने तो स्पष्ट ही कह दिया है कि 'सदाचारकी प्रेरणा-भूमि 'सत्सङ्ग' ही है।' तुलसीके शब्दोंमें—

मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहुँ बेद न आन उपाऊ॥
(मानस १।२।३)

अच्छे गुण, वस्तु या सदाचारको प्राप्त करनेका भी एकमात्र साधन सत्सङ्ग ही है; क्योंकि तथ्य है कि 'बिनु सत्संग बिबेक न होई।' और, विवेकके बिना सदाचारकी कल्पना ही हास्यास्पद है। सदाचारका सम्बल विवेक ही है। निष्कर्षरूपसे कहना चाहिये कि सदाचारकी प्रेरणा-भूमि सत्सङ्ग ही है।

स्वावलम्बन

बंगालके एक छोटे-से रेलवे-स्टेशनपर ट्रेन खड़ी हुई। स्वच्छ धुले वस्त्र पहने एक युवकने 'कुली! कुली!!' पुकारना प्रारम्भ किया। युवकके पास कोई भारी सामान नहीं था। केवल एक छोटी पेटी थी। भला, देहातके छोटे-से स्टेशनपर कुली कहाँ! परंतु एक अधेड़ व्यक्ति साधारण ग्रामीण- जैसे कपड़े पहने युवकके ... उसे कुली समझकर कहा—'तुमलोग बड़े सुस्त होते हो; ...

... चल पड़ा। घर पहुँचकर युवकने पेटी ... इसकी आवश्यकता नहीं है।'

... बड़े भाई घरमेंसे निकले और ... पेटी उठाकर लाया है, ... गिर पड़ा।

... द और समझ लें कि अपने हाथों अपना ...।'

पुरुषार्थचतुष्टयका मूल सदाचार

(लेखक— अनन्तश्रीविभूषित पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी महाराज)

धर्मोऽस्य मूलं धनमस्य शाखा
पुष्पं च कामः फलमस्य मोक्षः।
असौ सदाचारतरुः सुकेशिन्
संसेवितो येन स पुण्यभोक्ता॥
(वामनपुराण १४)

छप्पय—

सदाचार अति सरस सुतरु सुन्दर सुखदाई।
जा पादप को मूल धरम ही दृढ़तर भाई॥
शाखा जा की अरथ, धरम धर्नै ही होवै।
काम सुमन कमनीय धरमयुत कामहिं सेवै॥
पुण्यवान पावन पुरुष, सदाचार तरु सेवहीं।
धरम, अरथ अरु काम सुख, मोक्ष परम फल लेवहीं॥*

आचार शब्दका अर्थ है, जो आचरण किया जाय (**आचर्यते इति आचारः**) इसे व्यवहार, चरित्र तथा शील भी कहते हैं। आचारसे ही धर्म होता है—**आचारप्रभवो धर्मः**। आचारसे हीन पुरुषको वेद भी पवित्र नहीं कर सकते—**आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः**। वह आचार कैसा हो, सद् आचार हो। सज्जन पुरुषो-द्वारा अनुमोदित आचार हो; अर्थात् साधु पुरुष—सज्जन पुरुष जिस व्यवहारको, जिस आचार-विचारको मानते हों, करते हों, उसीका नाम सदाचार है। —**सतां साधूनां च आचारः स सदाचारः**।

शास्त्रोंमें सदाचारकी बड़ी महिमा गायी गयी है। प्रायः सभी स्मृतियों तथा पुराणोंमें सदाचारके प्रकरण हैं। इनमें विस्तारके साथ सदाचारका वर्णन किया गया है। प्रातःकालसे लेकर रात्रिपर्यन्त जो-जो कर्म किये जाते हैं, वे सब आचार-व्यवहारके अन्तर्गत आते हैं। जो दुष्टोंका आचार है, वह दुराचार कहलाता और जो साधु-पुरुषोंका—देवताओंका निरन्तर आचरण है, उसीका नाम सदाचार है। प्रातःकाल उठकर सर्वप्रथम मङ्गलमय श्लोकोंसे प्रातःस्मरण करना चाहिये, जिसका जो इष्ट हो उस देवताका स्मरण करके यह प्रार्थना करे कि 'मेरा प्रभात मङ्गलमय हो'। हमारे यहाँ बहुतसे पुण्यपुरुष प्रातःस्मरणीय कहे जाते हैं, उनका प्रातःकालमें स्मरण करना मङ्गलमय माना जाता है; जैसे—भृगु, वसिष्ठ, क्रतु, अङ्गिरा, मनु, पुलस्त्य, पुलह, गौतम, रैभ्य, मरीचि, च्यवन, दक्ष, सनत्कुमार, सनक, सनन्दन, सनातन, आसुरि, पिङ्गल, सात स्वर, सात रसातल, पञ्चमहाभूत, सात समुद्र, सात कुलाचल, सप्तर्षि, सात द्वीप तथा सात भुवन—ये सब प्रातःस्मरणीय हैं। प्रातःकालमें इन सबके स्मरण करनेसे आत्मा शुद्ध होता है, क्षुद्रता नष्ट होती है और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना जाग्रत् होती है। इस प्रकार जिन महापुरुषोंमें, गुरुजनोंमें अपनी श्रद्धा हो उनका स्मरण भी प्रातःकालमें करना चाहिये। फिर शय्यासे उठकर पृथ्वीमातासे प्रार्थना करे—हे माता! समुद्र ही आपके नीले वस्त्र हैं, पर्वत ही आपके स्तनमण्डल हैं, आप भगवान् विष्णुकी पत्नी हैं, मैं आपको

* सदाचार मानो एक वृक्ष है, जिसकी जड़ धर्म है और अर्थ अर्थात् धन इसकी शाखाएँ हैं। काम इस वृक्षके फूल हैं और [illegible] । ऋषि [illegible] गभस्तसे कह रहे हैं—हे सुकेशिन्! जिस पुरुषने सदाचार रूप [illegible] यह [illegible] होता है, तात्पर्य यह कि पुण्यात्मा पुरुष ही

कार करता हूँ । हे जननी ! मैं आपके ऊपर पैर रखता हूँ । माँ ! मेरे इस अपराधको क्षमा कर देना—

समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डले ।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे ॥

इस प्रकार पृथ्वीसे क्षमा-याचना करके उठे । फिर मल-मूत्रत्यागसे निवृत्त होकर यथाविधि स्नान करे ।

पुराणोंके अनुसार शौच जानेके बाद मिट्टी लगाकर हाथोंको शुद्ध करे । कितने अंगुलकी किस मन्त्रसे दातुन करे, इन सब बातोंका आयुर्वेद तथा पुराणोंमें विस्तारसे वर्णन किया है । शौच-स्नान, दन्तधावन सबके पृथक्-पृथक् मन्त्र हैं । फिर संध्या-वन्दन, जप, देवपूजा, हवन आदि जो अपने कुलका सदाचार हो, उन सब कर्मोंको करे । फिर अपने वर्ण, आश्रम, पद-प्रतिष्ठाके अनुरूप धर्मपूर्वक स्वधर्मका पालन करे । अर्थका संचय करे, धर्मपूर्वक कामका सेवन करे । फिर मध्याह्नमें धर्मानुसार संध्या-वन्दन करके सात्त्विक भोजन करे, स्वाध्याय करे, प्रातःकाल महाभारत आदि शिक्षाप्रद ग्रन्थ पढ़े । मध्याह्नमें रामायण आदि मर्यादा-ग्रन्थोंको पढ़े । रात्रिमें भागवतादि उत्तम धर्म-ग्रन्थोंका अध्ययन करे । परायी स्त्रीको माताके समान समझे । पराये धनको मिट्टीके ढेलेके समान मानकर उसे लेनेकी इच्छा न करे, सबपर दयाभाव रखे । जिस कामसे अपनेको दुःख हो, जो आचरण अपनेको अच्छा न लगे, उसका व्यवहार दूसरेसे न करे । सबमें आत्मभाव रखे । सदाचारमें विधि-निषेधका ध्यान पग-पगपर रखा जाता है । ऋषियोंने, ब्रह्मवेत्ताओंने, साधुपुरुषोंने जिन बातोंका निषेध किया है, उन्हें कभी न करे —वे कदाचार हैं । जिन्हें कर्तव्य मानकर करनेके लिये कहा है, उनका आचरण करे—वे सदाचार हैं । हमारे यहाँ सदाचारपर सबसे अधिक ध्यान रखा गया है । दूसरेका अनादर न करे, किसीको कुछ भी दुःख न दे । बिना विचारे यत्र-तत्र अशुद्ध अन्नका भक्षण न करे । कहावत है—'जैसा खाय अन्न वैसा बने मन्न' । इसलिये हमारे यहाँ शरीरशुद्धि, अन्नशुद्धि, रज-वीर्यशुद्धिपर सबसे अधिक बल दिया गया है । अन्नका प्रभाव शरीरपर अवश्य पड़ता है । यह बात द्रोणाचार्य और द्रुपदके आचरणसे सिद्ध होती है । प्रसंग निम्नांकित है ।

द्रोणाचार्य और राजा द्रुपद एक ही गुरुकुलमें साथ-साथ पढ़ते थे । द्रुपद राजकुमार थे और द्रोणाचार्य निर्धन ब्राह्मण, किंतु गुरुकुलमें तो सभी छात्र समान-भावसे रहते थे, अतः द्रोणाचार्य और द्रुपदमें घनिष्ठ मित्रता हो गयी थी । द्रुपद कहा करते थे—विप्रवर ! जब मैं राजा हो जाऊँगा, तब आपका बड़ा सम्मान करूँगा । कालान्तरमें द्रुपद राजा हो गये । द्रोणाचार्य निर्धनतामें अपना जीवनयापन करने लगे । कृपाचार्यकी बहन कृपीके साथ उनका विवाह हो गया । अश्वत्थामा एक पुत्र भी हो गया, किंतु इतने भारी शास्त्रों और सर्वशास्त्रोंके वेत्ता होनेपर भी वे इतने निर्धन थे कि एक गौ भी न रख सकते थे !

अश्वत्थामाने अन्य ऋषि-बालकोंको दूधकी महिमा गाते देखकर अपनी माँसे दूध माँगा । माँने बहुत समझाया; किंतु बालहठ, बच्चा अड़ गया । 'मैं तो दूध पीऊँगा ही' । तब माताने जलमें आटा घोलकर बच्चेसे कहा 'ले यह दूध है, पी ले ।' बच्चेने पहले दूध कभी पिया नहीं था । आटेके जलको पीकर प्रसन्नतासे नाचता हुआ अन्य बालकोंसे कहने लगा—'मैं दूध पीकर आया हूँ ।' बच्चोंने उसका तिरस्कार करके कहा—'तेरे गौ तो है ही नहीं, दूध कहाँसे पिया ?' तब बच्चा रोने लगा । द्रोणाचार्यको बड़ा दुःख हुआ कि इतना भारी विद्वान्, शस्त्र-शास्त्रोंका महान् वेत्ता मैं एक गौ नहीं रख सकता । तब उन्हें द्रुपदकी याद आयी । वे द्रुपदके दरबारमें पहुँचे और मित्र-मित्र कहकर

राजासे मिलना चाहा। इधर राजा राजमदमें भरा सिंहासनपर बैठा था। उसने (कृष्णकी सुदामासे मिलने-जैसी बात तो दूर)समुदाचारका त्याग करके अपने उस सहपाठीका तिरस्कार किया। वह कहने लगा—'रे दरिद्र ब्राह्मण! तू गुरुकुलकी उन बातोंको भूल जा। मैत्री बराबरवालोंमें होती है। तू निर्धन ब्राह्मण, मैं मूर्धाभिषिक्त राजा, मेरी-तेरी मित्रता कैसी! तुझे 'सीधा' लेना हो तो यज्ञशालामेंसे सीधा ले ले, नहीं तो सीधे अपने घर चला जा।' द्रुपदकी उक्तिमें दम्भ था, तिरस्कार था।

ब्राह्मण उसके अपमानको सहन नहीं कर सका। यहाँ उन्होंने अपनी सहिष्णुताका त्याग कर दिया। ब्राह्मणको चाहिये कि अपमानको अमृत समझकर उसे सह ले और सम्मानको विष समझकर उससे उद्विग्न हो, किंतु बदला लेनेकी भावनासे द्रोणाचार्यने भीष्मपितामहके घरमें बच्चोंको पढ़ानेकी नौकरी कर ली। पहले आचार्योंका सदाचार यह था कि उनके घरमें विद्यार्थी पढ़ने आते थे और उन विद्यार्थियोंको भोजन देकर वे पढ़ाते थे। द्रोणाचार्यजीने इस समुदाचारके विरुद्ध आचरण किया। वे विद्यार्थियोंके घरपर भोजनके लिये स्वयं पढ़ाने गये! वे प्रतिक्रियाशील हो गये। अपने अपमानको भूले नहीं। द्रुपदसे बदला लेनेके लिये अपने शिष्योंसे यही दक्षिणा माँगी कि तुम द्रुपदको जीवित पकड़ लाओ। गुरुकी आज्ञा थी—'गुरोराज्ञा गरीयसी' गुरुकी आज्ञाका पालन शिष्यका समुदाचार है—यह विचारना उसका काम नहीं है कि आज्ञामें औचित्य पक्ष है या नहीं—'आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया।' बस कौरव-पाण्डव सेना लेकर चले गये और द्रुपदको पकड़ लाये। तब द्रोणाचार्यने व्यङ्ग्यके स्वरमें कहा—'राजन्! मैं आपसे मित्रता करना चाहता हूँ।' लज्जित द्रुपदने कहा—'ब्रह्मन्! अब तो मैं आपका बंदी हूँ, मित्रताकी क्या बात!' आचार्यने उन्हें क्षमा नहीं किया। वे बोले—'मित्रता बराबरवालोंमें होती है। तुम मुझे अब अपना आधा राज्य दे दो।' इतना कहा ही नहीं, अपितु गङ्गाके उस पारका आधा राज्य आचार्यने ले ही लिया। यह ब्राह्मण-सदाचारके विरुद्ध कार्य हुआ। राजाने आधा राज्य दे दिया, किंतु क्षत्रिय ही था, उस भी ब्राह्मणको क्षमा नहीं किया। शस्त्रोंद्वारा तो ब्राह्मणसे बदला ले नहीं सकता था, उसने अभिचा आश्रय लिया। वह ऐसे ब्राह्मणकी खोजमें चल अभिचारकर्म (मारणका तान्त्रिक प्रयोग) क द्रोणाचार्यको मार सके। सैकड़ों ब्राह्मणोंके पास ग किंतु इस क्रूर कर्मको करनेके लिये कोई ब्राह्मण तै न हुआ। उस समय शङ्ख और लिखित दो भाई त एवं कर्मकाण्डमें बड़े प्रवीण थे। राजा शङ्खके प जाकर रोने लगा। उसने कहा—'ब्रह्मन्! अ दुगुनी-चौगुनी—जितनी भी दक्षिणा कहेंगे, मैं दूँगा आप द्रोणाचार्यको मारनेके लिये मारक अभिचार-यज्ञ क दीजिये।' शङ्खने कहा—'राजन्! आप ऐसा सदाचा हीन प्रस्ताव मुझसे न करें। भला, मैं दक्षिणाके लोभ ब्राह्मणको मारनेका प्रयोग कैसे करूँ? आप किसी दूस सदाचारहीन ब्राह्मणके पास जाइये।' सदाचारी कर्म अभिचारका प्रयोग नहीं करते।

यह सुनकर राजा महर्षि शङ्खके पैर पकड़कर रो और नाना भाँतिकी अनुनय-विनय करने लगा। त ऋषिको दया आ गयी। वे बोले—'राजन्! देखो, मैं स्वयं तो ऐसा अभिचार-प्रयोग करा नहीं सकता, कि आपको एक उपाय बता सकता हूँ।'

राजाने कहा—ब्रह्मन्! उपाय ही बताइये। तब शङ्ख महर्षिने कहा—'देखो, मेरा एक छोटा भाई है, उसका नाम है लिखित। वह अतीव सदाचारहीन है, वैसे है बड़ा विद्वान्। वह जब पढ़ता था तब भी बिना आचार-विचारके खा-पी लेता था। एक दिन हम और वह साथ जा रहे थे। मार्गमें एक फल पड़ा था। उसने बिना विचारे कि यह कैसा फल है, किसका है, बिना धोये उसे उठाकर खाने लगा। ऐसा सदाचारहीन व्यक्ति ही अभिचारका क्रूर कर्म कर सकता है।' राजाके अनुनय-विनयसे लिखितने विद्वान् होते हुए भी सदाचारका त्याग करके द्रव्यके लोभसे द्रोणाचार्यको मारनेके लिये अभिचार-

गया। उसी यज्ञसे धृष्टद्युम्न उत्पन्न हुआ, जिसने लकर द्रोणाचार्यका वध किया। उसी यज्ञसे द्रौपदी उत्पन्न हुई, जो महाभारत-युद्धकी कारण बनी। समुदाचारके परित्यागसे ही महाभारतका इतना भारी युद्ध हो गया, जिसमें असंख्य प्राणियोंका संहार हुआ। इसीलिये सदाचार सबके लिये सदा पालनीय है। कैसी भी विपत्ति हो, मनुष्यको सदाचारका परित्याग नहीं करना चाहिये। इसीलिये वामनपुराणमें कहा है—

तस्मात् स्वधर्मं न हि संत्यजेत
न हापयेच्चापि तथा स्ववंशम्।
यः संत्यजेच्चापि निजं हि धर्मं
तस्मै प्रकुप्येत दिवाकरश्च॥

छप्पय—

सदाचार ही मूल कबहुँ नहिं ताकूँ त्यागे।
कदाचार ही पाप दूरि नित तातैं भागे॥
जो स्वधर्म कूँ त्यागि अन्य धर्मंहिं अपनावै।
ताकूँ होवै दुःख कबहुँ सुख वह नहिं पावै॥
द्रुपद, द्रोण अरु लिखित ने, सदाचार त्यागन कियो।
ताही तैं संहार नर समर महाभारत भयो॥
बहुतोंके मतमें महाभारत भारतके लिये अभिशाप बना।

सदाचार और पुरुषार्थ

(लेखक—श्रीरामनन्दनप्रसादसिंहजी एम्० ए०, डिप्० इन्० एड्०)

मानव-जगत्में पुरुषार्थ ऐसा प्रकाश-स्तम्भ है, जिससे मानवजीवनकी शक्ति, साहस और संकल्प जगमगा उठते हैं। सदाचारकी गङ्गोत्तरीसे संयमकी वह गङ्गा प्रवाहित होती है, जो आगे चलकर शक्तिकी यमुना और उन्नतिकी सरस्वतीसे मिलकर जीवनकी त्रिवेणीके रूपमें परिणत हो जाती है और वह वहाँसे कर्मण्यतारूपी मार्गको प्रशस्त करती हुई सफलता-सागरमें मिल जाती है। इतिहास इस बातका साक्षी है कि जो कर्मवीर अपने कर्मपथपर सदाचार, पुरुषार्थ और दृढ़ संकल्पके साथ आगे बढ़ता है, उसके मार्गसे बाधाएँ हट जाती हैं, संकटकी ऊँची घाटियाँ पराजित होकर होती हैं और जगत्में उसे सर्वोच्च यश तथा सम्मान प्राप्त होता है। इसीलिये तो सदाचार उपादेय है।

जो अपने जीवनमें सफलताकी ऊँची चोटीपर पहुँचकर विजयका ध्वज फहराना चाहते हैं, उनके लिये पुरुषार्थ दिव्य प्रकाश-स्तम्भ और सदाचार सच्चे जीवन-पथप्रदर्शकका कार्य करता है। उपन्याससम्राट् प्रेमचन्दजीकी उक्ति है—'सदाचारका उद्देश्य संयम है, संयममें शक्ति है और शक्ति ही उत्थानकी आधारशिला है।' एक पाश्चात्य दार्शनिकका कथन है कि सबसे शक्तिशाली व्यक्ति वह है, जो संयमी और सदाचारी है। संयमसे ही शारीरिक बल, मनोबल और आत्मबल दृढ़ होते हैं, अन्तर्द्वन्द्व मिटता है और चित्तकी एकाग्रता बढ़ती है। पुरुषार्थपर विश्वास ही मानवको श्रेष्ठ कार्योंके लिये प्रेरित करता है। सामाजिक उत्तरदायित्व, साहस, दृढ़ संकल्प और उच्च विचार मानव-जीवनमें आशाकी किरणें उतार लाते हैं। पुरुषार्थी और सदाचारी मनुष्य सुसंस्कृत व्यक्तित्वका प्रेरणाकेन्द्र होता है। वह अमर ज्योतिका आधार कहा जाता है। इसके विपरीत भाग्यवादी मानव पुरुषार्थका शत्रु और अपने ही अदम्य साहसका लुटेरा है। जो पुरुषार्थी और सदाचारी होता है, वह कभी घबराता नहीं; बाधाओंसे जूझकर आगे निकल जाता है। सच्चे पुरुषार्थी अपने जीवनमें लक्ष्य निर्धारितकर उसकी प्राप्तिके लिये भगीरथप्रयत्न करते हैं, क्योंकि कर्मपरायणता मानवकी सफलताकी सीढ़ी है। पुरुषार्थी सदाचार-स्थिरता मानवके सारे उत्थान-उपरान्त पर जाता है।

महान् वक्ता डिमस्थनीजका नाम कौन नहीं जानता। इन्होंने अपनी हकलाहटके कारण प्रारंभ

राजासे मिलना चाहा । इधर राजा राजमदमें भरा सिंहासनपर बैठा था । उसने (कृष्णकी सुदामासे मिलने-जैसी बात तो दूर)समुदाचारका त्याग करके अपने उस सहपाठीका तिरस्कार किया । वह कहने लगा—'रे दरिद्र ब्राह्मण ! तू गुरुकुलकी उन बातोंको भूल जा । मैत्री बराबरवालोंमें होती है । तू निर्धन ब्राह्मण, मैं मूर्धाभिषिक्त राजा, मेरी-तेरी मित्रता कैसी ! तुझे 'सीधा' लेना हो तो यज्ञशालामेंसे सीधा ले ले, नहीं तो सीधे अपने घर चला जा ।' द्रुपदकी उक्तिमें दम्भ था, तिरस्कार था ।

ब्राह्मण उसके अपमानको सहन नहीं कर सका । यहाँ उन्होंने अपनी सहिष्णुताका त्याग कर दिया । ब्राह्मणको चाहिये कि अपमानको अमृत समझकर उसे सह ले और सम्मानको विष समझकर उससे उद्विग्न हो, किंतु बदला लेनेकी भावनासे द्रोणाचार्यने भीष्मपितामहके घरमें बच्चोंको पढ़ानेकी नौकरी कर ली । पहले आचार्योंका सदाचार यह था कि उनके घरमें विद्यार्थी पढ़ने आते थे और उन विद्यार्थियोंको भोजन देकर वे पढ़ाते थे । द्रोणाचार्यजीने इस समुदाचारके विरुद्ध आचरण किया । वे विद्यार्थियोंके घरपर भोजनके लिये स्वयं पढ़ाने गये ! वे प्रतिक्रियाशील हो गये । अपने अपमानको भूले नहीं । द्रुपदसे बदला लेनेके लिये अपने शिष्योंसे यही दक्षिणा माँगी कि तुम द्रुपदको जीवित पकड़ लाओ । गुरुकी आज्ञा थी—'**गुरोराज्ञा गरीयसी**' गुरुकी आज्ञाका पालन शिष्यका समुदाचार है—यह विचारना उसका काम नहीं है कि आज्ञाका औचित्य पक्ष है या नहीं—'**आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया**।'बस कौरव-पाण्डव सेना लेकर चले गये और द्रुपदको पकड़ लाये । तब द्रोणाचार्यने व्यङ्गके स्वरमें कहा—'राजन् ! मैं आपसे मित्रता करना चाहता हूँ ।' लज्जित द्रुपदने कहा—'ब्रह्मन् ! अब तो मैं आपका बंदी हूँ, मित्रताकी क्या बात !' आचार्यने उन्हें क्षमा नहीं किया । वे बोले—'मित्रता बराबरवालोंमें होती है । तुम मुझे अब अपना आधा राज्य दे दो ।' इतना कहा ही नहीं, अपितु गङ्गाके उस पारका आधा राज्य आचार्यने ले ही लिया । यह ब्राह्मण-सदाचारके विरुद्ध कार्य हुआ ।

राजाने आधा राज्य दे दिया, किंतु क्षत्रिय होकर भी ब्राह्मणको क्षमा नहीं किया । द्रुपद तो ब्राह्मणसे बदला ले नहीं सकता था, उसने अभिचारका आश्रय लिया । वह ऐसे ब्राह्मणकी खोजमें था जो अभिचारकर्म (मारणका तान्त्रिक प्रयोग) करके द्रोणाचार्यको मार सके । सैकड़ों ब्राह्मणोंके पास गया, किंतु इस क्रूर कर्मको करनेके लिये कोई ब्राह्मण तैयार न हुआ । उस समय शङ्ख और लिखित दो भाई तप एवं कर्मकाण्डमें बड़े प्रवीण थे । राजा शङ्खके पास जाकर रोने लगा । उसने कहा—'ब्रह्मन् ! आप दुगुनी-चौगुनी—जितनी भी दक्षिणा कहेंगे, मैं दूँगा । आप द्रोणाचार्यको मारनेके लिये मारक अभिचार-यज्ञ करा दीजिये ।' शङ्खने कहा—'राजन् ! आप ऐसा सदाचार-हीन प्रस्ताव मुझसे न करें । भला, मैं दक्षिणाके लोभसे ब्राह्मणको मारनेका प्रयोग कैसे करूँ ! आप किसी दूसरे सदाचारहीन ब्राह्मणके पास जाइये ।' सदाचारी कभी अभिचारका प्रयोग नहीं करते ।

यह सुनकर राजा महर्षि शङ्खके पैर पकड़कर रोने और नाना भाँतिकी अनुनय-विनय करने लगा । तब ऋषिको दया आ गयी । वे बोले—'राजन् ! देखो, मैं स्वयं तो ऐसा अभिचार-प्रयोग करा नहीं सकता, किंतु आपको एक उपाय बता सकता हूँ ।'

राजाने कहा—ब्रह्मन् ! उपाय ही बताइये । तब शङ्ख महर्षिने कहा—'देखो, मेरा एक छोटा भाई है, उसका नाम है लिखित । वह अतीव सदाचारहीन है, वैसे है बड़ा विद्वान् । वह जब पढ़ता था तब भी बिना आचार-विचारके खा-पी लेता था । एक दिन हम और वह साथ जा रहे थे । मार्गमें एक फल पड़ा था । उसने बिना विचारे कि यह कैसा फल है, किसका है, बिना धोये उसे उठाकर खाने लगा । ऐसा सदाचारहीन व्यक्ति ही अभिचारका क्रूर कर्म कर सकता है ।' राजाके अनुनय-विनयसे लिखितने विद्वान् होते हुए भी सदाचारका त्याग करके द्रव्यके लोभसे द्रोणाचार्यको मारनेके लिये अभिचार-

डाली थीं। वह बाल्यावस्थामें तुतलाता था और उसके साथी उसकी बातोंपर हँसते थे। उस समय कौन बता सकता था कि मुखमें कंकड़ियाँ भरकर बोलनेवाला यह बालक विश्वका प्रख्यात वक्ता होकर रहेगा। वस्तुतः उस सदाचारी बालकके जीवनमें पुरुषार्थका दिव्य आलोक प्रस्फुटित हो गया था, जो विवेकसम्मत मार्ग (सन्मार्ग) पर बढ़नेके लिये उसे प्रेरित करता रहा। इसी तरह संकल्पका धनी और निर्धारित लक्ष्यकी सिद्धिके लिये व्यग्र गैलीलियो गणितका महान् पुजारी था। पुरुषार्थी गैलीलियो गणितके अध्ययनमें दिन-रात संलग्न रहा और १८ वर्षकी उम्रमें ही उसने पेंडुलम सिद्धान्तका आविष्कार कर दिया। आगे चलकर दूरवीक्षण यन्त्रकी रचना कर वह विज्ञान-जगत्‌में अमरत्वका भागी बना। यदि वह सदाचार-पूर्ण पुरुषार्थके सहारे बढ़कर निर्धारित लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये लगन और निष्ठाको नहीं अपनाता तो विश्वका प्रसिद्ध वैज्ञानिक नहीं बन पाता।

लक्ष्यकी स्थिरताके साथ-साथ आत्मविश्वास और साहस भी पुरुषार्थके अभिन्न अङ्ग हैं। आत्मविश्वासी कभी पराजित नहीं होता। इसी आत्मविश्वासने महाराणा प्रतापको अकबरसे जूझनेकी प्रेरणा दी और वीर शिवाजीको मुगल-सम्राट् औरंगजेबसे मोर्चा लेनेका साहस दिया और नेल्सनको महान् सेनापति बनाया। इसीने नेपोलियनको आल्प्स लाँघनेका उत्साह प्रदान किया था और वीर पोरसको सिकन्दरसे लड़नेकी प्रेरणा दी थी। यही आत्मविश्वास पुरुषार्थियोंका तेज, दुर्बलोंका प्रकाशदीप, जनन्ायकोंका ओज और अनाथोंका जीवन-संबल है। आत्मविश्वास सदाचारीका एक लक्षण है।

इस क्रममें यह कहना समुचित होगा कि मनुष्यमें जो शक्ति निहित रहती है, वह बड़ी-बड़ी विपत्तियोंको चकनाचूर करनेमें सक्षम होती है। मनस्वी पुरुषार्थी सूरजमलने अपनी छोटी-सी सेनाके सहारे अंग्रेजोंकी सिपाह सेनाके दाँत खट्टे किये थे। मनस्वी वीर

दुर्गादासने अपनी सीमित शक्तिके बलपर रा... शानकी रक्षा की थी। वीर शिवाजीका साहस ... भारतपर छा गया था और नेपोलियनके साहस... प्रताप था कि देखते-ही-देखते अपराजेय आल्प्स ... पाँवोंके नीचे आ गया था। इतिहासमें ऐसे अ... योद्धा मिलते हैं, जिनके साथियोंने उन्हें जीवन-सं... विफल और पराजित समझ लिया था, किंतु आत्मवि... और साहसके बलपर वे सफलताकी चोटीतक ... पहुँचे। वस्तुतः पुरुषार्थ और साहसमें नि... अमोघ शक्ति सदाचारकी देन होती है, आत्मवि... उसका एक घटक तत्त्व हैं।

पुरुषार्थीके जीवनमें एकाग्रताकी महत्ता भु... नहीं जा सकती। वह तो मानवके अभ्युत्थानकी ... सहचरी है। अपनी सफलताका मूल रहस्य बताते ... चार्ल्स किंग्सलेने कहा था—'किसी कार्यको ... समय उस कार्यके अतिरिक्त संसारकी कोई अन्य ... मेरे सामने नहीं आती।' वीरवर अर्जुनकी सफल... मूलमें भी यही एकाग्रता थी, जिसका अन्य बन्धु... अभाव था। एकलव्य और बर्बरीककी वीरता ... निपुणताका रहस्य एकाग्रतामें निहित था। ... सभी आधुनिक महान् विभूतियों—महात्मा गाँधी ... रवीन्द्रनाथ टागुर, मार्क्स और लिंकन, पण्डित ने... और सरदार पटेलकी सफलताकी आधारशिला ... यही एकाग्रता, जिसके अभावमें व्यक्तिकी ... असमयमें ही मुरझाकर नष्ट हो जाती है। एकाग्रता ... निग्रहका सुफल होती है जो सदाचारका आधार ...

सच्चे पुरुषार्थी अध्यवसायको अपने जी... मूल मन्त्र मानते हैं। भर्तृहरिने कहा है—'हम ... कर्मको ही नमस्कार करते हैं, जिसपर विधाता ... वश नहीं चलता।' महान् विचारक हरिकरकी यह ... भी इसमें है—'यदि मुझे ज्ञानकी पिपासा है तो ... करो। यदि मुझे भोजनकी आवश्यकता है तो परिश्रम ... और यदि तुम आनन्दके अभिलाषी हो तो ...

टाली थीं। वह बाल्यावस्थामें तुतलाता था और उसके साथी उसकी बातोंपर हँसते थे। उस समय कौन बता सकता था कि मुखमें कंकड़ियाँ भरकर बोलनेवाला यह बालक विश्वका प्रख्यात वक्ता होकर रहेगा। वस्तुतः उस सदाचारी बालकके जीवनमें पुरुषार्थका दिव्य आलोक प्रस्फुटित हो गया था, जो विवेकसम्मत मार्ग (सन्मार्ग) पर बढ़नेके लिये उसे प्रेरित करता रहा। इसी तरह संकल्पका धनी और निर्धारित लक्ष्यकी सिद्धिके लिये व्यग्र गैलीलियो गणितका महान् पुजारी था। पुरुषार्थी गैलीलियो गणितके अध्ययनमें दिन-रात संलग्न रहा और १८ वर्षकी उम्रमें ही उसने पेंडुलम सिद्धान्तका आविष्कार कर दिया। आगे चलकर दूरवीक्षण यन्त्रकी रचना कर वह विज्ञान-जगत्में अमरत्वका भागी बना। यदि वह सदाचार-पूर्ण पुरुषार्थके सहारे बढ़कर निर्धारित लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये लगन और निष्ठाको नहीं अपनाता तो विश्वका प्रसिद्ध वैज्ञानिक न हीं बन पाता।

लक्ष्यकी स्थिरताके साथ-साथ आत्मविश्वास और साहस भी पुरुषार्थके अभिन्न अङ्ग हैं। आत्मविश्वासी कभी पराजित नहीं होता। इसी आत्मविश्वासने महाराणा प्रतापको अकबरसे जूझनेकी प्रेरणा दी और वीर शिवाजीको मुगल-सम्राट् औरंगजेबसे मोर्चा लेनेका साहस दिया और नेल्सनको महान् सेनापति बनाया। इसीने नेपोलियनको आल्प्स लाँघनेका उत्साह प्रदान किया था और वीर पोरसको सिकन्दरसे लड़नेकी प्रेरणा दी थी। यही आत्मविश्वास पुरुषार्थियोंका तेज, दुर्बलोंका प्रकाशदीप, जननायकोंका ओज और अनाथोंका जीवन-सर्वस्व है। आत्मविश्वास सदाचारीका एक लक्षण है।

इस क्रममें यह कहना समुचित होगा कि साहसमें जो शक्ति निहित रहती है, वह बड़ी-बड़ी विपत्तियोंको चकनाचूर करनेमें सहज समर्थ होती है। साहसी, पुरुषार्थी चूड़ावतने अपनी छोटी-सी सेनाके सहारे औरंगजेबकी विशाल सेनाके दाँत खट्टे किये थे। साहसी वीर दुर्गादासने अपनी सीमित शक्तिके बलपर [illegible] शानकी रक्षा की थी। वीर शिवाजीका साहस [illegible] भारतपर छा गया था और नेपोलियनके साहसका प्रताप था कि देखते-ही-देखते अपराजेय आल्प्स [illegible] पाँवोंके नीचे आ गया था। इतिहासमें ऐसे [illegible] योद्धा मिलते हैं, जिनके साथियोंने उन्हें जीवन-सं[illegible] विफल और पराजित समझ लिया था, किंतु आत्मवि[illegible] और साहसके बलपर वे सफलताकी चोटीपर [illegible] पहुँचे। वस्तुतः पुरुषार्थ और साहसमें नि[illegible] अमोघ शक्ति सदाचारकी देन होती है, आत्मवि[illegible] उसका एक घटक तत्त्व हैं।

पुरुषार्थीके जीवनमें एकाग्रताकी महत्ता भु[illegible] नहीं जा सकती। वह तो मानवके अभ्युत्थानकी [illegible] सहचरी है। अपनी सफलताका मूल रहस्य बताते [illegible] चार्ल्स डिकिन्सने कहा था—'किसी कार्यको [illegible] समय उस कार्यके अतिरिक्त संसारकी कोई अन्य [illegible] मेरे सामने नहीं आती।' वीरवर अर्जुनकी सफल[illegible] मूलमें भी यही एकाग्रता थी, जिसका अन्य बन्धु[illegible] अभाव था। एकलव्य और बर्बरीककी वीरता [illegible] निपुणताका रहस्य एकाग्रतामें निहित था। विश्[illegible] सभी आधुनिक महान् विभूतियों—महात्मा गाँधी [illegible] रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मार्क्स और लिंकन, पण्डित नेह[illegible] और सरदार पटेलकी सफलताकी आधारशिला थी—[illegible] यही एकाग्रता, जिसके अभावमें व्यक्तिकी प्रति[illegible] असमयमें ही मुरझाकर नष्ट हो जाती है। एकाग्रता इन्द्रिय[illegible] निग्रहका सुफल होती है जो सदाचारका आधार बनती है।

सच्चे पुरुषार्थी अध्यवसायको अपने जीवन[illegible] मूल मन्त्र मानते हैं। भर्तृहरिने कहा है—'हम [illegible] कर्मको ही नमस्कार करते हैं, जिसपर विधाताका [illegible] वश नहीं चलता।' महान् लेखक रस्किनकी यह [illegible] भी द्रष्टव्य है—'यदि तुम्हें ज्ञानकी पिपासा है तो परिश्[illegible] करो। यदि तुम्हें भोजनकी आकाङ्क्षा है तो परिश्र[illegible] और यदि तुम आनन्दके अभिलाषी हो तो परिश्[illegible]

ब्रह्मचारी ध्रुव पर भगवान्

...कर्म ही प्रकृतिका नियम है।' सामी ...यह दिव्य वाणी आज भी भारतीय जन- ...रही है—'शरीर तो एक दिन जानेको ...अमनीयोंकी तरह क्यों जाय!' वस्तुत पुरुषार्थ और सदाचारके मणि-काञ्चन-संयोगसे मानव-जीवन सफल और सुरभित होता है। उसमें सूर्यका प्रताप और चन्द्रमाकी स्निग्ध ज्योत्स्नाका संगम होता है। ऐसे ही जीवनसे समाज और राष्ट्रका कल्याण होता है। व्यावहारिक सदाचारीका जीवन ऐसा ही होना चाहिये।

सदाचारी बालक ध्रुव

...काममोक्षाख्यं य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः।
...हरेस्तत्र कारणं पादसेवनम्॥
(श्रीमद्भा० ४।८।४१)

'जो कोई धर्म, अर्थ, काम या मोक्षरूप पुरुषार्थकी ...करता हो, उसके लिये इन सबको देनेवाला इनका ...कारण श्रीहरिके श्रीचरणोंका सेवन ही है।'

पाँच वर्षके बालक ध्रुवने इसे ही चरितार्थ किया। ...स्वायम्भुव मनुके दो पुत्र हुए—प्रियव्रत एवं ...पाद। महाराज उत्तानपादकी दो रानियाँ थीं—...ति एवं सुरुचि। सुनीतिके पुत्र थे ध्रुव और सुरुचिके ...उत्तम। राजाको छोटी रानी सुरुचि अत्यन्त ...थी। वे सुनीतिसे प्रायः उदासीन रहते थे। ...दिन महाराज उत्तानपाद सुरुचिके पुत्र उत्तमको ...में लेकर खेला रहे थे, उसी समय बालक ध्रुव ...खेलते हुए वहाँ पहुँचे और पिताकी ... बैठनेकी ...सुकता प्रकट करने लगे। राजाने ... गया तो वे मचलने लगे। तबतक ...ती सुरुचिने ध्रुवको इस प्रकार मचलते ...और गर्वसे कहा—'बेटा! तूने मेरे पेटसे ...लिया नहीं है, फिर महाराजकी गोदमें बैठनेका ...क्यों करता है? तेरी यह इच्छा दुर्लभ वस्तुके लिये ...पर यदि उत्तमकी भाँति तुझे भी पिताकी गोदमें ... ...सनपर बैठना हो तो पहले तपस्या करके भ... ...प्रसन्न कर और ...

तेजस्वी ... ...लग गये। वे ...

अपनी माताके पास चले गये। महाराजको भी यह बात अच्छी नहीं लगी, किंतु वे कुछ बोल न सके। ध्रुवकी मा... सुनीतिने अपने पुत्रको रोते देखकर गोदमें उठा लिया बड़े स्नेहसे पुचकारकर कारण पूछा। सब बातें सुनक... सुनीतिको बड़ी व्यथा हुई। सपत्नीका शल्य चु... गया। वे भी रोती हुई बोलीं—'बेटा! सभी लो... अपने ही भाग्यसे सुख या दुःख पाते हैं, अत... दूसरेको अपने अमङ्गलका कारण नहीं मानना चाहिये। तुम्हारी विमाता ठीक ही कहती है कि तुमने दुर्भाग्य... कारण ही मुझ अभागिनीके गर्भसे जन्म लिया। मे... अभाग्य इससे बड़ा और क्या होगा कि मेरे आरा... महाराज मुझे अपनी भार्याकी भाँति राजसदनमें रखने... लज्जित होते हैं; परंतु बेटा! तुम्हारी विमाताने ज... शिक्षा दी है, वह निर्दोष है। तुम उसीका अनुपाल... करो। यदि तुम्हें उत्तमकी भाँति राज्यासन चाहिये त... उन कमलनयन, अधोक्षज भगवान्‌के श्रीचरण-कमलोंक... ...धना करो। जिनके पादपद्मकी सेवा करके ...ने भी वन्दनीय परमेष्ठी-पदको ब्रह्माजीने प्रा... ...। तुम्हारे पितामह भगवान् मनुने यज्ञों... ...यजन करके दूसरोंके लिये दुष्प्रा... ...भोग एवं मोक्षको प्राप्त किया है ...। अनन्यभावसे आश्रय लो ...न्‌के अतिरिक्त तुम्हारा दुःख ... नहीं है। अतएव तु... ...शरण लो।'

... ध्रुव पर भगवान् विष्णु का अनुग्रह

...कृत्यं ही प्रकृतिका नियम है।' स्वामी ... वह दिव्य वाणी आज भी भारतीय जन-... रही है—'शरीर तो एक दिन जानेको ... आतसियोंकी तरह क्यों जाय!' वस्तुत पुरुषार्थ और सदाचारके मणि-काञ्चन-संयोगसे मानव-जीवन सफल और सुरभित होता है। उसमें सूर्यका प्रताप और चन्द्रमाकी स्निग्ध ज्योत्स्नाका संगम होता है। ऐसे ही जीवनसे समाज और राष्ट्रका कल्याण होता है। व्यावहारिक सदाचारीका जीवन ऐसा ही होना चाहिये।

सदाचारी बालक ध्रुव

...मोक्षाख्यं य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः।
... हरेस्तत्र कारणं पादसेवनम्॥
(श्रीमद्भा० ४।८।४१)

...धर्म, अर्थ, काम या मोक्षरूप पुरुषार्थकी ...चाहता हो, उसके लिये इन सबको देनेवाला इनका ...कारण श्रीहरिके श्रीचरणोंका सेवन ही है।'

...वर्षके बालक ध्रुवने इसे ही चरितार्थ किया। ... मनुके दो पुत्र हुए—प्रियव्रत एवं ...। महाराज उत्तानपादकी दो रानियाँ थीं—... सुरुचि। सुनीतिके पुत्र थे ध्रुव और सुरुचिके ...। राजाको छोटी रानी सुरुचि अत्यन्त ...। वे सुनीतिसे प्रायः उदासीन रहते थे। ... महाराज उत्तानपाद सुरुचिके पुत्र उत्तमको ... लेकर खेल रहे थे, उसी समय बालक ध्रुव ... हुए वहाँ पहुँचे और पिताकी गोदमें बैठनेकी ... प्रकट करने लगे। ... गोदमें नहीं ... छोटी ... तो वे मचलने लगे। त... सुरुचिने ध्रुवको इस... कहा—'बेटा! तू ... नहीं है, फिर महाराजकी ... है? तेरी यह इच्छा दुर्लभ ... उत्तमकी भाँति तुझे भी पिताकी ... बैठना हो तो पहले तपस्या ... कर और उनकी कृपासे मेरे पेटसे जन्म ...' तेजस्वी बालक ध्रुव ... गये। वे तिलमिला...

अपनी माताके पास चले गये। महाराजको भी यह बात अच्छी नहीं लगी; किंतु वे कुछ बोल न सके। ध्रुवकी माता सुनीतिने अपने पुत्रको रोते देखकर गोदमें उठा लिया। सब बातें सुनकर बड़े स्नेहसे पुचकारकर कारण पूछा। सब बातें सुनकर सुनीतिको बड़ी व्यथा हुई। सपत्नीका शल्य चुभ गया। वे भी रोती हुई बोलीं—'बेटा! सभी लोग अपने ही भाग्यसे सुख या दुःख पाते हैं, अतः दूसरेको अपने अमङ्गलका कारण नहीं मानना चाहिये। तुम्हारी विमाता ठीक ही कहती है कि तुमने दुर्भाग्यके कारण ही मुझ अभागिनीके गर्भसे जन्म लिया। मेरा अभाग्य इससे बड़ा और क्या होगा कि मेरे आराध्य महाराज मुझे अपनी भार्याकी भाँति राजसदनमें रखनेमें लज्जित होते हैं; परंतु बेटा! तुम्हारी विमाताने जो शिक्षा दी है, वह निर्दोष है। तुम उसीका अनुसरण करो। यदि तुम्हें उत्तमकी भाँति राजासन चाहिये तो उन कमलनयन, अधोक्षज भगवान्‌के श्रीचरण-कमलोंकी आराधना करो। जिनके पादपद्मकी सेवा करके योगियोंके भी वन्दनीय परमेष्ठी-पदको प्रजापतिने प्राप्त किया है तथा तुम्हारे पितामह भगवान् मनुने यज्ञोंके ... जिनका यजन करके दूसरोंके लिये दुष्प्राप्य ... स्वर्गलोकके भोग एवं मोक्षको प्राप्त किया है, ... भगवान्‌का अनन्यभावसे आश्रय लो। ... भगवान्‌के अतिरिक्त तुम्हारा दुःख ... कोई नहीं है। अतः तुम ... ही शरण लो।'

ध्रुव सब कुछ छोड़कर तपस्याके लिये चल पड़े। मार्गमें उन्हें नारदजी मिले। देवर्षिने ध्रुवकी दृढ़ निष्ठा और निश्चय देखकर द्वादशाक्षर-मन्त्र **'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'**की दीक्षा दी और भगवान्‌की पूजा तथा ध्यान-विधि बताकर यमुनातटपर मधुवनमें जानेका आदेश दिया। ध्रुवको भेजकर नारदजी उत्तानपादके पास आये। राजाने जब सुना कि ध्रुव वनको चले गये, तब वे अत्यन्त चिन्तित हुए। अपने व्यवहारपर उन्हें बड़ी ग्लानि हो रही थी। देवर्षिने आश्वासन देकर शान्त किया।

ध्रुव मधुवनमें यमुनातटपर श्रीकालिन्दीके पापहारी प्रवाहमें स्नान करके जो कुछ फल-पुष्प मिल जाता, उससे भगवान्‌की पूजा करते हुए द्वादशाक्षर-मन्त्रका अखण्ड जप करने लगे। पहले महीने तीन दिन उपवास करके, चौथे दिन कैथ और बेर खा लिया करते थे। दूसरे महीने सप्ताहमें एक बार वृक्षसे स्वयं टूटकर गिरे पत्ते या सूखे तृणका भोजन करके भगवान्‌के ध्यानमें तन्मय रहने लगे। तीसरे महीने नौ दिन बीत जानेपर केवल एक बार जल पी लेते थे। चौथे महीनेमें तो बारह दिनपर एक बार वायु-पान करना प्रारम्भ कर दिये और पाँचवें महीनेमें श्वास लेना भी छोड़ दिये। प्राणको वशमें करके भगवान्‌का ध्यान करते हुए पाँच वर्षके बालक ध्रुव एक पैरसे खड़े रहने लगे। अद्भुत तपस्या थी उस बालककी!

जब वे एक पैर बदलकर दूसरा रखते, तब उनके तेजोभारसे पृथ्वी जलमें नौकाकी भाँति डगमगाने लगती थी। उनके श्वास न लेनेसे तीनों लोकोंके प्राणियोंका श्वास बंद होने लगा। श्वासावरोधसे पीड़ित देवता भगवान्‌की शरणमें गये। भगवान्‌ने देवताओंको आश्वासन दिया—'बालक ध्रुव सम्पूर्णरूपसे मुझमें चित्त लगाकर प्राण रोके हुए है, अतः उसके प्राणायामसे ही आप सबका श्वास रुका है। अब मैं जाकर उसे इस तपसे निवृत्त करूँगा।' तपस्याके सदाचारसे 'प्रभु' भी परवश हो जाते हैं।

जब भगवान् गरुड़पर बैठकर ध्रुवके पास आये, तब ध्रुव इतने तन्मय होकर ध्यान कर रहे थे कि उन्हें कुछ भी ज्ञात न हो सका। भगवान् श्रीहरिने अपना स्वरूप-ध्यान ध्रुवके हृदयमेंसे अन्तर्हित कर दिया। हृदयमें भगवान्‌का दर्शन न पाकर व्याकुल होकर जब ध्रुवने नेत्र खोले तो अनन्त सौन्दर्य-माधुर्य-धाम साक्षात् भगवान्‌को सामने देखकर उनके आनन्दकी सीमा नहीं रही। हाथ जोड़कर वे भगवान्‌की स्तुति करनेके लिये उत्सुक हुए, पर क्या स्तुति करें—यह समझ ही न सके। दयामय प्रभुने ध्रुवकी उत्कण्ठा देखी। उन्होंने अपने निखिल-श्रुतिरूप शङ्खसे तपस्वी बालक ध्रुवके कपोलको छू दिया। बस, उसी क्षण ध्रुवके हृदयमें तत्त्वज्ञानका प्रकाश हो गया। वे सम्पूर्ण विद्याओंसे सम्पन्न हो गये। अब उन्होंने बड़े प्रेमसे बड़ी ही भावपूर्ण स्तुति की जो विष्णुपुराण आदि अनेक पुराणोंमें उपनिबद्ध है।

भगवान्‌ने ध्रुवको वरदान देते हुए कहा—'वत्स ध्रुव! यद्यपि तुमने माँगा नहीं, किंतु मैं तुम्हारी हार्दिक इच्छाको जानता हूँ। तुम्हें वह पद देता हूँ, जो दूसरोंके लिये दुष्प्राप्य है—सत्य ही, उस अविचल पदपर अबतक दूसरा कोई भी नहीं पहुँच सका है। सभी ग्रह, नक्षत्र, तारामण्डल जिसकी प्रदक्षिणा करते हैं, वह ध्रुवका अटल उत्तमपद है।

पिताके वानप्रस्थ लेनेपर तुम पृथ्वीका दीर्घकालतक शासन करोगे और फिर अन्तमें मेरा स्मरण करते हुए उस सर्वश्रेष्ठ, ब्रह्माण्डके केन्द्रभूत धाममें पहुँचोगे, जहाँ जाकर फिर संसारमें लौटना नहीं पड़ता।' इस प्रकार वरदान देकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। इस तरह ध्रुवने सत्य-संकल्प हो गुरुनिष्ठा, आत्मसंयम तथा तितिक्षायुक्त तपस्या-व्रत धारण करके संसारके समक्ष आदर्श तथा सदाचारका अप्रतिम उदाहरण प्रस्तुत कर दिया।

दयाकी प्रतिमूर्ति राजा रन्तिदेव

कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्' रन्तिदेव राजा थे—संसारने ऐसे राजाको कभी कदाचित् देखा हो। एक राजा और वह अन्नके बिना भूखों मर रहे हो। वह भी अकेला नहीं; उसकी स्त्री और बच्चे भी कहना चाहिये कि राजाके साथ रानी और राजकुमार सब भूखों मर रहे थे। अन्नका एक दाना भी के मुखमें पूरे अड़तालीस दिनोंसे न गया था। तो दूर—जलके भी दर्शन नहीं हुए थे, उन्हें।

राजा रन्तिदेवको न शत्रुओंने हराया था, न डाकुओं-दिया था और न उनकी प्रजाने उनके प्रति विद्रोह किया। उनके राज्यमें अकाल पड़ गया था। अवर्षण जब लगातार कईं वर्षोंतक चलता रहे—प्रजा भूखी रहे तो राजाको भी उपवास करना चाहिये, यह समुदाचारीय मान्यता राजा रन्तिदेवकी। राज्यमें अकाल पड़ा, अन्नके अभावसे प्रजा पीड़ित हुई—राज्यकोश और अन्नागारमें कुछ था, पूरा-का-पूरा वितरित कर दिया गया।

जब कोश और अन्नागार रिक्त हो गये—राजाको भी रानी तथा पुत्रके साथ राजधानी छोड़नी पड़ी। पेटके कभी न भरनेवाले गड्ढेमें डालनेके लिये उन्हें भी तो कुछ चाहिये था। राजमहलकी दीवारोंको खाकर पेट कैसे भरते! लेकिन पूरे देशमें अवर्षण चल रहा था। कूप और सरोवरतक सूख गये थे। पूरे अड़तालीस दिन बीत गये, अन्न-जलके दर्शन न हुए।

उनचासवाँ दिन आया। किसीने महाराज रन्तिदेवको पहचान लिया था। सवेरे ही उसने उनके पास थोड़ा-सा घी, खीर, हलवा और जल पहुँचा दिया। भूख-प्याससे व्याकुल, मरणासन्न उस परिवारको भोजन क्या मिला, जैसे जीवन-दान मिला। लेकिन भोजन मिलकर भी मिला नहीं था। महाराज रन्तिदेव प्रसन्न ही हुए, जब उन्होंने एक ब्राह्मण अतिथिको आये देखा। तब इस स्थितिमें भी अतिथिको भोजन कराये बिना भोजन करनेके दोषसे बच जानेकी अपार प्रसन्नता हुई, उन्हें। ब्राह्मण अतिथि भोजन करके गये ही थे कि एक भूखा शूद्र आ पहुँचा। महाराजने उसे भी आदरसे भोजन कराया। लेकिन शूद्रके जाते ही एक दूसरा अतिथि आया। यह नया अतिथि अन्त्यज था और उसके साथ जीभ निकाले, हाँफते कई कुत्ते थे। वह दूरसे ही पुकार रहा था—'मैं और मेरे कुत्ते बहुत भूखे हैं! मुझे कृपा करके कुछ भोजन दीजिये।'

समस्त प्राणियोंमें जो अपने आराध्यको देखता है, वह किसी याचकको अस्वीकार कैसे कर दे—अपने प्रभु ही जब भूखे बनकर भोजन माँगते हों। रन्तिदेवने बड़े आदरसे पूरा भोजन इस नये अतिथिको दे दिया। वह और उसके कुत्ते तृप्त होकर चले गये। अब बचा था थोड़ा-सा जल। उस जलसे ही रन्तिदेव अपना कण्ठ सींचने जा रहे थे।

'महाराज! मैं बहुत प्यासा हूँ, मुझे पानी पिला दीजिये!' तबतक एक चाण्डालकी पुकार सुनायी पड़ी। वह सचमुच इतना प्यासा था कि उसका कण्ठ सूख गया था, वह बड़े कष्टसे बोल रहा है—यह स्पष्ट प्रतीत होता था। महाराज रन्तिदेवने जलका पात्र उठाया, उनके नेत्र भर आये। उन्होंने सर्वव्यापक सर्वेश्वरसे प्रार्थना की—'प्रभो! मैं ऋद्धि-सिद्धि आदि ऐश्वर्य या मोक्ष नहीं चाहता। मैं तो चाहता हूँ कि समस्त प्राणियोंके हृदयमें मेरा निवास हो। उनके सब दुःख मैं भोग लिया करूँ और वे सुखी रहें। यह जल इस समय मेरा जीवन है—मैं इसे जीवित रहनेकी इच्छावाले इस चाण्डालको दे रहा हूँ। इस कर्मका कुछ पुण्य-फल हो तो उसके प्रभावसे संसारके प्राणियोंके भूख, प्यास, श्रान्ति, दीनता, शोक, विषाद और मोह नष्ट हो जायँ। संसारके सारे प्राणी सुखी हों!'

उस चाण्डालको राजा रन्तिदेवने जल पिला दिया। लेकिन वे स्वयं—उन्हें अब जलकी आवश्यकता कहाँ थी! अब तो भिक्षुक वेश बनाकर उनके अतिथि होनेवाले त्रिभुवनाधीश ब्रह्मा, भगवान् विष्णु, महादेव शिव और धर्मराज स्वयं अपने रूपोंमें प्रत्यक्ष खड़े थे, उनके सम्मुख

सदाचारका आदर्श—सादा जीवन उच्च विचार

(लेखक—डॉ० श्रीलक्ष्मीप्रसादजी दीक्षित, एम्० एस्‌सी०, पी‌एच्० डी०)

सभी प्राणी सुख चाहते हैं और वे जो कुछ भी करते हैं, वे सुखप्राप्तिके लिये ही करते हैं। किंतु किस आचरणसे सही अर्थमें दुःखाभाव होता है, इसका ज्ञान कम ही लोगोंको होता है और ऐसे सदाचारको जीवनमें उतारनेमें विरले ही सफल होते हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि हमारा जीवन दुःखालय बना हुआ है। समस्त संसारमें त्राहि-त्राहि मची हुई है। हम ऐशो-आरामकी चीजें जुटानेमें जी-जानसे लगे हुए हैं। हम विलासिताको ही, जो अत्यन्त क्षणभङ्गुर है, सुख मान बैठते हैं। स्त्री, पुत्र, गृह, धन, आयु और यौवन—ये सभी नश्वर हैं। हम इस वास्तव सत्यको भूल जाते हैं। इन्हींकी प्राप्तिके लिये हम अहर्निश खून-पसीना बहा रहे हैं। हमारी जड़पूजा-परायणता बढ़ती जा रही है और इस जड़पूजाके लिये हम पाप करनेमें भी नहीं हिचकते। सदाचार, संयम और सरलताका ह्रास होता जा रहा है। 'मन मैला तन उजला' आज अधिक चरितार्थ हो रहा है। ऐसे विषम समयमें सादा जीवन ही इस जड़पूजा-परायणतासे हमारा उद्धार कर सकता है। यह कर्मभूमि है और हमें हमारे कर्मानुसार ही फलोपलब्धि होती है। इस तथ्यको पूज्य गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने बड़े ही स्पष्ट शब्दोंमें व्यक्त किया है—

करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥
(मानस, अयोध्याकाण्ड)

सादा जीवन जीनेकी सर्वोच्च कला है और सच्चे सुखप्राप्तिका सर्वोत्तम साधन है। स्वयं श्रीरामने अपने मुखारविन्दसे सदाचारी संतोंकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥
(। ४३ । ३)

वे श्रीनारदजीसे संत-स्वभावका वर्णन करते हुए कहते हैं—

सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहि सन प्रीती॥
× × × ×
श्रद्धा छमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया॥
× × × ×
दंभ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ॥
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु रहित परहित रत सीला॥
(मानस ३ । ४५ । २, ४, ६-७)

मनुष्यका सर्वोच्च विचार गणितके किसी सूत्र या क्रान्तिकारी तकनीकीमें निहित नहीं है। संसारके सभी महान् पुरुषोंने 'परहित-विचार' को ही मानवका उत्तम विचार माना है। श्रीगोस्वामीजीने भी इसको मानसमें प्रतिपादित किया है—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥
(मानस ७ । ४० । १)

सदाचरणका यही बीजमन्त्र है। जबतक मनुष्यके मनमें यह समा नहीं जाता, तबतक वह सदाचारीका स्वाँग तो कर सकता है; परंतु वस्तुतः सदाचारी हो नहीं सकता।

विचाराचारका नित्य सम्बन्ध—मनुष्यके विचारों और उसकी कर्मोंमें प्रवृत्ति दोनोंका अनादि पारस्परिक सम्बन्ध है। बृहदारण्यकोपनिषद्‌में ऋषिका स्पष्ट उद्घोष है—

'स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति, यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते।
(४ । ४ । ५)

मनुष्य जैसी कामनावाला होता है, वैसा ही संकल्प करता है। जैसा संकल्पवाला होता है, वैसा ही कर्म करता है और जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल प्राप्त

सन है।' इसी तथ्यको अन्यत्र भी व्यक्त किया गया है—'आपके जैसे विचार होंगे, वैसे ही आप हो सकेंगे।' स्वयं भगवान् कृष्णने अपने श्रीमुखसे इस स्पष्टे एवं अपृथक्करणीय सम्बन्धको समझाकर उच्च विचारोंमें मनको रमानेकी प्रेरणा दी है। तदनुसार यदि हमारा मन उच्च विचारोंसे परिपूर्ण नहीं है और मनके द्वारा विषयोंका चिन्तन होता है, तो हमारी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है। आसक्तिसे (उन विषयोंकी) कामना उत्पन्न होती है, कामना (में विघ्न पड़ने) से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोधसे मूढ़भाव उत्पन्न होता है, मूढ़भावसे स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है, स्मृतिके भ्रमित हो जानेसे ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिके नाश होनेसे (यह पुरुष) अपने श्रेय साधनसे गिर जाता है। सदाचरणानुसार ही हमारे विचार भी बनते हैं। गोस्वामीजीके शब्दोंमें—

कोमलचित दीनन्ह पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया॥
सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥ ...
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥
(मानस ७। ३७। ३—८)

यह है सदाचरण करनेवाले संतोंका स्वभाव। इसके विपरीत अनाचरण, दुराचरण करनेवाले असंतोंका स्वभाव कैसा है, यह भी देखें—

काहू की जौं सुनहिं बड़ाई। स्वास लेहिं जनु जूड़ी आई॥
जब काहू कै देखहिं बिपती। सुखी भए मानहुँ जग नृपती॥
(मानस ७। ३९। २-३)

जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें सादा जीवन वाञ्छनीय तथा मान्दनीय है। यदि हर व्यक्ति सादा जीवन जीने लगे तो अधिकांश सामाजिक कुरीतियोंका, राजनीतिक कुनीतियोंका और पारिवारिक कलहोंका स्वतः नाश हो जाय। व्यापारिक-वाणिज्य क्षेत्रमें व्याप्त असंतोष, अविश्वास, असहिष्णुता, पर-शोषण-नीति आदिका ह्रास भी प्रारम्भ हो जाय। हमारे देशमें आज सादे जीवनकी सर्वाधिक आवश्यकता है। इसपर सभी विचारक, राष्ट्र नेता या सुधारक जोर भी दे रहे हैं। परंतु हमारी शिक्षा-दीक्षा, सामाजिक व्यवस्था और सादा जीवनमें विरोधाभास है। मानव-मूल्योंमें गिरावट इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। यदि हम अपने ऋषियोंद्वारा प्रतिपादित तथा समर्थित मानव-मूल्योंकी पुनः स्थापना कर सकें तो इस विरोधाभासका परिहार हो जायगा और सादे जीवन-के साथ हमें पुन. उच्च विचारका तत्त्वज्ञान भी सुलभ हो जायगा। हमें भौतिक सुख-सुविधाओंसे नहीं, अपितु भौतिक-वादी दृष्टिकोणसे मुँह मोड़ना है। भौतिक सुविधाओं और सादा जीवनमें कोई विरोध नहीं है। सादा जीवन सर्वोदयभावनापर आधारित है और यह उच्च विचारोंका परिणाम है।

मनुष्यके अन्तिम और परम ध्येयकी उपलब्धि भी सादे जीवनसे ही सम्भव है। (भारतीय संस्कृतिमें परमात्म-प्राप्ति ही परम उपलब्धि मानी जाती है।) परमात्मप्राप्तिहेतु अनेक मार्गोंका निर्देशन किया गया है—भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग, कर्मयोग आदि। सादे जीवनके बिना इनमेंसे एकको भी नहीं साधा जा सकता और कर्मयोग तो सादा जीवनका पर्याय माना जा सकता है। सादा जीवन-यापन करनेवाला वस्तुतः कर्मयोगी ही है। वह सदाचरण कर्तव्यके नाते करता है, ... कारण नहीं। फलासक्ति व्यक्तिको साधन-शुद्धिके ध्यानसे च्युत कर देती है। अनासक्ति साधन-शुद्धिपर अधिक जोर देती है, फलपर नहीं। सादा जीवनमें मान, दम्भ, कपट आदिका प्रायः अभाव होता है। इन ... रहित हृदयमें ही प्रभु विराजते हैं।

सदाचार और शिष्टाचार

(लेखक—पं० श्रीउमेशकुमारजी शर्मा, गौड़)

भारतवर्षकी सदाचार-पद्धति बहुत ही विशिष्ट और सर्वजनस्पृहणीय है । ध्यान देनेसे ज्ञात होता है कि सदाचार-पद्धतिके आविष्कारक ऋषि-महर्षियोंने स्वयं भी सदाचार-पद्धतिके अनुरूप ही अपना समस्त जीवन व्यतीत किया था और उन्होंने अपने जीवनमें सदाचारका जो फल प्रत्यक्ष अनुभव किया था, उसको अपनी स्मृतियों तथा पुराणोंमें स्थान देकर मानव-जातिका महान् उपकार किया है । आज भी हम जब अपने पूर्वज—ऋषि-महर्षि-प्रणीत सदाचारपूर्ण धर्मग्रन्थोंको देखते हैं तो उनमें सदाचारका बहुत ही आदर्शपूर्ण वर्णन मिलता है, जिसके अनुसार यदि आचरण किया जाय तो निश्चित ही मनुष्यका जीवन आदर्शमय बन सकता है ।

भारतवर्षकी सदाचार-परम्परा देश-देशान्तरमें प्रसिद्ध है । भारतके सदाचारसम्पन्न महापुरुषोंके विशिष्ट गुणोंसे प्रभावित होकर ही अन्य देशोंके निवासी भारतको 'जगद्गुरु' कहते हैं । दुःखका विषय है कि आज उसी भारतके निवासी अपने पूर्वजोंके निर्दिष्ट सदाचारका त्यागकर भ्रष्टाचारकी ओर प्रवृत्त हो गये हैं, जिससे उनमें स्वेच्छाचारिता, अनुशासनहीनता एवं आचरणहीनता आदि कुप्रवृत्तियोंका प्रादुर्भाव होता जा रहा है और राग-द्वेष, असत्य, अन्याय, पापाचार, व्यभिचार और चोरबाजारी आदिकी उग्ररूपसे वृद्धि हो रही है, इससे सारा भारत सब प्रकारसे दुःखित और पीड़ित है । अतः सर्वविध कष्टोंसे बचनेके लिये पूर्वकालीन ऋषि-महर्षि-प्रणीत भारतीय सदाचार-पद्धतिका अनुसरण करना चाहिये । ऋषि-महर्षियों-द्वारा निर्दिष्ट सदाचारका पालन करनेसे मनुष्यको निश्चित ही सुख-शान्ति

हमारे स्मृतिकार ऋषि-महर्षियोंने अपने-अपने ध
ग्रन्थोंमें बतलाया है कि अपने माता, पिता और गुरु
देवता समझकर उन्हें प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर स
प्रथम प्रणाम करना चाहिये । माता, पिता आ
गुरुजनोंको नित्य प्रणाम करनेसे अनेक लाभ होते हैं—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्
(मनुस्मृति २ । १२१

'जिस मनुष्यका अपने गुरुजनोंको प्रणाम करनेका स्वभाव है और जो नित्य वृद्धोंकी सेवा करता है उसकी आयु, विद्या, यश और बल—ये चार वस्तुएँ वृद्धिगत होती हैं ।' इसी प्रकार ऋषि-मुनियोंने हमारे लिये प्रातःकाल उठनेके बादसे रात्रिमें शयनतकके जो-जो आवश्यक कर्तव्य बतलाये हैं, उनके पालनसे सबका कल्याण निश्चय ही होता है । श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा जो आचरण किया जाता है, उसीके अनुसार नित्य आचरण करना चाहिये ।

'श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा निर्धारित सदाचारका पालन करते हुए सदाचारमय जीवन व्यतीत करना ही प्रत्येक मनुष्यका परम धर्म है । सदाचारमय जीवनसे मनुष्यकी सर्वविध उन्नति होती है । सदाचारी मनुष्यकी सर्वत्र प्रशंसा और प्रतिष्ठा होती है तथा देवता भी सहायता करते हैं । अतः मनुष्यको सदा सदाचारी बननेका प्रयत्न करना चाहिये । सदाचारी पुरुष जहाँ रहते हैं, वह भूमि पवित्र, गृह देवालय और स्थान तीर्थस्वरूप बन जाते हैं । सदाचारी पुरुषोंमें क्षमा, दया, धैर्य, सन्तोष, शान्ति आदि सद्गुणोंकी, तेज, ओज एवं ऐश्वर्य आदि विशिष्ट विभूतियोंकी और शक्ति, पराक्रम, दृढ़ता एवं प्रताप आदि उच्चभावोंकी स्थिति रहती

है। अतः समस्त प्रकारके विशिष्ट ऐश्वर्योंकी प्राप्तिके लिये सदाचारी बनना परमावश्यक है।

मनुष्यके लिये जिस प्रकार सदाचारका पालन आवश्यक है, उसी प्रकार शिष्टाचारका भी पालन आवश्यक है। सदाचारकी तरह शिष्टाचार भी विशेष महत्त्व रखता है, अतः हम यहाँ भारतीय शिष्टाचारके सम्बन्धमें कतिपय आवश्यक बातोंका उल्लेख करते हैं, जिनका पालन प्रत्येक शिष्ट पुरुषके लिये आवश्यक है। ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर अपने गुरुजनोंको चरणस्पर्श-पूर्वक प्रतिदिन प्रणाम करना चाहिये। अपने घरोंमें आये हुए साधु-महात्मा, विद्वान्, ब्राह्मण और अतिथिका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सम्मान करना चाहिये। किसीके पीछे उसकी निन्दा या उसपर आक्षेप नहीं करना चाहिये। देवता, ब्राह्मण, साधु, महात्मा, गुरु, वेद और पतिव्रता स्त्रीकी निन्दा और परिहास नहीं करना चाहिये। यथाशक्ति दीन-दुःखियोंकी रक्षा और सहायता करनी चाहिये। अपनेसे बड़ोंकी तरफ पीठ करके बैठना और चलना नहीं चाहिये। अपनेसे बड़ोंको सदा 'आप' कहकर बोलना चाहिये। गुरु, माता, पिता और देवताकी तरफ पैर फैलाकर न तो बैठना चाहिये और न शयन ही करना चाहिये। अपनेसे बड़ों और छोटोंकी शय्या अथवा आसनपर सोना या बैठना नहीं चाहिये। राजा, ब्राह्मण, अपनेसे श्रेष्ठ, विद्वान्, गर्भवती स्त्री, गूँगा, लँगड़ा, अंधा, बहरा, पागल, बालक और नशेबाजके लिये मार्ग छोड़ देना चाहिये। अपने गुरुजनोंके दोष दूसरोंसे न तो कहना चाहिये और न सुनना ही चाहिये। गुरुजनोंका दोष देखना भी नहीं चाहिये।

किसीके साथ विश्वासघात, अभिमान, दुष्टता और कठोरता नहीं करनी चाहिये। किसीको दुःखदायी कटुवाक्य कहना अथवा गाली आदि नहीं देनी चाहिये। क्रोध और अभिमानसे सर्वथा बचना चाहिये। पराये धनको मिट्टी और परायी स्त्रीको माता समझना चाहिये। आलस्यसे, अन्नदोषसे, चोरीसे और व्यभिचारसे सर्वदा बचना चाहिये। जूठे मुँह गौ, ब्राह्मण, अग्नि, देवता और सिरका स्पर्श नहीं करना चाहिये। एक वस्त्रसे भोजन और देवपूजन नहीं करना चाहिये। बिना वस्त्र पहने स्नान और शयन नहीं करना चाहिये। स्नान करनेके बाद शरीरमें तेल नहीं लगाना चाहिये। सूर्योदय और सूर्यास्तके समय शयन नहीं करना चाहिये। दूसरे व्यक्तिके पहने हुए वस्त्र और जूते नहीं पहनने चाहिये। दिनमें उत्तराभिमुख और रात्रिमें दक्षिणाभिमुख बैठकर मल-मूत्रका त्याग करना चाहिये।

ब्राह्मण, गौ, अग्नि, सूर्य और देवमन्दिरके समीपमें मल-मूत्रका त्याग करना सर्वथा निषिद्ध है। पवित्र स्थान, नदीके किनारे, जोते हुए खेत, वृक्षके नीचे, मार्गमें और गौओंके बाड़ेमें भी मल-मूत्रका त्याग करना वर्जित है। मल-मूत्रके त्याग करते समय बोले नहीं मौन रहना चाहिये। बालोंकी सजावट, दाँतका धोना और शीशेमें मुख देखना—ये सब पूर्वाह्णमें ही कर लेना चाहिये। दूसरोंकी मर्यादा और प्रतिष्ठाका सदा ध्यान रखना चाहिये।

पड़ोसीधर्म और सदाचार

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

'पड़ोसीको प्यार करो !'—'Love one's neighbour as oneself.'—यह है 'प्रभु ईसाद्वारा दिया गया, सदाचारका एक सूत्र! कैसा प्यार ? वैसा ही प्यार, जैसा तुम अपने-आपकेलिये करते हो!' इससे तुम्हारा जीवन निश्छल, शान्त और मधुर बन जायगा।

कानूनदाँ प्रश्नकर्ता पूछता है—'प्रभो! कौन है मेरा पड़ोसी ! किसे मानूँ मैं अपना पड़ोसी ?' इस पर ईसा एक पहेली बुझाते हुए कहते हैं—'एक यहूदी अमीर आदमी यरुशलमसे यरीहो जा रहा था। उसे रास्तेमें डाकुओंने घेर लिया। उसके कपड़े उतार लिये और मार-पीटकर उसे अधमरा-सा कर दिया। बेचारा यात्री लाचार होकर वहीं पड़ा रहा। उसी राहसे एक यहूदी पादरी निकला। वह उससे कतराकर निकल गया। थोड़ी देर बाद एक दूसरा यहूदी पादरीका सहायक उधरसे निकला। वह भी उससे कतराकर निकल गया। दोनोंके बाद एक सामरी यात्री उधरसे निकला। उस घायलको देखकर उसका जी भर आया। (यहूदी लोग सामरियावालोंको अपना पड़ोसी नहीं मानते; उन्हें 'विदेशी' और 'शत्रु' मानते हैं।) सामरीने उसके पास जाकर तेल और अंगूरका रस डालकर उसे पट्टियाँ बाँधी। फिर वह उसे अपनी सवारीपर बैठाकर एक सरायमें ले गया और उसकी अच्छी सेवा-शुश्रूषा की। दूसरे दिन जब वह सामरी यात्री सरायसे जाने लगा तो उसने एक भटियारेको एक रुपया देते हुए कहा—'देख भाई! इस यहूदीकी ठीक तरहसे देख-रेख करना। यदि पैसा और कुछ खर्च करो तो लाकर देना। मैं लौटते समय तुझे भर दूँगा।'

इसके बाद ईसा पूछते हैं—'तू अब कह, [illegible] करते हुए इन [illegible] कौन था?' वह बोला—'वही सामरी, जिसने उसपर दया की।' ईसाने कहा—'जा, तू भी ऐसा ही कर।' जि हृदयमें प्रेम है, उसके लिये हर आदमी पड़ो है, फिर वह चाहे किसी भी जातिका क्यों न हो (Luke 10. 27—37)

मोटे तौरपर हम ऐसा मानते हैं कि हम जिस पड़ोसमें रहते हैं—वह हमारा पड़ोसी है। जिस मकानकी दीवाल हमारे मकानकी दीवालसे सटी है, अथवा जो हमारे आस-पास, अगल-बगल, पूरब पश्चिम, उत्तर-दक्षिण रहता है, जो नित्य हमारे सामने पड़ता है—वही है, हमारा पड़ोसी! जो हमारे खेतमें रहता है, हमारी सड़कपर रहता है, हमारे टोलेमें रहता है—हमारा पड़ोसी वही है। बात ठीक भी है। पास-पड़ोसमें—निकटमें रहनेवाला पड़ोसी होता ही है। पर हमने क्या इस निकटतापर कभी सोचा है? दीवालें मिली हैं, मकान मिला है, गली-सड़क मिली है, पर यदि दिल नहीं मिला तो गली-दीवाल मिलनेसे क्या! तब वह कैसा हमारा पड़ोसी? हम देखते हैं, प्रायः देखते हैं; लोग एक मकानमें एक ही छतके नीचे रहते-सोते हैं, एक आँगन बरतते हैं, एक साथ एक रसोईमें भोजन करते हैं, पर एक-दूसरेसे [illegible] नाता नहीं। एक दूसरेमें कोई दिलचस्पी नहीं। और जब एक घरके लोगोंकी यह दशा है, तब पास-पड़ोसवालोंकी तो दूर है, बहुत दूर—उनकी बात ही क्या!

एक बार एक सज्जन विनोबाजीसे आकर कहने लगे—'हम दो आदमी एक साथ भोजन करते हैं, पर हमारी दिल नहीं मिलता। मैंने अब अलग चौका करनेका तय किया है।' विनोबाजीने पूछा—'क्यों?' बोले—'मैं सात्त्विक [illegible] हूँ, वे नहीं हैं। वे [illegible]

छेरे वे नरमियाँ नहीं रह सकते। अतः उनके अलग मुझे ठीक नहीं लगता।'

विनोबाजीने पूछा—'क्या एक घरमें रहनेसे आपकी मिठाई उनके पेटमें चली जायगी? आप दोनोंमें जो व्यवहार चल रहा है, वही ठीक है। जबतक आप दोनों एक साथ रहते हैं, तबतक उनके निकट आनेकी सम्भावना है। एकाध बार आप वे नरमियाँ लेनेका आग्रह भी करेंगे। लेकिन यदि न दोनोंके बीच स्वार्थके रक्षाकी दीवार खड़ी हो जायगी भेद चिरस्थायी हो जायगा। हम सब भारतीय कहते हमारे सन्त पुकार-पुकारकर कहते हैं कि ईश्वर सर्व-व्यापी है, सर्वत्र है; फिर दीवारकी ओटमें छिपनेसे क्या ? इससे दोनोंका अन्तर थोड़े ही घटेगा!'

'धीरेनदा'—धीरेन्द्रभाई मजूमदार—सर्वोदयके वृद्ध सेवक हैं। कुछ दिनों पहले बिहारमें भ्रमणके दौरान उन्होंने एक आन्दोलन चलाया—'अपने-अपने चूल्हे जोड़ो।' गाँवोंमें उन्होंने देखा कि एक परिवारोंमें एक ही मकानमें, एक ही आँगनमें कई-कई चूल्हे जल रहे हैं। उन्हें यह बात अटपटी लगी। एक ही घरमें रहनेवाले सगे भाई-भतीजेके अलग-अलग चूल्हे! यह तो ठीक नहीं। तब उन्होंने चूल्हे जोड़नेका आन्दोलन शुरू कर दिया। उनकी मान्यता है कि एक घरमें यदि एक चूल्हा जलेगा तो पास-पड़ोसवालोंको भी मिल-जुलकर रहनेकी, एकता-की—प्रेमकी प्रेरणा मिलेगी और इस तरह हम धीरे-धीरे 'वसुधैव कुटुम्बकम्'की दिशामें बढ़ने लगेंगे।

ईसाके भक्तोंकी संसारमें बहुत बड़ी संख्या है। वे लाखों-करोड़ोंमें नहीं, अरबोंमें हैं। पर उनके 'पड़ोसीको प्यार करो'—सूत्रको कितने लोग मानते हैं, सच्चे जीसे मानते हैं? ईसाई लोग इस सूत्रका पालन करते होते तो संसारके सारे लड़ाई-झगड़े सदाके लिये समाप्त हो जाते। पर कहाँ हुआ है, ऐसा? आइये, इस सूत्रपर थोड़ा गहराईसे विचार करें। पड़ोसीको प्यार करनेका अर्थ क्या है? यही कि सबके साथ हिल-मिलकर रहना।

सन्त बेनेडिक्टने इसके लिये तीस लक्षण बताये हैं, वे हैं—'पड़ोसीसे प्यार करो। किसीकी हत्या मत करो। किसीके साथ व्यभिचार मत करो। किसीकी चीजकी लिप्सा—चोरी मत करो। झूठी गवाही मत दो। सभी मनुष्यों—स्त्री-पुरुषोंका आदर करो। अपने प्रति जो व्यवहार न चाहो, वैसा व्यवहार किसी दूसरेके प्रति भी मत करो। गरीबोंकी सेवा-सहायता करो। नंगोंको कपड़ा दो। बीमारोंको देखने जाओ। मृतक शवका सत्कार करो। किसीपर क्रोध मत करो। किसीसे बुराईका बदला लेनेकी भावना मत रखो। किसीसे छल-कपट मत करो। दयाशून्य मत बनो। किसीकी निन्दा न करो। किसीसे ईर्ष्या-डाह मत करो। लड़ाई-झगड़ेमें दिलचस्पी न लो। अपनेसे बड़ोंका आदर करो। अपनेसे छोटोंको प्यार करो। ईसाका प्रेम पानेको अपने दुश्मनोंके लिये प्रार्थना करो। अपने विरोधीसे सूर्यास्तके पहले ही सुलह कर लो।' कैसे बढ़िया नियम हैं। पड़ोसीके प्यारका यह कैसा क्रियात्मक स्वरूप है और पड़ोसी-धर्मका कैसा बढ़िया विवेचन है!

अब हम जरा अपनेको इस कसौटीपर कस कर देखें कि हम कहाँ हैं! सवेरा हुआ नहीं कि हमने पड़ोसीके दरवाजेपर अपने घरका कूड़ा-करकट, अपने घरकी काँटोंकी बेलें फेंकी नहीं। हमारे बच्चेको 'टट्टी' करनी है तो पड़ोसीके सामनेकी नाली इसीलिये बनी है। पड़ोसीके मकानपर सफेदी होती है, रंग लगता है, उसका कोई हिस्सा बनता है तो हमारे कलेजेपर साँप लोट जाता है। पड़ोसीके घर कोई नयी चीज आती है, उसकी समृद्धि होती है, उसे सम्मान मिलता है हमारा जी भीतरसे जल उठता है। पड़ोसीकी

करने-सुननेमें हमारी आँखें गिर जाती हैं। मतलब, पड़ोसीसे—'बयरु करब बिगाड़ बसेरें!' (मानस १।१।१) की मनोवृत्ति हमने पाल रखी है। कहाँ ईसाका आदेश और कहाँ हम! कोई आपसे कहता है कि पड़ोसीसे प्यार करना हमारा सहज धर्म है तो आप झटसे कह बैठते हैं—'अजी! पड़ोसीसे प्यार करना मुश्किल है, बहुत मुश्किल! क्यों? रोज उससे हमारे स्वार्थोंकी टक्कर जो होती है। पड़ोसी हमारी जमीनको हड़पना चाहता है। वह हमारी जमीनमें अपनी गायें-भैंसें बाँधता है। हमारे खेतकी मेंड़ कम करके अपना खेत बढ़ाना चाहता है। हम सावधान न रहें तो वह हमारा खेत अपने जानवरोंसे चरवा लेता है। हमारी फसल चुरा लेता है।

पड़ोसी हमसे लाभ तो पूरा लेना चाहता है, पर हमें कोई लाभ नहीं देना चाहता। हम उसके यहाँ कुछ माँगने जायँ तो चीज रहते हुए भी बहाना बना देता है। पड़ोसी हमें कदम-कदमपर परेशान करता है, दुःखी करता है, सताता है, हमारे दफ्तर हमला करता है। फिर भी आप हमसे कहते हैं—"पड़ोसीसे प्यार करो!" हमसे ऐसा प्यार नहीं हो सकता। हम तो 'शठे शाठ्यम्' को ठीक मानते हैं। [illegible]

[illegible]

तक! अपने लिये एक पैमाना, दूसरेके लिये दूसरा [illegible]

Heads I win, tails you lose.

'चित भी मेरी, पट भी मेरी!' 'मेरे प्रति [illegible] सद्भाव बरतें, मैं दूसरोंके साथ चाहे जैसा व्यवहार करूँ।' यह बात चलनेवाली नहीं। यह तो कलियुग है! और कलियुग ही क्यों, नजीरके अनुसार—कलियुग नहीं, करयुग है यह,—इस हाथ दे, उस हाथ ले! यह तो नकद सौदा है। 'भलाईका बदला भलाई, बुराईका बदला बुराई'! तो सामान्य शिष्टता तकाजा है कि पड़ोसीके साथ हम सद्व्यवहार करें, उसके प्रति सद्भाव रखें। उससे हम प्रेम करें।

ईसा तो बहुत बादमें हुए, उनसे बहुत-बहुत पहले हमारे धर्मशास्त्री लोग कहते आते हैं—'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' कन्फ्यूशियस हो या लाओत्से—भारत हो या चीन—सब एक ही स्वर्णिम नियम (Golden Rule) पर जोर देते हैं कि दूसरोंके साथ वैसा ही व्यवहार करो, जैसा व्यवहार तुम अपने चाहते हो। भगवान् बुद्धने यही तो कहा था—

सब्बे तसन्ति दण्डस्स सब्बे भायन्ति मच्चुनो।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये॥
सब्बे तसन्ति दण्डस्स सब्बेसं जीवितं पियं।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये॥
(धम्मपद, दण्डवग्गो० १०।१।१)

[illegible]

'सबके भीतर एक ही आत्मा है। हमारी ही तरह सबको अपने प्राण प्यारे हैं, यह मानकर भय और वैरसे मुक्त होकर किसी प्राणीकी हिंसा न करे। किसीको न सतावे।' घूम-फिरकर वही एक बात कि हमारे प्रति दूसरे सद्‌व्यवहार करें, सदाचार बरतें, इसका एक ही उपाय है—हम स्वयं भी दूसरोंके प्रति सदाचार बरतें। कदाचार और सदाचार दोनोंका प्रतिकार है—सदाचार।

पड़ोसियोंके इस सूत्रपर ईसाने भी एक कलम लगा दी है—'तुम सुन चुके हो कि प्राचीन कालमें ऐसा कहा गया था कि अपने पड़ोसीसे प्रेम रखना और वैरीसे वैर। परंतु मैं तुमसे कहता हूँ कि अपने वैरियोंसे प्रेम करो। जो तुम्हें अभिशाप देते हैं, उन्हें आशीर्वाद दो और जो तुमसे घृणा करते हैं, उनके प्रति प्रेम करो। जो तुम्हें धिक्कारते हैं और तुम्हें सताते हैं, उनके लिये प्रार्थना करो। यदि तुम अपने प्रेम रखनेवालोंसे ही प्रेम रखते हो तो इसमें तुम्हारी कौन विशेषता रही? क्या भटियारे भी ऐसा नहीं करते? (मत्ती—५। ४३-४३) बाबा कबीरका भी वही उपदेश—

'जो तोकूँ काँटा बुवै, ताहि बोउ तू फूल।'

अपना अपकारीके प्रति उपकार करना आसान बात नहीं, पर हमें यदि पड़ोसी-धर्मका पालन करना है तो थोड़ा-बहुत त्याग और बलिदान करना ही पड़ेगा। अपना जीवन सुखमय बनाना है तो पड़ोसीके जीवनको सुखमय बनाना ही पड़ेगा। कारण, पड़ोसी पड़ोसी है! उसके घरमें आग लगेगी तो हमारा छप्पर भी झुलसे बिना न रहेगा। बाढ़में उसीका घर डूबेगा, ऐसा नहीं, हमारा घर भी सूखा न रह सकेगा। उसके दरवाजेपर दीपक जलनेसे हमारा घर भी आलोकित होगा ही। धन्य पुरुष हैं वे, जो पड़ोसीकी स्थितियोंमें कोई कमी नहीं आना चाहते। पड़ोसी-धर्मका तकाजा है कि हम पड़ोसीके दुःख-दर्दको अपना समझकर उसमें हाथ बटावें। उसमें 'लोक लाहु' भी है और 'परलोक' भी सदाचार भी।

अब लीजिये—एक सूफी कहानी। काश! हम इससे कुछ सीख सकें। एक सूफी फकीर थे—अब्दुल्ला बिन मुबारक। एक दफा वे हजको गये। हजसे फारिग होकर वे काबामें ही सो गये। मुसलमानोंके पवित्र कर्तव्यों-में है—'काबाकी जियारत करना'। रातमें उन्होंने एक सपना देखा। एक फरिश्ता दूसरेसे पूछ रहा है—'क्यों जी! इस साल हज करनेके लिये कितने लोग तशरीफ लाये और उनमेंसे कितनोंका हज कबूल हुआ?' दूसरा बोला—'हजको चालीस लाख लोग आये, मगर किसीका भी हज कबूल न हुआ।' 'ऐसा क्यों?' 'बात ऐसी ही है! हाँ, एक आदमीका हज कबूल हुआ और तमाशा यह है कि वह हज करनेके लिये काबा तशरीफ भी नहीं ला सका था। और उसीके तुफैलमें अल्लाहने तमाम हाजियोंको बख्श दिया!' 'कौन है वह खुशनसीब?' बोला—'वह है दमिश्कका एक मोची अलीबिन हफिक!'

आँख खुली तो अब्दुल्ला बिन मुबारक चल पड़े दमिश्कके लिये। चलें उस खुशनसीबकी जियारत तो कर आयें। अलीबिन मुफिकसे मिले तो उसने हाथ जोड़कर अर्ज की—'हाजी साहब! मैं बहुत दिनोंसे हज जानेकी सोच रहा था। बड़ी मुश्किलसे मैंने ३०० दिरम (चाँदीके बने सिक्के) बचाये। एक दिन मेरी बीबीने कहा—'पड़ोससे कुछ बास आ रही है। जरा माँग तो लाओ, क्या पक रहा है! मेरा जी ललचाता रहा है।' पड़ोसीसे जाकर मैंने कहा तो वह गिड़गिड़ाकर बोला—'भाई जान! मैं जो पका रहा हूँ, वह किसी आदमीके खानेके लायक नहीं है। सात दिनसे मेरे बच्चे भूखे हैं। बड़ी मजबूरीमें मुर्दा जानवरका गोश्त उठा लाया हूँ, जो आपके लिये हराम है।'

'पड़ोसीकी यह हालत देखकर मेरा दिल दहल उठा। मैंने हजके लिये जमा रखे ३०० दिरम उठाकर उस भाईको दे दिये। मुझे लगा कि पड़ोसीकी मुश्किल दूर करना हजसे कहीं—ज्यादा बेहतर है!'

पड़ोसीके लाभमें अपना लाभ होता है।

सदाचार-मूर्ति—श्रीहनुमान्‌जी

'साधुसंत के तुम रखवारे'

(लेखक—साहित्य-वारिधि डॉ० श्रीहरिमोहनलालजी श्रीवास्तव, एम० ए०, एल्० टी०, एल्-एल्० बी०)

'आचारः परमो धर्मः'की सूक्तिके अनुसार आचार (सदाचार) परम धर्म है। सदाचार समस्त मानवताका आवरण है, जो धर्मके गूढ़ तत्त्व-ज्ञानकी ओर प्रेरित करता है। सदाचार उस पथका प्रारम्भ है तो धर्म उसकी परिणति। सदाचारके क्रियान्वयनका ही प्रतिफल धर्मकी गम्भीरताके लिये पथ प्रशस्त करता है।

शंकर-सुवन, पवन-तनय, केसरीनन्दन, अञ्जनि-पुत्र हनुमान्‌जीमें श्रेष्ठ विभूतियोंके संस्कारोंका समन्वय था और वे सदाचारकी साक्षात् प्रतिमा थे। सर्वलोक-महेश्वर शिवने अपने एक अंशसे हनुमान्‌को जन्म देकर श्रीरामकी मङ्गलमयी लीलामें सहयोग किया। अतएव लोककल्याण और भगवद्भक्तिसे सम्पन्न होकर हनुमान्‌ने वायुके वेग और गतिसे सीतामाताके शोक-निवारणका तथा संतप्त मानवताके संकट-हरनका व्रत लिया। श्रीरामकी सेवामें संलग्न हनुमान्‌ने श्रीरामके विश्वजनीन कार्योंमें सहयोग दिया।

'वाल्मीकिरामायण'के अनुसार तेज, धृति, यश, चातुर्य तथा शक्ति, विनय, नीति, पुरुषार्थ, पराक्रम और बुद्धि—ये दस गुण हनुमान्‌जीमें सदैव विद्यमान हैं। उनकी बालोचित चपलताके कारण ऋषियोंकी थोड़ी-सी खिन्नता भी उपयुक्त समयपर काम आयी। ऋषियोंने कहा—'तुम जिस बलका आश्रय लेकर हमें सता रहे हो, उसे दीर्घकालतक भूले रहोगे। जब कोई दूसरा तुम्हें तुम्हारी कीर्तिका स्मरण दिलायेगा, तभी तुम्हारा बल बढ़ेगा।' एक बड़ी सीख थी कि बल और पौरुषका प्रदर्शन लोगोंको सतानेके लिये नहीं होना चाहिये और न सब समय होना चाहिये।

हनुमान्‌जीने अपने गुरुदेव भगवान् सूर्यको व[chars missing]
दिया था कि वे सुग्रीवकी रक्षामें संनद्ध रहेंगे। प्र[chars missing]
बालिसे भरपूर आदर पाकर भी उन्होंने कमजोर सुग्रीव[chars missing]
पक्ष लिया और उसे उन्नतिके उच्च शिखरपर पहुँचने[chars missing]
साथ ही श्रीरामकी कृपाका अमित लाभ दिलाने[chars missing]
निमित्त बने। भगवान् श्रीराम भी प्रथम परिचय[chars missing]
हनुमान्‌की संस्कार और क्रमसे सम्पन्न कल्याणम[chars missing]
वाणीसे प्रभावित हुए और उन्होंने लक्ष्मणसे कहा—
'इनके विद्वत्तापूर्ण शुद्ध उच्चारणसे स्पष्ट है कि [chars missing]
व्याकरणशास्त्रके पारंगत विद्वान् हैं। इन्होंने वेदों औ[chars missing]
शास्त्रोंका ज्ञान भी प्राप्त किया है। उत्तम संस्कार
और शिष्टाचार प्रत्येक प्राणीपर अपना प्रभाव डालते ही
हैं। हनुमान्‌की वाग्मिताने श्रीरामको प्रभावित कर दिया।

हनुमान्‌जीको उनके बलका कुछ स्मरण तो सुग्रीवने
दिलाया, जब उन्हें श्रीसीताजीकी खोजमें भेजा गया।
सुग्रीवने कहा—'कपिश्रेष्ठ! तुममें अपने महापराक्रमी
पिता वायुदेवके समान अबाध-गति, वेग, तेज औ[chars missing]
स्फूर्ति आदि सभी सद्गुण हैं। भूमण्डलमें कोई भी
प्राणी तुम्हारे तेजकी समानता करनेवाला नहीं है।' अपने
आराध्य श्रीरामसे आशीष पाकर उनके नामका [chars missing]
जप करते हुए हनुमान्‌जी वृद्ध जाम्बवान्‌का निर्देश
स्वीकार कर उत्साहपूर्वक चल पड़े। समुद्र [chars missing]
जाम्बवान्‌ने भी हनुमान्‌जीको उनके असीम, अपरि[chars missing]
बलका सच्चा स्मरण दिलाया। उन्होंने कहा—'[chars missing]
वज्राङ्ग हनुमान्! श्रीरामके कार्यके लिये ही तुमने [chars missing]
लिया है। ब्रह्मादि देवताओंने तुम्हें अलौकिक वरदा[chars missing]
प्रदान किये हैं। तुम अपरिमित शक्ति-सम्पन्न हो
तुम्हारी गति अबाधित और अव्याहत है। यह विशा[chars missing]

…दूर दो तुम्हारे लिये तुच्छ और नगण्य है । …ते एक समुद्रको लाँघकर लंका पहुँच जाओ और …देवीके दर्शन कर तुरंत लौट आओ ।

…कर्तव्य-पालनमें निरत, कर्तव्य-निर्वाहमें सुदक्ष, ययका… …न करनेवाले, हृदयमें अनन्य भक्तिसे विभूषित, बुद्धि, …, शक्ति एवं पराक्रमके सजीव विग्रह हनुमान्‌जी सेवा …र सदाचार, मङ्गल एवं परोपकारके जाज्वल्यमान …र्ति हैं । समुद्रोल्लङ्घनकी कठिनाई उनके लिये …ई अर्थ नहीं रखती थी । उनकी प्रशस्तिमें …मी श्रीतुलसीदासजीने कहा—'दुर्गम काज जगत के …। सुगम अनुग्रह तुम्हरे तेते ॥'

लंकामें रामदूतकी अनेक लीलाओंके बीच उनके …चरित्र स्वरूपका उन्नत उत्कर्ष दिखायी देता है । …लघु देह धारण करते हुए जब उन्होंने रात्रिमें राक्षसोंके …अन्तःपुरमें सीतामाताकी खोज की तो उन्हें सब कहीं …नग्न-मग्न अर्द्ध-नग्न राक्षस-राक्षसी देखनेको मिले । …ब्रह्मचारी जितेन्द्रिय हनुमान्‌जीके मनमें क्षणभरके …नारी-दर्शनके पातकके लिये आत्मग्लानिका संचार …हो तो कोई आश्चर्य नहीं । उनके मनमें कभी …क गर्वका उद्रेक होनेपर जिस प्रकार भगवान् श्रीराम …ज्ञान करानेमें सहायक रहे, उसी प्रकार धर्म-संकटके …अवसरपर हनुमान्‌जीके सम्भ्रमका समाधान उनके बोधमें हुआ कि उनकी सारी निष्ठा तो सीता-… धर्मद्वेषकी चिन्ता होनेपर उन्होंने स्वयं सही निर्णय लिया है—

मनो हि हेतुः सर्वेषामिन्द्रियाणां प्रवर्तने ।
शुभाशुभास्ववस्थासु तच्च मे सुव्यवस्थितम् ॥

(वाल्मी० रा० ५ । ११ । ४२)

'सम्पूर्ण इन्द्रियोंको शुभ और अशुभ अवस्थाओंमें लगानेकी प्रेरणा देनेमें मन ही कारण होता है, किंतु वह मेरा मन सुव्यवस्थित है—तत्त्वमें सुव्यवस्थित है । (उसमें राग-द्वेषका प्रभाव नहीं है; अतः परस्त्री-दर्शन यहाँ धर्मका लोप करनेवाला नहीं हो सकता ।')

तभी तो युद्धमें अमित विक्रम दिखानेवाले और द्रोणगिरिसे संजीवनी लानेवाले हनुमान्‌को जगदम्बा जानकीजीने आशीर्वाद दिया था—'वत्स ! समस्त सद्गुण तुममें निवास करें । 'अजर अमर गुननिधि सुत होहू ।' और वह भी कि अनुजसमेत प्रभु तुमपर सदा अनुकूल रहें ।

समस्त सद्गुणोंके समूह भक्तप्रवर हनुमान्‌जी बल, सेवा और सदाचारकी मूर्ति हैं । अपने पावन चरित्रसे वे शक्ति, भक्ति, सेवा, समर्पण, त्याग और बलिदानकी प्रेरणा जगानेवाले 'संकटहरन एवं मङ्गलमूर्ति' हैं । उनकी तान्त्रिक उपासना' उग्र मानी जाती है, परंतु वे महावीर निश्छल सौम्यतापर सहज रीझनेवाले हैं । आस्तिकता और परोपकार—सदाचारके दो बड़े लक्षणोंके कारण …ही हनुमान्‌जी सदैव …

महाभारतमें विदुरने नीतिकी जितनी बातें बतलायी हैं, उनके मूलमें सदाचार ही निहित है। वास्तवमें सदाचार धर्मका मूल है। शास्त्रोंमें सदाचारकी जो प्रभूत प्रशस्ति मिलती है, इसका कारण यही है कि सदाचार और धर्मका आधाराधेय-सम्बन्ध है। वेदविहित अथवा शास्त्र-निर्दिष्ट आचरण ही सदाचार है। मानवके जो उत्तम गुण हैं, उसके जो सुन्दर आचरण हैं, वे ही सदाचार हैं। सदाचारसे रहित व्यक्तिको वेद भी पवित्र नहीं कर सकते—'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः।' इसीलिये हमारे पूज्य [...]ियों और ऋषियोंने कुल, जाति, धन, वैभव, रूप [...]ादिको महत्त्व न देकर शील-सदाचार और चारित्र्यको [...]त्त्व दिया। संसारमें जाति और कुलको लेकर आज [...]तना कोलाहल मचा है तथा कितनी अशान्ति और [...]ंतोष है! लगता है—सारा संसार जाति, कुल और [...]को लेकर ही पागल हो गया है; किंतु हमारे शास्त्र [...]के और उसके चरित्र तथा शील-सदाचारको महत्त्व [...] हैं। हमारे शास्त्रोंकी यह मान्यता है कि जाति, [...]कुलकी अपेक्षा भी विशेष महत्त्व है—चारित्र्यका, [...]का और सदाचारका। महर्षि व्यासदेव महाभारतमें [...] हैं—

[...]ानि समुपेतानि गोभिः पुरुषतोऽर्थतः।
[...]संख्यां न गच्छन्ति यानि हीनानि वृत्ततः॥
[...]नस्त्वविहीनानि कुलान्यल्पधनान्यपि।
संख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यशः॥

कीर्ति, सब कुछ सदाचारपर निर्भर हैं। मनुस्[मृति] (४। १५६) में कहा गया है कि आचारसे सौ वर्[ष] दीर्घ जीवन प्राप्त होता है, पुत्र-पौत्रादि उत्तम संता[न] प्राप्त होती हैं, अक्षय धन मिलता है और दुर्गुणोंका नाश होता है। अतः प्रत्येक राष्ट्रने, प्रत्येक जातिने, प्रत्येक धर्मने सदाचार और चारित्र्यकी महिमाका गान किया है।

रूसके महान् चिन्तक लेव तल्स्तोय (Leo Tolstoy)ने 'धर्म और सदाचार' नामसे एक पुस्तक ही लिख डाली है। आजका युग राजनीतिका युग है, किंतु राजनीतिके लिये भी धर्म, सदाचार और नैतिकता-की आवश्यकता है। आज राजनीतिमे जो गदगी आयी है, उसका एकमात्र कारण है—राजनीतिमें सदाचार और नैतिकताका अभाव, धर्म और चारित्र्यकी न्यूनता। मनीषी तल्स्तोयकी यह स्पष्ट मान्यता है कि 'धर्म, सदाचार और नीतिके बिना न तो पहले और न अब कोई मनुष्य-समा[ज] या राष्ट्र जिंदा रहा है, न रह सकता है।' नेपोलियन बोन पार्टकी मान्यता थी—'कर्मशील और सदाचारी बनो (Be a man of Action and Character.) अंग्रेज कवि वेल्सने कहा है कि वही मनुष्य वास्तवमें मनुष्य है, जिसका हृदय निर्दोष और पवित्र है, जिसने जीवनमें बेईमानी और बुरा कर्म नहीं किया है और जिसका मन अभिमानसे रहित है—

"The man of [...]

[illegible] ॥

(मानस ७ । ४४ । ५)

अतः चारित्र्य और सदाचार मानवके लिये आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी हैं। ये जीवनके अङ्ग हैं। इन्हें हम मानवके दो पंख कह सकते हैं। पक्षीको आकाशमें उड़नेके लिये दो पंख चाहिये। साधकको भी सिद्धावस्थाकी यात्राके लिये ज्ञान-वैराग्यके दो पंख चाहिये। उसी प्रकार मानवको अपने जीवनके लक्ष्यतक पहुँचनेके लिये सदाचार और चारित्र्यके दो पंखोंकी अपेक्षा है। आखिर हम मनुष्य हैं, मानव हैं। मानवका जीवन पशु-जीवन नहीं है। यह जमीनमें बिल बनाकर नीचे घुसनेके लिये नहीं है। यह कीड़े-मकोड़ेकी तरह जमीनपर रेंगनेके लिये नहीं बना है। मानवका जीवन ऊपर उठनेके लिये है, ऊर्ध्व संचरणके लिये है। मानवकी परिभाषा क्या है? 'मननात्—मनुष्यः'—जो मनन करे, चिन्तन करे, वह मनुष्य है।' मानवका यह जीवन साधारण जीवन नहीं है; यह दिव्य जीवन है। भारतके जनमानसके इष्टदेव भगवान् श्रीराम श्रीमुखसे कहते हैं—

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सद ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥

(मानस ७ । ४३ । ४)

वेद भगवान्की भी घोषणा है कि—'उद्यानं ते पुरुष नावयानम्।' (अथर्व० ८ । १ । ६) हम हैं ही ऊपर चलने (उत्थान)के लिये। नीचेकी ओर हमें यान अर्थात् गति नहीं करनी है—'न अवयानम्'। मानवको ऊपर उठनेके लिये सदाचार और चारित्र्यका ही सहारा लेना होगा। बिना इनके वह कदापि ऊपर नहीं उठ सकता।

'कठोपनिषद्'में नचिकेताने कितना सत्य कहा है—'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः'—मनुष्यको धनसे कभी भी तृप्त नहीं किया जा सकता। धन और वैभव तो आते-जाते रहते हैं, क्षणिक और नश्वर हैं। कितने सिकन्दर और नेपोलियन आये और गये, उनके साथ सत्ता और सामर्थ्य, धन और वैभव सभी समाप्त हो गये। एक शायरने कितना सच कहा है—[illegible] पैर फैलाये हुए जाते हैं यों। [illegible] था एक दिन।' परंतु सदाचार और चारित्र्यकी पूँजी नष्ट नहीं होती। सदाचारी, चारित्र्यवान् व्यक्ति मरकर भी अमर रहते हैं। इनके सदाचरण, इनके सुकर्मकी सुगन्धसे सारा संसार सुगन्धित रहता है। सदाचारी पुरुषका हर आचरण धर्मपर होता है। उसका हर कर्म प्रकाशकी एक किरण है और उसका हर आचरण आलोक है, जिसके प्रकाशमें सामान्य मानव-प्राणी अपना मार्ग निर्धारित करता है।

हमारे राष्ट्रमें अति प्राचीन कालसे ही सदाचारकी एक सात्त्विक सरिता सतत प्रवाहित होती रही है; अजस्र स्रोत प्रवहमान रहा है। सदाचारके इसी अजस्र स्रोतसे हम आजके जीर्ण-जर्जर और विषाक्त विश्वके लिये शीतल जल लेकर कल्याणका कर्मक्षेत्र सिक्त कर सकते हैं, मानवताका पथ प्रशस्त कर सकते हैं, प्रेमका पावन प्रकाश विकीर्ण कर सकते हैं। सदाचारके सोपानपर आरूढ़ होकर ही हम स्वर्गीय गौरव एवं आनन्दकी प्राप्ति कर सकते हैं और चारित्र्यकी फुलवारीमें ही हम जीवन-पुष्पकी सर्वश्रेष्ठ सुगन्ध फैला सकते हैं। जबतक हम अपने जीवनमें सदाचारका सुवास और चारित्र्यकी कान्ति नहीं लायेंगे, तबतक हमारे जीवनमें शान्ति और विश्रान्ति नहीं आ सकती। अमृतत्वकी प्राप्ति ही मानव-जीवनका एकमात्र लक्ष्य है। सदाचार, शील और चारित्र्यकी पावन त्रिवेणी-धारामें गोता लगाये बिना वह अमृतत्व नहीं प्राप्त हो सकता।

सदाचार और चारित्र्यकी कमीके चलते आज समस्त संसारमें एक कड़ुआहट पैदा हो गयी है, एक भयंकर तिक्तता आ गयी है। भौतिक सम्पदाके संग्रहकी होड़ने वातावरणको विषाक्त बना दिया है।

मानवका ऐसा चारित्रिक अधःपतन किसी भी युगमें न हुआ है। जीवनका प्रत्येक क्षेत्र गँदला हो गया है। सत्ता और स्वार्थने व्यक्ति और समाज दोनोंको भ्रष्ट बना दिया है। इसका एकमात्र कारण है हमारे जीवनसे शील और सदाचारका विदा होना। शील, सदाचार और चारित्र्यके हटते ही सत्य, अहिंसा, धर्म, कर्म, धन, ऐश्वर्य, शक्ति, ईमान सभी समाप्त हो जाते हैं। आज मानव-मनमें जो बेचैनी और अशान्ति आयी है, वह इसलिये कि हमारे जीवनसे सदाचारका सोता सूख गया है, शीलकी सरिता सूख गयी है।

आज हमारे ज्ञान-विज्ञान सभी व्यर्थ सिद्ध होंगे, यदि हम सदाचारी नहीं हैं, शीलवान् नहीं हैं, चरित्रवान् नहीं हैं। शास्त्रों, धर्मग्रन्थों और नीतिग्रन्थोंके पढ़नेसे क्या लाभ जो आज हम दुःशील बन रहे हैं, कठोर और क्रूर बन गये हैं, हिंसक और अत्याचारी बन गये हैं, उद्दण्ड और अहंवादी बन गये हैं! शास्त्राध्ययनका फल तो सुशीलता और सदाचार है—'शीलवृत्तफलं श्रुतम्'। फिर यह कड़वाहट, तिक्तता और दुःशीलता क्यों! क्या हम अपने पूज्य पुरुषों, संतों और महात्माओंके सदाचार, उनके चरित्र और उनके उदात्त विचारोंसे कुछ न सीखेंगे! क्या हमारा जीवन भी उन्हींकी तरह उदात्त और महान् नहीं बनेगा! यदि नहीं तो नर-शरीर प्राप्त करना व्यर्थ है, मानवकी योनि पाना निरर्थक है। आइये, हम फिरसे अपने जीवनमें शील, सदाचार, धर्म, नीति और चारित्र्यको प्रतिष्ठित करें, अपने जीवनको पवित्र बनायें। व्यक्ति पवित्र बन जाय तो समाज सात्त्विक हो जाय और विश्व मित्र बन जाय। तो फिर हम आर्य सदाचार और शीलको अपनाकर अपना, राष्ट्रका और विश्वका कल्याण करें।

आधुनिक वेष-भूषा और विलासितासे चारित्रिक ह्रास

[विलासिताकी सामग्रियोंके प्रचारसे युवक-युवतियोंके धन, स्वास्थ्य तथा चरित्रका नाश]

अङ्गराग, अधरराग, नखरञ्जक आदि षोडश शृङ्गारके प्रसाधनोंका वर्णन वात्स्यायनसूत्र, नाट्यशास्त्र, काव्य एवं नाटकोंके अतिरिक्त पुराणोंमें तथा महाभारतादि ग्रन्थोंमें भी आया है। पुराने समयमें भी शृङ्गार किया जाता था, किंतु उस समयके शृङ्गारमें दो बातें थीं — संयम तथा सात्त्विकता। उस समयके शृङ्गार-प्रसाधनोंमें स्वास्थ्यके लिये हितकारी पवित्र ओषधियाँ पड़ती थीं। उन ओषधियोंसे युक्त शृङ्गारको धारण करनेसे शरीर स्वस्थ रहता था, चित्त प्रफुल्लित रहता था और मनपर सात्त्विक प्रभाव पड़ता था। इतनेपर भी शृङ्गार कामवर्धक ही माना जाता था। अङ्गरागादि धारण करनेका अधिकार केवल गृहस्थको था और स्त्री अपने शरीरका शृङ्गार करती थी, जब कि उसका पति उसके पास हो। अभिप्राय यह कि शृङ्गार केवल पतिके सुखके लिये ही किया जाता था। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा संन्यासाश्रममें भी प्रकारान्तर शृङ्गार वर्जित है। 'भार्यायाः प्रियः'के अनुसार शरीरको सुन्दर दिखानेकी — और सरल या आदर्श—ये दोनों बातें एक साथ नहीं चल सकतीं। मेधातिथि ठीक लिखते हैं कि यदि पति कहीं दूर चला गया हो तब प्रधानतः शृङ्गारोंको छोड़ दे और सौभाग्यके चिह्न सिन्दूर, चूड़ी आदिके अतिरिक्त शरीरका अन्य कोई शृङ्गार न करे।

कोई भी औरत [illegible] प्रकार समझती है कि लेटेस्ट [illegible] और [illegible] उसके [illegible] सुन्दर

है। आज तो बात इससे बहुत अधिक बढ़ गयी है। शृङ्गारकी—विलासिताकी बहुप्रचलित सामग्रियोंका उपयोग लड़कियोंके समान ही लड़के भी बहुलतासे करने लगे हैं। विद्यालयोंके छात्रोंके लिये तो ये विलासिताकी सामग्रियाँ आवश्यक पदार्थ बन गयी हैं। अध्ययनके स्थानपर उनका ध्यान अपनेको सजाये रखनेपर अधिक रहने लगा है। फलतः उनके चरित्रके विनाशकी चर्चा आज सर्वत्र है।

विद्यार्थीका भूषण है—शील, सहिष्णुता एवं अध्ययन। भारतीय सम्राटोंके युवराज भी गुरुकुलोंमें भूमिपर ही सोते थे और भिक्षामें मिला रूखा-सूखा अन्न खाते थे। उनकी कमरमें मूँजकी मोटी रस्सी होती थी, जिसमें वे कौपीन लगाते थे। उनके शरीरपर मृगचर्म रहता था और हाथमें एक लकड़ीका दण्ड। मस्तक उनका या तो घुटा (मुड़ा) रहता या उसपर जटाएँ होती थीं। उनका स्वस्थ, सुदृढ़ शरीर और तेजोमय मुख देवताओंके समान प्रतीत होता था। इसके विपरीत, आजका विद्यार्थी भड़कीले वस्त्रोंमें ढका, मुखपर क्रीम-पाउडर लगाये, स्त्रियोंके समान बालोंको बार-बार सँवारता, सजाता, दुर्बल, निस्तेज और सर्वथा दयनीय प्रतीत होता है। बचपनमें ही नेत्रोंकी ज्योति क्षीण हो जानेसे उसे उपनेत्र (चश्मा) लगाना पड़ता है। उसकी विलासप्रियता उसके चरित्रको नष्ट कर देती है। फलतः वह युवक होनेपर भी वृद्ध-जैसा दीखता है—विलासिता उसे वृद्धावस्थामें पहुँचा रही है।

पहले बालाएँ प्रातःकाल सूर्योदयसे पूर्व ही स्नान कर लेती थीं। वे देवी-पूजन करती थीं। उनका [illegible] था [illegible]। [illegible] और [illegible] होती थीं। [illegible] उनका [illegible] पूरा [illegible] होता था। उनके [illegible] भी [illegible] था। लेकिन आज [illegible] दूसरे [illegible] की [illegible] आवश्यकता होती है। इसके बाद तुरंत पाउडर-क्रीम लेकर सजाना आवश्यक हो जाता है। घरके काम कर दूर, अपने स्वयंके कामके लिये भी सेवकोंकी आवश्यकता होती है। इस विलासप्रियताके कारण चरित्र, स्वास्थ्य, सौन्दर्य भी नष्ट होते चले जा रहे हैं। चरित्रसे सौन्दर्य चमक उठता है और उसके बिना सौन्दर्य धूमिल हो जाता है। पर चरित्रकी ओर दृष्टि ही कहाँ है!

आज भारतीय जीवनपर पाश्चात्य सौन्दर्यवृत्ति (Aesthetic Seince, Douglas Ainslie) का प्रभाव सुस्पष्ट है। किंतु इन पाउडर, क्रीम, लिपस्टिक आदि जो पदार्थ पड़ते हैं, उनका यह सहज स्वभाव है कि त्वचाकी कोमलता तथा स्वाभाविक सौन्दर्यको नष्ट कर देते हैं। किसी ऐसे व्यक्तिको, जो नित्य पाउडर लगाता है, सवेरेके समय जब उसने अपना शृङ्गार न किया हो, आप देख लें तो आपको उसके पीले, बदरंग चेहरेसे घृणा हो जायगी। त्वचामें जो एक प्रकारकी मनोहर स्निग्धता होती है, पाउडरका उपयोग करते रहनेसे वह नष्ट हो जाती है। इस प्रकार विलासिताके ये पदार्थ स्वाभाविक सौन्दर्यको नष्ट करके इस बातके लिये विवश कर देते हैं कि व्यक्ति अपनेको कृत्रिमतासे सदा सजाये रहे। जब वह इन पदार्थोंका उपयोग किये बिना दूसरोंके सामने आता है तो उसका चेहरा, उसकी त्वचा रूखी तथा असाधारण दिखायी देती है।

यह कैसे सम्भव है कि नाखूनोंपर, ओठोंपर तथा शरीर पर आप जो पदार्थ लगाते हैं, उनका कोई भाग आपके पेटमें न पहुँचे। नख तथा ओठ रँगनेमें जिन रंगों तथा पदार्थोंका उपयोग होता है, उनमेंसे अनेक विषैले भी होते हैं। वे पेटमें पहुँचकर पाचनक्रियाको दूषित कर देते हैं, जिससे अनेक प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं। [illegible] रोग हैं, उनकी जड़में मनुष्यों [illegible] ([illegible]) हैं। इन [illegible] द्वारा शरीरका दूषित [illegible] बाहर आ [illegible] है। पाउडर, क्रीम [illegible]

उपयोगसे ये रोमछिद्र बंद हो जाते हैं। पसीनेके प्रवाहमें बाधा पहुँचती है। शरीरका दूषित द्रव्य निकल नहीं पाता। इससे त्वचाकी कान्ति नष्ट हो जाती है। त्वचा-सम्बन्धी रोगोंकी आशङ्का बढ़ जाती है। ऐसे लोगोंको यदि कोई त्वचा-सम्बन्धी रोग (खुजली आदि) हो जाता है तो बहुत कष्ट होता है। साधारण फुंसियाँ भी ऐसी त्वचापर अत्यन्त पीड़ा देनेवाली बन जाती हैं। विलासिताकी वस्तुओंमें पाउडर, स्नो, क्रीम, लिपस्टिक, नाखून रंग आदि सेवन करनेवालोंको प्रायः आमाशय तथा त्वचाके रोग भी होते हैं।

विलासिताकी सामग्रियोंका अधिक उपयोग युवक तथा युवतियाँ करती हैं। विद्यालय एवं महाविद्यालयोंमें पढ़नेवाले छात्र एवं छात्राएँ अन्धाधुन्ध इन वस्तुओंका उपयोग करने लगे हैं। उनके माता-पिता तथा अभिभावक समझते हैं कि उनके बालक पढ़ते हैं और पढ़ाईमें खर्च होता ही है, किंतु सच्ची बात यह है कि छात्र-छात्राएँ माता-पिताकी गाढ़ी कमाईका धन विलासिताकी सामग्रियोंमें, सिनेमा तथा पार्टियोंमें एवं अभक्ष्य-भक्षणमें नष्ट करते हैं। अपने परिवारकी स्थितिका उन्हें तनिक भी ध्यान नहीं रहता। वे नहीं सोचते कि व्यर्थ वस्तुओंमें वे जो पैसा नष्ट कर रहे हैं, वह उनपर विश्वास करनेवाले उनके अभिभावकने कितने यत्नसे प्राप्त किया है। पाउडर, स्नो, क्रीम, हेजलीन, लिपस्टिक, सेंट आदि वस्तुओंके उपयोगसे केवल धनका नाश होता हो, इतनी ही बात नहीं, इनके द्वारा चरित्रका नाश भी होता है और स्वास्थ्य भी बिगड़ता है। इन वस्तुओंमें प्रायः हानिकर एवं अपवित्र पदार्थ पड़े होते हैं। कुछ तो चर्बी-जैसे या उससे भी अपवित्र पदार्थ इनमेंसे अनेक वस्तुओंमें पड़ते हैं और फिर इनको मुख एवं होठतक लगाया है। जो लोग आचारका तनिक भी ध्यान रखते हैं, उन्हें इन वस्तुओंके उपयोगसे सर्वथा ही दूर रहना चाहिये। आचारसे ही सदाचारकी रक्षा हो सकती है।

श्रीरोम्यारोलॉंने निःशस्त्रीकरणके सम्बन्धमें कहा था कि '*शस्त्र युद्धके प्रतीक हैं। जब सभी राष्ट्र अपने-अपने शस्त्रास्त्र बढ़ानेकी धुनमें लगे हैं, तब युद्ध अनिवार्य है। इससे कोई मतलब नहीं कि सभी राष्ट्र युद्ध न करनेके पक्षमें हों ही।*' इसी प्रकार यह भी सोचनेकी बात है कि शृङ्गारका लक्ष्य क्या है? शृङ्गार किया जाता है—दूसरोंकी दृष्टिमें अपनेको सुन्दर सिद्ध करनेके लिये, दूसरोंके नेत्र अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये, अपनेको सुन्दर सिद्ध करने तथा दूसरोंकी दृष्टि अपनी ओर आकर्षित करनेकी चेष्टाके मूलमें काम-भावना होती है।

एक बार एक परिचित विद्वान् कह रहे थे—'*ये लड़कियाँ आधुनिक वेष-भूषामें सज-सँवरकर, नंगे सिर, खुली भुजाएँ अपने अर्धनग्न शरीरका प्रदर्शन करती बाजारोंमें निकलती हैं और फिर शिकायत करती हैं कि लोग उन्हें कुदृष्टिसे देखते हैं।*' अपनेको इस प्रकार प्रदर्शनकी वस्तु बनानेका तात्पर्य दूसरा हो ही क्या सकता है? क्या यह शिष्ट और भारतीय परम्परा है, क्या यह सदाचारके विपरीत नहीं है?

शृङ्गार करनेवालेके मनमें क्या है, इससे कोई मतलब नहीं। शृङ्गार स्वयं शरीरके प्रति एक आकर्षण है। इसके द्वारा अनजानमें ही कामुकता बढ़ती रहती है, दूसरेके नेत्र आकर्षित होते हैं और फिर यह आकर्षण एवं पतनका भी कारण बन जाता है। ... चाहें या न चाहें, शस्त्रास्त्रकी वृद्धि होगी तो युद्ध ... ही रहेगा, वैसे ही शृङ्गारप्रियता आयगी तो ... नाश होगा ही। शृङ्गारिता सच्चरित्रताकी विरोधिनी

आजकल अज्ञानवश माताएँ छोटे ... पाउडर लगाकर सजाती हैं। बालककी कोमल ... इसका बहुत ही हानिप्रद प्रभाव पड़ता है

बालकके लिये धूलिमें खेलना स्वाभाविक स्वास्थ्यप्रद है। शिशुके अङ्गोंमें शुद्ध सरसोंके तेलकी मालिश करनेसे शिशुके अङ्ग पुष्ट होते हैं। बच्चोंको पाउडर, क्रीम आदि नहीं लगाना चाहिये। इससे बालकका स्वास्थ्य नष्ट होता है।

आवश्यकता तो इस बातकी है कि सरकार विलासिताके पदार्थोंका विदेशोंसे देशमें आना सर्वथा बंद कर दे और देशमें इनके निर्माणपर प्रतिबन्ध ल मनुष्य-जीवनके लिये ये पदार्थ किसी प्रकार अ नहीं हैं। इनसे धन, चरित्र तथा स्वास्थ्यका नाश है। प्रत्येक व्यक्तिको इन पदार्थोंके उपयोगसे चाहिये और अपने बच्चोंको बचाना चाहिये सदाचारकी रक्षा होगी।

सर्वसुखी एवं सदाचारी बननेके लिये आचरणीय कर्तव्य

[यदि तुम चाहते हो कुछ—]

करना—तो गुरुजनों एवं गुणियोंका यथायोग्य सम्मान और उनकी यथावश्यक सेवा-शुश्रूषा करो।

जानना—तो स्वयं अपने एवं अपने कर्तव्योंको जानो।

जीतना—तो क्रोध, लोभ, मान, छल, कपट, काम-वासना आदि आत्मोन्नतिमें बाधक, मनके विकारोंको जीतो।

त्यागना—तो कुविचारों, दुराचारों और दुर्व्यसनोंको त्यागो।

बचना—तो कामचारी गुरुओं एवं दुराचारी मित्रोंकी संगतिसे बचो।

लिखना—तो जिससे जन-जनका हित हो, सदैव वैसा ही लिखो।

सोचना विचारना—तो सबको स्वस्थ, सुखी एवं सुखी बनानेकी बात सोचो।

देना—तो स्व-पर-कल्याणके कार्योंके लिये अपने तन, मन, धनका भरपूर सहयोग दो।

लेना—तो जहाँसे भी मिले, वहींसे शिक्षा लो।

खाना—तो शरीर एवं मन, दोनोंको ही जो बनाये रखें, ऐसी ही सात्त्विक वस्तुओंको खाओ।

पीना—तो प्रभु-गुण-गानका मधुर रस पिओ।

बोलना—तो प्रिय, सत्य और मधुर हितकर वचन बोलो।

देखना—तो अपने दोषों तथा दूसरोंके गुणोंको देखो।

सुनना—तो श्रीभगवान्‌की गुणगाथा, सन्तचर्चा एवं पीड़ितोंकी आह सुनो।

शान्ति प्राप्त करना—तो राग-द्वेष, ईर्ष्या-घृणा, मन-भेद, ममता और दुराशा-निराशा आदिको न कभी सोचो, न करो।

—[illegible]

चरित्र-निर्माणका प्रेरणा-स्रोत—'श्रीरामचरितमानस'

(लेखक—पं० श्रीरामप्रसादजी अवस्थी, एम्० ए०, शास्त्री, 'मानस-व्यास')

सदाचार मानवताका वह प्रकाश-स्तम्भ है, जहाँसे सर्वतोमुखी प्रतिभाकी देदीप्यमान रश्मियाँ प्रस्फुटित होती हैं। व्यक्ति ही समाजका घटक है। सदाचारी व्यक्ति ही समाज तथा सशक्त राष्ट्रका निर्माण करता है। व्यक्तियोंसे समाजका और समाजसे राष्ट्रका परस्पराश्रित सम्बन्ध होता है। राष्ट्रका उन्नयन, उत्कर्ष, वहाँके निवासियोंके चरित्रपर निर्भर होता है। चरित्रमें ही सब कुछ आ जाता है, जो विचारके आचारमें परिणत हो जानेसे सम्भूत होता है।

गोस्वामी तुलसीदासकी अमरकृति—'मानस' अपने-आपमें चरित्रकी विशद व्याख्याका एक विश्वकोश-सा है। चरित्र मानवका सर्वस्व है। मानव-उत्थानका वह उच्चतम शिखर है, जहाँसे गिरकर पुनः मूलस्थानपर पहुँचना दुष्कर होता है—

गिरि ते जो भूपर गिरै, मरै सो एकहि बार।
जो चरित्रगिरि ते गिरै, बिगरै जनम हजार॥

रामचरित्र विश्वमें सर्वश्रेष्ठ आदर्श चरित्र है और 'मानस' उसका परिष्कृत प्रतिनिधि है। वह सदाचारकी धारणाका मूल उत्स है। यही कारण है कि इसमें अवगाहन करनेवालेका जीवन आदर्श, अनुकरणीय बन जाता है। मानसके प्रतिपाद्य तत्त्व हैं—श्रीरघुकुल-मण्डल-मण्डन मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम। उनका विशद चरित्र ही सदाचारकी सर्वाङ्गीण प्रतिमा है। नित्य नवीन जीवनमें उल्लासकी उपलब्धि उनके चरित्र-श्रवण, मननके द्वारा होती है। इसीलिये इसकी फलश्रुतिमें कहा गया है—

सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई। लहहिं भगति गति संपति नई॥
जे गावहिं यह चरित सँभारे। तेइ एहि ताल चतुर रखवारे॥

जिस समय आततायियोंकी तूती बोल रही थी, अत्याचारका तुमुल नाद छाया था, क्षत्रियोंका बाहुबल क्षीण हो चुका था, ज्ञान-भानु अस्ताचल-शृङ्गमें समा चुका था, चोटियाँ विलुण्ठित और बेटियाँ प्रकम्पित थीं, उसी समय तुलसीने श्रीरामचरितका विशद यश जनताके समक्ष उपस्थित किया। उन्होंने श्रुति-शास्त्र-पुराणोंका समस्त सदाचार-सार राघवके यशमें रख दिया और असाध्यको साध्य, अगम्यको गम्य कर दिया। आज तुलसी विश्वके मानसमें राजहंसके रूपमें विराजमान हैं।

सदाचरणपूर्वक भक्ति एवं भगवत्-प्राप्तिके लिये साधन-क्रमका विधान 'मानस' इस प्रकार करता है—

भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥
बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥
मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग तप ग्यान बिरागा॥

भ्रातृत्वका अलौकिक उदाहरण श्रीराम और भरतके पारस्परिक सौहार्द, सौजन्यमें दीखता है। भरत 'मेरे सरन रामहि की पनही'के उद्घोषक हैं तो राम उन नामके जापक हैं। यह कहना कठिन है कि [illegible] कौन आगे है! भ्रातृत्वका ऐसा सदाचार और कहाँ है!

अनेक स्थलोंपर चरित्रकी झाँकी मानसमें विस्तारसे वर्णित है। पितासे पुत्रका, भाईसे भाईका, पतिसे [illegible] मित्रसे मित्रका क्या व्यवहार होना चाहिये [illegible] विवेचन बड़ी शालीनताके साथ मानसमें [illegible] है। मानसके चरित्रनायक श्रीराम हैं, जो [illegible] उदाहरण हैं। अतः कहा गया है कि [illegible] कौन है, जो श्रीरामका अनुरागी न हो— [illegible] जिसने यो न राममनुव्रतः।'

इष्टके बिना जीवनके अनिष्ट दूर नहीं होते। श्रीराम ही इष्ट हैं, उपास्य हैं एवं जीवनके पग-पगपर आनेवाली परिस्थितियोंके दिव्य आलोक हैं। भारतको राष्ट्रके रूपमें एवं मानवके चरित्र (ज्ञान-कर्म) के स्वरूपमें श्रीरामको चित्रित किया गया है—

हिम गिरि कोटि अचल रघुबीरा। कोटि सिंधु सत सम गंभीरा॥

तुलसीके राम ब्रह्म भी हैं, ऐतिहासिक भी हैं और सभी परिस्थितियोंमें, सर्वकालमें, सर्वदेशमें उपलब्ध भी हैं। यहाँतक कि रामके अतिरिक्त कुछ अन्य है ही नहीं। वे भारतके शीर्षभाग हिमालयके समान अडिग हैं और उनकी कटि एवं अधोभागमें अनन्त सिन्धु सुशोभित है। हिमालयके समान उनका ज्ञान अडिग और सिन्धुके समान उनका कर्म प्रगल्भ है। अतः भगवान् श्रीराम उत्तरभागसे दक्षिणभागकी यात्रा करते हैं, मानो शीर्षस्थ ज्ञानको कर्ममें उतार रहे हैं। हिमालयसे पुण्य-सलिला भागीरथीका उद्गम है और अनन्त सिन्धुमें उनका विलय होता है। इसी प्रकार भगवान् अनन्त, भगवान्‌की शक्ति अनन्त, भगवान्‌का शासन अनन्त और भगवान्‌का प्रेम अनन्त है। श्रीरामकी मान्यताका सशक्त उदाहरण कविवर 'विनय'में देते हैं। दोनोंके प्रति प्रगाढ़ प्रेमके कारण वे उपास्य हैं। वन-यात्रासे पूर्व तथा वापसीके बाद भी माता कौसल्या, भगवती जानकी, गुरुमाता अरुन्धती और जनकपुरके सम्बन्धियोंके यहाँ उन्हें मधुर भोजन करनेका अवसर मिला। पर जब पूछा गया कि भोजनमें कैसा है तो श्रीरामने शालीनता-शिष्टतायुक्त वा[illegible] सहित शबरीकी फल-माधुरीका अभिनन्दन किया—

घर गुरु गृह, प्रिय सदन सासुरे भइ जब जहँ पहुनाई।
तब तहँ कहि सबरी के फलन की रुचि माधुरी न पाई॥

आतिथ्यकी स्मृतिका यह उदाहरण कदाचित् कहीं अन्यत्र मिलेगा। लक्ष्मणको रणस्थलमें शक्ति लगा है, किंतु उनकी वेदनाको गौण स्थान देकर श्री[illegible] विभीषणके कल्याणका ही विचार कर रहे हैं—

रन पर्‌यो बंधु बिभीषन ही को सोच हृदय अधिकाई।
(विनयप० १६४। [illegible]

आश्रितकी चिन्ता हमारे प्राचीन सदाचारका प्रती[illegible] है। जिस पिताने स्नेह एवं धर्मकी रक्षामें अपना शरी[illegible] भी छोड़ दिया, उससे भी अधिक गीधका स्नेह [illegible] शब्दोंमें प्रस्फुटित होता है—

नेह निबाहि देह तजि दसरथ, कीरति अचल चलाई।
ऐसेहु पितु तें अधिक गीधपर ममता गुन गरुआई॥
(विनयप० १६४। २)

कृतज्ञताका यह कितना श्रेष्ठ आदर्श है! श्रीरामका चरित्र, जीवन सभी कुछ अपनेमें ही सीमित नहीं है। उनका चरित्र और जीवन विश्वके लिये आदर्श सदाचार है एवं 'मानस' है उसका उज्ज्वल प्रेरणा-स्रोत। मानस आदर्श चरित्र और अनुकरणीय सदाचारका सद्ग्रन्थ है। वस्तुतः मर्यादा कविका यह मर्यादा काव्य-ग्रन्थ है।

सदाचार-संजीवन

अपने आचरणको बहुत सँभाल रक्खो, क्योंकि जहाँ चाहो, खोजो—सदाचारसे बढ़कर सहायक जीते-मरते कहीं नहीं पा सकते। जिस पुरुषका आचरण पवित्र है, उसकी सभी इज्जत करते हैं, इसलिये सदाचारको प्राणोंसे भी अधिक मूल्यवान् समझो। दृढ़मति सदाचारसे कभी नहीं हटते, क्योंकि वे जानते हैं कि सदाचार-त्यागसे कितनी आपत्तियाँ आती हैं।

—महात्मा तिरुवल्लुव

सदाचार

(लेखक—पूज्यपाद महात्मा ठाकुर श्रीश्रीसीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज)

श्रीविष्णुपुराणमें महर्षि और्व कहते हैं—'गृहस्थ व्यक्ति प्रतिदिन देवता, गो, ब्राह्मण, सिद्धपुरुष, वृद्ध एवं आचार्यगणोंकी अर्चना करे एवं प्रातः तथा संध्या-कालोंमें संध्यादेवीको प्रणाम करे। वह होमादिद्वारा अग्नि आदिका उपचरण करे और सदा संयत होकर अनुपहत वस्त्र, महौषधि, गारुड़रत्न आदि माङ्गलिक वस्तुएँ धारण करे तथा अपने केश चिकने एवं परिष्कृत रखे। वह सुगन्धित, मनोहर वस्त्र एवं उत्तम श्वेत पुष्प धारण करे, कभी किसीका कुछ अपहरण न करे, किसीको कभी अप्रिय वाक्य न कहे, मिथ्या प्रियकथन भी न करे, परदोष-दर्शन न करे, अन्यकी सम्पत्तिको देखकर लोभ न करे, किसीसे वैर न करे, निन्दित पथग्रहण न करे और नदी-कूल-छायाका आश्रय न ले। पण्डित लोकविद्विष्ट, तित, उन्मत्त, बहु-शत्रु-समन्वित, कुदेशस्थित, वेश्या ा वेस्यापति, अल्प लाभसे गर्वित होनेवाले, मिथ्यावादी, अतिव्ययकारी, परनिन्दापरायण एवं शठ व्यक्तिके साथ मित्रता न करे। स्रोतस्विनी (नदी) आदिके स्रोतरहित स्थानमें या तीव्र धारमें स्नान न करे। प्रज्वलित गृहमें प्रवेश न करे। वृक्षके शिखरपर आरोहण न करे। मुख ढके बिना जम्हाई न ले। दण्ड-से-दण्डका घर्षण न करे। नासिका-कुञ्चन न करे। श्वास एवं खाँसी खुले मुखसे न छोड़े। उच्च हास्य एवं सशब्द अधोवायु परित्याग न करे। नखवाद्य या नखद्वारा तृणच्छेद न करे एवं नखद्वारा भूमिपर लेखन न करे।

विचक्षण व्यक्ति श्मश्रुचर्वण, लोष्टमर्दन न करे। अपवित्र अवस्थामें सूर्यादि ज्योतिष्पदार्थ तथा ब्राह्मणादि एवं प्रशस्त पदार्थोंका दर्शन न करे। निर्वसना पर-नारी एवं उदयास्तकालीन सूर्यका दर्शन न करे। शव-दर्शन करके एवं शवगन्ध ग्रहण करके घृणा न करे; क्योंकि शवगन्ध सोमका अंश होता है।

रात्रिकालमें चतुष्पथ, चैत्यवृक्ष, श्मशान, उपवन एवं दुष्टा नारीसे बचकर चले। अपनेसे पूज्य व्यक्तियों, देवता, ध्वज तथा तेजःपुञ्ज-पदार्थकी छायाका अतिक्रम विज्ञ व्यक्ति न करे। कल्याणकामी व्यक्ति शून्य-गृहमें निवास न करे एवं एकाकी एकान्त वनमें न रहे। केश, अग्नि, कण्टक, अपवित्र वस्तु, भस्म, तुष, स्नान-जलसे आर्द्रभूमिका दूरसे ही परित्याग करे। अनार्य-व्यक्तिका आश्रय न ले। हिंस्र प्राणीके पास न जाय। निद्राभङ्गके बाद अधिक देरतक पड़ा न रहे। कुटिल व्यक्तिसे स्नेह न करे। अधिक समयतक निद्रा, जागरण, अवस्थान, स्नान, उपवेशन, शय्या-सेवन तथा व्यायाम न करे। प्राज्ञ व्यक्ति दन्तघाती एवं सींगवाले जीवोंके पास न जाय। सामनेकी हवा और धूप तथा नीहारका परित्याग करे। नग्न होकर स्नान, निद्रा तथा आचमन न करे। होम, देवपूजा आदि क्रिया, आचमन, पुण्याहवाचन, जपकार्यमें एकवस्त्र होकर प्रवृत्त न हो।

कुटिलमन मानवका साथ कभी न करे। क्षण-मात्रका साधु-सङ्ग प्रशस्त है। ज्ञानी जन उत्तम या अधम जनोंसे विरोध नहीं करते हैं। विवाद और [illegible] समशील लोगोंके साथ ही करना चाहिये। [illegible] ज्ञानी जन किसीसे भी विवादारम्भ नहीं करे निष्फल शत्रुता न करे। अल्प हानि सह लेना [illegible] किसीसे शत्रुता करके अर्थलाभ करना उचित नहीं। स्नानके बाद शुद्ध परिप्लुत वस्त्र या हाथद्वारा [illegible] न चाहिये। केश-कम्पन नहीं करना चाहिये। बाद जलसे बाहर स्थलपर आचमन करना पदसे पदमें आघात न करे। पूज्य सामने पाँव न पसारे। गुरुजनोंके सामने रहे, वीरासनका परित्याग करे। देवालय,

सदाचारका मूल मन्त्र—भगवत्-शरणागति

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

यजुर्वेद (२२ । २२)में याजक परमात्मासे प्रार्थना करता है कि 'प्रभो ! हमारे राष्ट्रमें श्रेष्ठ ब्राह्मण, क्षत्रिय, स्त्री-पुरुष, दूध देनेवाली गायें उत्पन्न हों, सुभिक्ष बना रहे, वृक्ष फल-फूलसे लदे रहें तथा आपकी कृपासे हमारे योग-क्षेमका समुचित प्रबन्ध (कल्पना) होता रहे—'योगक्षेमो नः कल्पताम् ।'* इसी श्रुतिका अनुसरण करते हुए महर्षि गौतम अपने वैदिक धर्मसूत्र ९ । ६३-६४ में 'योगक्षेमार्थमीश्वरमधिगच्छेत् । नान्यमन्यत्र देवगुरुधार्मिकेभ्यः' की आज्ञा कर 'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्'को चरितार्थ करते हैं । अर्थात् सदाचारी पुरुष योगक्षेमके लिये परमेश्वर, या राजा, देवता, गुरु आदिका आश्रय ले । मनु आदि अन्य स्मृतिकार भी ऐसा ही कहते हैं । गीता (९ । २२) में स्वयं भगवान् भी इसका समर्थन करते हुए अनन्याश्रितोंके अपने द्वारा योगक्षेम-वहनकी बात कहते हैं—'योगक्षेमं वहाम्यहम् ।' इसपर अनेक भाष्य एवं अद्भुत व्याख्याएँ हैं । महाभारतान्तर्गत 'नारायणीयम्'के अनुसार इसमें शरणागतिका भाव है और कहा गया है कि भगवान् अहंकाररहित पूर्ण शरणागत व्यक्तिद्वारा, सदाचारका सम्यक् पालन कराकर उसे शम-दमादि षट्-सम्पत्ति एवं सम्यक् योग-ज्ञान-कैवल्यादिप्रदानरूप योगक्षेमका वहन करते हैं । इसमें—'लाद दे, लदा दे और लादनेवालेको साथ कर दे'—का भाव है—

> मनीषिणो हि ये केचिद् यतयो मोक्षधर्मिणः ।
> तेषां विच्छिन्नतृष्णानां योगक्षेमवहो हरिः ॥
>
> (महा० शा० ३४८ । ७२)

सदाचारके प्रेरक भगवान्—वस्तुतः वेदोंसे लेकर गीतातक सभी सच्छास्त्रोंका पर्यवसान-तात्पर्य भगवत्-शरणागतिपूर्वक सदाचरणमें ही है—'मामेकं शरणं व्रज' 'एकमात्र मेरी शरणमें आओ' आदि । इसका कारण यही है कि सदाचार तथा जीवकी सारी बाह्य एवं अन्तश्चेष्टाओंके प्रेरक श्रीभगवान् ही हैं । कौषीतकि-ब्राह्मण (३ । ९)की श्रुति कहती है— 'एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति' 'यह परब्रह्म परमात्मा ही जीवसे श्रेष्ठ कर्म कराकर उसे श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त कराता है' । 'अन्तर्यामी ब्राह्मण' भी यही कहता है—'अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानाम्' । 'वेदान्त-सूत्रके' 'परात्तु तच्छ्रुतेः' (२ । ३ । ४१, २ । १ । ३४, १ । १ । २) आदि प्रायः पचासों सूत्र भी जीवकी समस्त चेष्टाओंको ईश्वरायत्त ही मानते हैं' । उपनिषदोंके 'स कर्ता कारयिता अनाधिपः'—वही कर्ता तथा सब कुछ करानेवाला है, 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति' (बृहदारण्यक० ५ । ७ । २२), वह आत्माके भीतर बैठकर आत्माको नियन्त्रित करता है । भागवतके 'योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमाम् प्रसुप्ताम् (४ । ९ । ६) —'मेरे अन्तःकरणमें प्रविष्ट होकर सोयी पड़ी वाणीको प्रेरित करता है', तथा सभी गायत्रीमन्त्रोंके—मैं परमात्माका ध्यान, शरण ग्रहण करता हूँ, वे मुझे सदाचारमें प्रेरित करें' का यही भाव है । कर्मबन्धनसे मुक्तिका भी यही मार्ग है । गीताके भी—

> ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
> भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥
> तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत । (१८ । ६१-६२)

—'ईश्वर सभी प्राणियोंके हृदयदेशमें स्थित अपनी मायासे यन्त्रारूढ जीवोंको घुमाता, प्रेरित

---

* यह मन्त्र कृष्णयजुः काठकसंहिता ४५ । १४, तैत्तिरीय-संहिता ७ । ५ । १८, मैत्राय० सं० ३ । १२ । ६ और शुक्ल० संहिता २४ । ३०-३२में भी आया है । इसके प्रयोगक्रमपर मीमांसादर्शन, काण्व, माध्यन्दिनशतपथ, क० कर्क, देवयाज्ञिकभाष्य-पद्धतियोंमें मीमांसा है । ऋग्वेद १० । १६६ । ५ की प्रार्थना भी कुछ ऐसी ही है । कुछ-कुछ संवर्गविद्याका भाव है ।

पूज्य व्यक्ति और मङ्गल-द्रव्यादिको वामाङ्ग करके न जाय । पण्डितजन सूर्य, चन्द्र, अग्नि, जल, वायु, पूज्य व्यक्ति इन सबके सामने बैठकर मल-मूत्र त्याग न करे । खड़े होकर पेशाब न करे । मार्गमें पेशाब न करे । श्लेष्मा, मल-मूत्र तथा रक्तका लङ्घन न करे । आहारके समय, देवपूजा, माङ्गलिक कार्य, जप, होम आदिके समय एवं महाजनोंके समीप श्लेष्माका त्याग न करे, छींके नहीं । अशिष्ट (अकुलीन) नारीका विश्वास न करे । किंतु उसका जानकर तिरस्कार न करे । उसके प्रति ईर्ष्यालु न हो । उसपर किसी भी प्रकार धौंस न जमाये । सदाचारपरायण विद्वान् व्यक्ति, माङ्गलिक वस्तु—पुष्प, रत्न, घृत तथा पूज्य व्यक्तिको नमस्कार किये बिना घरसे बाहर न निकले । चतुष्पथको नमस्कार करे । यथावसर होमादि कार्य करे एवं विद्वान्-साधु व्यक्तियोंका सम्मान करे । जो व्यक्ति देव, ऋषिगणके पूजक हैं, पितरोंके प्रति श्राद्ध-तर्पण करते हैं, अतिथि-सत्कार-परायण हैं, वे ही उत्तम लोकमें जाते हैं । जो जितेन्द्रिय होकर समयपर स्वल्प, हितकर प्रिय वाक्य बोलते हैं, उन्हें देहावसानके बाद आनन्दप्रद अक्षयलोक प्राप्त होते हैं । जो धीमान्, श्रीमान्, क्षमावान्, आस्तिक एवं विनीत हैं, वे सत्कुलोत्पन्न विद्यावृद्ध व्यक्तियोंके योग्य उत्तमलोकमें गमन करते हैं ।

सूर्य एवं चन्द्रग्रहणके समय, पर्वोंके दिन, अशौच-समय या अकालमें तथा मेघगर्जनके समय पण्डित व्यक्ति अध्ययन न करे । जो सबके बन्धु हैं एवं मत्सररहित तथा भीत व्यक्तिको आश्वस्त करनेवाले हैं, उनके लिये स्वर्गलाभ अति सामान्य फल है । जो शरीर-रक्षा करना चाहते हैं, वे धूप तथा वर्षाकाल छतरी (छाते) का प्रयोग करें । रात्रि-कालमें गमन वनमें प्रवेश करते समय दण्डपाणि (हस्त-लगुडधारी) होकर चलें एवं बाहर जाते समय सदा पादुका ग्रह करे । दायें-बायें, ऊपर या दूर देखते हुए पण्डित व्यक्ति न चले । चलते समय सामनेसे चार हाथ दूरकी भूमि देखते हुए चलें । जो व्यक्ति जितेन्द्रिय होकर पूर्वो आचरणोंका पालन तथा अन्यान्य दोषोंके हेतु विनष्ट करता है उसके धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष किंचित् बाधा नहीं पहुँचती । पापी व्यक्तिके प्र भी जो पाप न करे, किसीके निष्ठुर वाक्योंके बद प्रिय वाक्य बोले, जो सम्पूर्ण प्राणियोंके बन्धु हैं एवं उ बन्धुत्व-निबन्धनके लिये आर्द्रचित्त हैं, मुक्ति उनके हाथोंमें होती है । जो व्यक्ति सदा सदाचारपरायण वीतराग, काम-क्रोध-लोभ-जयी हैं, उन्हींके सहारे पृथ्वी अवस्थित है । सत्य सबमें प्रीति जागरण करता है । जहाँ सत्य कहनेसे किसीका अनिष्ट होता हो, वहाँ मौन रहना चाहिये और जहाँ प्रिय वाक्य हितकर तथा युक्ति-संगत न हो, वहाँ प्रिय वाक्य भी न कहे । क्योंकि हितवाक्य नितान्त अप्रिय होनेपर भी अनन्त श्रेयस्कर होता है । जो कार्य इहलोक और परलोकमें प्राणियोंके लिये मङ्गलकारी हो, बुद्धिमान् व्यक्ति उसी काममें मनसा, वाचा, कर्मणा दत्तचित्त होता है । सदाचारके ये कुछ पालनीय नियम हैं, जिनके आचरणमें आ जानेपर लोक और परलोक दोनोंका सुधार सम्भव है । सभीको इनका आचरण मनोयोगसे करना चाहिये ।

साधुके लक्षण

जो झूठ नहीं बोलता, परनिन्दा नहीं करता, सद्गुणोंको धारण समभावसे आत्माको देखता है और श्रीहरिके चरणोंका प्रेमी है [illegible]साधु

श्रीरामस्नेहि-सम्प्रदायके सदाचार-सिद्धान्त

(लेखक—श्रीपुरुषोत्तमदासजी शास्त्री, रामस्नेहि-सम्प्रदायाचार्य, खेड़ापा)

सदाचार वह है, जो सत्पुरुषोंद्वारा आचरित या सद्ग्रन्थोंसे समर्थित हो। 'रामस्नेहि-सम्प्रदाय'की सब प्रकारके सदाचारोंमें आस्था है। इसमें श्रीरामजीकी उपासना है, सत्गुणमय श्रेष्ठ आचरण (रहन-सहन) है तथा पूर्वमें महापुरुषोंके वर्णित ग्रन्थोंमें सम्मत सद्गुणोंके द्वारा पालनीय सिद्धान्तोंका विवेचन है।

जिस सदाचारके सेवनद्वारा हम इस लोक व परलोकमें सच्चा सुखी बन सकते हैं, यह सम्प्रदाय उसीका एक निरूप (प्रतिक्रिया) है; क्योंकि इसका प्रादुर्भाव ही रामभजनके साथ सदाचारकी शिक्षा देनेके लिये हुआ है। इसलिये इसके द्वारा जहाँ हमें नाम-साधनके द्वारा आत्मकल्याणका मार्ग उपलब्ध होता है, वहीं हमें सब प्रकारके सुख देनेवाले पूर्ण सदाचारकी शिक्षा भी मिलती रहती है। इस सम्प्रदायके समस्त आचार्य जिस सदाचारको अच्छा मानते थे, उन्होंने उसका स्पष्ट वर्णन अपने वाणीसाहित्यमें कर दिया है। रामस्नेहि-सम्प्रदायके अनुयायी बननेवाले भक्तजनोंको सर्वप्रथम दुर्व्यसनोंसे मुक्त होकर एक श्रीराम महाराजका इष्ट धारण करने और तत्त्वविचारशील होकर सत्य बोलने आदिकी शिक्षा दी जाती है और तत्पश्चात् दीक्षा।

'रण इक राम कंठी भल राखो, तत का तिलक असत मत भाखो॥'

इस सम्प्रदायके पूर्ववर्ती आचार्योंने 'नियम-पद्धदशी' आदि वाणी-ग्रन्थोंके द्वारा सदाचारके प्रायः सभी मुख्य सिद्धान्तोंपर प्रकाश डालकर हमारा पथ प्रशस्त किया है, जो एक उत्तम सदाचारीके लिये परमावश्यक नियम हैं। इस पञ्चदशी 'नियम' का संक्षिप्त सार इस प्रकार है—(१) अपने इष्ट निर्गुण ब्रह्म (श्रीराम महाराज) की उपासना करना। (२) वेदशास्त्र आदिमें पूर्ण आस्था रखते हुए अधिक-से-अधिक प्रचार करना। (३) शारीरिक सुख छोड़कर अधिक-से-अधिक भजन, साधन, सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय पाठ आदि करना। (४) महापुरुषों (भक्तों)के प्रति श्रद्धा रखते हुए सत्सङ्ग-सेवा आदि करना। (५) सात्त्विक एवं हिंसारहित साधनोंसे जीवन निर्वाह करना। (६) ईश्वरेच्छापर निर्भर रहकर (संतोषपूर्वक) उद्यम करते रहना। (७) नियमपूर्वक प्रभुप्रसाद-चरणामृत, दर्शनादि प्राप्त करना। (८) शील-शान्ति एवं सन्तोष रखते हुए सत्य-हित व मितभाषी बनना। (९) काम-क्रोधादिको छोड़कर पर-स्त्री आदिको माता-बहन मानते हुए संयमित जीवन-यापन करना। (१०) कपड़ेसे छानकर जलका उपयोग करना। (११) दूसरोंके सुख-दुःखको अपना ही मानते हुए सबकी सेवा करना। (१२) प्राणिमात्रको आत्म-स्वरूप देखते हुए किसीको कष्ट न पहुँचाना। (१३) सत्त्वगुणका आश्रय रखते हुए सबके साथ समताका व्यवहार करना। (१४) तम्बाकू, भाँग, मदिरा आदि समस्त दुर्व्यसनोंसे सदा दूर रहना। (१५) संत-वाणीद्वारा निर्दिष्ट मार्गपर चलते रहना।

(रामस्नेह धर्मप्रकाश, प्रारम्भिक प्रकरण पृ० ७८)

'रामस्नेहि-धर्म' जीवनकी प्रत्येक स्थितिमें सांसारिक वासनाओंसे हटाकर मानवको भगवदुन्मुख करता है। इस संदर्भमें खेड़ापा आचार्यचरण श्रीरामदासजी महाराजने अत्यन्त सरल, किंतु सारगर्भित शब्दोंमें सदा मुख्य-मुख्य शिक्षाओंका संक्षिप्त निदर्शन यहाँ पर्याप्त है—

वाणी-संयम—

काहू दैने औगदी, राम बिना कहुँ बेन।
रामदास इक रामबिन, कुण तुम्हारो सेन॥

है' तुम सर्वात्मना उन्हींकी शरण लो, 'मत्तः स्मृतिर्ज्ञान-मपोहनं च' (१५ । १५) 'मैं ही ज्ञान, स्मृति और उनके विलोपका कारण हूँ' आदि कथनोंसे भी यही बात सिद्ध होती है । श्रीमद्भागवतादिमें ब्रह्माजीसे स्वयं भगवान्ने कहा है कि आपसे तपस्या एवं प्रार्थना आदि मैंने ही करवायी है, यह मेरी ही कृपाका परिणाम है—

यच्चकर्थाङ्ग मत्स्तोत्रं मत्कथाभ्युदयाङ्कितम् ।
यद्वा तपसि ते निष्ठा स एष मदनुग्रहः ॥
(श्रीमद्भा० ३ । ९ । ३८, मत्स्यपु० २७३ । १३-१५)

"भागवतमें ही भक्तराज वृत्रासुर भी कहता है कि इन्द्र ! यह समस्त भूतवर्ग कठपुतलीकी तरह उस परमात्मा विष्णुके सर्वथा परतन्त्र है—।"

यथा दारुमयी नारी यथा यन्त्रमयो मृगः ।
एवं भूतानि मघवन्नीशतन्त्राणि विद्धि भोः ॥
(श्रीमद्भा० ६ । १२ । १०)

गोस्वामी तुलसीदासजीके 'मानस'के—

उमा दारु जोषित की नाईं । सबहि नचावत रामु गुसाईं ॥
नट मरकट इव सबहि नचावत । राम खगेस बेद अस गावत ॥

'उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन ।' (७ । ११२ । १) 'माया-प्रेरक सीव' (३ । १५) 'प्रेरकानंत वन्दे तुरीयं' (विनयपत्रिका ५३ । ३) 'सब प्रेरक प्रभु बरजै (विनय० ८९ । ४) आदि कथनोंमें भी यही वेदानुगतिता है ।

सदाचारद्वारा प्राप्य भी भगवान्—इन्हीं सब कारणोंसे ऋषि-मुनियोंने सदाचार-पालनके लिये और उसके एकमात्र परमफल प्रभुकी प्राप्तिके लिये भी भगवच्चरणोंकी शरणागतिको, उनकी स्मृतिको ही परमोचित एवं सर्वथा निरापद मार्ग बतलाया है—

श्रुति पुरान सद ग्रंथ कहाहीं । रघुपति भगति बिना सुख नाहीं ॥

'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च' (गी० ८ । ७) ।

'सदा मुझे स्मरण करो और (स्मरणपूर्वक) शुद्ध सदाचार-का पालन करो ।' ध्रुव, प्रह्लाद, नारद, व्यास, वसिष्ठ, शुकदेव-जी आदि भक्त पुरुषोंका भी यही उपदेश एवं आचार है—

सिव अज सुक सनकादिक नारद । जे मुनि ब्रह्म बिचार बिसारद ॥
सब कर मत खगनायक एहा । करिअ राम पद पंकज नेहा ॥
(मानस ७ । १२१ । ६)

अतः सदा भगवत्स्मरण, नमन और शरणागति[illegible] सदाचारका पालन करना चाहिये ।

सदाचार स्वयं भी भगवान्—यजुः (४० । १)के ई[illegible]वास्यादि मन्त्र, 'धर्मस्त्वं वृषरूपधृक् लोकानां स्वं[illegible] धर्मः' (वाल्मी० ६ । ११७ । १४) तथा गीताके ब्रह्मार्प[illegible] (४ । २४) 'परमात्मा समाहितः' (गी० ६ । ७[illegible] आदि वचनोंसे शुद्ध सदाचार, संयम स्वयं भी परमा[illegible] सिद्ध है । तभी 'सुषुप्तवद्यवस्पन्दसाधर्म्येण चरन्ति[illegible] (योगवासिष्ठ ५ । ४० । २०) 'स्रुति गुन गान समाधि बिसा[illegible] (मानस ७ । ४१ । ४) आदिसे श्रेष्ठ आचारोंका स[illegible] चिवत् ही माहात्म्य है । योगवासिष्ठमें जडसमाधिकी अपे[illegible] तत्त्वदर्शनपूर्वक जाग्रत् व्यवहार; लोकसंग्रहको बार-बार श्रे[illegible] बतलाया गया है (मुमुक्षु व्यव० १२ । २२, उपशम उत्त०[illegible] निजमहिमामें प्रतिष्ठित श्रीभगवान्का अवतार-धारणपूर्व[illegible] सदाचाररक्षा एवं अधर्मका संहरण भी यही सिद्ध करता है ।

इस प्रकार श्रद्धा-विनय तथा सम्यग्दृष्टियुक्त सदाचार-पालनसे मनुष्य-जीवनकी कृतार्थता है । पर धर्मात्मा या सदाचारी बननेके भावके अहंकार तथा दम्भ, मोहादिसे अवश्य बचना चाहिये; क्योंकि इनसे ज्ञानियों एवं सदाचारियों-तकको भी पग-पगपर स्खलनका भय बना रहता है—

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥
(दुर्गासप्त०, प्रबोधचन्द्रोदय०, अमृतोदय० आदि)

साथ ही कारयित्री शक्ति भी वही है । और[illegible] समयमार्गियोंके—'सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये । सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी तथा 'धर्म्याणि'''शुद्धानि करोति' (दुर्गास० ४ । १६) आदि कथनों[illegible] उस शक्ति या शक्तियुक्त ब्रह्मकी[illegible] ही सच्चे योगक्षेमका—सि[illegible] कर सकता है और परम[illegible] है । इस दैवसम्पत्ति[illegible] या सर्वान्तर्यामी[illegible] सर्वेन्द्रिय ।' (

हमारे राष्ट्रिय जीवनकी आधारशिला—सदाचार

(लेखक—पं० श्रीभृगुनन्दनजी मिश्र)

मानव-सभ्यताका इतिहास इस बातका साक्षी है कि जब और जहाँ भी सदाचारके *नियमोंकी अवहेलना हुई* और निरङ्कुश स्वच्छन्द आचरण प्रारम्भ किया गया, तभी वहाँ संघर्ष, विघटन एवं युद्ध हुए हैं। व्यक्तिगत सुखोपभोग एवं स्वार्थपरायणताकी भावना मनुष्यकी बुद्धि एवं विवेकको कुण्ठित कर देती है, जिससे वह असदाचारी, भोगपरायण एवं दुराग्रही बनकर पतन तथा विनाशके मार्गपर अग्रसर हो जाता है और उसके दुराचरणसे समाजमें अनेक दोष एवं बुराइयाँ पनपने लगती हैं—भारतीय ऋषि-महर्षियोंने मानवमात्रके कल्याणके लिये सुन्दर समाज-रचनाके उद्देश्यसे सदाचारी जीवन अपनानेपर विशेष जोर दिया है और '**आचारः प्रथमो धर्मः**'का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, जिसके अनुसार मनुष्यकी मानसिक एवं बौद्धिक योग्यताओंसे भी बढ़कर *सदाचरणको विशेष महत्त्व दिया गया है।*

अधिकतर पाश्चात्त्य दार्शनिकोंने केवल सद्विचारोंको ही व्यक्तित्वके विकासका मूल मान लिया है, जब कि भारतीय दार्शनिकोंने सद्विचारोंके साथ-साथ 'सदाचरण'-को व्यक्तिके विकासका मूल माना है। केवल विचारों या शब्दोंमें उतनी शक्ति नहीं होती, जितनी सदाचारी व्यक्तिके व्यक्तित्वमें निहित होती है। वस्तुतः सदाचरणके धनी व्यक्तियोंके अनुपातसे ही समूची मानवताके लिये कल्याणकारी समाजका ठोस निर्माण सम्भव होता है। अतीतकालमें हुए महापुरुषों तथा वर्तमान युगके महापुरुष रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, महामना मालवीय, लोकमान्य तिलक आदिके जीवनचरित्रोंसे और उनकी ओजस्वी वाणीद्वारा जनसमाजमें जाग्रत् की गयी नवचेतनाका स्पष्ट दर्शन होता है। ये महान् विभूतियाँ संयम एवं सदाचारकी प्रतीक थीं। साधारण समाजसुधारकों एवं जन-*नेताओंकी मौखिक शब्दावली तो ग्रामोफोन या टेप-*रिकार्डरके समान है, जिसका सुननेवालोंपर क्षणिक प्रभाव अवश्य होता है, जब कि संयमी एवं सदाचारी व्यक्तियोंका जीवन मानव-समाजको दिशा-निर्देशनमें युगोंतक प्रकाशस्तम्भकी भाँति पथप्रदर्शन करता रहता है। प्रचारकी अपेक्षा आचारका महत्त्व होता है।

सदाचरणका महत्त्व प्रत्येक धर्ममें विस्तारपूर्वक बतलाया गया है। उसका किसी अन्य धर्मके सिद्धान्तोंसे मतभेद नहीं है। सांसारिक सुखोपभोग, जिनके संसर्गसे मनुष्यकी शक्ति, सामर्थ्य तथा समयका दुरुपयोग होता है, उनका मर्यादित किया जाना समूचे मानव-समाजके लिये विश्वहितमें नितान्त आवश्यक है। मनुष्यकी जिन प्रवृत्तियोंसे समाजके बहुसंख्यक वर्गको आघात पहुँचता हो, विश्वमें तनाव एवं संघर्ष उत्पन्न होता हो, उनकी गणना तो असदाचार अथवा दुराचरणमें ही हो सकती है। आजके युगमें जब हम संसारमें बढ़ते हुए कलह, क्लेश, अशान्ति एवं उच्छृङ्खलतापर दृष्टिपात करते हैं तो उसका मूल कारण मनुष्योंका असदाचारी जीवन-यापन ही दिखायी देता है। हर नगरमें नित्यप्रति घटित होनेवाली चोरी, डकैती, लूटमार, हत्या, बलात्कार आदि अनाचारसम्बन्धी घटनाएँ नित्यप्रति ही हमारे सुनने एवं देखनेमें आती रहती हैं, जिन्हें शासनके कानून एवं शक्तिके प्रयोगद्वारा भी रोका जाना सम्भव नहीं जा पड़ता है, किंतु इनका रोकना नितान्त आवश्यक है।

व्यक्ति या समाजके सुधारके लिये कानून सत्ताका प्रयोग तो एक बाहरी अस्थायी प्रबन्धमात्र मनुष्योंके मन-मस्तिष्कमें परिवर्तन हुए बिना प्रयोग पूर्णरूपेण सफल सिद्ध नहीं हो सकते।

संयमी एवं सदाचारी व्यक्तियोंका जीवन उस सुगन्धित पुष्पोद्यानके समान है, जिसकी प्रभावक सुगन्धसे निकटवर्ती जनसमूह प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। सदाचारीजीवनसे समाज एवं राष्ट्रका ही नहीं, अपितु सारे विश्वका कल्याण-साधन होता है।

आज किसी भी विचारशील किंवा विवेकी पुरुषका हृदय इस बातको देखकर दुःखित हुए बिना नहीं रह सकता कि हमारे देशको राजनैतिक स्वतन्त्रताप्राप्तिके तीस वर्ष बाद भी उसके राष्ट्रिय जीवनमें नैतिक एवं चारित्रिक उन्नति होनेके बजाय अनैतिकता एवं चरित्रहीनताकी ही अधिक वृद्धि हुई है। कुछ भौतिक प्रगति तथा औद्योगिक उन्नतिमात्रको ही राष्ट्रकी सफलताओंका प्रतीक नहीं माना जा सकता; उसे अधिक-से-अधिक मिथ्या संतोष ही कहा जा सकता है। मनचाहा रहन-सहन, उच्छृङ्खलता, अनुशासनहीनता, परपीड़न (हिंसा), अपहरण, बलात्कारादि चरित्रहीनता, भ्रष्टाचार, मुनाफाखोरी आदि बुराइयोंने सारे समाज एवं राष्ट्रको अधःपतनकी जिस स्थितिमें पहुँचा दिया है, क्या इसीको हम अपनी प्रगति मान लें? और क्या शासनके कानूनोंके भयसे इन समस्त उपर्युक्त बुराइयोंपर कोई नियन्त्रण हो पाया है? यदि सत्ता एवं कानूनके प्रयोगसे स्थितिमें कोई सुधार अबतक नहीं हो सका तो हमारे राजनेताओं या सामाजिक कार्यकर्ताओंने इसका हल खोजनेका अन्य कौन-सा प्रयत्न किया है?

हमारे विचारसे अपने बच्चों तथा नवयुवकोंमें सदाचार एवं चरित्र-निर्माणकी शिक्षापर पूरा जोर दिये बिना समाज एवं राष्ट्रके जीवनसे उपर्युक्त राष्ट्रघाती बुराइयोंका दूर होना सम्भव नहीं जान पड़ता। अतः शासकीय, अर्द्धशासकीय तथा निजी विद्यालयोंमें सर्वप्रथम सदाचार तथा चरित्र-निर्माण-सम्बन्धी शिक्षा प्रचलित करना आवश्यक एवं अनिवार्य कर दिया जाय। साथ ही नवयुवकों, श्रमिकों तथा बुद्धिजीवी वर्गोंके संगठन एवं संस्थाओंमें उच्चकोटिके प्रति… चरित्रवान् सामाजिक कार्यकर्ताओंको—चाहे वे गृ… हों या वानप्रस्थ, साधु हों या संत—उनको सदाचार एवं चरित्र-निर्माणसम्बन्धी विषयोंपर प्रति… या सप्ताहमें कम-से-कम दो बार प्रेरणा एवं उद्बो… देनेकी व्यवस्था होनी चाहिये, जिससे संयमी, सदाचा… एवं चरित्रवान् पीढ़ीका निर्माण सम्भव हो सके।

हमारे देशके अतीत कालके इतिहासमें महारा… हरिश्चन्द्र, श्रीराम, भरत, लक्ष्मण, धर्मराज युधिष्ठि… अर्जुन, भीष्मपितामह आदिके जीवन-चरित्रोंमें सदाचार… एवं संयमके बलसे अद्भुत शौर्य एवं पराक्रम दिखा… तथा अनेक भयंकर परिस्थितियोंपर विजय प्रा… करनेकी अद्भुत गाथाएँ प्रसिद्ध हैं। परम ईश्वर… एवं दृढ़प्रतिज्ञ महाराणा प्रताप, त्यागमूर्ति भामाशाह, अन्याय एवं अत्याचारके प्रबल विरोधी महाराज शिवाजी—(जिन्होंने साम्राज्य, पद, धन, रूप, सौन्दर्य-तकके बड़े-बड़े प्रलोभनोंको ठुकराकर अपनी सच्चरित्रता, त्याग एवं देशभक्तिका परिचय दिया उन)की सदाचारसे ओतप्रोत गाथाएँ हमारे लिये कितनी प्रेरणाप्रद हो सकती हैं, इस बातको हमारे राष्ट्रनायक तथा समाज-सुधारक अच्छी तरह जानते हैं, किंतु जनसाधारणको उपदेश देनेसे पूर्व उन्हें स्वयंको पूर्ण सदाचारी तथा चरित्रवान् बनना होगा; क्योंकि उनके आदर्शोंका ही जनसामान्य अनुशीलन तथा अनुगमन करते हैं। इस सम्बन्धमें श्रीमद्भगवद्गीतामें बहुत ही स्पष्ट घोषणा कर दी गयी है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
(३।२१, २३)

सदाचारका अर्थ है—मन, वाणी तथा कर्मसे सत्यके अनुकूल आचरण करना। जिस व्यक्तिने

वस्तुतः सदाचारसे मानव-जीवनका जो सर्वतोमुखी विकास होता है, उसमें एक-दो नहीं, अनन्त गुणोंकी दीप्ति प्रकट होती है और जिसका चमत्कारी प्रभाव सर्वसाधारण लोगोंके जीवनको प्रभावित करता है। भारतीय जीवन-दर्शनकी यह विशेषता है कि इसका प्रत्यक्ष सदाचरण ही जनमानसके मन-मस्तिष्कको स्वेच्छापूर्वक बदल देनेकी सामर्थ्य रखता है। सदाचारी व्यक्ति अपनी ओजस्विनी विचारधारासे जन-जीवनमें जिन उत्साह-शक्ति, सामर्थ्य, त्याग एवं कर्तव्यपरायणताकी भावनाओंको जाग्रत् कर देता है, वे समाज एवं राष्ट्रके जीवनको महान् पवित्र एवं उन्नतस्तरपर पहुँचा देती हैं।

सदाचारका अनिवार्य पक्ष—'अनुशासन'

सदाचारसेवी कुछ आदर्श शासक तथा राजपुरुष

(१)

आत्मज्ञानी महाराज अश्वपति

एक बार अनेक ऋषि तथा ऋषिपुत्र एकत्र हुए। उनमें आत्मा तथा ब्रह्मके सम्बन्धमें विचार होने लगा, किंतु वे किसी निश्चयपर नहीं पहुँच पाये। इसलिये वे परामर्शकर महर्षि उद्दालकके पास पहुँचे। लेकिन उन्होंने कहा कि—'इस वैश्वानर आत्माका ठीक-ठीक बोध तो महाराज अश्वपतिको ही है। हम सब उनके समीप चलें। वे हमारा समाधान कर देंगे।'

बहुत-से ऋषि एवं ऋषिपुत्रोंको एक साथ आये हुए देखकर महाराज अश्वपतिको बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने सबका अभिवादन किया और यथायोग्य आसनोंपर बैठाया। महाराजने उनके यथाविधि चरण धोये। चन्दन, माला, पुष्प आदिसे उनका पूजन किया। इसके पश्चात् उनके भोजनके लिये नाना प्रकारके स्वादिष्ट सात्त्विक पदार्थ स्वर्णथालोंमें परोसे तथा दक्षिणाके रूपमें स्वर्णराशि भी निवेदित की। भारतीय संस्कृतिमें अतिथि-सत्कार आदर्श समुदाचार है। लेकिन उन अभ्यागतोंने न तो भोजनका स्पर्श किया और न धन लेना ही स्वीकार किया। वे वैश्वानर विद्याके भूखे थे, लौकिक-मधुर अन्न और स्वर्ण-राशिकी दक्षिणाके नहीं।

ज्ञानी अश्वपतिको ऋषियोंके इस व्यवहारसे तनिक आश्चर्य न हुआ। वे हाथ जोड़कर बोले—'मैं जानता हूँ कि शास्त्रोंमें राजाका अन्न अपवित्र बतलाया गया है और वह इसलिये है कि राजा चोर, डाकू, अनाचारी आदिपर अर्थदण्ड लगाता है। पापियोंतकका कुत्सित धन-संग्रहकर खजाना भरता है। प्रजाके पापमें भी राजाको भाग मिलता है। लेकिन वास्तवमें सच्ची बात तो यह है कि, "मेरे राज्यमें न तो कोई चोर है और न कोई मद्यप है। कोई अनाचारी पुरुष तो है ही नहीं; फिर अनाचारिणी स्त्री कहाँसे आयेगी! ऐसी अवस्थामें आप सब मेरे यहाँ भोजन क्यों नहीं करते! मेरा अन्न तथा धन तो निर्दोष है।'

उन ऋषियोंने कहा—'राजन्! मनुष्य जहाँ जिस प्रयोजनसे जाता है, उसका वह प्रयोजन पूर्ण हो, यही उसका सत्कार है। हम सब आपके पास धनके लिये नहीं आये हैं, अपितु वैश्वानर-आत्माका ज्ञान प्राप्त करने आये हैं। आप उसीकी पूर्ति कीजिये।'

'आज तो आप सब भोजन करके विश्राम करें, कल आपलोगोंकी बातपर विचार करूँगा।' महाराज अश्वपतिने उस दिन हँसकर बात टाल दी। ब्रह्मर्षियोंको कुछ विचित्र-सा लगा।

'राजाने हमारे प्रश्नका उत्तर क्यों नहीं दिया! उन्होंने कल भी उत्तर देनेका निश्चित आश्वासन नहीं दिया है।' भोजन करके अग्निशालामें बैठे वे अतिथि परस्पर विचार करने लगे। हम सब अविधिपूर्वक प्रश्न करेंगे तो उत्तर कैसे मिलेगा? महर्षि उद्दालकने बतलाया—'हम जिज्ञासु होकर आये और उच्चासनोंपर बैठकर पूजन स्वीकार करने लगे। ज्ञानकी प्राप्ति इस प्रकार नहीं होती। विद्या भी जलके समान अधःप्रवाहिनी है। जो नीचे बैठेगा, विनम्र होगा, ज्ञान उसकी ओर जायगा। हमने इस शिष्टाचारका पालन नहीं किया है।'

दूसरे दिन उन लोगोंने हाथमें समिधा ली और विनम्र भावसे महाराजके समीप गये। तब महाराज अश्वपतिने उन्हें आत्मज्ञानका उपदेश किया। वे कृतकृत्य हो गये।

(२)

सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र

सत्य मूल सब सुकृत सुहाए। बेद पुरान प्रगट मनु गाए॥

महर्षि विश्वामित्रजीकी कृपासे सशरीर स्वर्ग जानेवाले और वहाँसे देवताओंद्वारा गिराये जानेपर बीचमें ही अवनत स्थित रहनेवाले महाराज त्रिशङ्कुका उपाख्यान विख्यात ही है। राजर्षि हरिश्चन्द्र (पाणि० ६।१।१५२) न्हींके पुत्र थे। ये प्रसिद्ध दानी, भगवद्भक्त तथा धर्मात्मा थे। इनके राज्यमें कभी अकाल नहीं पड़ता था, बीमारी नहीं फैलती थी और दूसरे कोई दैविक या भौतिक उत्पात भी नहीं होते थे। प्रजा सुखी, सम्पन्न और धर्मपरायण थी। महाराज हरिश्चन्द्रकी सत्यनिष्ठा तीनों लोकोंमें विख्यात थी। देवर्षि नारदसे महाराजकी प्रशंसा सुनकर देवराज इन्द्रको भी ईर्ष्या हुई और उन्होंने परीक्षा लेनेका निश्चय करके इसके लिये विश्वामित्रजीको तैयार किया।

विश्वामित्रजीने अपने तपके प्रभावसे स्वप्नमें ही राजासे सम्पूर्ण राज्य दानमें ले लिया और दूसरे दिन अयोध्या जाकर उनसे राज्यको माँग लिया। सत्यवादी राजाने स्वप्नके दानको भी सत्य ही माना और पूरा राज्य तथा कोश मुनिको सौंप दिया। हरिश्चन्द्रने काशी जाकर रहनेका निश्चय किया। इसके बाद ऋषि विश्वामित्रने कहा—'इतने बड़े दानकी साङ्गताके लिये दक्षिणा दीजिये।'

अब राजा हरिश्चन्द्र, जो कलतक पृथ्वीके एकच्छत्र सम्राट् थे, कंगाल हो गये थे। अपने पुत्र रोहिताश्व तथा पत्नी शैब्याके साथ वे काशी आये। दक्षिणा देनेका दूसरा कोई उपाय न देखकर पत्नीको उन्होंने एक ब्राह्मणके हाथ धात्रीका काम करनेके लिये बेच दिया। (बालक रोहित भी माताके साथ गया।) विश्वामित्रजी जितनी दक्षिणा चाहते थे, वह इतनेसे पूरी नहीं हुई। राजाने अपनेको भी भृत्य-वृत्तिपर बेचना चाहा। उन्हें काशीके एक चाण्डालने श्मशानपर पहरा देनेके लिये और मृतक-कर वसूल करनेके लिये खरीद लिया। इस प्रकार हरिश्चन्द्रने ऋषिको दक्षिणा देनेका अपना व्रत निभाया। उन्होंने अपने और अपने परिवारको बेचकर भी साङ्गता चुकायी।

सोना अग्निमें पड़कर जल नहीं जाता, वह और दीप्तिमान् हो जाता है। इसी प्रकार धर्मात्मा पुरुष भी संकटोंमें पड़कर और चमक उठते हैं अतः धर्मसे पीछे नहीं हटते। उनकी धर्मनिष्ठा विपत्तिकी अग्निमें भस्म होनेके बदले और उज्ज्वलतम हो जाती है, *हरिश्चन्द्र चाण्डालके सेवक हो गये।* एक चक्रवर्ती सम्राट् श्मशानमें रात्रिके समय पहरा देनेके काममें लगनेको विवश हुए। परंतु हरिश्चन्द्रका धैर्य अडिग रहा। उन्होंने इसे भी भगवान्‌का अनुग्रह ही समझा; क्योंकि सत्यका सदाचार उनका सम्बल था।

महारानी शैब्या आज पतिदेवके धर्मका निर्वाह करनेके लिये ब्राह्मणके यहाँ धात्री हो गयी। नन्हा-सा सुकुमार बालक ब्राह्मणके यहाँ आज्ञाका पालन करता, डाँटा जाता और चुपचाप रो लेता! एक दिन संध्या-समय कुछ अन्धकार होनेपर रोहिताश्व ब्राह्मणकी लिये फूल तोड़ने गया था, वहाँ उसे सर्पने काट लिया। बालक गिर पड़ा और प्राणहीन हो गया! महारानी होकर भी 'बेचारी' शैब्या लाचारीमें पड़ी थी। उसका एकमात्र पुत्र उसके सामने मरा पड़ा था, न तो उसे दो शब्द कहकर धीरज दिलानेवाला था कोई उसके पुत्रके शवको श्मशान ले जानेवाला रात्रिमें अकेली, रोती-बिलखती वह अपने पुत्रके शवको लेकर उसकी अन्त्येष्टिके लिये

गयी। श्मशानके स्वामी चाण्डालने हरिश्चन्द्रको आज्ञा दे रक्खी थी कि बिना कर दिये कोई भी लाश जलने न पाये। शैब्याका रोना सुनकर हरिश्चन्द्र वहाँ आ पहुँचे और कर माँगने लगे। हाय! हाय!! अयोध्याके चक्रवर्तीकी महारानीके पास आज था ही क्या, जो वह करमें दे। आज अयोध्याके असहाय युवराजकी लाश उसकी माताके सामने पड़ी थी। माता कर दिये बिना उसे जला नहीं सकती थी! शैब्याके रुदन-क्रन्दनसे हरिश्चन्द्रने उसे पहचान लिया। कितनी करुणामय स्थिति हो गयी—अनुमान किया जा सकता है। पिताके सामने उसके एकमात्र पुत्रका शव लिये पत्नी बिलख रही थी और भृत्य पिताको उस कंगालिनीसे भी कर वसूल करना ही था। परंतु हरिश्चन्द्रका धर्म अविचल था। उन्होंने कहा—'भद्रे! जिस धर्मके लिये मैंने राज्य छोड़ा, तुम्हें छोड़ा और रोहितको छोड़ा, जिस धर्मके लिये मैं यहाँ चाण्डालका सेवक बना, तुम दासी बनी, उस धर्मको मैं नहीं छोड़ूँगा। तुम मुझे धर्मपर डटे रहनेमें सहायता दो। पत्नीका यही धर्म है। आर्य ललनाओंका यही सदाचार है।'

शैब्या पतिव्रता थी। पतिकी धर्मरक्षाके लिये जिस महारानीने राज्य छोड़कर दासी बननातक स्वीकार किया था, वे पतिके धर्मका आदर न करें—यह कैसे सम्भव था! परंतु आज माताके सामने उसके पुत्रका निर्जीव शरीर था माता शोक-विह्वल थी। फिर भी उसे कर्तव्य तो करना ही था। पतिका हृदयमें कर माँग रहा था और देनेको कुछ नहीं था। कैसे क्या हो! [illegible] अन्तमें उस देवीने कहा—'स्वामिन्! मेरे पास तो दूसरा वस्त्र भी नहीं है। यही एक, मैंने पहनी है, [illegible] आधी मैं पहने हूँ। आपके पुत्रके [illegible] नहीं है। [illegible]

'कर' के रूपमें। आपका सत्यधर्म अविचल रहे [और] अन्त्येष्टि-संस्कार भी हो जाय।'

हरिश्चन्द्रने साड़ीका आधा भाग लेना स्वी[कार] कर लिया। जैसे ही शैब्याने साड़ी फाड़ना च[ाहा], स्वयं भगवान् विष्णु प्रकट हो गये! सत्य [और] धर्म भगवान्के स्वरूप हैं। जहाँ सत्य तथा धर्म [हैं] वहीं स्वयं भगवान् प्रत्यक्ष हैं। देवराज इन्द्र [और] विश्वामित्रजी भी देवताओंके साथ वहाँ आ गये। धर्मने प्रकट होकर बताया कि 'मैं स्वयं चाण्डाल बना था।' इन्द्रने अमृतवर्षा करके कुमार रोहिताश्व[को] जीवित कर दिया! धर्म सदाचारकी विजय हुई!

भगवान्ने हरिश्चन्द्रको भक्तिका वरदान दिया। इन्द्रने उनसे पत्नीके साथ सशरीर स्वर्ग चलने[की] प्रार्थना की। हरिश्चन्द्रने कहा—'मेरी प्रजा मेरे वियोग[में] इतने दिन दुःखी रही। मैं अपने प्रजाजनोंको छोड़कर स्वर्ग नहीं जाऊँगा।' यह था उस युगका प्रजापालन।

इन्द्रने कहा—'राजन्! आपके इतने पुण्य हैं कि आप अनन्त कालतक स्वर्गमें रहें। यह तो भगवान्का विधान है। प्रजाके लोगोंके कर्म भिन्न-भिन्न हैं। सब एक साथ कैसे स्वर्ग जा सकते हैं! कर्मोंके कर्ताओंको अलग-अलग फल देना [illegible] करता है। यह अव्याहत सिद्धान्त है।'

राजा हरिश्चन्द्रने कहा—'मैं अपना समस्त पुण्य अपने प्रजाजनोंको देता हूँ। मैं स्वर्ग नहीं जाना चाहता। आप उन्हीं लोगोंको स्वर्ग ले जायँ। मेरी प्रजाके लोग स्वर्गमें रहें। मैं उन सबके पाप भोगने अकेला नरक जाऊँगा।' [illegible] उदारता, ऐसी प्रजावत्सलता देख कर देवता संतुष्ट हो गये। [illegible] अयोध्यावासी अयोध्यापुरीके सब लोग सदेह स्वर्ग चले गये। हरिश्चन्द्र [illegible] आदर्श धर्म सदाचारका [illegible] और [illegible] हरिश्चन्द्र [illegible]। उनकी [illegible] आदर्श सत्य सदाचारको [illegible]।

प्रयोजनसे आपके पास आया था, किंतु मैंने सुना है कि आपने विश्वजित् यज्ञमें अपना समस्त वैभव दान कर दिया है। यहाँ आकर मैंने प्रत्यक्ष देखा कि आपके पास अर्घ्य देनेके लिये भी धातुका कोई पात्र नहीं बचा है। आपने मुझे मिट्टीके पात्रमें अर्घ्य दिया है, अतः अब मैं आपसे कुछ नहीं कहता। आपका कल्याण हो; मैं जाता हूँ।'

राजाने कहा—'नहीं, ब्रह्मन्! आप मुझे अपना अभिप्राय बताइये। मैं यथासाध्य उसे पूरा करनेकी चेष्टा करूँगा।' कौत्सने कहा—'राजन्! मैंने अपने गुरुके यहाँ रहकर साङ्गोपाङ्ग चौदह विद्याओंका अध्ययन किया है। अध्ययनके अनन्तर मैंने गुरुजीसे गुरुदक्षिणाके लिये प्रार्थना की। उन्होंने कहा—'हम तुम्हारी सेवासे ही संतुष्ट हैं, मुझे और कुछ भी दक्षिणा नहीं चाहिये।' गुरुजीके यों कहनेपर भी मैं बार-बार उनसे गुरुदक्षिणाके लिये आग्रह करता ही रहा। तब अन्तमें उन्होंने झल्लाकर कहा—'अच्छा तो चौदह कोटि सुवर्णमुद्रा लाकर हमें दो।' मैं इसीलिये आपके पास आया था।'

महाराजने कहा—'ब्रह्मन्! मेरे हाथोंमें विजय-सामर्थ्य रहते हुए कोई विद्वान् ब्रह्मचारी ब्राह्मण मेरे यहाँसे विमुख चला जाय यह मेरे लिये परिवादका नया विषय होगा। आप तबतक मेरी अग्निशालामें चतुर्थ अग्निके रूपमें निवास कीजिये, जबतक कि मैं कुबेर-लोकपर चढ़ाई करके उनके यहाँसे धन लाकर आपको देनेकी व्यवस्था कर रहा हूँ।'

महाराजने सारथीको रथ सुसज्जित करनेकी आज्ञा दी और निश्चय किया कि प्रातः प्रस्थान करूँगा। किंतु प्रातः होते ही कोषाध्यक्षने आकर साश्चर्य महाराजसे निवेदन किया कि 'महाराज! रात्रिमें सुवर्णकी वृष्टि हुई और समस्त कोष सुवर्ण-मुद्राओंसे भर गया है।' महाराजने जाकर देखा कि कोश स्वर्ण-मुद्राओंसे भरा हुआ है। वहाँ जितनी स्वर्ण-मुद्राएँ थीं, उन सबको महाराजने ऊँटोंपर लदवाकर ऋषिकुमारके साथ भेजना चाहा। ऋषिकुमारने देखा, ये मुद्राएँ तो नियत संख्यासे बहुत अधिक हैं। उन्होंने राजासे कहा—'महाराज! मुझे तो केवल चौदह कोटि ही चाहिये। इतनी मुद्राओंको लेकर मैं क्या करूँगा, मुझे तो केवल गुरुजीके लिये दक्षिणामात्र द्रव्य चाहिये।' महाराजने कहा—'ब्रह्मन्! ये सब आपके ही निमित्त आयी हैं, आप ही इन सबके अधिकारी हैं, आपको ये सब मुद्राएँ लेनी ही होंगी। आपके निमित्त आये हुए द्रव्यको भला, मैं कैसे रख सकता हूँ!'

भारतीय सदाचारकी यह अनूठी घटना है कि दाता याचककी वाञ्छासे अधिक देना चाहता था और याचक आवश्यकतासे अधिक लेना नहीं चाहता था। आज भी वे दोनों अभिवन्द्य हैं।

ऋषिकुमारने बहुत मना किया, किंतु महाराज मानते ही नहीं थे, अन्तमें ऋषिको जितनी आवश्यकता थी, वे उतना ही द्रव्य लेकर अपने गुरुके यहाँ चले गये। शेष जो धन बचा, वह सब ब्राह्मणोंको दे दिया गया। ऐसा दाता पृथ्वीपर कौन होगा, जो इस प्रकार याचकके मनोरथ पूर्ण करे और याचक वह, जो आवश्यकतासे अधिक न ले। अयोध्यावासियोंने दोनोंकी प्रशंसा की।

(५)

प्रेममग्न विदेहराज जनक

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥
(श्रीमद्भा० १।७।१०)

'जिनकी माया-ग्रन्थियाँ टूट गयी हैं, ऐसे आत्माराम, जीवन्मुक्त मुनिगण भी भगवान्‌की अहैतुकी भक्ति करते हैं, क्योंकि उनमें ऐसे ही दिव्य गुण

हैं। आप इस सुसाध्य उपायके रहते इतना बड़ा त्याग क्यों करते हैं?' किंतु महाराज अपने निश्चयको दुहराते रहे। अन्तमें वह सिंह उनके मांस खानेको तैयार हो गया। महाराज जमीनपर पड़ गये। पर वे देखते क्या हैं कि न तो वहाँ सिंह है, न वृक्ष, मात्र कामधेनु ही वहाँ खड़ी है। उसने कहा—'राजन्! मैं आपपर बहुत प्रसन्न हूँ। यह सब मेरी ही माया थी, आप मेरा दूध अभी दुहकर पी लें, आपके पुत्र होगा।' महाराजने कहा—'देवि! आपका आशीर्वाद शिरोधार्य है, किंतु जबतक आपका बछड़ा न पी लेगा, गुरुके यज्ञार्थ दूध न दुह लिया जायगा और गुरुजीकी आज्ञा न होगी, तबतक मैं दूध कैसे पीऊँगा?'

इसपर गौ बहुत संतुष्ट हुई। गौ संध्याको महाराजके आगे-आगे भगवान् वसिष्ठके आश्रमपर पहुँची। सर्वज्ञ ऋषि तो पहले ही सब जान गये थे। म[illegible] जाकर जब यह सब वृत्तान्त कहा, तब वे प्रस[illegible] बोले—'राजन्! आपका मनोरथ पूरा हुआ[illegible] कृपासे आपके बड़ा पराक्रमी पुत्र होगा। आप[illegible] उसके नामसे चलेगा।' रघुवंशका 'अथ' नं[illegible] आशीर्वादसे प्रतिफलित हो गया। भारतीय स[illegible] पद्धतिमें गो-सेवा ही सदासे माङ्गल्यप्रद है।

नियत समयपर ऋषिने नन्दिनीका दूध राजा[illegible] रानीको दिया। महाराज अपनी राजधानीमें आये[illegible] रानी प्रजावती हुईं। यथासमय उनके पुत्र उत्पन्न हु[illegible] यही बालक रघुकुलका प्रतिष्ठाता रघु नामसे वि[illegible] हुआ। ये महाराज दिलीप श्रीरामचन्द्रजीके वृद्धप्रपि[illegible] थे। आदर्श सदाचारी रघुकुलका सदाचार विश्व-वि[illegible] रहा है। गो-ब्राह्मणकी पूजा इस वंशकी विशेषता[illegible]

(४)

सर्वस्वदानी महाराज रघु

सूर्यवंशमें जैसे इक्ष्वाकु, हरिश्चन्द्र आदि बहुत प्रसिद्ध राजा हुए हैं, उसी प्रकार महाराज रघु भी बड़े प्रसिद्ध, पराक्रमी, धर्मात्मा, भगवद्भक्त और पवित्रजीवन हो गये हैं। इन्हींके नामसे 'रघुवंश' प्रसिद्ध हुआ। इनके जन्मकी कथा यहाँ ऊपर आ चुकी है। इन्हींके नामके आधारपर मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजीके रघुवर, राघव, रघुपति, रघुवंश-विभूषण, रघुनाथ आदि नाम प्रचलित हुए। ये बड़े वीर, दानी और धर्मात्मा थे। इन्होंने अपने पराक्रमसे समस्त पृथ्वीको अपने अधीन कर लिया था। चारों दिशाओंमें दिग्विजय करके ये समस्त भूमिखण्डके एकच्छत्र सम्राट् हुए। ये अपनी प्रजाको बिल्कुल कष्ट-रहित-सुखी देखना चाहते थे। 'राज्यकर' भी ये बहुत ही कम लेते थे और विजित राजाओंको भी केवल अधीन बनाकर छोड़ देते थे। उनसे किसी प्रकारका कर वसूल नहीं करते थे। इनका शासन आदर्श था और चरित्र सदाचारपूर्ण।

एक बार ये राजसभामें बैठे थे। इनके पास मह[illegible] वरतन्तुके शिष्य कौत्स नामके एक स्नातक ऋषिकुमा[illegible] आये। अपने यहाँ स्नातकको आये देखकर महाराजने उनका विधिवत् स्वागत-सत्कार किया। पाद्य-अर्घ्य[illegible] उनकी पूजा की। भला ऐसे आदर्श शासक शिष्टाचार-का उल्लङ्घन कैसे कर सकते थे। ऋषिकुमारने भी उनकी पूजा विधिवत् ग्रहण की और कुशल-प्रश्न पूछा। थोड़ी देरके अनन्तर ऋषिकुमार चलने लगे, तब महाराजने कहा—'भगवन्! आप कैसे पधारे और बिना कुछ अपना अभिप्राय बताये लौटे क्यों जा रहे हैं? मैं यद्यपि आपके आगमनसे कृतकृत्य हूँ, पर सेवाके बिना संतोष नहीं हो रहा है, अतः अपने शुभागमनका प्रयोजन कहें।'

ऋषिकुमारने कहा—'राजन्! मैंने आपके दानकी ख्याति सुनी है, आप अद्वितीय दानी हैं। मैं एक

मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥

प्रेम मगन मनु जानि नृपु करि बिबेकु धरि धीर।
बोलेउ मुनि पद नाइ सिरु गदगद गिरा गभीर॥

कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक। मुनिकुल तिलक कि नृपकुल पालक॥
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥
सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
ताते प्रभु पूछउँ सतिभाऊ। कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ॥

जनकजी कहते हैं—'मुनिनाथ! छिपाइये नहीं, सच बतलाइये—ये दोनों बालक कौन हैं? मैं जिस ब्रह्ममें लीन रहता हूँ, क्या वह वेदवन्दित ब्रह्म ही इन दो रूपोंमें प्रकट हो रहा है? मेरा स्वाभाविक ही वैरागी मन आज चन्द्रमाको देखकर चकोरकी भाँति बेसुध हो रहा है।' जनकजीकी इस दशापर विचार कीजिये।

जनकका मन आत्यन्तिक प्रेमके कारण विवशतया अखिल-सौन्दर्यनिधान ब्रह्मसुखको छोड़कर श्रीरामरूपके गम्भीर, मधुर सुधासमुद्रमें निमग्न हो गया। कैसी विचित्र दशा थी!

इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥

धीरबुद्धि महाराज जनकके लिये यही उचित था। अभेद भक्ति-निष्ठ विदेहराजकी पराभक्ति संशयरहित है। यहाँ ज्ञान भक्तिका सबल बन गया—इसी प्रकार वे बारातकी विदाईके समय जब अपने जामातासे मिलते हैं, तो उनका प्रेमसमुद्र मर्यादाको पार कर जाता है। उस समयके उनके वचनोंमें असीम प्रेमकी मनोहर छटा है। थोड़ी उस समयकी झाँकी भी देखिये। बारात विदा हो गयी। जनकजी पहुँचानेके लिये साथ-साथ जा रहे हैं। दशरथजी लौटाना चाहते हैं, परंतु प्रेमवश राजा लौटते नहीं। दशरथजीने फिर आग्रह किया तो आप रथसे उतर पड़े और नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंकी धारा बहाते हुए उनसे विनय करने लगे।

बार बार मागउँ कर जोरें। मनु परिहरै चरन जनि भोरें॥

धन्य जनकजी! धन्य आपकी गुप्त प्रेमाभक्ति!

उन्हें जब श्रीरामके वनवास और भरतकी राज्य-प्राप्तिका समाचार मिला तो उन्होंने पूरा समाचार—भरतकी गतिविधि जाननेके लिये गुप्तचरोंको अयोध्या भेजा। भरतलालके अनुरागका परिचय पाकर वे चित्रकूट अपने समाजके साथ पहुँचे। चित्रकूटमें महाराजकी गम्भीरता जैसे मूर्तिमान् हो जाती है। वे भरतजीसे न तो कुछ कह पाते हैं और न कुछ श्रीरामसे ही कहते हैं। उन्हें भरतकी अपार भक्ति तथा श्रीरामके परात्पर स्वरूपपर अटूट विश्वास है। महारानी कौसल्याजक सुनयनाजीद्वारा उनके पास संदेश भिजवाती हैं, किंतु वे कहते हैं कि भरत और श्रीरामका जो परस्पर अनुराग है, उसे समझा ही नहीं जा सकता। वह अतर्क्य है'—

देबि परंतु भरत रघुबर की। प्रीति प्रतीति जाइ नहिं तरकी॥

स्वयं महाराजके बोधभरित चित्तमें कितना निगूढ़ प्रेम है, इसका कोई भी अनुमान नहीं कर सकता। जनकजी कर्मयोगके सर्वश्रेष्ठ आदर्श हैं, ज्ञानियोंमें अग्रगण्य हैं और बारह प्रधान भागवताचार्योंमें हैं, उन्हें क्या कोई समझे—वे अथाह हैं।

ज्ञानको प्रेमके पवित्र द्रवरूपमें परिणत करके उसकी अजस्र सुधाधारासे जगत्को प्लावित कर देना ही उनकी महानता है। श्रीजनकजीने यही प्रत्यक्ष कर दिखला दिया।

(६)

सत्यप्रतिज्ञ पितामह भीष्म

परित्यजेयं त्रैलोक्यं राज्यं देवेषु वा पुनः।
यद्वाप्यधिकमेताभ्यां न तु सत्यं कथञ्चन॥

—भीष्म (महाभारत)

महर्षि वसिष्ठके शापसे आठों वसुओंको लोकमें जन्म लेना था। श्रीगङ्गाजीने उनकी माता होना स्वीकार किया। वे महाराज शंतनुकी पत्नी हुईं। मान

महाराज निमिका शरीर मन्थन करके ऋषियोंने जिस कुमारको प्रकट किया, वह 'जनक' कहा गया। माताके देहसे न उत्पन्न होनेके कारण 'विदेह' और मन्थनसे उत्पन्न होनेके कारण उनकी मिथिल संज्ञा भी हुई। इस वंशमें आगे चलकर जो भी नरेश हुए, वे सभी जनक और विदेह कहलाये। इनमें १४ जनक तो विशेष प्रसिद्ध हुए (द्रष्टव्य महाभारतनामानुक्रमणिका कोश, गीताप्रेस)। महर्षि याज्ञवल्क्यकी कृपासे ये सभी राजा योगी और आत्मज्ञानी हुए। इसी वंशमें उत्पन्न सीताजीके पिता महाराज 'सीरध्वज' जनकको कौन नहीं जानता! आप सर्वगुणसम्पन्न और सर्वसद्गुणाधार, परम तत्त्वज्ञ, धर्मज्ञ, असाधारण ज्ञानी, धर्मधुरन्धर और नीतिनिपुण महान् पण्डित थे। आपकी विमल कीर्ति विविध भाँतिसे गायी गयी है, परंतु आपके यथार्थ महत्त्वका पता बहुत थोड़े लोगोंको लग सका है। तुलसीदासजी इन्हें प्रणाम करते हुए कहते हैं कि मैं योगको राज्यभोगमें गुप्त रखनेवाले महाराज जनक तथा उनके सम्पूर्ण परिवारकी वन्दना करता हूँ।

प्रनवउँ परिजन सहित बिदेहू। जाहि राम पद गूढ़ सनेहू॥
जोग भोग महँ राखेउ गोई। राम बिलोकत प्रगटेउ सोई॥
(मानस, १।१७।१-२)

पूर्णब्रह्म सच्चिदानन्दघनके अवतार महाराज श्रीराघवेन्द्रके साथ श्रीजनकजीका जो अत्यन्त 'गूढ़ सनेह' और 'नित्य योग' (प्रेमका अभेद सम्बन्ध) है, वह सर्वथा अनिर्वचनीय है।

प्रायः लोग महाराज जनकको एक महान् ऐश्वर्य-सम्पन्न राजा, नीतिकुशल प्रजारञ्जक नरपति समझते हैं। कुछ लोग इन्हें ज्ञानियोंके आचार्य भी मानते हैं, परंतु आपके अन्तस्तलके 'निगूढ़ प्रेम'का परिचय बहुत कम लोगोंको है। सीताके स्वयंवरकी तैयारी है, देश-विदेशके राजा-महाराजाओंको निमन्त्रण दिया गया है। पराक्रमकी परीक्षा देकर सीताको प्राप्त करनेकी चाहसे बड़े-बड़े मल्ल-पुत्र और यज्ञोंसे राजा-महाराजा मिथिलामें पधार रहे हैं।

इसी अवसरपर गाधिके पुत्र मुनि विश्वामित्र तथा अन्यान्य ऋषियोंके यज्ञोंकी रक्षाके लिये अ महाराज दशरथजीसे उनके प्राणप्रिय पु श्रीराम-लक्ष्मणको माँगकर आश्रममें लाये थे, यह प्रसिद्ध है। श्रीविश्वामित्र मुनि भी महाराज जन निमन्त्रण पाते हैं और दोनों राजकुमारोंके साथ मिथिलाकी ओर प्रस्थान करते हैं। रास्तेमें गौत मुनिपत्नी अहल्याका उद्धार करते हुए परम श्रीरामकिशोरजी कनिष्ठ भ्रातासहित गङ्गा-स्नान क मनोरञ्जक प्राकृतिक सौन्दर्यको देखते हुए जनकपु पहुँचते हैं और मुनिसहित नगरसे बाहर मनो आम्रवाटिकामें ठहरते हैं।

मिथिलेश महाराज इस शुभ संवादको पाकर श्रे समाजसहित विश्वामित्रजीके दर्शन और स्वागतार्थ आ हैं और मुनिको साष्टाङ्ग प्रणाम करके आज्ञा पाकर बै जाते हैं। इतनेमें फुलवारी देखकर श्रीराम-लक्ष्मण श्याम-गौर-शरीर किशोर वयवाली, नेत्रोंको परम सुख देनेवाली, अखिल विश्वके चित्तको चुरानेवाली 'युगलजोड़ी' वहाँ आ पहुँची—स्याम गौर मृदु बयस किसोरा। लोचन सुखद बिस्व चित चोरा॥ ये थे तो बालक, परंतु इनके आते ही लोगोंपर ऐसा प्रभाव पड़ा कि सब लोग उठ खड़े हुए—'उठे सकल जब रघुपति आए।' अब विश्वामित्र सबको बैठाते हैं। विनय और अनुरागसे दोनों भाई शील-संकोचके साथ गुरुजीके श्रीचरणोंमें बैठ जाते हैं। यहाँ जनकरायजीकी बड़ी विचित्र दशा होती है। उनकी प्रेमरूपी सूर्यकान्तमणि श्रीरामरूपी प्रत्यक्ष प्रचण्ड सूर्यकी रश्मियोंको प्राप्त कर द्रवित होकर बह चलती है। उनका गुप्त प्रेमधन श्रीरामकी मधुर छवि देखते ही सहसा प्रकट हो गया। युगोंके संचित धनका खजाना अकस्मात् खुल पड़ा।

समस्त भूतोंमें सनातन ब्रह्म हैं । ये ही सर्वश्रेष्ठ एवं सबके पूज्य हैं । समस्त सद्गुण श्रीकृष्णमें ही प्रतिष्ठित हैं ।' सदाचारी-ब्रह्मचारी भीष्म श्रीकृष्णके ब्रह्म (तात्त्विक-स्वरूप)को पहचान रहे थे ।

आश्रयदाताकी सहायता करना धर्म है, इसीलिये भीष्मजी महाभारतके युद्धमें दुर्योधनको उसके अन्यायों-के लिये सदा धिक्कारते हुए भी सचाईसे उसके पक्षमें लड़ते रहे, पर हृदयसे धर्मपर स्थित पाण्डवोंकी विजय ही उन्हें अभीष्ट थी । उन्होंने 'यतो धर्मस्ततो जयः'के लिये ही स्वयं अपनी मृत्युका उपाय बताया और युधिष्ठिरको अपने वधके लिये आज्ञा दी । यह भी उनकी न्याय-निष्ठा, जो उन-जैसे सदाचारीमें ही सम्भव थी ।

महाभारतके युद्धमें भगवान् श्रीकृष्णने शस्त्र ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा की थी । दुर्योधनद्वारा उत्तेजित किये जानेपर भीष्मजीने प्रतिज्ञा कर ली कि 'भगवान्को शस्त्र ग्रहण करा कर ही रहूँगा ।' दूसरे दिनके युद्धमें भीष्मने अर्जुनको अपनी बाण-वर्षासे विकल कर दिया । भक्त-वत्सल भगवान् अपने भक्तके प्राणोंकी रक्षाके लिये अपनी प्रतिज्ञा भङ्ग करके सिंहनाद करते हुए अर्जुनके रथसे कूद पड़े और हाथमें रथका टूटा हुआ पहिया लेकर भीष्मकी ओर दौड़े । सेनामें हाहाकार मच गया । लोग चिल्लाने लगे—'भीष्म मारे गये ! भीष्म मारे गये !!' पृथ्वी काँपने लगी, किंतु भीष्म देख रहे थे कि श्रीकृष्णचन्द्रका पीताम्बर कंधेसे गिरकर भूमिमें लोटता जा रहा है । वे (श्रीकृष्ण) युद्धभूमिमें रक्तसे लथपथ हो बढ़ते चले आ रहे हैं । अलकें उड़ रही हैं । भालपर स्वेद तथा शरीरपर कुछ रक्तकी बूँदें झलमला रही हैं । भृकुटियाँ कठोर किये वे हुंकार करते आ रहे हैं । भीष्म मुग्ध हो गये, भगवान्की भक्तवत्सलता-पर । वे उनका स्वागत करते हुए बोले—

'पुण्डरीकाक्ष ! देवदेव ! आइये ! आइये ! आपको मेरा नमस्कार । पुरुषोत्तम ! आज इस युद्धभूमिमें आप मेरा वध करें । परमात्मन् ! श्रीकृष्ण ! गोविन्द ! आपके हाथसे मरनेपर मेरा कल्याण अवश्य होगा । आज मैं त्रिलोकीमें सम्मानित हूँ । प्रभो ! इच्छानुसार आप अपने इस दासपर प्रहार करें ।' अर्जुनने दौड़कर पीछेसे श्रीभगवान्के चरण पकड़ लिये और बड़ी कठिनाईसे उन्हें रथपर लौटा लाये । अर्जुनके प्रेममें वे प्रतिज्ञा भूल चुके थे ।

भीष्मजीके हृदयमें भगवान्की यह मूर्ति बस गयी । वे उसे अन्ततक भूल न सके । सूरदासजीने भीष्म-जीका मनोभाव इस प्रकार प्रकट किया है—

वा पट पीतकी फहरान ।
कर धरि चक्र चरन की धावनि, नहिं बिसरति वह बान ॥
रथ तें उतरि अवनि आतुर ह्वै, कच रजकी लपटान ॥
मानौं सिंह सैल तें निकस्यो, महामत्त गज जान ॥
जिन गुपाल मेरो पन राख्यो, मेटि बेदकी कान ॥
सोई सूर सहाय हमारे निकट भए हैं आन ॥

भीष्मजीने अपनेको रणशय्या देनेकी विधि स्वयं बतायी थी । जब शिखण्डीको आगे करके अर्जुन उनपर बाण चलाने लगे, तब भी उन्होंने शिखण्डीपर आघात नहीं किया । इसे कहते हैं विकट स्थितिमें भी समुदाचार—मर्यादाका यथावत् पालन ।

पितामह भीष्मका रोम-रोम बाणोंसे बिंध गया । जब वे रथसे गिरे तो उनका शरीर उन बाणोंपर ही उठा रह गया । केवल उनका मस्तक लटक रहा, था । पितामहने अर्जुनसे कहा—'वत्स ! मेरे योग्य तकिया दो ।' अर्जुनने तीन बाण उनके मस्तकमें ... सिरको ऊपर उठा दिया । दुर्योधनके भेजे चिकित्सक जब वहाँ आये, तब पितामहने उन्हें आदरपूर्वक लौटा दिया । यह भी उनकी धैर्य और सहिष्णुताकी सीमा !

महायुद्ध समाप्त होनेपर जब युधिष्ठिरका अभि... हो गया, तब वे रात्रिमें एक दिन भगवान् श्रीकृष्णके ... गये । युधिष्ठिरने भगवान्को प्रणाम करके ... पूछी, पर उन्हें कोई उत्तर नहीं मिला । उन्होंने देखा

वसुओंको तो जन्म लेते ही उन्होंने अपने जलमें डालकर उनके लोक भेज दिया, पर आठवें वसु द्यौको शंतनुजीने रख लिया। इसी बालकका नाम 'देवव्रत' हुआ। महाराज शन्तनु दाशराजकी पालिता पुत्री सत्यवतीपर मुग्ध हो गये और उससे विवाह करनेकी इच्छा व्यक्त की। किंतु दाशराज चाहते थे कि उनकी पुत्रीकी संतान ही सिंहासनपर बैठनेकी अधिकारिणी मानी जाय, तब वे महाराजको अपनी कन्या दें। सिद्धान्ततः महाराजका सत्यवतीपर मुग्ध होना कुछ अस्वाभाविक-सा था, पर वे उसके लिये अपने ज्येष्ठ सुशील पुत्र देवव्रतका स्वत्व छीनना नहीं चाहते थे। उनकी यह विवशता थी कि वे सत्यवतीकी आसक्ति भी नहीं छोड़ पाते थे। वे उदास रहने लगे।

मन्त्रियोंसे पिताकी उदासीका पता लगाकर देवव्रत दाशराजके पास गये और कहा—'मैं राज्यासन नहीं लूँगा।' जब दाशराजने आशङ्का की कि आप तो राजगद्दीपर नहीं बैठेंगे, पर आपकी संतान राज्यके लिये झगड़ सकती है।' तब उन्होंने आजन्म अविवाहित रहनेकी प्रतिज्ञा की। देवताओंने इस प्रतिज्ञासे प्रसन्न होकर उनपर पुष्पवर्षा की और ऐसी भीषण प्रतिज्ञा करनेके कारण उनको 'भीष्म' कहकर सम्बोधित किया। महाराज शंतनु अपने पुत्रकी पितृभक्तिसे परम सन्तुष्ट हुए। मातृ-पितृ-भक्ति सदाचारकी अनूठी कड़ी है। उन्होंने भीष्मको आशीर्वाद दिया—'बेटा! जब तुम चाहोगे, तभी तुम्हारा शरीर छूटेगा। तुम्हारी इच्छाके बिना तुम्हारी मृत्यु नहीं होगी।'

भीष्मजीने भगवान् परशुरामसे धनुर्वेद सीखा था। जब परशुरामजी काशिराजकी कन्या अम्बाकी प्रार्थना मानकर भीष्मजीके पास आये और उनसे कहने लगे कि 'तुम उस कन्यासे विवाह कर लो', तब इन्होंने बड़ी नम्रतासे कहा—'गुरुजी! मैं त्रिलोकीके राज्यके लिये या स्वर्गके सिंहासनके लिये अथवा दोनोंसे भी अधि[क] महान् पदके लिये भी सत्यको कभी नहीं छोड़ सकता।'

परशुरामजीने भय दिखाया और अन्तमें वे इनसे यु[द्ध] करनेको उद्यत हो गये। बड़ा ही उग्र संग्राम हुआ। ऋषियोंने भीष्मको समझाना चाहा, पर उन्होंने कहा—'भय, दया, धनके लोभ और कामनासे मैं क्षात्रधर्म[का] त्याग नहीं कर सकता। मैं युद्धमें पीठ नहीं दिखाऊँगा। मेरी प्रतिज्ञा है कि प्रतिपक्षका आघात [सहते] हुआ भी पैर पीछे न रखूँगा।' अन्तमें देवता[ओंके] कहनेसे परशुरामजीको ही मानना पड़ा। भीष्मका [व्रत] अटल रहा। सत्याचारका ऐसा ज्वलन्त और अद्वि[तीय] उदाहरण अन्यत्र कहाँ मिलेगा? पिताके सदाच[ारके] उल्लङ्घनपर भी पुत्रने सदाचारका सम्यक् पालन कि[या।]

जब सत्यवतीके दोनों पुत्र मर गये, तब भरतवंश[की] रक्षा एवं राज्यके पालनके निमित्त सत्यवतीने भीष्मको सिंहासनपर बैठने तथा संतानोत्पादन करनेके लिये कहा। इसपर इन्होंने मातासे कहा—'पञ्चभूत चाहे अपना गुण छोड़ दें, सूर्य चाहे तेजोहीन हो जायँ, चन्द्रमा चाहे शीतल न रहें, इन्द्रमेंसे बल और धर्मराजमेंसे धर्म चाहे चला जाय, पर त्रिलोकीके राज्यके लिये भी मैं अपनी प्रतिज्ञा नहीं छोड़ सकता। मातः! तुम इस विषयमें मुझसे कुछ मत कहो।'

युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें भीष्मजीने ही पहले कहा—'तेज, बल, पराक्रम तथा सभी गुणोंमें श्रीकृष्ण ही सर्वश्रेष्ठ हैं और वे ही अग्रपूजा पानेके अधिकारी हैं। जब इस बातसे जलकर शिशुपाल तथा उसके समर्थक उनकी भर्त्सना करने लगे, तब उन्होंने सुस्पष्ट घोषणा करते हुए कहा—'हम जानते हैं कि श्रीकृष्ण ही समस्त लोकोंकी उत्पत्ति तथा विनाशके मूल कारण हैं। इन्हींके द्वारा यह सचराचर विश्व रचा गया है। ये ही अव्यक्त प्रकृति हैं, ये ही कर्ता ईश्वर हैं, ये ही

महाराज युधिष्ठिरके जीवनसे सदाचारकी आदर्श शिक्षा

(ब्रह्मलीन श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

महाराज युधिष्ठिरका जीवन सदाचारका महान् आदर्श था। जिस प्रकार त्रेतायुगमें साक्षात् मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी धर्मपालनमें परम आदर्श थे, लगभग उसी प्रकार द्वापरयुगमें केवल नीति और धर्मका पालन करनेमें महाराज युधिष्ठिरको भी आदर्श पुरुष कहा जा सकता है। अतः महाभारतके समस्त पात्रोंमें नीति और धर्मके पालनके सम्बन्धमें महाराज युधिष्ठिरका आचरण सर्वथा आदर्श एवं अनुकरणीय है। भारतवासियोंके लिये तो युधिष्ठिरका जीवन सन्मार्गपर ले चलनेवाला तो एक अलौकिक पथ-प्रदर्शक ज्योतिःस्तम्भ है। वे गुण और सदाचारकी मूर्ति थे। जहाँ उनका निवास जाता था, वह स्थान सद्गुण और सदाचारसे परिपूत जाता था। उनके-जैसा धर्मपालनका उदाहरण रके इतिहासमें कम ही मिलता है।

गुरु द्रोणाचार्यके पूछनेपर अश्वत्थामाकी मृत्युके न्धमें उन्होंने जो छलयुक्त भाषण किया, उसके वे सदा पश्चात्ताप करते रहे। उनका व्यवहार तना शुद्ध और उत्तम होता था कि उनके भाई, ता, स्त्री, नौकर आदि सभी उनसे सदा प्रसन्न रहते। इतना ही नहीं, वे जिस देशमें निवास करते थे, हाँकी सारी प्रजा भी उनके सद्व्यवहारके कारण उनको द्धा और पूज्यभावसे देखा करती थी। तात्पर्य यह कि महाराज युधिष्ठिर एक बड़े भारी सद्गुणसम्पन्न, दाचारी, स्वार्थत्यागी, सत्यवादी, ईश्वरभक्त, धीर, वीर और गम्भीर स्वभाववाले तथा क्षमाशील एवं धर्मात्मा थे। ल्याण चाहनेवाले महानुभावोंके लाभार्थ उनके जीवनकी छ महत्त्वपूर्ण घटनाओंका दिग्दर्शनमात्र यहाँ कराया ता है। उनके गुण और आचरणोंको समझकर नुसार आचरण करनेसे बहुत भारी लाभ हो सकता है।

निर्वैरता—एक समयकी बात है, राजा दुर्योधन कर्ण, शकुनि और दुःशासन आदि भाइयोंके सहित बड़ी भारी सेना लेकर गौओंके निरीक्षणका बहाना करके पाण्डवोंको संताप पहुँचानेके विचारसे उस द्वैत नामक वनमें गया, जहाँपर पाण्डव निवास करते थे। देवराज इन्द्र उसके उद्देश्यको जान गये। बस, उन्होंने चित्रसेन गन्धर्वको आज्ञा दी कि 'शीघ्रतासे जाकर उस दुष्ट दुर्योधनको बाँध लाओ।' देवराजकी इस आज्ञाको पाकर वह गन्धर्व दुर्योधनको युद्धमें परास्त करके उसको साथियोंसहित बाँधकर ले चला। किसी प्रकार जान बचाकर दुर्योधनका वृद्ध मन्त्री कुछ सैनिकोंके साथ तुरंत महाराज युधिष्ठिरकी शरणमें पहुँचा। और उसने इस घटनाका सारा समाचार सुनाया तथा दुर्योधन आदिको गन्धर्वके हाथसे छुड़ानेकी भी प्रार्थना की। महाराज युधिष्ठिर दुर्योधनकी रक्षाके लिये तुरंत प्रस्तुत हो गये। उन्होंने कहा—'नरव्याघ्र अर्जुन, नकुल, सहदेव और अजेय वीर भीमसेन! उठो, उठो, तुम सब लोग शरणमें आये हुए इन पुरुषोंकी और अपने कुलवालोंकी रक्षाके लिये शस्त्र ग्रहण करके तैयार हो जाओ! जरा भी विलम्ब मत करो। देखो, गन्धर्व दुर्योधनको बंदी बनाकर लिये जा रहे हैं। उसे छुड़ाओ।' महाराज युधिष्ठिरने फिर कहा 'वीरश्रेष्ठ बन्धुओ! शरणागतकी यथाशक्ति रक्षा करना सभी क्षत्रिय राजाओंका महान् कर्तव्य है। शत्रुकी रक्षाका माहात्म्य तो और भी बड़ा है। मैंने यदि यह यज्ञ आरम्भ न किया होता तो मैं स्वयं ही उस बंदी दुर्योधनको छुड़ानेके लिये दौड़ पड़ता, पर अब [illegible] है। इसीलिये कहता हूँ, वीरवरो! जाओ—[illegible] जाओ!' कुरुनन्दन भीमसेन! यदि यह गन्धर्वराज

रि, श्रीकृष्णचन्द्र ध्यानमग्न हैं। उनका रोम-रोम पुलकित हो रहा है। युधिष्ठिरने पूछा—'प्रभो ! आप किसका ध्यान कर रहे हैं?' भगवान्ने बताया: 'शरशय्यापर पड़े हुए पुरुषश्रेष्ठ भीष्म मेरा ध्यान कर रहे थे, उन्होंने मेरा स्मरण किया था, अतः मैं भी उनका ध्यान करने लगा था। मैं उनके पास चला गया था।'

भगवान्ने फिर कहा—'युधिष्ठिर ! वेद एवं धर्मके सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता, नैष्ठिक ब्रह्मचारी पितामह भीष्मके न रहनेपर जगत्के ज्ञानका सूर्य अस्त हो जायगा। अतः वहाँ चलकर तुमको उनसे उपदेश लेना चाहिये।' वे सदाचार और धर्मके तात्त्विक उपदेश हैं।

युधिष्ठिर श्रीकृष्णचन्द्रको लेकर भाइयोंके साथ जहाँ भीष्मजी शरशय्यापर पड़े थे, वहाँ गये। बड़े-बड़े ब्रह्मवेत्ता ऋषि-मुनि वहाँ पहलेसे ही उपस्थित थे। श्रीकृष्णचन्द्रने पितामहसे कहा—'आप युधिष्ठिरको उपदेश करें।' भीष्मजीने बताया कि 'मेरे शरीरमें बाणोंकी अत्यधिक पीड़ा है, इससे मन स्थिर नहीं है।' उन्होंने स्पष्ट कहा—'आप जगद्गुरुके सामने मैं उपदेश करूँ, यह साहस मैं नहीं कर सकता।'

भगवान्ने स्नेहपूर्ण वाणीमें कहा—'पितामह ! आपके शरीरका क्लेश, दुर्बलता, ग्लानि, मूर्छा, विभ्रम, मोह आदि सब अभी नष्ट हो जायँ और आपके अन्तःकरणमें सब प्रकारके ज्ञानका स्फुरण हो। आप जिस विषयका चिन्तन करें, वह आपके चित्तमें प्रत्यक्ष हो जाय।' भगवान्की कृपासे पितामहकी सारी पीड़ा दूर हो गयी। उनका चित्त स्थिर हो गया। उनके हृदयमें भूत, भविष्य, वर्तमानका समस्त ज्ञान यथावत् स्फुरित (प्रकट) हो गया। उन्होंने बड़े उत्साहसे युधिष्ठिरको धर्मके समस्त अङ्गोंका उपदेश दिया। [भीष्मपितामहका सदाचारोपदेश महाभारतके अनुशासन और शान्तिपर्वमें द्रष्टव्य है।]

अन्तमें सूर्यके उत्तरायण होनेपर एक सौ पैंतीस वर्षकी अवस्थामें माघशुक्ल अष्टमीको सैकड़ों ब्रह्मवेत्ता ऋषि-मुनियोंके बीचमें शरशय्यापर पड़े हुए पितामहने अपने सम्मुख खड़े पीताम्बरधारी श्रीकृष्णचन्द्रका दर्शन तथा स्तुति करते हुए चित्तको उन परम पुरुषमें स्थिर करके शरीरका परित्याग कर दिया।

महात्मा भीष्मका सदाचार-धर्मोपदेश

पिता धर्मः पिता स्वर्गः पिता हि परमं तपः। पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्वदेवताः॥
सर्वप्रियाभ्युपगतं धर्ममाहुर्मनीषिणः। पश्यैतं लक्षणोद्देशं धर्माधर्मे युधिष्ठिर॥
सत्यं धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम्। सत्यं यज्ञः परः प्रोक्तः सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥
नास्ति सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातकं परम्। स्थितिर्हि सत्यं धर्मस्य तस्मात् सत्यं न लोपयेत्॥

(महाभारत, शान्ति०)

भीष्मजी कहते हैं—पिता ही धर्म, पिता ही स्वर्ग और पिताकी सेवा ही सबसे बड़ी तपस्या है। पिताके प्रसन्न होनेपर सभी देवता प्रसन्न हो जाते हैं। युधिष्ठिर ! जो बर्ताव अपनेको प्रिय जान पड़ता है, वही सब यदि दूसरोंके प्रति किया जाय तो उसे ही मनीषी पुरुष धर्म मानते हैं। संक्षेपमें धर्म-अधर्मको पहचाननेका यही लक्षण समझो। सत्य ही धर्म, तपस्या और योग है; सत्य ही सनातन ब्रह्म है और सत्य ही सबसे श्रेष्ठ यज्ञ है; सत्यमें ही सब कुछ प्रतिष्ठित है; सत्यसे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है और झूठसे बढ़कर और कोई पातक नहीं है, सत्य ही धर्मका आधार है। अतः सत्यका कभी लोप नहीं करे।

िसे पुकारा । आर्त भक्तकी पुकार सुनकर भगवान्‌ने ही द्रौपदीकी लाज बचायी । हमें यहाँ युधिष्ठिर महाराजके धैर्यको देखना है । वे जरा-सा इशारा कर देते तो एक क्षणमें वहाँपर प्रलयका दृश्य उपस्थित हो या होता, परंतु उन्होंने उस समय धैर्यका सच्चा स्वरूप त्यक्ष करके दिखला दिया (जो सदाचारका एक तम्भ है) । धन्य हैं अपूर्व धैर्यशाली सदाचारी धिष्ठिरजी महाराज !

अक्रोध, क्षमा—महाराज युधिष्ठिर अक्रोध और क्षमाके र्तिमान् विग्रह थे । महाभारतके वनपर्व (अ० २७-२९)में क कथा आती है कि द्रौपदीने एक बार महाराज धिष्ठिरके मनमें क्रोधका संचार करानेके लिये अतिशय ष्टा की । उन्होंने महाराजसे कहा—'नाथ ! मैं राजा पदकी कन्या हूँ, पाण्डवोंकी धर्मपत्नी हूँ, धृष्टद्युम्नकी गिनी हूँ, मुझको जंगलोंमें मारी-मारी फिरती देखकर था अपने छोटे भाइयोंको वनवासके घोर दुःखसे याकुल देखकर भी यदि आपको धृतराष्ट्रके पुत्रोंपर क्रोध नहीं आता तो इससे मालूम होता है कि आपमें रा भी तेज और क्रोधकी मात्रा नहीं है । परतु देव ! जेस मनुष्यमें तेज और क्रोधका अभाव है, जो क्रोधके वसर भी क्रोध नहीं करता, वह तो क्षत्रिय कहलाने ग्य ही नहीं है । जो उपकारी हो, जिसने भूल या र्खतासे कोई अपराध कर दिया हो, अथवा अपराध रके जो क्षमाप्रार्थी हो गया हो, उसको क्षमा करना क्षत्रियका परम धर्म है, परंतु जो जान-बूझकर बार-र अपराध करता हो, उसको भी क्षमा करते रहना क्षत्रियका धर्म नहीं है । अतः स्वामिन् ! जान-बूझकर नित्य ही अनेक अपराध करनेवाले ये धृतराष्ट्रपुत्र क्षमाके पात्र नहीं, प्रत्युत क्रोधके पात्र हैं । इन्हें समुचित दण्ड मिलना ही चाहिये ।' यह सुनकर महाराज युधिष्ठिरने उत्तर दिया—'द्रौपदी ! तुम्हारा कहना ठीक है, किंतु जो मनुष्य क्रोधके पात्रको भी क्षमा कर देता है, वह अपनेको और उसको दोनोंको ही महान् संकटसे बचानेवाला होता है ।[1] अतः द्रौपदी ! धीर पुरुषोंद्वारा त्यागे हुए क्रोधको मैं अपने हृदयमें कैसे स्थान दे सकता हूँ[2] ! क्रोधके वशीभूत हुआ मनुष्य तो सभी पापोंको कर सकता है । वह अपने गुरुजनों-का भी नाश कर डालता है । श्रेष्ठ पुरुषोंका तिरस्कार कर देता है । क्रोधी पुत्र अपने पिताको तथा क्रोध करनेवाली स्त्री अपने पतितकको भी मार देती है ।

'क्रोधी पुरुषको अपने कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान बिल्कुल नहीं रहता, वह बात-की-बातमें अनर्थ कर डालता है । उसे वाच्य-अवाच्यका भी ध्यान नहीं रहता ।[3] वह मनमें जो आता है, वही बकने लगता है । अतः तुम्हीं बतलाओ, महा अनर्थोंके मूल कारण क्रोधको मैं कैसे आश्रय दे सकता हूँ ! द्रौपदी ! क्रोधको तेज मानना अज्ञता है । वास्तवमें जहाँ तेज है, वहाँ तो क्रोध रह ही नहीं सकता । ज्ञानियोंका यह वचन है तथा मेरा भी यही निश्चय है कि जिस पुरुषमें क्रोध होता ही नहीं अथवा क्रोध होनेपर भी जो विवेकद्वारा उसे शान्त कर देता है,[4] उसीको तेजस्वी कहते हैं, न कि क्रोधीको तेजस्वी कहा जाता है ।

१-आत्मानं च परांश्चैव त्रायते महतो भयात् । क्रुध्यन्तमप्रतिक्रुध्यन् द्वयोरेष चिकित्सकः ॥
(वन० २९ । ९)

२-(वन० २९ । ८)

३-वाच्यावाच्ये हि कुपितो न प्रजानाति कर्हिचित् । नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यं विद्यते तथा ॥
(वन० २९ । ५)

४-शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात् । कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥
(गीता ५ । २३)

[illegible] न जाने तो युधिष्ठिर अपने प्रिय पाण्डवों अपने भाई दुर्योधनको उनकी कैदसे छुड़ाओ।' इस प्रकार धर्मराजकी आज्ञासे इन भाइयोंके द्वारा भीमसेन आदि चारों भाइयोंके युद्धका प्रारम्भ हुआ। उन लोगोंके अस्त्र और [illegible]। उन सबकी ओरसे [illegible] अर्जुनने कहा— 'गन्धर्वराज! आपको जो आज्ञा। यदि गन्धर्वराज चित्रसेन-दुर्योधन दुर्योधनको छोड़ देंगे, तब तो ठीक ही है, नहीं तो यह माता पृथ्वी गन्धर्वराजका रक्तपान करेगी।'

अर्जुनकी इस प्रतिज्ञाको सुनकर दुर्योधनको कुछ मनकी शान्ति मिली। इस वे चारों पराक्रमी पाण्डव दुर्योधनको मुक्त करनेके लिये चल पड़े। सामना होनेपर अर्जुनने धर्मराजकी आज्ञानुसार दुर्योधनको मुक्त कर देनेके लिये गन्धर्वोंसे बहुत समझाया, परन्तु उन्होंने उनकी एक न सुनी। तब अर्जुनने घोर युद्धद्वारा गन्धर्वोंको पराजित कर दिया। तत्पश्चात् पराजित चित्रसेनने अपना परिचय दिया और दुर्योधनादिको बंदी बनानेका कारण बताया। यह सुनकर पाण्डवोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे चित्रसेन और दुर्योधनादिको लेकर धर्मराजके पास आये। धर्मराजने दुर्योधनकी सारी करतूत सुनकर भी बड़े प्रेमके साथ दुर्योधन और उसके सब साथी बंदियोंको मुक्त करा दिया। फिर उसको स्नेहपूर्वक आश्वासन देते हुए उन्होंने सबको घर जानेकी आज्ञा दे दी। दुर्योधन लज्जित होकर सबके साथ घर लौट गया। ऋषि-मुनि तथा ब्राह्मणलोग धर्मराज युधिष्ठिरकी प्रशंसा करने लगे।

यह है महाराज युधिष्ठिरके आदर्श जीवनकी एक घटना और निर्वैरता तथा धर्मपालनका अनूठा उदाहरण! उनके मनमें दुष्ट दुर्योधनकी काली करतूतोंको सुनकर क्रोधकी छायाका स्पर्श भी न हुआ। उन्होंने जल्दी ही उसको गन्धर्वराजके कठिन बन्धनसे मुक्त करवा दिया। यही नहीं, उनकी इस क्रियासे दुर्योधन दुःखी और लज्जित न हो, इसके लिये उन्होंने [illegible] बन्धनसे [illegible]। [illegible] [illegible] है।

धैर्य—दुर्योधनकी काली करतूतें [illegible] धर्मराज युधिष्ठिरको द्यूतमें हराकर [illegible] हुई द्रौपदीको [illegible]। उसके आदेशसे दुष्ट दुःशासनने द्रौपदीके केश पकड़कर खींचते हुए भरी सभामें उपस्थित किया। द्रौपदी अपने पति पाण्डवोंके लिये रुदन करती हुई पुकारने लगी। उस समय द्रौपदीके करुणक्रन्दनसे भरे हुए वचनोंको सुनकर दुःखी हो रही थी। किन्तु दुर्योधनके मनमें [illegible] विदुर और विकर्णके सिवा किसीने भी उसके इस दुष्ट कुकर्मका विरोध नहीं किया। द्रौपदी उस समय रजस्वला थी और उसके शरीरपर एक ही वस्त्र था। ऐसी अवस्थामें भी दुःशासनने भरी सभामें उसका वस्त्र खींचकर उसे नंगी कर देना चाहा। और, कर्ण-जैसे प्रकारके दुर्वचनोंद्वारा द्रौपदीका अपमान करने लगा। दुष्ट दुर्योधनने तो अपनी बायीं जाँघ दिखलाकर उसपर बैठनेका संकेत करके द्रौपदीके अपमानकी हद ही कर दी! वस्तुतः भारतकी एक सती अबलाके प्रति अत्याचारकी यह पराकाष्ठा थी!!

अब भीमसेनसे न रहा गया। क्रोधके मारे उनके होठ फड़कने लगे, रोमकूपोंसे चिनगारियाँ निकलने लगीं, किंतु धर्मराजकी आज्ञा और संकेतके बिना उनसे कुछ भी करते न बना। धर्मात्मा युधिष्ठिर तो वचनबद्ध थे, इसलिये वे यह सब देख-सुनकर भी मौनव्रत धारण किये हुए चुपचाप शान्तभावसे बैठे रहे। द्रौपदी चीख उठी। उसने अपनी रक्षाके लिये आँखोंमें आँसू भरकर सारी सभासे अनुरोध किया, पर सबने सिर नीचा कर लिया। अन्तमें उसने सबसे निराश होकर भगवान् श्रीकृष्णको सहायताके

है।[12] किंतु धर्मराजने इसको भी छलयुक्त सत्यका आश्रय लेना मानकर उसे स्वीकार नहीं किया। वे यथार्थ सत्यपर ही डटे रहे।

धर्मराजकी सत्यतापर उनके शत्रु भी विश्वास थे। सत्यपालनकी महिमाके कारण उनका रथ से चार अङ्गुल ऊपर उठकर चला करता था। लनका इतना माहात्म्य है। महाभारतमें तो एक कहा गया है कि एक बार सहस्र अश्वमेध- के फल केवल सत्यके महाफलके साथ तौले गये, उनकी अपेक्षा सत्यका फल ही अधिक भारी हुआ।[13] वस्तुतः सत्य सदाचारका प्रमुख अङ्ग है। परंतु पग-पगपर मिथ्याका आश्रय ग्रहण करनेवाला कलका संसार कहाँ जा रहा है!

विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता, समता—एक समय साक्षात् धर्मने महाराज युधिष्ठिरकी परीक्षा लेनेके उद्देश्यसे हरिण- का रूप धारण किया। वे किसी अग्निहोत्री ब्राह्मणकी अरणी (यज्ञार्थ अग्नि उत्पन्न करनेवाली काष्ठ-मथनी) को अपने सींगोंमें उलझाकर साथ लिये हुए जंगलमें चले गये। ब्राह्मण व्याकुल होकर महाराज युधिष्ठिरके पास पहुँचा और उनसे हरिणद्वारा अपनी अरणीके ले जानेकी बात कही। ब्राह्मणने धर्मराज युधिष्ठिरसे यह याचना की कि वे किसी प्रकार उस अरणीको ढूँढ़वाकर उसे दे दें, जिससे अग्निहोत्रका काम बंद न हो। यह सुनना था कि महाराज युधिष्ठिर अपने चारों भाइयोंको साथ लेकर उस हरिणके पदचिह्नोंका अनुसरण करते हुए जंगलमें बहुत दूरतक चले गये। किंतु अन्तमें वह हरिण अन्तर्धान हो गया और सभी भाई प्याससे व्याकुल होकर और थककर एक वटवृक्षके नीचे बैठ गये। कुछ देर बाद धर्मराजकी आज्ञा लेकर नकुल जलकी खोजमें निकले। वे जल्दी ही एक जलाशयपर पहुँच गये। परंतु ज्यों ही उन्होंने वहाँके निर्मल जलको पीना चाहा, त्यों ही यह आकाशवाणी हुई—'माद्रिपुत्र नकुल! यह स्थान मेरा है। मेरे प्रश्नोंका उत्तर दिये बिना कोई इसका जल नहीं पी सकता। इसलिये तुम पहले मेरे प्रश्नोंका उत्तर दो, फिर स्वयं जल पीओ तथा भाइयोंके लिये भी ले जाओ।' किंतु नकुल तो प्यासके मारे बेचैन थे, उन्होंने उस आकाशवाणीकी ओर ध्यान नहीं दिया और जल पी लिया। फल- स्वरूप जल पीते ही उनकी मृत्यु हो गयी। इधर नकुलके लौटनेमें विलम्ब हुआ देखकर धर्मराजकी आज्ञासे क्रमशः सहदेव, अर्जुन और भीम—ये तीनों भाई भी उस जलाशयके निकट आये और इन तीनोंने भी प्याससे व्याकुल होनेके कारण यक्षके प्रश्नोंकी परवाह न करते हुए जलपान कर लिया और उसी प्रकार इन लोगोंकी भी क्रमशः मृत्यु हो गयी। अन्तमें महाराज युधिष्ठिरको स्वयं ही उस जलाशयपर पहुँचना पड़ा। वहाँ उन्हें अपने चारों भाइयोंको मरा हुआ देखकर बड़ा भारी दुःख तथा आश्चर्य हुआ। वे उनकी मृत्युका कारण सोचने लगे। जलकी परीक्षा करनेपर उसमें कोई दोष नहीं दिखा- पड़ा और न उन मृत भाइयोंके शरीरपर कोई ही दीख पड़े। अतः उन्हें उनकी मृत्युका कोई समझमें नहीं आया। थोड़ी देर बाद अत्यन्त प्यास लगनेके कारण जब वे भी जल पीनेके लिये बढ़े, तब फिर वही

१२—अस्माभिरुषिताः सम्यग्वने मासास्त्रयोदश। परिमाणेन तान् पश्य तावतः परिवत्सरान्॥
(वन॰ ३५। १२

'यो मासः स संवत्सर इति श्रुतेः'।

१३—अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्। अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥
(शान्ति॰ १६२। २६)

सुनो, जो क्रोधपात्रको भी क्षमा कर देता है, वह सनातनलोकको प्राप्त करता है।

'महामुनि कश्यपने तो कहा है कि 'क्षमा ही धर्म है, क्षमा ही यज्ञ है, क्षमा ही वेद है और क्षमा ही शास्त्र है। इस प्रकार क्षमाके स्वरूपको जाननेवाला सबको क्षमा ही करता है। क्षमा ही ब्रह्म, क्षमा ही भूत, भविष्य, तप, शौच, सत्य—सब कुछ है। इस चराचर जगत्को भी 'क्षमा'ने ही धारण कर रखा है। तेजस्वियोंका तेज, तपस्वियोंका ब्रह्म, सत्यवादियोंका सत्य, याज्ञिकोंका यज्ञ तथा मनको वशमें करनेवालोंकी शान्ति भी क्षमा ही है। जिस क्षमाके आधारपर सत्य, ब्रह्म, यज्ञ और पवित्र लोक स्थित हैं, उस क्षमाको मैं कैसे त्याग सकता हूँ। *तपस्वियोंको, ज्ञानियोंको, कर्मियोंको* जो गति मिलती है, उससे भी उत्तम गति क्षमावान् पुरुषोंको मिलती है। जो सब प्रकारसे क्षमाको धारण किये रहते हैं, उनको *ब्रह्मकी प्राप्ति होती है।*' अतः सबको निरन्तर क्षमाशील बनना चाहिये। द्रौपदी! तू भी क्रोधका परित्याग करके क्षमा धारण कर। क्षमाशील होना परम सदाचार है।"

कितना सुन्दर उपदेश है, कितने भव्य भाव हैं! जंगलमें दुःखसे कातर बनी हुई अपनी धर्मपत्नीके प्रति निकले हुए धर्मराजके ये वचन अक्रोध के ज्वलन्त उदाहरण हैं। तेज, क्षमा और शान्तिका इतना सुन्दर सम्मिश्रण अन्यत्र ढूँढ़नेसे भी नहीं मिलता। *क्षमा सदाचारका महत्त्वपूर्ण अङ्ग है*

सत्य—महाराज युधिष्ठिर सत्यवादी थे, यह शास्त्र तथा लोक दोनोंमें ही प्रसिद्ध है। भीमसेनने एक समय धर्मराजसे अपने भाइयों तथा द्रौपदीके कष्टोंकी ओर ध्यान दिलाकर जूएमें हारे हुए अपने राज्यको बलपूर्वक वापस कर लेनेकी प्रार्थना की। इसपर महाराज युधिष्ठिरने उत्तर दिया—'भीमसेन! रा[illegible] पुत्र, कीर्ति, धन—ये सब एक साथ मिलकर स[illegible] सोलहवें हिस्सेके समान भी नहीं हैं। अमरता [illegible] प्राणोंसे भी बढ़कर मैं सत्यपालनरूप धर्मको [illegible] हूँ। तू मेरी प्रतिज्ञाको सच मान"। कुरुवंशि[illegible] सामने की गयी अपनी उस सत्य प्रतिज्ञासे मैं [illegible] भी विचलित नहीं हो सकता। *तू बीज बोकर फल* प्रतीक्षा करनेवाले किसानकी तरह वनवास त[illegible] अज्ञातवासके समाप्तिकालकी प्रतीक्षा कर।' भीमसे[illegible] फिर प्रार्थना की—'महाराज! हमलोग ते[illegible] महीनेतक तो वनवास कर ही चुके हैं, वेद[illegible] शब्दानुसार आप इसीको तेरह वर्ष क्यों न स[illegible]

५-क्षमा धर्मः क्षमा यज्ञः क्षमा वेदाः क्षमा श्रुतम्। य एतदेवं जानाति स सर्वं क्षन्तुमर्हति॥

६-(क) क्षमा ब्रह्म क्षमा सत्यं क्षमा भूतं च भावि च। क्षमा तपः क्षमा शौचं क्षमयेदं धृतं जगत्॥ (वन० २९। ३६-३७)

(ख) 'क्षमाका एक अर्थ पृथ्वी भी है।

७-क्षमा तेजस्विनां तेजः क्षमा ब्रह्म तपस्विनाम्। क्षमा सत्यवतां सत्यं क्षमा यज्ञः क्षमा शमः॥

८-तां क्षमां तादृशीं कृष्णे कथमस्मद्विधस्त्यजेत्। यस्यां ब्रह्म च सत्यं च यज्ञा लोकाश्च धिष्ठिताः॥ (वन० २९। ४०-४१)

९-क्षन्तव्यमेव सततं पुरुषेण विजानता। यदा हि क्षमते सर्वं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ (वन० २९। ४२)

१०-महाभारत वनपर्वके अध्याय ३३-३४ में यह प्रसङ्ग है।

११-मम प्रतिज्ञां च निबोध सत्यां वृणे धर्मममृताज्जीविताच्च।
राज्यं च पुत्राश्च यशो धनं च सर्वं न सत्यस्य कलामुपैति॥ (वन० ३४। २२)

फिर पूछा—'अजी ! दस हजार हाथियोंका बल रखनेवाले भीमको तथा जिसके अपार बाहुबलका तुम-लोगोंको भरोसा है, उस अर्जुनको छोड़कर तुम नकुलको क्यों जिलाना चाहते हो ?' महाराज युधिष्ठिरने कहा—'जो मनुष्य अपने धर्मका पालन नहीं करता है, या यों कहो कि उसका त्याग कर देता है, धर्म भी उसे छोड़ (तिरस्कृत कर) देता है। परंतु जो धर्मकी रक्षा करता है, उसकी रक्षा धर्म करता है।[१६] यक्ष ! मुझको लोग सदा धर्मपरायण समझते हैं, मैं धर्मको नहीं छोड़ सकता। मेरे पिताकी कुन्ती और माद्री दो स्त्रियाँ थीं, वे दोनों पुत्रवती बनी रहें, ऐसा मेरा निश्चित विचार है। इसलिये मेरा भाई नकुल ही जीवित हो, क्योंकि मेरे लिये जैसी मेरी माता कुन्ती है, वैसी ही माद्री है। मैं उन दोनों माताओंपर समान भाव रखना चाहता हूँ (कुन्तीका पुत्र मैं तो जीवित हूँ ही, अब माद्रीका पुत्र नकुल भी जीवित हो जाय); क्योंकि समता ही सब धर्मोंमें सबसे बड़ा धर्म है।'

महाराज युधिष्ठिरका यह धर्ममय उत्तर सुनकर यक्ष बड़ा ही प्रसन्न हुआ। उसने कहा—'हे युधिष्ठिर ! तुम सचमुच बड़े धर्मात्मा हो, अर्थ और कामसे बढ़कर तुम धर्मको मानते हो। तुम्हारे सभी भाई जीवित हो जायँ।' यक्षके यह कहते ही चारों भाई तत्काल जी उठे। महाराज युधिष्ठिरने यक्षसे यथार्थ परिचय देनेकी प्रार्थना की। तब यक्षने खुलकर कहा—'वत्स युधिष्ठिर ! मैं तुम्हारा पिता साक्षात् धर्म हूँ। तुम्हारी परीक्षा लेनेके लिये मैंने ही हरिणका रूप धारण किया था और उस ब्राह्मणकी अरणी उठा ले गया था।' इसके पश्चात् धर्मने महाराज युधिष्ठिरको अरणी लौटा दी तथा युधिष्ठिरसे वर माँगनेके लिये कहा। महाराज युधिष्ठिरने प्रार्थना की—'देव ! आप सनातन देवोंके देव हैं। मैं आपके दर्शनसे ही कृतार्थ हो गया। आप जो कुछ भी मुझे वर देंगे, उसे मैं शिरोधार्य करूँगा। विभो ! मुझको आप यही वर दें कि मैं क्रोध, लोभ, मोह आदिको सदाके लिये जीत लूँ तथा मेरा मन दान, तप और सत्यमें निरन्तर लगा रहे। (मैं सदाचारमें लगा रहूँ।)[१७]' धर्मने कहा—'पाण्डव ! ये गुण तो स्वभावसे ही तुममें वर्तमान हैं। तुम तो साक्षात् धर्म हो, तथापि तुमने मुझसे जितनी वस्तुएँ माँगी हैं, वे सब तुम्हें प्राप्त हों[१८]।' यह कहकर धर्म अन्तर्धान हो गये।

महाराज युधिष्ठिरद्वारा दिये गये इन उत्तरोंकी मार्मिकताको हमलोग समझें। इस प्रकार धर्मराजके सदाचारसम्पन्न महान् व्यक्तित्वका प्रत्यक्षीकरण करें तो क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुणोंसे बचकर दान, तप, सत्य आदि दैवी गुणोंके उपासक हो सकते हैं, जिससे हमारा कल्याण निश्चित है।

पवित्रताका प्रभाव—जब महाराज युधिष्ठिर अपने सब भाइयोंके साथ विराट-नगरमें छिपे हुए थे, तब कौरवोंके द्वारा उन लोगोंकी खोजके लिये अनेक प्रयत्न किये गये, पर कहीं भी उनका पता न चला। सभी सभासदोंने नाना प्रकारके उपाय बतलाये, परंतु सभी निष्फल हो गये। अन्तमें भीष्मपितामहने एक युक्ति बतलायी। उन्होंने कहा—'अबतक पाण्डवोंका पता लगानेके लिये जितने भी उपाय काम लाये गये हैं तथा अभी कामें लाये जानेवाले हैं, वे सब मेरी सम्मतिमें सर्वथा अनुपयुक्त हैं; क्योंकि साधारण दूतोंद्वारा उनका पता नहीं लग

१६–धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ॥

१७–अयेयं लोभमोहौ च क्रोधं चाहं सदा विभो। दाने तपसि सत्ये च मनो मे सततं भवेत् ॥
(वन० ३१४ । २४)

१८–उपपन्नो गुणैरेतैः स्वभावेनासि पाण्डव। भवान् धर्मः पुनश्चैव यथोक्तं ते भविष्यति ॥
(वन० ३१४ । २५)

आकाशवाणी हुई। उसे सुनकर धर्मराजने आकाशचारीसे उसका परिचय पूछा। आकाशचारीने अपनेको यक्ष बतलाया तथा उसने यह भी कहा कि 'तुम्हारे भाइयोंने सावधान करनेपर भी मेरे प्रश्नोंका उत्तर नहीं दिया—लापरवाहीके साथ जल पी लिया। इसलिये मैंने ही इनको मार डाला है। तुम भी मेरे प्रश्नोंका उत्तर देकर ही जल पी सकते हो। अन्यथा तुम्हारी भी यही गति होगी।' महाराज युधिष्ठिरने कहा—'यक्ष! तुम प्रश्न करो। मैं अपनी बुद्धिके अनुसार तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर देनेकी चेष्टा करूँगा।' इसपर यक्षने बहुतेरे प्रश्न किये और महाराज युधिष्ठिरने उसके सब प्रश्नोंका यथोचित उत्तर दे दिया।

यहाँ उन सारे-के-सारे प्रश्नोंका उल्लेख न करके केवल धर्मराजद्वारा दिये गये उत्तरोंका अधिकांश भाग दिया जाता है। महाराज युधिष्ठिरने यक्षसे कहा—वेदका अभ्यास करनेसे मनुष्य श्रोत्रिय होता है। तपस्यासे महत्ताको प्राप्त करता है। धैर्य रखनेसे दूसरे सहायक बन जाते हैं। वृद्धोंकी सेवा करनेसे मनुष्य बुद्धिमान् होता है। तीनों वेदोंके अनुसार किया हुआ कर्म नित्य फल देता है। मनको वशमें रखनेसे मनुष्यको कभी शोकका शिकार नहीं होना पड़ता। सत्पुरुषोंके साथ हुई मित्रता जीर्ण नहीं होती। मानके त्यागसे मनुष्य सबका प्रिय होता है। क्रोधके त्यागसे शोकरहित होता है। कामनाके त्यागसे अर्थकी सिद्धि होती है। लोभके त्यागसे सुखी होता है। स्वधर्मपालनका नाम तप है, मनको वशमें करना दम है, सहन करनेका नाम क्षमा है, अकर्तव्यसे विमुख हो जाना लज्जा है, तत्त्वको यथार्थरूपसे जानना ज्ञान है, चित्तके शान्तभावका नाम शम है, सबको सुखी देखनेकी इच्छा (ऋजुता) का नाम आर्जव है। क्रोध मनुष्यका वैरी है। लोभ असीम व्याधि है। जो सब भूतोंके हितमें रत है, वह साधु है और जो निर्दयी है, वह असाधु है। धर्मपालनमें मूढ़ता ही मोह है, अभिमान ही मान है, धर्ममें अकर्मण्यता ही आलस्य है, शोक करना ही मूर्खता है, स्वधर्ममें डटे रहना ही स्थिरता है। इन्द्रियनिग्रह धैर्य है, मनके मैलका त्याग करना स्नान है। प्राणियोंकी रक्षा करना दान है। धर्मका जाननेवाला ही पण्डित है। नास्तिक ही मूर्ख है। जन्म-मरणरूप संसारको प्राप्त करानेवाली वासनाका नाम काम है। दूसरेकी उन्नतिको देखकर जो मनमें संताप होता है, उसका नाम मत्सरता है। अहंकार ही महान् अज्ञान है। मिथ्या धर्माचरण दिखानेका नाम दम्भ है। दूसरेके दोषोंको देखना पिशुनता है।

जो पुरुष वेद, धर्मशास्त्र, ब्राह्मण, देवता, श्राद्ध और पितर आदिमें मिथ्याबुद्धि रखता है, वह अक्षय नरकको पाता है। प्रिय वचन बोलनेवाला लोगोंको प्रिय होता है। विचारकर कार्य करनेवाला प्रायः विजय पाता है। मित्रोंकी संख्या बढ़ानेवाला सुखपूर्वक रहता है। धर्ममें रत पुरुष सद्गुणोंको प्राप्त करता है। प्रतिदिन प्राणी यमलोककी यात्रा करते हैं, इसको देखकर भी बचे हुए लोग सदा स्थिर रहना चाहते हैं। इससे बढ़कर और आश्चर्य क्या है![14] जिसके लिये प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख, भूत-भविष्य आदि सब समान हैं, वह निःसंदेह सबसे बड़ा धनी है।[15] इस प्रकार अनेक प्रश्नोंका समुचित उत्तर पानेके बाद यक्ष प्रसन्न हुआ। उसने महाराज युधिष्ठिरको जल पीनेकी आज्ञा दी और कहा—'इन चारों भाइयोंमेंसे तुम जिस एकको कहो, मैं उसे जिला दूँगा।' इसपर महाराज युधिष्ठिरने अपने भाई नकुलको जिलानेके लिये कहा। यक्षने आश्चर्यचकित

१४-अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्। शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥ (वन० ३१३। ११६)

१५-तुल्ये प्रियाप्रिये यस्य सुखदुःखे तथैव च। अतीतानागते चोभे स वै सर्वधनी नरः॥ (वन० ३१३। १२१)

कर देता है, उसी प्रकार भाँति-भाँतिके द्रव्योंके प्रचुर दानसे ब्राह्मणोंको तृप्त कर दिया गया। लगातार दस दिनोंतक इच्छापूर्वक दान देते-देते धृतराष्ट्र थक गये।

अब हमलोग महाराज युधिष्ठिरकी इस अनुपम उदारता-की ओर देखें और फिर आजकलकी संकीर्णतासे उसकी तुलना करें तो हमें आकाश-पातालका अन्तर दिखायी देगा। अपनी बुराई करनेवालोंकी बात तो दूर रही, आजकलके अधिकांश लोग अपने माता-पिता एवं सुहृदों-के प्रति भी कैसा असत्-व्यवहार करते हैं, यह किसीसे छिपा नहीं है। उनकी वृद्धावस्था आनेपर उनके लिये साधारण अन्न-वस्त्रकी भी व्यवस्था नहीं हो पाती। यह अवस्था भारतीय सदाचारकी दृष्टिमें अत्यन्त चिन्त्य है।

त्याग—स्वर्गारोहणके समयकी कथा है। महाराज युधिष्ठिर हिमालयपर चढ़ने गये। द्रौपदी तथा उनके चारों भाई एक-एक करके बर्फमें गिरकर स्वर्ग सिधार गये। किसी प्रकार साथका एक कुत्ता बच गया था, वही धर्मराज युधिष्ठिरका अनुसरण करता जा रहा था। उसी समय देवराज इन्द्र रथ लेकर महाराज युधिष्ठिरके सम्मुख उपस्थित हुए। उन्होंने महाराज युधिष्ठिरको रथपर बैठनेके लिये आज्ञा दी। युधिष्ठिरने कहा—'यह कुत्ता अबतक मेरे साथ चला आ रहा है। यह भी मेरे साथ स्वर्ग चलेगा।' देवराज इन्द्रने कहा—'नहीं, कुत्तेके लिये स्वर्गमें स्थान नहीं है। तुम कुत्तेको छोड़ दो।' इसपर महाराज युधिष्ठिरने कहा—'अमराज! आप यह क्या कह रहे हैं! भक्तोंका त्याग करना ब्रह्महत्याके समान महापातक बतलाया गया है। इसलिये मैं अपने सुखके लिये इस कुत्तेको किसी प्रकार नहीं छोड़ सकता। डरे हुएको, भक्तको, 'मेरा कोई नहीं है'—ऐसा कहनेवाले शरणागतको, निर्बलको तथा प्राणरक्षा चाहनेवालेको छोड़नेकी चेष्टा मैं कभी नहीं कर सकता, चाहे मेरे प्राण भी क्यों न चले जायँ। यह मेरा सदाका दृढ़ व्रत है।'

यह सुनकर देवराज इन्द्रने कहा—'हे युधिष्ठिर! जब तुमने अपने भाइयोंको छोड़ दिया, अपनी धर्मपत्नी प्यारी द्रौपदीको छोड़ दिया तब इस कुत्तेपर तुम्हारी इतनी ममता क्यों है?' युधिष्ठिरने उत्तर दिया—'देवराज! उन लोगोंका त्याग मैंने उनके मरनेपर किया है, जीवित अवस्थामें नहीं। मरे हुएको जीवनदान देनेकी क्षमता मुझमें नहीं है। मैं आपसे फिर निवेदन करता हूँ कि शरणागतको भय दिखलाना, स्त्रीका वध करना, ब्राह्मणका धन हरण कर लेना और मित्रोंसे द्रोह करना—इन चारों पापोंके बराबर केवल एक भक्तके त्यागका पाप है, ऐसी मेरी सम्मति है[20]। अतः मैं इस कुत्तेको किसी प्रकार नहीं छोड़ सकता।'

युधिष्ठिरके इन दृढ़ वचनोंको सुनकर साक्षात् धर्म—जो कुत्तेके रूपमें विद्यमान थे, प्रकट हो गये। उन्होंने बड़ी प्रसन्नतासे कहा—'युधिष्ठिर! कुत्तेको तुमने अपना भक्त बतलाकर स्वर्गतकका परित्याग कर दिया, अतः तुम्हारे त्यागकी समता कोई स्वर्गवासी भी नहीं कर सकता। तुमको दिव्य उत्तम गति मिल चुकी।' इस प्रकार साक्षात् धर्म तथा उपस्थित इन्द्रादि देवताओंने महाराज युधिष्ठिरकी प्रशंसा की और वे प्रसन्नतापूर्वक महाराज युधिष्ठिरको रथमें बैठाकर ले गये।

आज भी सहस्रों नर-नारी बदरिकाश्रम आदि तीर्थों-यात्रा करते हैं, परंतु साथियोंके प्रति उनका व्यवहार कैसा होता है! कुत्ते आदि जानवरोंकी बात तो दें, आजकलके तीर्थयात्रियोंके यदि निकट-सम्बन्धी संयोगवश मार्गमें बीमार पड़ जाते हैं तो वे उन्हें

२०–भीतिप्रदानं शरणागतस्य स्त्रिया वधो ब्राह्मणस्वापहारः। मित्रद्रोहस्तानि चत्वारि शक्र भक्तत्यागश्चैव समो मतो मे।
(महाभा० महाप्रास्थानिक० ३।१६)

सकता है । उनकी खोज करनेका साधन यह है, आप लोग इसको ध्यानपूर्वक सुनें । जिस देश और राज्यमें पवित्रात्मा जितेन्द्रिय राजा युधिष्ठिर होंगे, वहाँके राजाका अमङ्गल नहीं हो सकता । उस देशके मनुष्य निश्चय ही दानशील, उदार, शान्त, लज्जाशील, प्रियवादी, जितेन्द्रिय, सत्यपरायण, हृष्ट-पुष्ट, पवित्र तथा चतुर होंगे । वहाँकी प्रजा असूया, ईर्ष्या, अभिमान और मत्सरतासे रहित होगी तथा सब लोग धर्मके अनुसार आचरण करनेवाले होंगे ।'[१९] वहाँ निःसंदेह अच्छी तरहसे वर्षा होती होगी । सारा-का-सारा देश प्रचुर धनधान्यसम्पन्न और पीड़ारहित होगा । वहाँके अन्न सारयुक्त होंगे, फल रसमय होंगे, पुष्प सुगन्धित होंगे, वहाँका पवित्र पवन सुखदायक होगा और वहाँ प्रचुर मात्रामें दूध देनेवाली हृष्ट-पुष्ट गौएँ होंगी । वहाँ स्वयं धर्म मूर्तिमान् होकर निवास करेंगे । वहाँके सभी मनुष्य सदाचारी, प्रीति करनेवाले, संतोषी तथा अकालमृत्युसे रहित होंगे । देवताओंकी पूजामें प्रीति रखनेवाले, उत्साहयुक्त और धर्मपरायण होंगे । वहाँके मनुष्य सदा परोपकारपरायण होंगे । हे तात ! महाराज युधिष्ठिरके शरीरमें सत्य, धैर्य, दान, परमशान्ति, ध्रुव, क्षमा, शील, कान्ति, कीर्ति, प्रभाव, सौम्यता, सरलता आदि गुण निरन्तर निवास करते हैं । ऐसे धर्मात्मा युधिष्ठिरको बड़े-बड़े ब्राह्मण भी नहीं पहचान सकते, फिर साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या है !' इस प्रकारके भीष्म महाराजके वचनोंको सुनकर कृपाचार्यने उनका समर्थन किया ।

महाराज युधिष्ठिरके जीवनमें कितनी पवित्रता थी । इस वर्णनमें तो पवित्रताकी पराकाष्ठा हो गयी है । जिस धर्मात्माके निवास करनेसे वहाँका देश इन्द्रकी परम शोभाको पहुँच जाता था, उनकी इन्द्रकी सम्पत्ति भी आपके उपयोग नहीं कर सकते । किंतु यह अतिशयोक्ति नहीं, सत्य है ।

उदारता—महाराज युधिष्ठिरमें इसी प्रकार उदारता भी अद्भुत थी । जिस धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको जला देनेके लिये लाक्षाभवनमें भेजा, जिसके हृदयमें पाण्डवोंको भीख माँगनेके लिये वनवासकी यात्रा करते देखकर जरा भी दया नहीं आयी, उसी धृतराष्ट्रने महाभारतकी लड़ाईके पन्द्रह वर्ष बाद तपस्या करनेके लिये वन जाने एवं दान-पुण्यमें खर्च करनेके लिये, विदुरको भेजकर जब धनकी याचना की और उसपर उनके साथ महाराज युधिष्ठिरने जैसा व्यवहार किया, उसको देखकर हम मुग्ध हो जाते हैं । महाराज युधिष्ठिरने धृतराष्ट्रका यह संदेश सुनते ही विदुरसे कहला भेजा कि 'मेरा शरीर और मेरी सारी सम्पत्ति आपकी ही है । मेरे घरकी प्रत्येक वस्तु आपकी है । आप इन्हें इच्छानुसार संकोच छोड़कर व्यवहारमें ला सकते हैं ।' इस वचनको सुनकर धृतराष्ट्रकी प्रसन्नताका ठिकाना न रहा । वे भीष्म, द्रोण, सोमदत्त, जयद्रथ, दुर्योधन आदि पुत्र-पौत्रोंका एवं समस्त मृत सुहृदोंका श्राद्ध करके दान देने लगे । वस्त्र, आभूषण, सोना, रत्न, गहनोंसे सजाये हुए घोड़े, ग्राम, गौएँ आदि अपरिमित वस्तुएँ दान दी गयीं । बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरकी आज्ञासे धृतराष्ट्रने जिसको सौ देनेको कहा था, उसे हजार और जिसे हजार देनेको कहा था, उसे दस हजार दिये गये । तात्पर्य यह कि जिस प्रकार मेघ वृष्टिद्वारा भूमिको तृप्त

१९–तत्र तात न तेषां हि राज्ञां भाव्यमसाम्प्रतम् । पुरे जनपदे चापि यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥
दानशीलो वदान्यश्च निभृतो ह्रीनिषेधकः । जनो जनपदे भाव्यो यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥
प्रियवादी सदा दान्तो भव्यः सत्यपरो जनः । हृष्टः पुष्टः शुचिर्दक्षो यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥
नासूयको न चापीर्षुर्नाभिमानी न मत्सरी । भविष्यति जनस्तत्र स्वयं धर्ममनुव्रतः ॥
(विराटप० २८ । १४–१७, ३०–३२, आश्रम० १४ । १०)

प्रशासनमें सदाचार

(लेखक—डॉ० श्रीसुरेन्द्रप्रसादजी गर्ग, एम० ए०, एल०-एल० बी०)

...त्येक क्षेत्रमें सदाचारकी महती
...र प्रशासनमें तो यह अपरिहार्य है।
...था प्रजाः'के नियमानुसार प्रशासनिक
...नजी जीवनके भले-बुरे आचरणोंका
...एवं अधीनस्थ जनोंपर पड़े बिना नहीं
... भगवान्‌ने गीतामें कहा है—
... आचरण करता है, वही दूसरेको भी
...रणीय होता है। वह श्रेष्ठ पुरुष जिस
...ाण मानता है, दुनियाके लोग उसका
... हैं (३। २१)। भाव यह
...ा आचरण समाजके लिये दृष्टान्त है।
...कारीके सदाचारी होनेसे अत्यन्त सुख-
...ा प्रादुर्भाव स्वतः होता है। प्रशासनिक
... एवं नीति-संगत अनेक गुण होने
...से कुछ यहाँ अङ्कित किये जा रहे हैं।

...हार—प्रत्येक अधिकारीको उसके सम्पर्क-
...रेक व्यक्तिके साथ अत्यन्त मधुर व्यवहार
... मधुर व्यवहारका अर्थ यह नहीं है कि
एवं कानूनोंको ताकपर रखकर जनताकी
करे। इसका अर्थ यह है कि वह
...रता न बरते। जो सहायता-सहयोग
...), उसे अवश्य दे। जनता उससे
..., अपितु यह समझे कि अधिकारी उन्हींके
... सम्मानित सदस्य है। उर्दूके कविने
...र जवान मीठी है तो जहान मीठा है।'
... प्रेम एवं सम्मान प्राप्त करनेके लिये
...यन्त मधुरभाषी होना चाहिये। वह किसी
...ामसिकताका शिकार होकर कठोर-कर्कश
निकाले।

एकमात्र जनतोष ही पर्याप्त नहीं, अपितु अपने अधीनस्थोंके साथ भी मधुर एवं कोमल व्यवहार करना चाहिये। अधीनस्थोंकी वास्तविक आवश्यकताओं, कठिनाइयोंको समझना और मानव-दृष्टिकोण अपनाना तथा उन्हें कष्टसे बचाना प्रशासनिक अधिकारीका परम धर्म है।

निष्पक्षता—अधिकारीको हर दशामें सर्वथा निष्पक्ष तथा न्याययुक्त बने रहना चाहिये। किसी भी सिफारिश, दलबंदीय अनुचित प्रोत्साहनके वशीभूत होकर उसे कोई कार्य नहीं करना चाहिये। यदि परिस्थितिवश उसकी निजी हानि होती हो तो भी कोई विचार न करे और भर्तृहरिके उपदेश—'न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः'—को सदा ध्यानमें रखे। हमारे देशमें ब्रिटिश-कालमें भी ऐसे उच्चाधिकारी हुए हैं, जिन्होंने न्यायोचित कार्यवाही करनेमें अंग्रेज अधिकारियोंकी तनिक परवा न की और उनके सामने कभी नहीं झुके। निष्पक्ष न्याय एवं व्यवहारसे एकमात्र जनता ही नहीं, सरकार भी संतुष्ट एवं प्रसन्न होती है। कभी-कभी दुर्दैववश कोई अधिकारी अपने अधीनस्थ अधिकारीसे स्वार्थवश किसी कार्यमें पक्षपातपूर्ण व्यवहार-की कामना करता है, पर सदाचारीको न्यायसे ही चिपके रहकर अपनेको निष्पक्ष रखना चाहिये।

भ्रष्टाचार—अधिकारीको सब प्रकारके भ्रष्टाचारोंसे सदा मुक्त रहना चाहिये। अपने उचित वेतनके अतिरिक्त नाममात्रके किसी प्रकारके लाभकी आशा वह कदापि न रखे। 'अनुचित आय'के लिये लोभ करना उसका समर्थन देना भ्रष्टाचार है। इससे ... तथा पापाचारको बढ़ावा मिलता है।

प्रशासनतन्त्रको स्वस्थ रहने तथा प्रशासनको स्वच्छ रखनेके लिये एवं निजी सदाचारिता और उन्नतिके लिये भी

छोड़कर आगे बढ़ जाते हैं। भगवान् हमारी परीक्षाके लिये ही ऐसे अवसर उपस्थित करते हैं। यदि ऐसा अवसर प्राप्त हो जाय तो हमलोगोंको बड़ी प्रसन्नतासे, प्रेमपूर्वक भगवान्‌की आज्ञा समझकर अनाथों, व्याधि-पीड़ितों और दुःखग्रस्तोंकी सहायता करनी चाहिये। उन्हें मार्गमें छोड़ जाना तो स्वयं अपने हाथोंसे मङ्गलमय भगवान्‌के पवित्र धामके पटको बंद कर देना है। यदि हम अपने ऐसे कर्तव्योंका पालन करते हुए तीर्थयात्रा करें तो इसमें कोई संदेह नहीं कि जिस प्रकार धर्मके लिये कुत्तेको अपनानेके कारण महाराज युधिष्ठिरके सामने साक्षात् धर्म प्रकट हो गये थे, ठीक उसी प्रकार हमारे सामने भगवान् भी प्रकट हो सकते हैं! (जनसेवा भगवान्‌की भक्ति ही है। यथासाध्य हमें सेवासे चूकना नहीं चाहिये।)

उपसंहार—इस संसारमें बहुत-से धार्मिक महापुरुष हुए हैं, किंतु 'धर्मराज' शब्दसे केवल महाराज युधिष्ठिर ही सम्बोधित किये गये हैं। महाराज युधिष्ठिरका सम्पूर्ण जीवन ही धर्ममय था। इसी कारण आजतक वे 'धर्मराज' के नामसे प्रसिद्ध हैं। शास्त्रोंमें धर्मके जितने लक्षण बतलाये गये हैं, वे प्रायः सभी उनमें विद्यमान थे। स्मृतिकार महाराज मनुने धर्मके जो दस लक्षण बतलाये हैं[२१], वे तो मानो उनमें कूट-कूटकर भरे थे। गीतोक्त दैवी सम्पदाके छब्बीस लक्षण[२२] तथा महर्षि पतञ्जलिके बतलाये हुए दस यम-नियमादि[२३] भी प्रायः उनमें विद्यमान थे। और महाभारतमें वर्णित सामान्य धर्मके तो आप आदर्श ही थे। इस लेखमें उनके जीवनकी केवल आठ घटनाओंका ही उल्लेख किया गया है, परंतु उनका सारा जीवन ही सद्गुण और सदाचारसे ओतप्रोत था। (सदाचारकी शिक्षाके लिये इतना पर्याप्त है।)

महाराज युधिष्ठिरने अवसर उपस्थित होनेपर अपने निर्वैरता, धैर्य, क्षमा, अक्रोध आदि सद्गुणोंका केवल वाचिक ही नहीं, बल्कि क्रियात्मक आदर्श सामने रक्खा। सत्य-पालन तो उनका प्राण-पण था। इस विषयमें आज भी वे अद्वितीय एवं अप्रतिम माने जाते हैं। धर्मराजका प्रत्येक वचन विद्वत्ता और बुद्धिमत्तासे परिपूर्ण होता था—यह यक्षकी आख्यायिकासे भी स्पष्ट हो जाता है। समताकी रक्षाके लिये तो उन्होंने अपने सहोदर भाइयोंतककी उपेक्षा कर दी थी! उनकी पवित्रता तो यहाँतक बढ़ी हुई थी कि उनकी निवास-भूमि भी परम पवित्र बन जाती थी। उनके शम-दमादि शुभ गुणोंसे प्रभावित होकर उनसे अधिष्ठित देश संयमी बन जाता था। स्वार्थत्यागकी तो उनमें बात ही निराली थी। एक क्षुद्र कुत्तेके लिये उन्होंने स्वर्गको भी ठुकरा दिया था। उनका प्रत्येक कर्म स्वार्थत्याग और दयासे परिपूर्ण होता था। धृतराष्ट्रकी याचनापर उन्होंने जो महान् औदार्य दिखलाया, वह भी उनके अपूर्व स्वार्थ-त्यागकी भावनाका ही परिचायक है। यज्ञ, दान, तप, तेज, शान्ति, लज्जा, सरलता, निरभिमानता, निर्लोभता, भक्तवत्सलता आदि अनेकों गुण उनमें एक साथ ही भरे थे। ऐसे सर्वगुणसम्पन्न सदाचारी महाराज युधिष्ठिरके जीवनको यदि हम आदर्श मानकर चलें तो हमारे कल्याणमें तनिक भी संदेह न रह जायगा।

२१–धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ (मनु० ६।९२)
'धृति, क्षमा, दम, अस्तेय (चोरी न करना), शौच, इन्द्रिय निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध—धर्मके ये दस लक्षण हैं।'

२२–गीता १६ वें अध्याय के १, २, ३ श्लोकोंको देखिये।

२३–अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः (योग० सू० २।३०)
'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये यम हैं।'
शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। (योग० सू० २।३२)
'शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान—ये नियम हैं।'

सदाचार और समाज

(लेखक—डॉ० श्रीधर्मचन्द्रजी त्रिपाठी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

सदाचारका आशय है—सम्यक् आचरण, अनुष्ठान। यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जो वैयक्तिक प्रयत्नोंद्वारा जीवनके एक अपरिहार्य व्यवहारके रूपमें धारण एवं निर्मित की जा सकती है। इस प्रवृत्तिकी प्राप्तिके लिये व्यक्तिको सतत जागरूक रहना पड़ता है। मानव जिस वर्ग अथवा समुदायसे सम्बन्धित होता है, उस वर्ग एवं समुदायकी स्थितियोंका उसपर प्रभाव अवश्य पड़ता है। साथ ही उस व्यक्तिविशेषकी क्रियाओंका भी वहाँके वातावरणपर किसी-न-किसी सीमातक प्रभाव पड़ता ही है। व्यक्ति और समाजका इस प्रकार अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध है। वह सामाजिक चेतना-प्रवाहसे अपनेको पृथक् रखनेमें सर्वथा असमर्थ होता है।

समाज मानवसमुदायका एक विशाल स्वरूप है। विभिन्न लोग मनुष्य इसी समाजमें अपनी मानसिक, शारीरिक क्रियाओंद्वारा समाजको व्यवस्थित, विकसित एवं गति प्रदान करनेका कार्य सम्पादित करते हैं। मानवकी सहज प्रवृत्ति है—विश्लेषण करना, समीक्षा करना और दूसरोंके द्वारा होनेवाले कार्योंका अनुसरण करना और अन्तमें तदनुरूप अपने चरित्रका विकास करना। प्रायः देखा जाता है कि प्रतिभावान् बालक बाल्यावस्थासे ही सामाजिक स्थितियोंका सम्यक् अध्ययन करके अपने चरित्रमें उनका समावेश करनेका प्रयास करते हैं। कुसंगतियों एवं संकीर्ण परिधिमें सोचनेवाले बालक विपरीत दिशामें अग्रसर होनेकी चेष्टा करते जाते हैं। इसका मूलकारण है—उनके आन्तरिक संस्कार, समाजकी स्थिति एवं उसमें निवास करनेवाले उत्तरदायी नागरिकोंकी क्रियाएँ। अंग्रेजी साहित्यके सुप्रसिद्ध साहित्यकार विलियम वर्डस्वर्थने बालकों-की कोमल प्रवृत्तिका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है-—

Child is the father of man ...

मनुष्यकी उन क्रियाओंका अनुसरण करता है, समाजमें करते हुए देखता है और वह वैसा ही बनता

सदाचारकी प्रवृत्ति सहसा उत्पन्न नहीं होती। एक ऐसी निर्मल-शीतल धारा है, जिसका उद्गम मान बाल्यावस्थासे ही सम्भव है। साथ ही समाजकी स्थितिसे सम्बन्धित है; जिसमें सत्प्रवृत्तियोंका नि होता है। यदि कोई यह प्रयास करे कि सदाचा विजयिनी पताका मात्र एक दिनमें फहरा दी जा स है तो यह अतिरञ्जना है। समाजमें सदाचा व्यापक प्रभाव हो अथवा सामाजिक चेतना सदाच अविच्छिन्न प्रवाहसे निरन्तर आप्लावित रहे—एत सम्पूर्ण समुदायको त्याग, परोपकार, सात्त्विक अनाविल चिन्तन, विनम्रता एवं सदाशयताका समा अपने चरित्रमें करना आवश्यक है। इसी धरित्री ऐसे अनेक महापुरुष अवतरित हुए हैं, जिन्होंने अप दिव्य वाणी एवं अपने सत्प्रयासोंसे अनेक प्रकार संघर्ष-विरोध सहते हुए भी समाजको सदाचारकी सुदृ नींवपर प्रतिष्ठापित करनेका प्रयास किया है।

पृथ्वीपर जब-जब अनाचार, अत्याचार एवं अधर् की अभिवृद्धि होती है, तब-तब एक अद्भुत शक्ति प्रादुर्भाव होता है, जो इस विषम स्थितिपर नियन्त्रण रखत है और मानवताको आपद्मुक्त कर देती है।

सामाजिक चेतनाको किस प्रकार व्यवस्थित किय जाय अथवा मानव-समुदाय किस प्रकारकी प्रवृत्तिक अनुसरण करे, जिससे समाजमें मानवका अस्तित्व सुरक्षित रहे—यह आजकी आवश्यकता है। समाजमें मानवको मानवताका व्रत किसी भी दशामें भङ्ग नहीं करना चाहिये, अन्यथा वह अपने पुरातन सिद्धान्तोंसे ... चला जायगा।

भ्रष्टाचारसे सर्वथा बचना चाहिये। सरकारी सामग्री—टाइप-राइटर, स्टेशनरी, वाहन, टेलीफोन आदिका निजी कार्य-हेतु उपयोग करना भ्रष्टाचारके अन्तर्गत है। पर मोहवश इस ओर ध्यान नहीं दिया जाता। एकमात्र उत्कोचका लेना ही भ्रष्टाचार नहीं है। भ्रष्टाचारके अनेक रूप हैं। प्रशासनिक अधिकारीको सतर्क-सावधान रहकर अपनेको सब प्रकारके भ्रष्टाचारोंसे उन्मुक्त रखना चाहिये।

भ्रष्टाचारके दो मुख्य कारण हैं—आर्थिक कठिनाई एवं अर्थलोलुपता। आर्थिक कठिनाईका हल अनुचित रूपसे धनार्जन नहीं, अपितु अपनी आवश्यकताओंको सीमित करना, मितव्ययी बनना और शुद्ध आयको सद्विवेकसे व्यय करना है। जहाँतक अर्थलोलुपताका प्रश्न है, यह रोग लोभके अन्तर्गत आता है और इसकी न कोई सीमा है, न चिकित्सा। बस, एकमात्र धर्मके सिद्धान्त, परलोक आदिके विचार, भगवद्भजन एवं सत्सङ्गके द्वारा अनुचित धनसंग्रहकी वृत्तिको रोका जा सकता है। न्याय और धर्मसे उपार्जित धनसे ही मानव सुख प्राप्त कर सकता है। उपनिषद्का प्राचीन सिद्धान्त है—'मा गृधः कस्य स्विद् धनम्।' (शुक्लयजु० ४०।१) अपने सुखके लिये दूसरेके धनकी लिप्सा मत करो।

अनुशासन—अधिकारीको अत्यन्त अनुशासनप्रिय होना चाहिये। स्वयं अनुशासनके नियमोंका पालन करना, समयपर कार्यालयमें आना, कार्यालयके समयमें निजी काम न करना अथवा अन्य प्रकारसे समयको नष्ट न करना और समयपर कार्यालय छोड़ देना भी आवश्यक है। अपने कार्यका मनोयोजन इस प्रकार किया जाय कि उन्हें अकारण तारीखें बदलनेसे पक्षकारोंको परेशानी न उठानी पड़े। बुलाये गये सभी गवाहोंकी साक्षी लिपिबद्ध करना और उन्हें समयपर छुट्टी दे देना, प्रवास (कैम्प)को प्रोग्रामानुसार पूरा करना और जनताके दुःख-दर्द सुनकर यथाशक्य स्थल-विशेषपर ही उसका निवारण करना भी सदाचारके अङ्ग हैं। थोड़ेमें विभागीय कर्तव्य-संहिताके अनुसार अपने समस्त कर्तव्यका समुचित पालन करना सदाचारिता है।

अधिकारीको परम सात्त्विक आहार भगवत्प्रसादके रूपमें ग्रहण करना चाहिये। वह नशीली वस्तुएँ—शराब, बीड़ी, सिगरेट आदि सर्वथा छोड़ दे और भोज्यको भगवदर्पणके प्रसाद रूपमें पाये। ऐसा करनेसे उसके संस्कार शुद्ध होंगे। इसके अतिरिक्त नित्य प्रातः सरकारी कार्यपर लगनेसे पूर्व पूजा, जप, ध्यान आदि करना आवश्यक है। इस दैवकार्यमें लगाया गया समय सर्वोत्कृष्ट होता है और दिनभर सात्त्विक बुद्धि बनी रहती है। राजकीय कार्यकी कठिनाइयाँ स्वतः दूर हो जाती हैं। इस कार्यमें भारतके प्राचीन इतिहास, पुराण, राजनीतिशास्त्र, शिष्टाचार एवं विद्वानोंके विचारोंसे भी पर्याप्त सहायता और प्रेरणा मिल सकती है।

राज्यके प्रशासनाधिकारियोंको भारतीय प्राचीन नीति-ग्रन्थों, आदर्श शासन-पद्धतियों एवं प्राचीन आदर्श राजनयिकों और शासकोंका जीवन-चरित्र पढ़ना-पढ़ाना चाहिये। इस प्रकारका अनुशीलन उन्हें पर्याप्त ज्ञान (अनुभव) प्रदान करेगा, जिससे वे न्यायपरायण होकर अपने कर्तव्योंका यथार्थ रूपमें पालन कर देशको अधिक स्वच्छ लोकहितकारी आदर्श प्रशासन देनेमें सक्षम हो सकेंगे।

ऐसी स्थितिमें जीवन एक प्रश्न-चिह्न बनकर ही रह जायगा और सामाजिक असंगतियोंका जो ज्वार उठेगा, सम्भव है, वह सम्पूर्ण मानवताको भी निगल जाय।

सदाचारका जीवनकी प्रत्येक साँससे घनिष्ठतम सम्बन्ध है। यदि हम चाहें कि इसकी उपेक्षा करके जीवन व्यतीत कर लें तो यह अति दुष्कर है। समाजमें ही 'परिवार'की स्थिति है। यदि मानव समाजके विकासकी बात नहीं सोचता तो कोई आश्चर्य नहीं; क्योंकि समाजका निन्यानबे प्रतिशत व्यक्ति सर्वप्रथम 'स्व'पर केन्द्रित होता है। इस 'स्व'में वह एवं उसका परिवार ही सम्मिलित है। यदि वह अपने परिवारके प्रति चिन्तित होता है तो क्रमशः वह सामाजिक चेतनासे जुड़ जाता है। दया, क्षमा, परोपकार, सहानुभूति, स्नेह-ममता, करुणाकी भावनासे सिक्त होकर—'वसुधैव कुटुम्बकम्'की भावनाकी ओर अग्रसर होता है। यदि व्यक्ति केवल अपनी भौतिक आवश्यकताओंकी पूर्तिमें ही प्रतिक्षण लिप्त रहता है तो उसका जीवन पशु-पक्षियोंसे भी निम्नस्तरका है। पशु-पक्षी भी अपने बच्चोंके लिये अपनत्व-ममत्व प्रदर्शित करते हैं। ऐसा मनुष्य प्रस्तरकी कठोरतम शिला है, जो अनगढ़, नीरस एवं उपेक्षित है।

सदाचार मानवका धर्म है। सदाचारका मात्र क्षणिक प्रभाव नहीं है, शास्त्रोंमें इसका पारलौकिक महत्त्व भी बताया गया है। सदाचार ही मनुष्यको जीवनमें उन्नतिशील सुखी-दुःखी, जय-पराजयकी स्थिति उत्पन्न करता और जरामरणकी स्थितियोंसे ऊपर ले जानेका कार्य करता है। सदाचारकी महिमा अनन्त है। भारतीय मनीषियोंने सदाचारको मानसिक चेतनासे [illegible] [illegible] मानवताका विकास सिद्ध किया है। इस सम्बन्धमें [illegible] कहा गया है—

(क) सदाचाराद् भवेन्मोक्षः सदाचारो हि कामधुक्।
(ख) आचारात् प्राप्यते विद्या विद्यया रोचते कुलम्।
(ग) सदाचारेण सम्पन्ना मनुष्या मङ्गलालयाः।
तेनैव रहितास्ते तु काया इव गतासवः॥

जो धारण करने योग्य है, वही धर्म है। सदाचार तो मानवका अनिवार्य धर्म है। इसके अभावमें मानव दानवमें परिवर्तित हो जाता है। धर्मकी रक्षामें ही सदाचार संनिहित है, अतएव इसे श्रुति-स्मृतियोंके साथ बैठाकर धर्मका लक्षण कहा गया है। (मनु० २, याज्ञ० १)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सदाचार समाजसे अलग किसी प्रकार नहीं किया जा सकता। जबतक मानव है तबतक समाज है और जबतक समाज है तबतक सदाचारकी उत्ताल तरंगें मन-मानसको स्नेहसिक्त किये रहेंगी। समाजको आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और नैतिक बिन्दुओंसे सम्पूर्णता प्रदान करनेका कार्य सदाचार ही सम्पादित करता है। 'सर्वभूतहिते रताः' अथवा 'परहित सरिस धर्म नहिं भाई' का प्रेरणा-स्रोत भी यह सदाचार ही है। 'अहिंसा परमो धर्मः', 'सत्यमेव जयति', 'प्रमादं मा कार्षीः'—आदि अमृतवाणीका रत्नाकर सदाचार ही है। समाजमें इस पावन जलधाराका पान प्रत्येक प्राणी करता है, यह निर्विवाद बात है।

सदाचारकी भावनाका [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible] परिवर्तमान परिस्थितियोंमें [illegible] [illegible] एवं आवश्यकताको [illegible] नहीं जा सकता, [illegible] अपेक्षा नहीं की जा सकती। [illegible] उपेक्षा [illegible] है—[illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] है, वह [illegible] होकर [illegible] [illegible] [illegible] है—जो सदाचारको [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] उपेक्षा नहीं [illegible] चाहिये। [illegible] ही [illegible] [illegible] है।

गृहिणियों के सदाचरण

सुशीला नारीकी दिनचर्या

स्वच्छ रखती हैं, घर-द्वारको बुहार सदा, धान कूट लेतीं और चाकी भी चलाती हैं।
सूत कातती हैं और माखन भी विलोतीं वे, भोजन विशुद्ध निज हाथसे बनाती हैं॥
करतीं सिलाई सीख देतीं निज-बालको हैं, करतीं स्वाध्याय निज पतिको जिमाती हैं।
आय और व्ययका हिसाब नित्य लिखतीं वे, हरि-गाथा सुनि पुण्य जीवन बिताती हैं॥

नारी और सदाचार

(लेखक—श्रीमूलचन्दजी गौतम, एम० ए० (हिंदी, संस्कृत), बी० एड्०)

समस्त मानवी सृष्टिमें पुरुष और स्त्री—यही दो विभाग हैं। पशु, पक्षी भी नर और मादा दो विभागोंमें बँटे हैं, पालतू पशुओंको छोड़कर शेष सभी अपुरुष-स्त्रीरूपसे साथ-साथ रहते हैं। फिर, इसके पीछे भी मात्र उनमें एक साथ निभानेकी बात पड़ती है! इसके पीछे कोई कारण है, पर पशु और मनुष्यमें आहार, निद्रा, भय और मैथुनकी समानता होते हुए भी मनुष्य-बुद्धिके कारण, धर्म एवं ज्ञानशीलताके कारण अंदरसे बहुत कुछ भिन्न है। यही एक कारण है जो मानवके मनमें आचारकी एक आवश्यकता बनकर उत्पन्न होता है, अर्थात् वह भी तो पशुओंकी तरह स्वतन्त्र जीवन व्यतीत कर सकता है, फिर परिवार, समाज, स्कूल, देशकी संस्थाओंकी उसे क्या आवश्यकता है। लेकिन यह आवश्यक है; क्योंकि मानवकी प्रकृति प्रारम्भमें चाहे कितनी स्वतन्त्र रही हो, बादमें एक आचारसे नियन्त्रित होती रही है।

यही सदाचार प्रारम्भसे हमारे ऋषियों, मुनियोंद्वारा [illegible] है। [illegible]

[illegible] नियमोंके आधारपर व्यक्तिकी उत्कृष्टता-निकृष्टताका भी निर्धारण होता रहा है। सदाचारी अन्त्यज भी ब्राह्मण-जैसा सम्मान प्राप्त कर सकता था। दुराचारी ब्राह्मण भी निन्द्य होता था। किसी समाजकी, संस्कृतिकी श्रेष्ठता उसके सदाचारी व्यक्तियों, सदस्योंपर निर्भर करती है। आज यदि समाज पतित हो गया है, उसमें नैतिक मूल्योंका अभाव है, भक्ष्याभक्ष्यका प्रचलन हो गया है तो कारण एक ही है कि लोग आचारहीन हो गये हैं।

वेदों और यज्ञोंके नामपर समाजमें पशुहिंसा प्रारम्भ हो गया था। बादमें जैनियों एवं बौद्धोंने इसका विरोध किया। यह विरोध उपनिषदोंकी विचारधाराके अनुसार था। ईशोपनिषद्में स्पष्टतः कहा गया था कि—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

जो व्यक्ति सभी भूतप्राणियोंमें अपनेको देखता है वह सभी प्राणियोंमें अपने आपको देखता हुआ किसीसे घृणा नहीं करता। यही भावना [illegible]

मृगतृष्णा

-दुराचार) और परिणाम

बुद्धिमत्ता समझते हैं, जैसे बिल्लीको देखकर कबूतर आँखें मीच लेनेमें ही अपना समाधान समझ बैठता है। परंतु इस तरह आँखें बंद कर लेनेमात्रसे न तो कबूतर बिल्लीसे बच पाता है, न हमलोग अपने कर्मोंके भीषण परिणामोंसे बच सकते हैं। कुछ लोग यह भी तर्क करते हैं कि मनुष्य जब मर जाता है, तब उसका शरीर तो यहीं छूट जाता है, फिर इन दुःखोंको भोगता ही कौन है? पर वे थोड़ा विचार करें तो उन्हें यह मालूम होगा कि सुख-दुःख जितने मन और प्राणको होते हैं, उतने शरीरको नहीं होते। मरनेके बाद मनोमय और प्राणमय कोश तो रहते ही हैं, पार्थिव शरीर छूटनेपर इन्हें आतिवाहिक या यातनादेह भी प्राप्त होते हैं। यातना-शरीर इसको इसीलिये कहते हैं कि यह इस प्रकारके उपादानोंसे बना होता है जिससे वह यातनाभोग ही करता रहता है। वह जलती हुई आगमें दग्ध होनेपर भी नष्ट नहीं होता। यहाँ श्रीमद्भागवत निर्दिष्ट नरकोंका विवरण दिया जा रहा है। इसमें मृत्युके पश्चात् नरकोंमें प्राप्त होनेवाली उन भीषण पीड़ाओंका वर्णन है, जो जीवके उस देहको यमदूतोंद्वारा दी जाती हैं—जैसे जलते हुए तेलके कड़ाहमें गिरना, कोड़ोंकी मारका पड़ना, जलाया जाना, क्षत-विक्षत होना इत्यादि।

ये सब कष्ट जिस शरीरको प्राप्त होते हैं, वही यातनाशरीर है। यह पार्थिव शरीर जलने, गिरने, मरने, मारे जाने आदिके जो-जो कष्ट अनुभव करता है, वे सब कष्ट यातना-शरीरको भी होते हैं। पार्थिव शरीरसे इस शरीरमें विशेषता यह है कि पार्थिव शरीर जलने आदिसे जल जाता है, अङ्ग-भङ्ग हो जाता है, नष्ट हो जाता है, परंतु यातनाशरीर इन सब कष्टोंको केवल भोगता है, पार्थिव शरीरकी तरह वह नष्ट नहीं होता। यातनाभोगके लिये ही यह शरीर प्राप्त होता है। श्रीमद्भागवतमें जिन मुख्य २८ नरकोंका वर्णन है, उनके नाम, उनके पात्र और उन्हें प्राप्त होनेवाले दुःखोंका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

नरक-अपराधी और दण्ड

(१) **तामिस्र**—परधन, परस्त्री और परपुत्रका हरण करनेवाला मनुष्य कालपाशसे बाँधा जाकर इस नरकमें ढकेला जाता है। वहाँ उसे भूख-प्यास लगती है, पर खाने-पीनेको कुछ नहीं मिलता। दण्ड-ताडन-तर्जनादि बड़ी पीड़ाएँ दी जाती हैं।

(२) **अन्धतामिस्र**—जो किसी पुरुषको धोखा देकर उसकी पत्नीके साथ समागम करता है तथा जो इस शरीरको आत्मा और धनको आत्मीय समझकर प्राणियोंसे द्रोहकर केवल अपने ही शरीर, स्त्री, पुत्र और कुटुम्बका भरण-पोषण करता है, ऐसे दोनों ही प्रकारके लोग इस नरकमें गिरते हैं। यहाँ उनकी स्मृति भ्रष्ट और बुद्धि विनष्ट हो जाती है।

(३) **रौरव**—निरपराध प्राणियोंकी जो हिंसा करता है, वह इस नरकमें गिरता है, यहाँ वे ही प्राणी महाभयंकर रुरु नामक सर्पसे भी अधिक भयंकर जन्तु बनकर उससे बदला लेते हैं।

(४) **महारौरव**—प्राणियोंको पीड़ा पहुँचाकर जो अपने शरीरका भरण-पोषण करता है, उसे यह नरक प्राप्त होता है। यहाँ रुरुगण उसके शरीरको नोच-नोचकर खाते हैं।

(५) **कुम्भीपाक**—सजीव पशु या पक्षीको मारकर जो उसका मांस राँधता है, वह इस नरकमें गिरकर अपने-आपको जलते हुए तेलके कड़ाहेमें सीझता हुआ पाता है।

(६) **कालसूत्र**—पितर, ब्राह्मण और वेद—इनका द्रोही इस नरकमें गिरता है। वहाँ ताँबेकी दस सहस्र योजन विस्तीर्ण समतल भूमि है, जो सदा जला करती है। इस जलती हुई भूमिपर उसे नीचेसे तो अग्नि जलाती है

और ऊपरसे सूर्यकी किरणें। अंदरसे भूख-प्यासकी आग भी सताती है। उसकी व्यथा बड़ी ही भयंकर होती है। वह कभी लेटता है, कभी बैठता है, कभी खड़ा होता है, कभी चारों ओर दौड़ता-फिरता है। मारे हुए पशुओंके शरीरमें जितने रोम होते हैं, उतने ही हजार वर्ष उसे ऐसी यातना भोगनी पड़ती है।

(७) असिपत्रवन—आपत्तिकालके बिना भी स्वेच्छासे जो वेदमार्ग छोड़कर पाखण्डमत ग्रहण करता है, वह असिपत्रवनका भागी होता है। यहाँ यमदूत उसे कोड़ोंसे मारते हैं। उस मारकी यंतनासे वह इधर-उधर भागता है, पर असिपत्रोंमें दोनों ओर धार रहता है, इससे उसका शरीर छिन्न-भिन्न हो जाता है। अत्यन्त व्याकुल होकर वह बार-बार मूर्च्छित हो-होकर गिरता है।

(८) सूकरमुख—अदण्डनीय व्यक्तिको अन्यायसे अथवा किसी ब्राह्मणको जो शासक या शासकीय अधिकारी शरीरदण्ड देता है, वह इस नरकमें गिरता है। यहाँ वह कोल्हूमें ईखकी तरह दबाया जाता है, जिससे उसके सब अङ्ग टूटने लगते हैं। वह आर्त्तस्वरसे चिल्लाता और बार-बार मूर्च्छित होता है।

(९) अन्धकूप—सब जीवोंकी वृत्ति ईश्वरद्वारा नियत है—यह जानकर तथा किसी भी जीवकी वेदनाको समझनेकी क्षमता रखकर जो मच्छर आदि जीवोंको मार डालता है, वह इस नकरमें गिरता है और यहाँ उसके द्वारा मारे गये सब पशु, पक्षी, साँप, मच्छर, जूँ, खटमल आदि उससे बदला लेते और काटते हैं। घोर अन्धकारमें उसकी निद्रा भङ्ग होती है और कहीं चैनसे ठहरनेकी जगह उसे नहीं मिलती, महाक्लेश उसे निरन्तर होते हैं।

(१०) कृमिभोजन—खानेकी चीज सबको न देकर जो आप ही खाता है, जो पञ्च-महायज्ञ आदि नहीं करता, उसे ऋषिगण कौएके समान विष्ठाभोजी कहते हैं और वह इस नरकमें गिरता है। यहाँ लाखों योजन चौड़ा एक कृमिकुण्ड है, जिसमें गिरकर वह उन कीड़ोंको खाता है और कीड़े उसे खाते हैं।

(११) संदंश—जो कोई चोरी करता है या बलपूर्वक ब्राह्मणके सुवर्ण आदि छीनता है अथवा और किसीका भी सुवर्ण हरण करता है, वह यमदूतोंद्वारा नरकमें लाया जाता है एवं अग्निपिण्ड तथा सन्दंशद्वारा उसका शरीर क्षत-विक्षत किया जाता है।

(१२) तप्तसूर्मि—जो पुरुष या स्त्री अगम्यागमन करते हैं, वे इस नरकको प्राप्त होकर पुरुष स्त्रीकी जलती हुई लोहेकी प्रतिमासे और स्त्री जलते हुए लोहेकी पुरुष-प्रतिमासे लिपटाये जाते हैं।

(१३) वज्रकण्टकशाल्मली—मनुष्येतर योनियोंमें जो सहवास करता है, वह इस नरकमें गिरता है और वज्रतुल्य काँटोंवाली शाल्मलीपर यमदूतोंद्वारा चढ़ाकर घसीटा जाता है।

(१४) वैतरणी—जो शासक अथवा शासनपुरुष उत्तम कुलमें उत्पन्न होकर भी धर्मको दूषित करता है, वह मरकर वैतरणीमें गिरता है। यह एक नदी है, जो सब नरकोंको घेरे हुए है। इसमें हिंस्र जल-जन्तु रहते हैं, जो उसे खा जाते हैं; फिर भी उसके प्राण नहीं निकलते। वह अपने अधर्मका स्मरण करता हुआ विष्ठा, मूत्र, पीब, रुधिर, केश, नख, हड्डी, मेदा, मांस और वसासे परिपूर्ण इस वैतरणीमें बहता रहता और व्यथित होता है।

(१५) पूयोद—शूद्राके पति होकर जो [illegible] शौच, आचार और नियमसे पतित होते हैं [illegible] होकर स्वेच्छाचारी बनकर घूमते हैं, वे पीब, विष्ठा, [illegible] और लारसे भरे हुए इस पूयोद नामक [illegible]में गिरते और इन्हीं बीभत्स पदार्थोंको भक्षण [illegible]

(१६) प्राणरोध—जो ब्राह्मण कुत्ते [illegible] हैं और शिकार करते हैं, वे इस नरकमें गि[illegible] शरसन्धानके लक्ष्य बनते हैं।

(१७) विशसन—जो केवल दम्भके लिये यज्ञमें पशु-हिंसा करते हैं, वे इस नरकमें गिरते हैं। यहाँ यमदूत उन्हें अनेक यातनाएँ देकर उनके अङ्ग चूर-चूर कर डालते हैं।

(१८) लालभक्ष—द्विजकुलमें उत्पन्न हुआ जो व्यक्ति कामके वश हो सगोत्रा स्त्रीमें गमन करता है उसे शुक्रकी

(२३) रक्षोगणभोजन—जो लोग अन्य पुरुषोंके प्राण लेकर भैरवादिकी बलि देते हैं और जो स्त्रियाँ मनुष्यों और पशुओंका मांस खाती हैं, वे स्त्री-पुरुष रक्षोगणभोजन नरकमें गिरकर उन्हीं मारे हुए, राक्षसरूपको प्राप्त पशुओं और पुरुषोंद्वारा खड्गसे काटे जाते हैं और उनके

'कल्याण'के नियम

उद्देश्य—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसमन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वरपरक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदायी नहीं हैं।

(२) इसका डाकव्ययसहित वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें रु० १४.०० और भारतवर्षसे बाहरके लिये रु० २१.२० देसे (२ पौंड) नियत है। बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए विशेषाङ्क देनेकी व्यवस्था नहीं है।

(३) 'कल्याण'का नया वर्ष जनवरीसे आरम्भ होकर दिसम्बरमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक जनवरीसे ही बनाये जाते हैं। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं और जनवरीके अङ्कके बादके सब अङ्क भी उन्हें बिना मूल्य दिये जाते हैं। 'कल्याण'के बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनोंके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी रूपमें प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका अङ्क समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम से-कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। पत्र लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये। महीने-दो महीनेके लिये पता बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये। पता बदलीकी सूचना न मिलनेपर अङ्क पुराने पतेसे लौट जानेकी अवस्थामें उसकी दूसरी प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।

(७) जनवरीसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रोंवाला जनवरीका अङ्क (चालू वर्षका विशेषाङ्क) दिया जाता है। विशेषाङ्क ही जनवरीका तथा वर्षका पहला अङ्क होता है। फिर दिसम्बरतक प्रतिमास अङ्क बिना मूल्य दिये जाते हैं। किसी अनिवार्य कारणवश 'कल्याण' बंद हो जाय तो जितने अङ्क मिले हों, उतनेमें ही वर्षका मूल्य समाप्त समझना चाहिये, क्योंकि केवल विशेषाङ्कका ही मूल्य १४.०० रुपये है।

आवश्यक सूचनाएँ

(८) 'कल्याण'में किसी प्रकारका कमीशन या 'कल्याण'की एजेन्सी किसीको देनेका नियम नहीं है।

(९) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ ग्राहक-संख्या अवश्य लिखनी चाहिये। पत्रमें आवश्यकताका उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहिये।

(१०) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है। एक बातके लिये दुबारा पत्र देना हो तो उसमें पिछले पत्रकी तारीख तथा विषय भी देना चाहिये।

(११) ग्राहकोंको मूल्य मनीआर्डरद्वारा भेजना चाहिये। वी० पी० से अङ्क बहुत देरसे जा पाते हैं।

(१२) प्रेस-विभाग, 'कल्याण' व्यवस्था विभाग तथा सम्पादन-विभागको अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्रव्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये। 'कल्याण'के साथ पुस्तकें और चित्र नहीं भेजे जा सकते। (प्रेससे २.०० रु० से कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती।)

(१३) चालू वर्षके विशेषाङ्कके बदले पिछले वर्षोंके विशेषाङ्क नहीं दिये जाते।

(१४) मनीआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी संख्या, रुपये भेजनेका उद्देश्य, ग्राहक-नम्बर (नये ग्राहक हों तो 'नया'), पूरा पता आदि सब बातें ... लिखनी चाहिये।

(१५) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी मनीआर्डर आदि व्यवस्थापक—'कल्याण', ... (गोरखपुर)के पतेसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि सम्पादक—'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)के पतेसे भेजने चाहिये।

(१६) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे मँगानेवालोंसे मूल्य कम नहीं लिया [illegible]

(१७) 'स्थायी ग्राहक' अब नहीं बनाये जाते (अतः रुपया पेशगी जमा न करें।)

व्यवस्थापक—'कल्याण', पत्रालय—गीताप्रेस ([illegible]

क्षमा-प्रार्थना और नम्र निवेदन

वर्तमान समय संक्रमणसे गुजर रहा है। जन-जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें अनीति, अनीश्वर, अनाचार, अत्याचार, दुराचार एवं भ्रष्टाचार व्याप्त हो गया है। चारों ओर अशान्ति, असन्तोष, द्वेष, दुर्भावके बढ़ते भेद अत्याचार फैलते चले जा रहे हैं। शस्त्रवाद, स्वार्थ और हिंसा-का निरन्तर प्रभाव बढ़ता चला जा रहा है। आज विश्व विविध समस्याओं और दुःख-द्वन्द्वोंसे संत्रस्त है। मानवता दिग्भ्रमित है। सिर्फ परम्परागत आदर्श मान्यताएँ बिगड़ती जा रही हैं। देशकी साधारण जनता, धर्मराज, संत-महात्मा, आचार्यगण और मान्य मनीषी इस स्थितिसे अत्यन्त उद्विग्न एवं चिन्तित अनुभूत कर रहे हैं। उनका अनुभव-निर्देश है कि संसारमें जबतक सदाचारकी पुनःस्थापना नहीं हो जाती तबतक विश्वमें सुख-शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। सदाचारकी उपयोगिता और उपादेयता निर्विवाद है। अपने देश और संस्कृतिके लिये तो यह एकमात्र प्राण-तत्त्व है।

सदाचारके महत्त्वप्रतिपादन, उसकी सामसामयिक एवं शाश्वत उपादेयता एवं उपयोगिताको सर्वोपरि स्वीकार करते हुए प्रभुकी कृपा-प्रेरणासे 'कल्याण'ने अपने ५२वें वर्षके विशेषाङ्कके रूपमें 'सदाचार-अङ्क' प्रकाशित करनेका लघु प्रयास किया है। यह जैसा भी बन पड़ा है, कल्याणके प्रेमी पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत है। इस अङ्कमें जो कुछ भी उपयोगी और अच्छी—सदाचार प्रेरक सामग्रियाँ एकत्र हो सकी हैं, उनका सारा श्रेय हमारे उन पूज्यपाद आचार्यों, संत-महात्माओं और श्रद्धेय मनीषियोंको ही है, जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर लोकहितकी दृष्टिसे ऐसी सामग्रियाँ भेजकर हमें सहयोग देनेकी कृपा की है; हम [illegible] उन सभी आत्मीय विद्वान् लेखक-महानुभावोंका आभार मानते हैं। उनके मङ्गलमय विचारोंसे 'कल्याण'के लाखों पाठक लाभ उठायेंगे इससे उन सभी विज्ञ महानुभावोंको प्रसन्नता भी —ऐसा हमारा विश्वास है। उनकी शुभेच्छासे [illegible] अधिकाधिक प्रेरणा मिले और सदाचारका जन-जनमें [illegible] हो—यही हमारी प्रभुसे मङ्गल प्रार्थना है।

जिन लेखकोंके लेख हम स्थानाभाव या वि[illegible] आनेके कारण विशेषाङ्कमें यथास्थान प्रका[illegible] नहीं कर पाये हैं, उन सबसे हम विनीत क्षमा [illegible] हैं। हमारी अल्पज्ञताके कारण सामग्रीके चयन, संयो[illegible] अनुवाद आदि सम्पादन-कार्योंमें अनेक त्रुटियाँ [illegible] सकती हैं, इसी प्रकार मुद्रणमें भी (अक्षर-संयोजन[illegible] आदि देखनेमें) असावधानीसे जो भी भूलें रह [illegible] हैं, उन सबके लिये भी हम सम्मान्य लेखक महानुभा[illegible] और पाठक-पाठिकाओंसे क्षमा याचना करते हैं।

इस अङ्कके प्रकाशनसे सदाचारकी हमारी शुभ, भ[illegible] भावनाएँ कुछ भी जग सकीं, हम असदाचारकी दि[illegible] यत्किंचित् भी सदाचारकी ओर प्रवृत्त हो सके[illegible] यह भगवान्की मङ्गलमयी कृपाका शुभ परिणाम होगा वस्तुतः इसमें जो कुछ शुभ तथा सत् है—सब भगवान् एवं संतोंका है, जो असत् और प्रमाद है, वह हमारी अल्पज्ञताका है। पूज्यचरण संत-महात्मा, आचार्य, विद्वान् —सभी महानुभाव हमें ऐसा शुभाशीर्वाद दें, जिससे हम सब और हमारा देश-राष्ट्र अपनी संस्कृति और सदाचारका जीवन व्यतीत करते हुए भगवान्के मङ्गलमय स्वरूपको सदा स्मरण रखें। उनकी आज्ञा 'मामनुस्मर युध्य च' के अनुसार स्वकर्त्तव्योंके यथावत् पालनमें कभी शिथिल न बनें, सर्वदा तत्पर रहें। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

विनीत प्रार्थी—मोतीलाल जालान

'कल्याण'के नियम

उद्देश्य—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसमन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वरपरक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदायी नहीं हैं।

(२) इसका डाकव्ययसहित वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें रु० १४.०० और भारतवर्षसे बाहरके लिये रु० २१.२० (१ पौंड) नियत है। सजिल्द विशेषाङ्क देनेकी व्यवस्था नहीं है।

(३) 'कल्याण'का नया वर्ष जनवरीसे आरम्भ होकर दिसम्बरमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक जनवरीसे बनाये जाते हैं। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं और जनवरीके अङ्कके बादके सब अङ्क भी उन्हें बिना मूल्य दिये जाते हैं। 'कल्याण'के बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनोंके लिये ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका अङ्क समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। पत्र लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये। महीने-दो-महीनेके लिये पता बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये। पता-बदलनेकी सूचना न मिलनेपर अङ्क पुराने पतेसे चले जानेकी अवस्थामें उसकी दूसरी प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।

(७) जनवरीसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रोंवाला (   ) जाता है। विशेषाङ्क ही जनवरीका तथा वर्षका पहला अङ्क होता है। फिर दिसम्बरतक प्रतिमास अङ्क बिना मूल्य दिये जाते हैं। किसी अनिवार्य कारणवश 'कल्याण' बंद हो जाय तो जितने अङ्क मिले हों, उतनेमें ही वर्षका मूल्य समाप्त समझना चाहिये; क्योंकि केवल विशेषाङ्कका ही मूल्य १४.०० रुपये है।

आवश्यक सूचनाएँ

(८) 'कल्याण'में किसी प्रकारका कमीशन या 'कल्याण'की एजेन्सी किसीको देनेका नियम नहीं है।

(९) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ ग्राहक-संख्या अवश्य लिखनी चाहिये। पत्रमें आवश्यकताका उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहिये।

(१०) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है। एक बातके लिये दुबारा पत्र देना हो तो उसमें पिछले पत्रकी तारीख तथा विषय भी देना चाहिये।

(११) ग्राहकोंको मूल्य मनीआर्डरद्वारा भेजना चाहिये। वी० पी० से अङ्क बहुत देरसे जा पाते हैं।

(१२) प्रेस-विभाग, 'कल्याण' व्यवस्था-विभाग तथा सम्पादन-विभागको अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्रव्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये। 'कल्याण'के साथ पुस्तकें और चित्र नहीं भेजे जा सकते। (प्रेससे २.०० रु० से कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती।)

(१३) चालू वर्षके विशेषाङ्कके बदले पिछले वर्षोंके विशेषाङ्क नहीं दिये जाते।

(१४) मनीआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी संख्या, रुपये भेजनेका उद्देश्य, ग्राहक-नम्बर (नये ग्राहक हों तो 'नया'), पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(१५) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनीआर्डर आदि व्यवस्थापक-'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)के पतेसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि सम्पादक-'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)के पतेसे भेजने चाहिये।

(१६) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे या रेलसे मँगानेवालोंसे मूल्य कम नहीं लिया जाता।

(१७) आजीवन ग्राहक अब नहीं बनाये जाते हैं। (अतः रुपया भेजनेका कष्ट न करें।)

—'कल्याण', व्यवस्थापक-गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रेष्ठ विचार और सदाचार

लोभः पापस्य बीजं हि मोहो मूलं च तस्य हि ।
असत्यं तस्य वै स्कन्धो माया शाखासु विस्तरः ॥
दम्भकौटिल्यपत्राणि कुबुद्धया पुष्पितः सदा ।
नृशंसं तस्य सौगन्ध्यं फलमज्ञानमेव च ॥
छद्मपाखण्डचौर्येर्ष्याः क्रूराः कूटाश्च पापिनः ।
पक्षिणो मोहवृक्षस्य मायाशाखासमाश्रिताः ॥
अज्ञानं यत्फलं तस्य रसोऽधर्मः प्रकीर्तितः ।
तृष्णोदकेन संवृद्धिस्तस्याश्रद्धा ऋतुः प्रिय ॥

× × × ×

अस्य च्छायां समाश्रित्य यो नरः परितुष्यते ।
फलानि तस्य पक्वानि सुपक्वानि दिने दिने ॥
फलानां तु रसेनापि ह्यधर्मेण तु पालितः ।
स संतुष्टो भवेन्मर्त्यः पतनायाभिगच्छति ॥
तस्माच्चिन्तां परित्यज्य पुमाँल्लोभं न कारयेत् ।
धनपुत्रकलत्राणां चिन्तामेव न कारयेत् ॥

(पद्म० भूमि० ११ । ११–१९)

(सुमना अपने पतिसे कहती है)—'हे पतिदेव ! पाप एक वृक्षके समान है, उसका बीज है लोभ और मोह उसकी जड़ है। असत्य उसका तना और माया उसकी शाखाओंका विस्तार है। दम्भ और कुटिलता पत्ते हैं। कुबुद्धि फूल है और नृशंसता उसकी गन्ध तथा अज्ञान फल है। छद्म, पाखण्ड, चोरी, ईर्ष्या, क्रूरता, कूटनीति और पापाचारसे युक्त प्राणी उस मोहमूलक वृक्षके पक्षी हैं, जो मायारूपी शाखाओंपर बसेरा लेते हैं। अज्ञान उस वृक्षका फल है और अधर्मको उसका रस बताया गया है। तृष्णारूप जलसे सींचनेपर उसकी वृद्धि होती है। अश्रद्धा उसके फूलने-फलनेकी ऋतु है। जो मनुष्य इस वृक्षकी छायाका आश्रय लेकर संतुष्ट रहता है, उसके पके हुए फलोंको प्रतिदिन खाता है और उन फलोंके अधर्मरूप रससे पुष्ट होता है, वह ऊपरसे कितना ही प्रसन्न क्यों न हो, वास्तवमें पतनकी ओर ही जाता है। इसलिये पुरुषको निश्चिन्त होकर लोभ (मोह आदि) का त्याग कर देना चाहिये। स्त्री, पुत्र और धनकी चिन्ता तो कभी करनी ही नहीं चाहिये।'